नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६६

संवत् २०१८

अंक २-३-४

वार्षिक मूल्य १०) इस अंक का १५)

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

विषयसूची

१. भाषा में सामाजिक भेदों की अभिव्यक्ति ...
—डा॰ प्रबोध बेचरदास पंडित ... १५३
२. कालिदास : भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि—डा॰ राजबली पांडेय १७५
३. हिंदी में वैष्णवपदावली का प्रथम रचयिता ...
—श्री बलदेव उपाध्याय ... १८७
४. रामचरितमानस के कतिपय महत्वपूर्ण पाठ ...
—श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ... १९९
५. उड़ीसा में अवशिष्ट बौद्ध धर्म—श्री परशुराम चतुर्वेदी ... २१०
६. शब्द : एकत्ववाद और नानात्ववाद—डा॰ रामसुरेश त्रिपाठी... २२२
७. ऋग्वेद में आभूषणसंबंधी सामग्री—डा॰ राय गोविंदचंद्र ... २३९
८. दीपशिखा की भूमिका—डा॰ नगेंद्र ... २६७
९. कालिदासहजारा—डा॰ किशोरीलाल गुप्त ... २७२
१०. एक सार्वजनीन लिपि—डा॰ वी॰ राघवन् ... ३०४
११. अलंकारशास्त्र को पंडितराज जगन्नाथ की देन ...
—डा॰ राममूर्ति त्रिपाठी ... ३०९
१२. संगीतज्ञ और भक्तकवि राजा आसकरन—श्री प्रभुदयाल मीतल... ३२१
१३. स्वामी अग्रदास और उनकी अप्रकाशित पदावली ...
—डा॰ भगवतीप्रसाद सिंह ... ३२९
१४. लल्लूजी 'लाल कवि'—श्री कृष्णाचार्य ... ३४७
१५. रसरतन : मध्ययुगीन हिंदीकाव्य की एक विस्मृत कड़ी ...
—डा॰ शिवप्रसाद सिंह ... ३६५
१६. हिंदी भाषा में कुछ पुर्तगाली शब्द—डा॰ शिवनाथ ... ३८४
१७. अशोक के समकालिक राज्य—डा॰ देवसहाय त्रिवेद ... ३८८
१८. ध्रुवपद का विकास—श्री जयदेवसिंह ... ४०१
१९. राष्ट्र की उत्पत्ति और भारतीय राष्ट्रीयता ...
—श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी ... ४०७
२०. प्राचीन भारत में क्रीड़ा एवं मनोरंजन ...
—डा॰ नीलकंठ पुरुषोत्तम जोशी ... ४१२
२१. भारत पर मुसलमानों के आक्रमणों की पृष्ठभूमि ...
—डा॰ बुद्धप्रकाश ... ४२६
२२. राउल वेल में प्रयुक्त क्रियाएँ—डा॰ कैलाशचंद्र भाटिया ... ४५३
२३. हिंदी के आकारांत संज्ञा शब्द : पदग्रामिक विश्लेषण ...
एवं वर्गबंधन—श्री महावीरसरन जैन ... ४६२
२४. 'ढोला मारू रा दूहा' के अर्थसंशोधन पर विचार ...
—डा॰ माताप्रसाद गुप्त ... ४७३

२५. हिंदी के साधारण वाक्य में स्वतंत्र कर्ता और ...
असमापिका (इन्फिनिट) क्रियावाले वाक्यांश ...
—श्री वि० ए० चेर्निशोव् ... ४८६
२६. हिंदी द्वंद्व समास में भाषासांकर्य—श्री वी० ब्रेस्कोव्नी ... ४६३
२७. नवसंस्कृतीय निर्मापक तत्व : शब्दपरसर्ग ...
—श्री ए० एस० बरखूदारोव् ... ४६६
२८. पंजाबी में मिश्र वाक्यगठन और मुख्य उपवाक्य का ...
एक अंग—श्री जु० अ० स्मिरनोव् ... ५१५
२६. पुष्पमंजरी—श्री करुणापति त्रिपाठी ... ५२२
३०. क्या अवस्था की अनुकृति नाट्य है ?—डा० बच्चनसिंह ... ५३३

महामना : श्रद्धांजलियाँ, संस्मरण, व्यक्तित्व और कर्तृत्व, पत्र, भाषण

३१. श्रद्धांजलियाँ ५३६
३२. महापुरुष—महामहोपाध्याय श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ... ५४१
३३. पं० मदनमोहन मालवीय का पुण्यस्मरण ...
—श्री अंबिकाप्रसाद वाजपेयी ... ५४५
३४. महामना मालवीय जी और श्रीमद्भगवद्गीता ...
—श्री शिवपूजन सहाय ... ५४७
३५. महामना : कुछ भावचित्र—श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ... ५५२
३६. विश्वविद्यालयों में हिंदी पठनपाठन का प्रारंभ ...
—डा० धीरेंद्र वर्मा ... ५६०
३७. वंद्यचरित महामना—श्री जानकीनाथ शर्मा ... ५६४
३८. महामना की हिंदीसेवा—डा० शितिकंठ मिश्र ... ५६६
३६. महामना मालवीय जी और पत्रकारिता ...
—श्री लक्ष्मीशंकर व्यास ... ५७०
४०. महामना और नागरीप्रचारिणी सभा—श्री सुधाकर पांडेय ... ५८३
४१. महामना पंडित मदनमोहन मालवीय : जीवन और कर्तृत्व ...
—श्री जयशंकर मिश्र ... ५६१
४२. महामना का एक महत्वपूर्ण पत्र ६०५
४३. प्रथम हिंदी-साहित्य-संमेलन के सभापति महामना ...
पंडित मदनमोहन मालवीय का भाषण ... ६११
४४. संपादकीय ६२५
४५. परिशिष्ट ६२७

महामना पं० मदनमोहन मालवीय
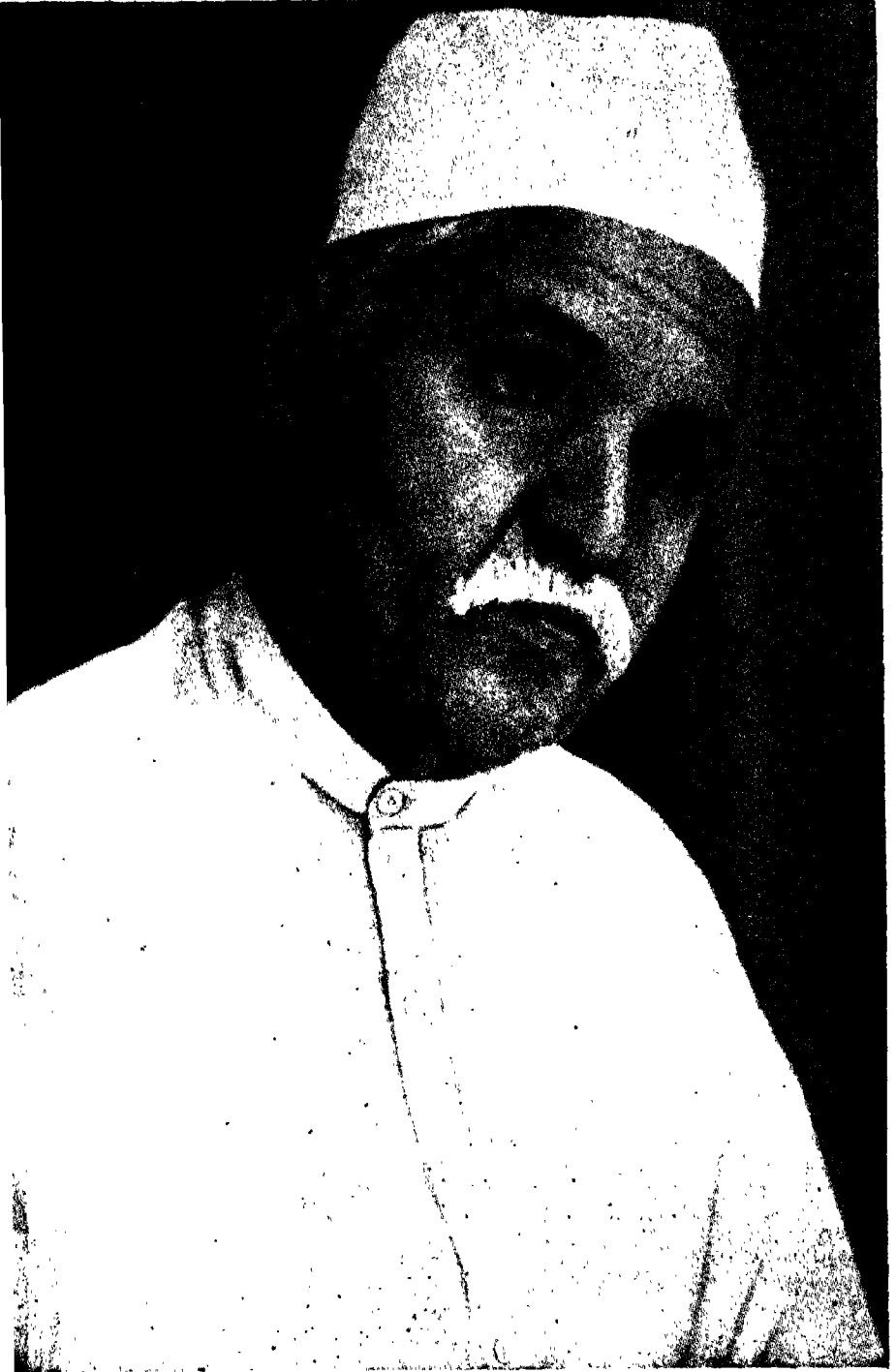
[सन् १८६१-१९४६ ई०]

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

महात्मा जन्मशती विशेषांक

वर्ष ६६] श्रावण-माघ, संवत् २०१८ [अंक २-४

भाषा में सामाजिक भेदों की अभिव्यक्ति

प्रबोध बेचरदास पंडित

नव्य भारतीय आर्य भाषाओं में संस्कृत से आए आगंतुक शब्द समाज के भिन्न भिन्न स्तर पर दिखाई पड़ते हैं। लेकिन कुछ **नभाआ** में संस्कृत से आए आगंतुक शब्दों के व्यंजनगुच्छ और अपने (नभाआ) व्यंजनगुच्छों में उच्चारण की दृष्टि से भिन्नता है। गुजराती और मराठी जैसी **नभाआ** (नव्य भारतीय आर्य) भाषाओं से इस आगंतुक (लोन, बारोड) तत्व के स्वरूप और कार्य का अध्ययन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

स्वकीय भाषाओं के अनादि (आदिभिन्न) स्थान के C_1 C_2, (C = कोई भी स्पर्श व्यंजन ; इसके नीचे दिए गए संख्यांक भिन्न भिन्न स्थान के सूचक हैं;

$_1$ $_1$ = एक ही स्थानप्रयत्न के व्यंजन, $_1$ $_2$ भिन्नस्थानप्रयत्न के व्यंजन, S = ल, र, व, य, स, श) और C S - प्रकार के व्यंजनगुच्छ संस्कृत के आगंतुक (तत्सम) शब्दों के व्यंजनगुच्छों से भिन्न हैं; संस्कृत से आगंतुक शब्दों के व्यंजनगुच्छ C_1 C_1 C_2 अथवा C_1 C_1 S - प्रकार के होते हैं।

स्वकीय गुच्छों (नेटिव क्लस्टर्स) और संस्कृतीय गुच्छों के कुछ उदाहरण, गुजराती और मराठी से नीचे उद्धृत किए जा रहे हैं। हर एक में संस्कृतीय गुच्छ सिर्फ पढ़े लिखे लोगों की भाषा (और संभवतः औपचारिक स्थितियों) का निर्देश करता है।

गुजराती

स्वकीय गुच्छ		संस्कृतीय गुच्छ	
आप्तो	देता	आप्तो	माननीय जन
शक्ति	सकना	शक्ति	शक्ति
पात्रा	भूँजी शाकभाजी	पात्रो	चरित्रों
पत्यो	पूर्ण हुआ	सत्यो	सत्यों
पत्वे	पूर्ण होता है	तत्त्वो	तत्त्वों
उद्भव्यो	उत्पन्न हुआ	भव्यो	पवित्र आत्माएँ
अल्य	अनादरसूचक संबोधन	शाल्य	पाषाण

मराठी

पुण्याता	पूना की ओर	पुण्याता	पवित्रता के लिये
नाट्या	वामन, छोटा	नाट्या	नाट्य के प्रति
नात्वा	पौत्र के लिये	सत्वाच	सत्व का

दूसरे स्तंभ में दिए गए दृष्टांत संस्कृत से आगंतुक शब्दों के हैं, यह तो उनके व्यंजनगुच्छों की प्रकृति से ही सरलतापूर्वक सिद्ध हो सकता है। इन शब्दों में आदिभिन्न स्थान में आनेवाले भिन्नस्थानीय (हेटेरोजेनिक) व्यंजनगुच्छ - प्त् - , क्त् -, - त्र् - , - व्य् - , - त्य् - , - त्व् - जैसे ही गुच्छ उनके संस्कृतीय स्वरूप में भी मिलते हैं। यदि ये शब्द प्राकृतकाल की ध्वनिपरिवर्तन की भूमिका में से चलकर आए होते हैं तो संस्कृत के भिन्नस्थानीय व्यंजनगुच्छ प्राकृतकाल में एकस्थानीय (होमोजेनिक) व्यंजनगुच्छ बन जाते हैं। इस नियम के आधार पर इन शब्दों में एक-स्थानीय व्यंजनगुच्छ की ही आशा की जा सकती है। लेकिन भिन्नस्थानीय व्यंजन-गुच्छ व्यवहार में टिके रह जाते हैं। इससे मालूम होता है कि ऐसे व्यंजनगुच्छ आगंतुक तत्व हैं। [सामान्यतया प्राकृतकाल में परिवर्तित एकस्थानीय व्यंजनगुच्छ दो प्रकार के होते हैं—जब अनुगामी व्यंजन स्पर्श होता है तब पूर्वसावर्ण्य (रिग्रेसिव एसिमिलेशन),

और जब अनुगामी व्यंजन 'य्' या 'व्' होता है तब अनुक्रम से तालव्यभाव और ओष्ठ्यभाव सहित परसावर्ण्य (प्रोग्रेसिव एसिमिलेशन) मिलता है ।]

ध्वनिघटकों के रूपांतर (सब्स्टीट्यूशन = आदेश) की प्राकृतिक प्रक्रिया से संस्कृत आगंतुक शब्दों का गुजराती में ग्रहण होता है । ये संस्कृत शब्द, गुजराती की पद्धतिप्रकृति (पैटर्न्स) के भागी होते हैं; उनके रूपाख्यान में प्रवेश पाते हैं । उदाहरणार्थ—संस्कृत आगंतुक शब्द सत्य, पात्र, आप्त, गुजराती बहुवचन प्रत्यय 'ओ' के साथ रचना में आने से सत्यो, पात्रो, आप्तो बनते हैं । इन गुच्छों में जो संस्कृतीय है वही स्वयं अगत्य की घटना है । गुजराती प्रत्ययों से अनुसरित संस्कृत शब्दों से ही उनका निर्माण हुआ है । 'उद्‌द्‌भाव्यो' (उत्पन्न हुआ) जैसे शब्दों में जो 'द्‌द्‌व्' गुच्छ से निर्देशित है वह संस्कृतीय है, लेकिन उसका - व्य् - अंश निर्देश करता है कि वह संस्कृतीय नहीं है । यहाँ, संस्कृत आगंतुक 'उद्‌द्‌भव्', गुजराती भाषा के भूतकाल का उपत्रटक -य्- और पुरुषवाचक एकवचन -ओ- के साथ रचना में है । यहाँ एक गुच्छ संस्कृतीय है और दूसरा गुच्छ है स्वकीयलीन संस्कृतीय ।

'भव्यो' = 'पवित्र आत्माएँ' में,- व् व् य् - गुच्छ अपनी संस्कृतीयता का निर्देश करता है । यहाँ संस्कृत से आगंतुक 'भव्य' गुजराती बहुवचन प्रत्यय 'ओ' के साथ रचना में सक्रिय है । इसी तरह 'स्वप्नो' जैसे शब्दों में प्न्- गुच्छ संस्कृतीय है और 'सापनो' (साँप का) में -प्न्- स्वकीय गुच्छ है । इसी तरह मराठी में पुण्यातीं और पुण्ण्याता के भेद से ज्ञात होता है कि दो 'ण्ण' वाला गुच्छ संस्कृतीय है । मराठी में अधिक जाँच करने से मालूम होगा कि, जैसा विरोध c_1 c_2 और c_1 c_1 c_2 में अर्थात् स्वकीय और संस्कृतीय गुच्छ में गुजराती में है वैसा ही मराठी में होगा ।

यदि संस्कृत सांप्रत काल की बोली होती तो हम इसका निर्णय कर सकते, मानो गुजराती या मराठी जैसी भाषा के पड़ोस में संस्कृत भी बोली जाती है । गुजराती-मराठी में आदिभिन्नस्थान में (ऐसे c_1 c_1 c_2 और c_1 c_1 s) व्यंजनगुच्छ की उपस्थिति नहीं है, पर संस्कृत में ऐसे व्यंजनगुच्छ की उपस्थिति है । तब यह निर्णय आसान होता कि गुजरातीमराठी के ये व्यंजनगुच्छ पड़ोस में बोली जानेवाली संस्कृत से लिए गए हैं ।,

किंतु संस्कृत के आधुनिक वाग्व्यवहार की भाषा न होने से ऐसे सरल निरीक्षण इस परिस्थिति को समझाने में समर्थ नहीं हो सकेंगे । इसलिये, व्यंजनगुच्छों की इन नई रचनाओं के उद्भवस्थान तक पहुँचने के लिये नभाआ भाषाओं की पूर्वभूमिकाओं के बारे में किए हुए अनेक अनुमानों का आधार लेना पड़ेगा, विशेष रूप से उनके उन खास अंशों का, जो उपस्थित प्रश्न को हल करने में समर्थ हो सकें । इसके बारे में निम्नलिखित तीन प्रश्न संगत हो सकते हैं —

१ – क्या हम निर्णय कर सकते हैं कि संस्कृतीय गुच्छों के साथ आए हुए शब्दों या संस्कृतीय आगंतुक शब्दों का **नभाआ** भाषा के इतिहास की किस भूमिका में और कब प्रवेश हुआ था ?

२ – भाषा के उच्चारण के इतिहास की अलग अलग भूमिकाओं में किस किस प्रकार के व्यंजनगुच्छ मिलते हैं ? क्या हमें C_1 C_1 C_2 और C_1 C_2, C_1 C_1 S एवं C S (C_1 C_1 C_2 और C_1 C_2 भेदक हैं, अर्थभेद के 'कारक' हैं, तथा वैसे ही C_1 C_1 S और C S भी भेदकसंबंध से निबद्ध हैं) जैसे भेदक (उच्चारण से) गुच्छ, भाषा की किसी भी पूर्वभूमिका में मिलते हैं ?

३ – क्या संस्कृत में C_1 C_1 C_2 और C_1 C_1 S रचनाएँ भेदक हैं ?

१ – **नभाआ** भाषाओं में किसी एक निश्चित आगंतुक शब्द के प्रवेश के बारे में निर्णय तक पहुँचने के लिये ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। **नभाआ** भाषाओं के प्राचीनतम साहित्यिक नमूनों को देखा जाय तो मालूम होता है कि संस्कृत शब्दों की भरती ही बार बार होती रही है। **नभाआ** भाषाओं के नानाविध रूपों में भी संस्कृत से आगंतुक शब्दों का ठीक ठीक प्रमाण पाया जाता है। संस्कृत से आगंतुक शब्दों को **नभाआ** भाषा के शब्दकोश से दूर रखने का काम आसान है क्योंकि जो ध्वनिपरिवर्तन **मभाआ** (मध्य भारतीय आर्य) काल में हुए थे उनका संस्कृत के इन आगंतुक शब्दों में पसार नहीं है, यदि ऐसा होता तो उनका अर्वाचीन रूप ठीक ठीक बदला हुआ मिलता, उदाहरणार्थ—सप्त या सप्त 'सात' शब्द **नभाआ** भाषा का अपना नहीं है अपितु संस्कृत से आगंतुक है, क्योंकि - प्त् - ; प्त् - गुच्छ **मभाआ** काल की ध्वनिव्यवस्था में उपलब्ध नहीं हैं, शक्य नहीं हैं।

नभाआ के इतिहास की सब भूमिकाओं में संस्कृत से आगंतुक शब्द लिए गए हैं और **नभाआ** भाषाओं की परिवर्तित व्यवस्थाओं के साथ साथ विद्वानों की भाषा के रूप में कदम मिलाते हुए एक प्रतिष्ठित भाषा के रूप में संस्कृत का स्थिर अस्तित्व रहा होगा, ऐसी कल्पना सरलता से हो सकती है।

जैसे **नभाआ** ने संस्कृत से आगंतुक शब्दों का निरंतर ग्रहण किया है वैसे ही **मभाआ** ने भी संस्कृत से आगंतुक शब्दों का सतत ग्रहण किया हो, ऐसा पूर्णतः संभावित है। पर प्राकृत शब्दराशि में से संस्कृत आगंतुक शब्दों को निकालने पर और बौद्धजैन संस्कृत साहित्य को छोड़कर 'शिष्ट (महाराष्ट्री) प्राकृत' साहित्य में संस्कृत से आगंतुक एक भी शब्द अपरिवर्तित रूप में दिखाई नहीं पड़ता है। 'शिष्ट प्राकृत' साहित्य में संस्कृतीय उच्चारणव्यवस्था मान्य नहीं है। उदाहरणार्थ—द्विस्वरांतर्गत असंयुक्त व्यंजन, भिन्नस्थानीय व्यंजनगुच्छ, द्विस्वरांतर्गत महाप्राण व्यंजन, व्यंजगुच्छ

के आगे दीर्घ स्वर आदि को इस प्रसंग में देखा जा सकता है, जिनमें स्पष्टतः हम पाते हैं कि—'जब जब संस्कृत शब्द प्राकृत साहित्य में लिए गए तब तब हमेशा प्राकृत ध्वनिव्यवस्था (फोनेमिक सिस्टम) के अनुसार उनका रूपांतर होता था'। इसको हम एक साहित्यिक माध्यम से दूसरे साहित्यिक माध्यम में—शिष्ट संस्कृत से शिष्ट प्राकृत में—होते हुए आदानप्रदान के रूप में समझ सकते हैं। प्राकृत लिखने वाले, संस्कृत और उसको प्राकृत में परिवर्तित करने के नियमों से परिचित थे, क्योंकि उन्होंने इनकी शिक्षा पाई थी, अर्थात् उन्होंने प्राकृत व्याकरण को भली भाँति पढ़ा था। संस्कृत से आगंतुक शब्दों का पूरा प्राकृतीकरण करने की परंपरा होने से संस्कृत शब्द अपने तत्सम स्वरूप में प्राकृत साहित्य में उपलब्ध नहीं होते। इसी लिये तो प्राकृत साहित्य, एक हजार वर्ष की (१० वीं सदी तक की) साहित्यिक परंपरा होने पर भी, **नभाआ** भाषाओं में आए हुए संस्कृत आगंतुक शब्दों के स्वरूपनिर्णय में ठीक ठीक सहायता नहीं दे पाता।

शिष्ट प्राकृत साहित्य में निराले ढंग से, **नभाआ** भाषाओं का साहित्य, संस्कृत आगंतुक शब्दों को संस्कृतीय ध्वनिव्यवस्था के तत्सम रूप में ही ग्रहण करता है। लेकिन ये सब भिन्न भिन्न साहित्यिक स्वरूप कब से और कैसे भिन्न भिन्न वाचिक (भाषिक) स्वरूपों का निदान करते हैं, यही चर्चा और विवेचना का विषय है। जब हमें प्रारंभिक **नभाआ** साहित्य में भक्ति, सत्य, प्रयत्न (और वैसे ही संस्कृतीय गुच्छोंवाले अन्य) जैसे शब्द मिलते हैं तब वे, साहित्य की जिस पूर्वभूमिका में दिखाई पड़ते हैं, क्या उस समय ही वे लिए गए होंगे या इससे भी पहले **मभाआ** काल के दरमियान लिए गए होंगे, इस प्रसंग में हम कोई भी निर्णय नहीं कर सकते; बल्कि उनकी संस्कृतीय रचना के कारण इतना ही कहा जा सकता है कि वे प्राकृत साहित्य में अपना स्थान नहीं पा सके।

२ - यदि प्राकृत ध्वनिसमूह में से हम प्राकृत ध्वनिव्यवस्था को समझने का प्रयत्न करें तो प्राकृत साहित्य में एकरूप बन चुके हुए संस्कृत आगंतुक शब्दों का पता लगाना संभावित है। प्राचीन प्राकृत साहित्य में असंयुक्त स्पर्श व्यंजन आदिस्थान में और दो स्वरों के बीच में आता था, लेकिन उसके बाद के काल की शिष्ट प्राकृतों में असंयुक्त व्यंजन सिर्फ आदिस्थान में ही आते थे, दो स्वरों के मध्य में नहीं (यदि व्यंजन, मूर्धन्य श्रेणी के ट्, ड् होते तो आदि एवं द्विस्वरांतर्गत स्थान में भी आते थे)। सिर्फ एक-स्थानीय व्यंजनयुग्म (संस्कृत के द्विस्वरांतर्गत भिन्नस्थानीय व्यंजनों से रूपांतरित) आदि-भिन्न स्थान में आ सकते थे, (पूर्व स्वर ह्रस्व होने के साथ) दो स्वरों के बीच आनेवाले भिन्नस्थानीय व्यंजनगुच्छवाले संस्कृत आगंतुक शब्द, प्राचीन प्राकृतों में, एक स्वर के प्रवेश के बाद (इपेंथेटिक वावेल, सामान्यतया अ, इ या उ) व्यवहृत हुए। बाद के काल में, प्राचीन प्राकृतों के ऐसे एकरूप हो गए हुए आगंतुक शब्दों ने,

शेष प्राचीन प्राकृत शब्दों की तरह ध्वनिपरिवर्तन में से गुजरते हुए अपने स्पर्शत्व को छोड़ दिया, उनके स्पर्शत्व का लोप हो गया। 'पद्मिनी' > शिष्ट प्राकृत पउमिणी (अर्वाचीन गुजराती पोयणी) = कमल जैसे संस्कृत शब्द की, यदि शिष्ट प्राकृत पउमिणी से आगे की अवांतर भूमिका में *पदुमिणी होने की संभावना है, तो वह संस्कृत से आगंतुक शब्द होगा—इसका निदर्शन उसकी अवातंर भूमिका कराती है। ऐसे अधिक दृष्टांत 'अग्नि' > 'अगनि', 'रत्न' > 'रदन' इत्यादि **पिशल** ने उद्धृत किए हैं।[1]

जब संस्कृत आगंतुक शब्द, द्विस्वरांतगर्त असंयुक्त स्पर्श व्यंजनों के साथ शिष्ट प्राकृतों में लिए गए तब उनका रूपांतर शिष्ट प्राकृत की ध्वनिव्यवस्था के अनुरूप ही हुआ और वे दो स्वरों के बीच स्पर्शयुग्म के रूप में बदले गए। शिष्ट प्राकृतों के आदिस्थान में असंयुक्त स्पर्श व्यंजन का और अनादिस्थान में असंयुक्त स्पर्शव्यंजन का और अनादिस्थान में स्पर्शयुग्म का संबंध घटक की दृष्टि से पूरक प्रकार का है (सिंगिल इनीशियल स्टाप इज़ इन कंप्लीमेंटेशन विद मीडियल जेमीनेट स्टाप्स)। ऐसा जो उपघटकात्मक (सब - फोनेमिक) संबंध लिपि में प्रतिबिंबित हुआ ; वह एक विशिष्ट प्रक्रिया है। संस्कृत आगंतुक शब्दों के द्विस्वरांतर्गत असंयुक्तव्यंजन 'शिष्ट प्राकृत' में दुहराकर लिखे जाते हैं। इसी तरह 'शिष्ट प्राकृत' के शब्द, जैसे 'एक्क' = एक, णिच्च = 'निम्न' (संस्कृत एक, नीच) से लिए गए आगंतुक शब्दों के रूप में माने जायँगे (ऐतिहासिक नियमित विकास सं० 'एक' प्राकृत में होगा 'एअ,' संभवतः अर्वाचीन आसामी विकल्प 'ए = एक' नियमित विकास के द्योतक हैं)।[2] प्राकृत ध्वनिव्यवस्था से एकरूप बने हुए और अनुगामी ध्वनिपरिवर्तनों से नियमित रूप में विकसे हुए एक्क (एक) और णिच्च (> नीच या 'निच्', कितनी ही **नभाआ** भाषाओं में नीच)-आगंतुक शब्दों को प्राकृत शब्दराशि से अलग नहीं किया जा सकता।

संस्कृत के इस द्विस्वरांतर्गत स्पर्शों के द्विर्भाव को **पिशल** ने (१९४) अनुगामी स्वर पर भार पड़ने के कारण आया हुआ माना है—नियम—णिम्म, जित > जित्ता, तैल, तेल्ल इत्यादि—परंतु जब अनुगामी स्वर पर भारवाले अन्य कितने ही व्यंजनों का, द्विर्भाव होने के अलावा लोप हो गया है तब इस दलील से साबित उक्त मत यथार्थ नहीं माना जाता।

बाद के ध्वनिपरिवर्तन से, स्पर्शव्यंजनों के पुरोगामी ह्रस्व और दीर्घ स्वर (ई॑, ऊँ, ऑ) भेदक हो गए। उदाहरणार्थ—अनादि दीर्घ व्यंजन के पुरोगामी स्वर दीर्घ हुए और अनादि व्यंजन ह्रस्व हुआ (पूर्वस्वर - दीर्घत्व)। यह ध्वनिपरिवर्तन

१. पिशल, पृष्ठ १९२।

२. ब० काकती, १९४१, ३८६ पृ।

नभाआ भूमिका की प्रारंभिक दशा का सूचन करता है। इस तरह प्रारंभिक **नभाआ** काल से अनादिस्थान के असंयुक्त स्पर्श व्यंजन उच्चारण की दृष्टि से प्रचलित हुए। अतः संस्कृत आगंतुक शब्दों में दो स्वरों के बीच आनेवाले भिन्नस्थानीय व्यंजनगुच्छों का इस काल के बीच स्वरभक्ति द्वारा सरलीकरण हुआ। तदुपरांत, कितने ही शब्दों में असंयुक्त घोष व्यंजन, प्रारंभिक **नभाआ** काल के अनादि असंयुक्त व्यंजन के शिथिल (घोष) उच्चारण का सूचन करता है। **नभाआ** शब्द, जैसे भगत (सं० भक्त), रगत (सं० रक्त), सपन (सं० स्वप्न), रतन (सं० रत्न) पदम (सं० पद्म), लगन (सं० लग्न), हिंदी भुगतना (सं० भुक्त) को प्रारंभिक **नभाआ** काल के इस वर्ग के आगंतुक शब्दों में समाविष्ट कर सकेंगे। इसी तरह **नभाआ** काल के आरंभ से द्विस्वरांतर्गत स्थान में असंयुक्त स्पर्श व्यंजनों के व्यवहार की संभावना हो चुकी थी। इसके बाद फैलाए हुए ध्वनिपरिवर्तनों से द्विस्वरांतर्गत भिन्नस्थानीय व्यंजन आ सके। अधिकांशतया, अनादिस्थानीय ह्रस्व स्वर (अ, इ, उ) के लोप से यह शक्य हुआ; इससे आरंभिक **नभाआ** काल की CV CV CV प्रकार की रचना को धक्का लगा; ऐसी रचनाओं में अंत्य स्वर का लोप हुआ। यदि अंत्य स्वर ह्रस्व स्वरों की कोटि (अ, इ, उ) से अतिरिक्त कोई होता था तो उपांत्य ह्रस्व स्वर का लोप होता था। इसी तरह CV CV CV प्रकार की रचनाप्रक्रिया CV CV C अथवा CVCC V में परिवर्तित हुई, भिन्न भिन्न कृत और तद्धित स्वरादि प्रत्ययों के व्यंजनांत अंगों के साथ प्रयुक्त होने से **नभाआ** भाषाओं में एक ही रचना के CVCC, CV CV C जैसे भिन्न भिन्न ध्वनिआकार आविर्भूत हुए। ऐतिहासिकतया उपांत्य ह्रस्व स्वरों के लोप से पहले, अंत्य ह्रस्व स्वरों का लोप हुआ है। अतः CV C$\breve{V}$ C$\breve{V}$ प्रकार के शब्द CVC $\breve{V}$C प्रकार में पलट गए और बाद की भूमिका में जब दीर्घ स्वर के साथ प्रयुक्त हुए तब फिर से CVCC प्रकार में विकसित हुए।

ऐसे ध्वनिआकारों के कुछ दृष्टांत आसामी, उर्दू तथा गुजराती से नीचे उद्धृत हैं —

आसामी

'शुक्रवार'	हुकुर् (xukur) +	अ	>	हुक्र
'मंगलवार'	मंगल् +	अ	>	मंगल
'चंदर'	चंदर् +	अमि	>	चंद्रमि

नकारात्मक पूर्वजों के साथ कुछ आख्यातिक अंग और आदेशानुसार विभक्ति-प्रत्यय हैं।

नॆ	—	कॆर	+	अ	>	नॆक्र
न	—	मन्	+	अ	>	नम्न

नु	—	हुम्	+	अ	>	नुह्न
नि	—	मिल्	+	अ	>	नि - म्ल

उर्दू

'ऊपर'	ऊपर	+	ई	>	ऊपरी
'अभागिनी'	अभागन	+	ई	>	अभागनी
'सलामती'	सलामत	+	ई	>	सलामती
'कचेरी'	अदालत	+	ई	>	अदालती
'अनुकृति'	नकल	+	ई	>	नकली
'अंगुली'	अंगुल	+	ई	>	अंगली
'पुरुषों'	पुरुष	+	ओ	>	पुरषो
'श्वसुरगृह'	स्वसुर	+	आल	>	ससुराल
'अंतिम'	आखिर	+	ई	>	आखरी
'ख्यात'	जाहिर	+	ई	>	जाह्री
'लागवग'	सिफ़ारश	+	ई	>	सिफ़ारशी

उपांत्यस्थान में 'अ' के साथ आती हुई मध्य गुजराती काल की cv cv cv प्रकार की रचना का विकास अर्वाचीन गुजराती में व्यंजनगुच्छों के रूप में हुआ —

'अटकता है'	अटके	>	अट्के
'कर सकना'	सकतो	>	शक्तो
'देता'	आपतो	>	आप्तो

निम्नलिखित दृष्टांत पर भी ध्यान दीजिए —

'लालची'	लालच्	+	उ	>	लाल्चु
'सुरत निवासी'	सूरत	+	ई	>	सुर्ती इत्यादि।

अर्वाचीन गुजराती में उपांत्यस्थान के ह्रस्व 'इ' और 'उ' के लोप के उदाहरण नहीं मिलते क्योंकि पुरानी गुजराती में प्रयुक्त इस प्रकार के ह्रस्व 'इ' और 'उ', मध्यकालीन गुजराती में 'अ' के साथ मिल गए थे। इसी तरह 'इ' और 'उ' के कुछ उपघटक y और v के साथ मिश्रित हो जाने से cy और cv प्रकार के गुच्छ अर्वाचीन गुजराती में विकसित हुए। मध्यकालीन गुजराती की 'इउ' और 'उउ' प्रकार की रचना -यु और-वु रूप में विकसित हुई, 'आपिउ' > 'आप्यु' = 'दिया'; 'बोलिउ' > 'बोल्यु' = बोला; 'कडुउं' > 'कड्वु'' = 'कटु';' रांढ़ऊउं' >' रांढ़्वु'' = 'रस्सी';' बडुवु' > 'बड्वु' = 'ब्राह्मण बटु' (पीछे से मध्यकालीन गुजराती के पुंप्रत्यय अंत्य 'उ' के स्थान पर अर्वाचीन गुजराती ने 'ओ' लिया और 'आप्यु' > 'आप्यो', 'बड्वु' > 'बड्वो' आदि का विकास हुआ)।

इस प्रकार C_1 C_2 और C S प्रकार के गुच्छ मध्य गुजराती काल के पश्चात् विकसित हुए और अर्वाचीन गुजराती में विद्यमान हैं। लेकिन अर्वाचीन गुजराती में C_1 C_1 C_2 और C_1 C_1 S प्रकार के गुच्छ संस्कृत से लिए हुए आगंतुक शब्दों में पाए जाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में अपना अनुमान संक्षेप में निम्न रूप से हम रख सकते हैं —

अ – प्रारंभिक **मभाआ** काल से प्रारंभिक **नभाआ** काल तक C_1 C_1 C_2 और C_1 C_1 S प्रकार के गुच्छ आगंतुक या स्वकीय रचनाओं में प्राप्य नहीं हैं। इस समय के मध्य संस्कृत से लिए गए आगंतुक शब्द निम्नलिखित रीति से परिवर्तित हुए —

१ – संस्कृत आगंतुक शब्दों की C_1 C_2 रचना ने, प्रारंभिक **मभाआ** काल में C_1 V C_2 के रूप में अपना रूप बदल लिया।

२ – शिष्ट **मभाआ** काल में $\breve{V}$ C V प्रकार के संस्कृत से आगंतुक शब्दों में पूर्वस्वर ह्रस्व हुआ और द्विस्वरांतर्गत व्यंजन का द्विर्भाव हुआ— $\breve{V}$ C C V। (घटकानुसार इसका संकेत $\breve{V}$ C V में दिया जायगा।)

३ – संस्कृत आगंतुक शब्दों की C_1 C_2 प्रकार की रचना आरंभिक **नभाआ** काल के दरमियान C_1 V C_2 में परिवर्तित हुई। १ और ३ के बीच स्पष्ट साम्य है। उभय भूमिका में, स्पर्श व्यंजन आदि एवं द्विस्वरांतर्गत (ह्रस्व या दीर्घ स्वर के बाद) स्थान में स्वकीय व्यवस्था में आने लगे, इसलिये दोनो भूमिकाओं में समान आदेश हुआ।

ब – मध्यकालीन गुजराती के कुछ ध्वनिपरिवर्तनों के फलस्वरूप C_1 C_2 और C S प्रकार के गुच्छ अर्वाचीन गुजराती में विकसित हुए। कोई यह कहने का भी साहस कर सकता है कि प्रस्तुत C_1 C_2 और C S प्रकार के गुच्छों की दृष्टि से यदि देखा जाय तो अर्वाचीन गुजराती ने संस्कृतकाल की स्वरयोजना का ही पुनर्निर्माण (या पुनर्ग्रहण) किया है।

किंतु, संस्कृत आगंतुक शब्दों के C_1 C_2 और C S प्रकार के गुच्छ अर्वाचीन गुजराती काल में C_1 C_1 C_2 और C_1 C_1 S प्रकार के गुच्छों के रूप में प्रवर्तमान हुए और संस्कृतीय गुच्छ C_1 C_1 C_2, स्वकीय गुच्छ C_1 C_2 के साथ भेदक बनकर आए; इसी तरह संस्कृतीय गुच्छ C_1 C_1 S, स्वकीय गुच्छ C S के साथ भेदक बने।

तो क्या संस्कृत आगंतुक शब्दों के C_1 C_1 C_2 और C_1 C_1 S गुच्छ अर्वाचीन गुजराती के हैं ! संस्कृत में तो C_1 C_2 और C_1 C_1 C_2 या C S और

$C_1\ C_1\ S$ में घटकगत भेद (फोनेमिक कंट्रास्ट) नहीं है। घटकों की दृष्टि से संस्कृत में $C_1\ C_2$ और $C\ S$ प्रकार की ही उपस्थिति है, ऐसा कहा जा सकता है। संस्कृत आगंतुक शब्दों के प्रभवस्थान की जाँच करने के लिये दो विकल्पों को विचार सकते हैं—

१ – संस्कृत शब्दों की समूहराशि, जो **भाआ** भाषाओं के इतिहास में साद्यंत मौजूद है, पर जो परिवर्तित व्यवस्थाओं के साथ एकरूप न बनकर अपने विशिष्ट उच्चारणतत्वों के साथ ही वाग्व्यवहार में उपस्थित है। लेकिन जब किसी भी प्रस्तुत व्यवस्था के अनुलक्षण में ध्वनिव्यवस्था की संगति करनी होती है तब एक व्यवहार में, और दूसरी व्यवस्था में उनका उच्चारणस्वरूप एक ही रहने पर भी उनके ध्वनिघटकों की संगति एक नहीं हो सकती। 'शुद्धत्व', प्रतिष्ठा और संस्कृत का उपयोग करनेवाले उन्नतभ्रू वर्गों के स्वभाव के प्रभाव से उनके संस्कृतीय ध्वनिस्वरूप का निबाह होता था। ये गुच्छ संस्कृतीय प्रणाली की एक अनवच्छिन्न शृंखला को दिखाते हैं। इस विकल्प के स्वीकार के साथ साथ हमें यह भी स्वीकारना होगा कि **प्राभाआ** में भिन्नस्थानीय व्यंजन-गुच्छ, उच्चारण की दृष्टि से $C_1\ C_1\ C_2$ और $C_1\ C_1\ S$ प्रकार के थे। ध्वनिघटक की दृष्टि से $C_1\ C_1\ C_2$ और $C_1\ C_2$ या $C_1\ C_1\ S$ और $C\ S$ में कोई भेद नहीं था। $C_1\ C_2$ और $C\ S$ के रूप में उसका लेखाजोखा हो सकता है। संस्कृत का यह 'निजी' उच्चारणतत्व, **प्राभाआ** से **नभाआ** तक की भाषाव्यवस्थाओं के आंतरिक परिवर्तनों में भी सुरक्षित था।

ऐसा होने पर भी हम मान लेते हैं कि **भाआ** की पूर्वभूमिकाओं में इन गुच्छों का ध्वनिस्वरूप $C_1\ C_1\ C_2$ और $C_1\ C_1\ S$ था (उस समय के उच्चारणसमूह को प्राप्त करने का कोई साधन हमारे पास नहीं है)। फिर भी एक समय, जिसमें संस्कृत आगंतुक शब्द लिए गए थे और उनका स्वरूप सब काल में 'निश्चित' ही आता चला—ऐसे भाषासमाज के अस्तित्व की शक्ति कम है। **भाआ** भाषाओं में उसके इतिहास के हर तबके में संस्कृत के आगंतुक शब्दों का ग्रहण होता ही रहा है।

२ – ऐसा सोचा जा सकता है कि नवीन संस्कृत शब्द, सांस्कृतिक या साहित्य की भाषागत परंपरा से प्रत्येक काल में गृहीत किए जाते रहे हैं, अर्थात् उनका आगमन निरंतर चालू ही रहा है। इन शब्दों के ध्वनिस्वरूप का परिवर्तन समाज के भिन्न भिन्न स्तरों में भिन्न भिन्न रीति से हुआ होगा। अधिक शिष्ट और संस्कृत समाज में वे संस्कृत ध्वनिस्वरूप के अधिक निकट रहे होंगे और ग्रामीण स्तरों में उनका ध्वनिस्वरूप, संस्कृत से अधिक दूर रहा होगा।

भाषागत इतिहास की भिन्न भिन्न भूमिकाओं में संस्कृत शब्दों के आगमन से करीब करीब दो स्तरों में उनका अस्तित्व हो सकता है। एक स्तर है 'शुद्धता' की

पराकाष्ठा का (तत्सम शब्द की निकटतरता का)—उदाहरणार्थ—पढ़े लिखे लोगों का वर्ग साहित्यिक संस्कृत से परिचित होने से संस्कृतीय तत्वों को सुरक्षित रखने का सामान्य प्रयत्न करता है। ऐसे शब्दसमूह का 'असमीकृत' (अनऍसिमिलेटेड) शब्द से नामांकन हो सकेगा। शिष्टजनों की भाषा में उनकी उपस्थिति उच्चारण के भिन्न भिन्न प्रतिमान (पैटर्न) की द्योतक है। दूसरा स्तर है सामान्य व्यवहार का। संस्कृत के साथ जिसका प्रत्यक्ष संबंध नहीं है बल्कि जो पढ़े लिखे लोगों का अनुकरण करता है, उस स्तर के लोगों में आगंतुक शब्द के उच्चारण की 'शुद्धता' (तत्समता) निश्चित करने के लिये कोई मानदंड नहीं है। ऐसे लोगों के आगंतुक शब्दों का नामाभिधान 'समीकृत' शब्द से किया जायगा। परिस्थिति के इन दो अंतिम बिंदुओं के बीच सारूप्य या समीकरण (ऍसिमिलेशन) की भिन्न भिन्न कोटियाँ मान्य हैं।

किसी भी **भाआ** भाषा के इतिहास की प्रत्येक भूमिका पर संस्कृतीय तत्व इन दोनों स्तरों पर ही विद्यमान हो सकता है। संस्कृत शब्द 'शुद्धता' और 'प्रतिष्ठा' की एक कक्षारेखा पर दृश्यमान होते हैं जिसके एक छोर पर थे शिष्ट ब्राह्मणजन और दूसरे छोर पर थे साधारणतया निरक्षर जनसामान्य रूप भाषयिता। **मभाआ** काल में संस्कृत आगंतुक शब्दों का अस्तित्व उस भाषा की व्यवस्था के समरूप नहीं होगा। 'भक्त', 'नीच' जैसे शब्दों ने अपना ध्वनिआकार, मूल भाषा संस्कृत के निकट रखा होगा। घटक की दृष्टि से वे भाषाव्यवस्था की सीमारेखा पर हो सकते हैं। इस समूह के कुछ शब्द पीछे से समरूप बनते चले होंगे। जैसे 'निच' और स्वकीय भाषा की मुख्य (सेंट्रल) ध्वनिव्यवस्था में प्रवेश कर, प्रतिष्ठा का चिह्न छोड़कर, देशी शब्दसमूह के अंगभूत बन गए। भिन्नस्थानीय गुच्छों की सुरक्षा, प्रतिष्ठा और विद्वत्ता की निशानी मानी गई। किसी एक निश्चित समय पर, जनसमाज में ऐसे आगंतुक शब्दों के भिन्न भिन्न स्तरों में अलग अलग ध्वनिआकारों और घटक के भिन्न भिन्न आविष्कारों के साथ वे प्रयोजित रहे होंगे। इस प्रकार संस्कृत शब्दों के भिन्नस्थानीय गुच्छ **मभाआ** में अपने ध्वनिस्वरूप को सुरक्षित रखकर प्रतिष्ठा एवं विद्वत्ता के चिह्न बन गए।

साहित्य और शिक्षण की गंगोत्री से निकलकर हर समय भाषा में प्रवेश पानेवाले आगंतुक शब्द प्रत्येक मापक के लिये हमेशा नए ही होते हैं। संस्कृत में व्यंजन-गुच्छ संयुक्ताक्षर के रूप में लिखे जाते हैं। यथा—प्रथम व्यंजन आधा स्वर के सिवा और दूसरा व्यंजन संपूर्ण लिखा जाता है। कुछ शब्दों में संस्कृत अक्षर 'र् ह्' के पश्चात् दो व्यंजन लिखने की स्वतंत्रता थी जैसे 'स्वर्ग' शब्द को 'स्वर्ग्ग' के रूप में भी लिख सकते थे। अर्वाचीन **भाआ** भाषाओं में स्वकीय गुच्छ संयुक्ताक्षर के रूप में नहीं लिखे जाते हैं। अर्वाचीन भाषाओं में ध्वनिपरिवर्तनों के फलस्वरूप जिन व्यंजनगुच्छों की उपस्थिति है उनसे ठीक ठीक पूर्वकाल में लिपि की प्रणालियों की स्थापना हुई थी।

इस प्रकार अर्वाचीन गुजराती का (या हिंदी का 'सक्ति') 'शक्ति' शब्द संस्कृत 'शक्ति' शब्द जैसा नहीं लिखा जाता है। लिपिप्रणाली स्वकीय 'शक्ति–सक्ति' शब्द को तीन अक्षरों (सिलेबुल्स) में दिखाती है जब कि संस्कृत शब्द शक्ति को ('क्' आधा लिखा जाता है) दो अक्षरों में पहचान करा देती है। कोई ऐसा कह सकता है कि लिपि स्वकीय और संस्कृत आगंतुक पदों और स्वकीय पदों को अलग रखती है किंतु उसमें दो शब्दों के घटकगत भेद का प्रतिबिंब नहीं मिलता है।

पढ़े लिखे लोगों के व्यवहार में आगंतुक तत्व को प्रकट करनेवाले C_1 C_2 और C S गुच्छोंवाले संस्कृत आगंतुक शब्द अभी तक स्वकीय भाषाव्यवस्था की सीमा पर थे। ऐसी रचना सामान्य भाषा में प्रधान नहीं थी बल्कि शिक्षण और प्रतिष्ठा की मुहर के रूप में उसका स्वीकार होता था।

परंतु देशी भाषा की व्यवस्था में परिवर्तन होने से प्रतिष्ठित रचनाएँ सामान्य रचनाएँ बन गईं, जिससे संस्कृतीय गुच्छों और स्वकीय गुच्छों का भेद लुप्त हुआ। इस प्रकार पढ़े लिखे लोगों और सामान्य लोगों की उच्चारणरीति के एक बड़े भारी महत्व का अंतर अदृश्य हो गया।

आज अर्वाचीन गुजराती में संस्कृतीय गुच्छ स्वकीय गुच्छों के साथ आ बैठे हैं लेकिन आज भी शिक्षित जनों ने दोनो गुच्छों का भेद निभाया है। संस्कृतीय गुच्छों का उच्चारण C_1 C_1 C_2 या C_1 C_1 S है जब कि स्वकीय गुच्छों का उच्चारण C_1 C_2 या C S है। इससे हम संस्कृतीय गुच्छों के प्रभवस्थान आंतरभाषीय रूपांतर के ध्वनिगत या घटकगत स्तर पर नहीं पा सकेंगे। पूर्वभूमिकाओं में संस्कृत गुच्छ C_1 C_2 या C S गुच्छ ही हो सकते थे। लेकिन आज संस्कृतीय और स्वकीय गुच्छ एक हो गए। उसने संस्कृतीय गुच्छों को द्विर्भाव की दिशा में ठेला। इसमें अवरोध की क्रिया दीर्घ काल तक होती है (पूर्व व्यंजन का स्फोट नहीं होता है) जिससे वे स्वकीय गुच्छों की तुलना में भेदक बनते हैं। स्वकीय गुच्छों में व्यंजन का अवरोध अल्पकाल तक रहता है (प्रथम व्यंजन का आंशिक स्फोट होता है)। इस तरह दोनो गुच्छों का भेद सुरक्षित रह गया, जैसे संस्कृतीय गुच्छ 'आप्तो' (= आदरणीय लोग) के विरुद्ध स्वकीय गुच्छ 'आपतो' (= देता) या संस्कृत गुच्छ 'भव्यो' (= पवित्र आत्माएँ) के विरुद्ध 'आव्यो' (= आया) में भेद है।

पहले हमने कहा है कि जब स्वकीय रचना संस्कृतीय व्यंजनगुच्छों की रचना से मिश्रित हो गई तब नए नए उच्चारणप्रवर्तनों से संस्कृतीय रचना में परिवर्तन आया और भेद निभाया गया। **प्राभाआ** में C_1 C_2, C S प्रकार के गुच्छों में और C_1 C_1 C_2 एवं C_1 C_1 S प्रकार के गुच्छों में अंतर ही नहीं था। हमने यह भी दिखाया है कि

ऐसे गुच्छों के ध्वनिस्वरूप को पहचानने के लिये अपने पास कोई मार्ग नहीं है, बल्कि उच्चारणवर्णनों – प्रातिशाख्यों – के प्राचीन रचयिताओं ने संस्कृतगुच्छों के उच्चारण का पर्याप्त वर्णन किया है। व्यंजनगुच्छ में, यथा — स्पर्श + स्पर्श में, प्रथम व्यंजन का स्फोट नहीं होता है और बिना इस स्फोट के अवरोध का 'अभिनिधान' (गाढ़ संपर्क) के रूप में वर्णन किया है। ऋक्प्रातिशाख्य, स्पर्श व्यंजनों और ('ह' को छोड़कर अन्य) व्यंजनों के पुरोगामी अर्धस्वरों के अवरोध या अस्फोट का वर्णन अभिनिधान से करता है। विसर्ग के पूर्व आनेवाले व्यंजनों में भी अभिनिधान की प्रक्रिया ही होती है—

'अभिनिधानम् कृतसंहितानाम् स्पर्शान्तस्थानामपवाद्य रेफम्। संधारणम् संवरणम् श्रुतेश्च स्पर्शोदयानाम् अपि चावसाने'।[3]

संस्कृतवाचिक प्रकृति के प्राचीन वर्णनों के ऐसे ही अन्य निरीक्षणों को समझाते हुए, श्री सुनीतिकुमार चटर्जी अभिनिधान को, **प्राभाआ** की वाचिक प्रकृतियों से शुरू करके **मभाआ** काल तक की वाचिक प्रकृतियों की अवांतर भूमिकाओं के व्यंजनगुच्छों में प्रथम व्यंजन का अस्फोट बताकर व्याख्या करते हैं।[4]

उक्त कथन की अपेक्षा इस रूप में भी उक्त बात को रख सकते हैं कि प्राचीनतम **प्राभाआ** में 'लिप् - त' या 'भक् - त' जैसे शब्द, समास के या संयुक्त स्पर्शवर्णों के प् - त्, क् - त् के पहले व्यंजन के पूर्ण स्फोट के साथ बोले जाते थे तब जब कि विशेष रूप से उच्चारयिता व्यक्ति को 'लिप्' और 'भक्' — अंग (अवयव) हैं, इसका ज्ञान था। बल्कि, **प्राभाआ** और **मभाआ** के संगमकाल में **भाआ** उच्चारण के सावधान निरीक्षकों — प्रातिशाख्यों के रचयिताओं — ने जिसका उल्लेख दृष्टांतरूप से ब्राह्मणों की संस्कारी बोली में किया था और जो अंतिम **प्राभाआ** काल की वाग्रीति का दर्शन कराती है, ऐसी उच्चारण की एक नई रीति का आविर्भाव हुआ। अभिनिधान या संधारण से ये रीतियाँ ख्यात थीं। वह अंत्य या उपांत्य स्पर्श व्यंजन का आंशिक स्फोट के साथ होनेवाले उच्चारण का निर्देश करती थीं (सन्नतर, पीडित)[5]।

इन निरीक्षणों[6] से यह स्पष्ट होता है कि प्रारंभिक **भाआ** के व्यंजनगुच्छ में

३. ऋक्प्रातिशाख्य, ६।१७-१८।
४. चटर्जी १९४२, पृ० ८२।
५. ऋक्प्रातिशाख्य और अथर्वप्रातिशाख्य।
६. अलेन, १९५३ - ३ - ११० : ७१ ७२।

(स्पर्श + स्पर्श या स्पर्श + अर्धस्वर या संघर्षी) प्रथम स्पर्श व्यंजन स्फोट के साथ बोला जाता था (जैसे अर्वाचीन **नभाआ** भाषाओं में वह आंशिक स्फोट से बोला जाता है) । उसके बाद, **मभाआ** में उसका रूप **मभाआ** के व्यवस्थानुसार हो गया और अस्फुट रहकर उनका अनुगामी व्यंजन के साथ सारूप्य हो गया। पढ़े लिखे लोगों की भाषा में, अर्वाचीन **नभाआ** भाषाओं के संस्कृत आगंतुक शब्दों के उच्चारण में इसी लिये एक नया ढंग (इंनोवेशन) प्रसरित हुआ है। (चटर्जी ने इस बात को छोड़ दिया है किंतु समाजगत भेदों की भाषकीय अभिव्यक्ति की खोज करनेवाले किसी भी निरीक्षक के लिये यह बिलकुल स्पष्ट है।)

उच्चारयिता की सामाजिक प्रतिष्ठा की अगत्वरता दिखानेवाला निदानात्मक आलेख बनाने में एक महत्व का मानदंड है—आगंतुक शब्दों (सांस्कृतिक संपर्क से आए हुए) का समूह और परभाषा की व्यवस्था में स्थित उसके मूल रूप के साथ आगंतुक तत्व की समानता। गुजराती में (और संभवतः दूसरी **भाआ** भाषाओं में भी) स्वकीय रचनाओं का नियमित ध्वनिपरिवर्तन द्वारा प्रतिष्ठित रचनाओं से एकाकार हो जाने पर भी सामाजिक अंतर उतना ही बना रहा है। प्रतिष्ठित रचना की पुनः प्राप्ति के लिये शिक्षितों की व्यक्तिगत बोलियों में एक नया भेद उत्पन्न हुआ।

ऐसे नवीन प्रवर्तन (इंनोवेशंस) सुशिक्षितों की बोलियों में भिन्न भिन्न प्रकार के हो सकते हैं। उनकी बोलियों में कुछ संस्कृतीय भेद सुरक्षित होंगे जब कि देशी बोलियों ने वैसे भेदों का परिहार किया होगा। फारसी और अँगरेजी के आगंतुक शब्दों के बारे में नए प्रवर्तन मुख्यतया अंगरेजी और फारसी की ध्वनिव्यवस्था के प्रवेश से ही हुए हैं। नए भेदों को अपनाने में शिक्षित सफल हो सकते हैं लेकिन सामान्य उच्चारयिता तो इन आगंतुक शब्दों को अपनी भाषाव्यवस्था के अनुरूप बनाते हैं। जैसा संस्कृत के विषय में है वैसा ही अँगरेजी और फारसी के विषय में भी है। यहाँ भी संपर्क गौण होने पर भी पढ़े लिखे लोग मुख्यतया शब्दों के लिखित स्वरूप को ग्रहण करते हैं और जिस अंतर की वे रक्षा करते हैं वह स्वयं फारसी या अँगरेजी भाषी के लिये आत्यंतिक महत्व का नहीं भी हो सकता है। यहाँ ध्यान देने की बात बल्कि यह है कि वाचिक प्रकृतियों से ही शिक्षित जनों और अनपढ़ सामान्य लोगों के बीच सामाजिक अंतर बना रहता है।

शिक्षण के प्रसार और मुद्रण की सुविधाओं से साहित्यिक आदानप्रदान पर्याप्त मात्रा में फैलते हैं और मान्य शिष्ट भाषा के अंग बनते हैं। इसका सुंदर दृष्टांत अर्वाचीन गुजराती ध्वनिव्यवस्था से पेश किया जा सकता है। पढ़े लिखे गुजराती-भाषियों की बोली में दो ध्वनिघटक हैं s और x (स् और ह्—'स्' दंत्यसंघर्षी और 'ह्' कंठ्यपृष्ठ के प्रदेश में जिह्वापृष्ठ के संघर्ष से पैदा होनेवाला, प्रायः अग्र वेरिंगल संघर्षी

है)। 'स्' और 'ह्' की उपस्थिति के नियम ये हैं—जहाँ 'ह्' आता है वहाँ 'स्' भी आ सकता है किंतु 'स्' उसके अलावा अन्यत्र भी आ सकता है। 'ह्' युक्त शब्द में 'ह्' के स्थान पर 'स्' आ सकेगा परंतु 'स्' युक्त कितने ऐसे भी शब्द हैं जहाँ विकल्प से 'ह्' नहीं आ सकेगा। ऐसे शब्द संस्कृत से आए हुए आगंतुक शब्द हैं। इस प्रकार 'स-ह' का वैकल्पिक संबंध निम्नलिखित दृष्टांतों से स्पष्टतया देखा जा सकता है—

सचू	—	हचू	'सच्चा'
सत्	—	हत्	'सात'
दस्	—	दह्	'दस'
वॉसे	—	वॉहे	'पीछे'
पॉसे	—	पॉहे	'नजदीक'

लेकिन निम्नलिखित शब्दों में —

असत्य	'जूठा'
सेतु	'पुल'
आसन	'बैठक'

S—X (स्—ह्) के पूरक संबंध नहीं देख पड़ते हैं। 'स्' और 'ह्' का भेदक शब्दयुग्म (मिनिमल पेयर) नहीं मिलता है। किंतु 'ह्' की उपस्थिति पर अन्य घटक का नियमन न होने से उसका दर्जा ध्वनिघटक का ही है। वह केवल अनपढ़ और उपशिष्ट बोली का निर्देशक है।

ऐतिहासिक दृष्टि से पुरानी गुजराती काल के बाद 'स्' ध्वनिघटक का 'श्' और 'ह्' में विभाजन हुआ, लेकिन लिपि ने 'स्' और 'श्' के संकेत ही निभा लिए और ह् के लिये किसी नए संकेत का निर्माण नहीं किया। पिछली हर एक भूमिका में विद्वानों ने लिपि से प्रेरित होकर 'स्' को आगंतुक घटक के रूप में अपनाया। निरंतर अनुकरण से अल्प शिक्षितों और निरक्षरों ने भी इस नए घटक को स्वीकार किया और शिक्षितों ने उसको प्रतिष्ठा दी। अब 'स्' के स्थान पर 'ह्' का पुनः स्थापन उपशिष्ट भाषा का लक्षण माना जाता है।

भारतीय भाषासमाजों में इस प्रकार का भाषागत वैविध्य 'जातिबोलियाँ' (सामाजिक बोली का एक विशिष्ट प्रकार) शब्द से ख्यात है और इसी भाँति भाषागत वैविध्य एवं सामाजिक वर्गों में भिन्न भिन्न पारस्परिक संबंधों का भी दर्शन किया गया है।

प्रतिष्ठा के संकेतों, (जिनके भिन्न भिन्न प्रकारों की चर्चा आगे की गई है) और व्यवसायी बोलियों (जार्गन्स्) में भेद करना आवश्यक है। अँगरेजी का स्वरभार

किस तरह सामाजिक भेद का संकेत बनता है, **स्पेंसर** ने उसकी आलोचना की है।[७] भिन्न भिन्न स्तरवाले समाज में, निराली रीतिरस्मों और ईश्वरभक्ति के प्रकारों के साथ साथ अलग अलग पंथों और उपपंथों से विशिष्ट शब्दनिधि का उत्कर्ष हुआ है। 'व्यावसायिक' बोली की तरह ये 'बोलियाँ' (यहाँ जार्गन्स् शब्द अधिक उचित है) निश्चित प्रकार के सामाजिक वर्गों की पहचान में विभाजनरेखा के रूप में कार्य करती हैं। लेकिन आगंतुक संस्कृतीय तत्व, भिन्न भिन्न सामाजिक वर्गों पर कुछ न कुछ अध्यारोपण करके मानव की भाषा के 'शुद्धीकरण' की सतत प्रवृत्ति के प्रति अंगुलिनिर्देश करता है। अभी तक शिक्षण ने मुख्यतया उच्च जातियों पर अपना प्रभाव जमाया था। इसी लिये संस्कृतीय तत्व का अधिक प्रमाण उनकी भाषा में ही हो सकता है। किंतु जातियों का भिन्न भिन्न सामाजिक दर्जों और उच्चारण की भिन्न भिन्न प्रणालियों के बीच कोई नियत संबंध पैदा होना संभव नहीं। भाषा के आगंतुक शब्द द्वारा भाषा में शुद्धि और प्रतिष्ठा का जो मानदंड होता है वह हमेशा बदलता रहता है और प्रत्येक निचली जाति ऊपरवाली का अनुकरण करके ऊपर आती रहती है—सतत गति में ऐसा घालमेल होता रहता है। 'जातिबोलियों (कास्ट डायलेक्ट्स्) के भिन्न भिन्न अभ्यास, उच्च जातियों की बोलियों से परंपरया सुरक्षित प्राचीन तत्वों को काफी मात्रा में प्रकट करते हैं। सामान्यतया यह साहित्य से होनेवाला आदानप्रदान है। **गंपर्स** का अध्ययन ग्रामीण बोलियों के सूक्ष्म मापन का है[८]। इससे व्यक्तिगत बोलियों के भेदों का वर्गीकरण और आलेख के अनुसार संस्कारी प्रतिष्ठा के अनुरूप क्रमिक व्यवस्था में जो वर्ग पंक्तिबद्ध हैं उनके साथ बोलियों का पारस्परिक संबंध प्रस्तुत करता है। उत्तर प्रदेश के खालापुर गाँव के छः वर्गों में से प्रथम तीन (**एबीसी**) हिंदू और मुस्लिम अस्पृश्येतर जातियों और राजपूतों के हैं और दूसरे तीन (**डीईएफ्**) चमार, मोची और मेहतरों के हैं।

ध्वनिघटकों की उपस्थिति के नियमों का एक प्रधान भेद **एबीसी** और **डीईएफ** वर्गों को अलग अलग रखना है। निश्चित संदर्भ में 'इ' और 'उ' की **एबीसी** में उपस्थिति **डीईएफ्** में 'अ' की उपस्थिति के साथ कुछ रूपों में संबंधित है। यह पार्थक्य यों समझाया गया है—

'अ का उपयोग साधारणतया पुराने ढंगवालों या अनपढ़ लोगों का भाषालक्षण माना जाता है यद्यपि उसका दर्जा हमेशा निचली जाति का नहीं होता है'।[९]

७. स्पेंसर, १९५७।

८. गंपर्स, १९५८ : ६७१।

९. वही, १९५८ : ६७२।

इस अर्थघटक और संबंध को समझानेवाले 'कुछ रूपों' के उदाहरणों के निर्देशानुसार 'इ' और 'उ' वाले ये रूप प्राचीन रूप हैं। निश्चित संयोगों में 'इ' और 'उ' का 'अ' में ध्वनिपरिवर्तन होने से सारे प्रदेश में 'अ' व्याप्त हुआ और गाँव की उच्च जातियों ने 'कुछ रूपों' में 'इ' और 'उ' का पुनः प्रवेश कराया और वे प्रतिष्ठा के संकेत बन गए। यह ध्वनिपरिवर्तन भाषा की भिन्न भिन्न बोलियों के विकास में दृश्यमान है। लेखक का नीचे दिया हुआ विधान इस दृष्टिकोण का समर्थक है—

'उत्तर में बीस मील पर दूसरे गाँव में मालूम होता है कि कितने ही राजपूत उपर्युक्त संदर्भ में 'अ' का प्रयोग करते हैं'।

भाषा की पूर्वभूमिका के 'इ' और 'उ' की एबीसी वर्गों में की गई ऐसी जाँच और भी आगे बढ़कर की जा सकती है। लेकिन आधारभूत जानकारी 'कुछ रूपों' से संबंधित होने से संभव है कि एबीसी वर्गों के ही शेष शब्दों में 'अ' का विकास दिखाई पड़े ('डीईएफ्' में 'उ' 'इ' का कभी कभी प्रयोग अति संस्कृतीकरण का दृष्टांत माना जायगा। इधर उधर परिवर्तनों, भाषा की नई लाक्षणिकताओं के आगमन और अपगमन से भिन्नताएँ आती दिखाई पड़ सकती हैं)।

खालापुर गाँव के भिन्न भिन्न जातिगत वर्गों के भाषागत वैविध्य को जातिबोलियों के वैविध्य के रूप में नहीं समझाया जा सकेगा बल्कि उच्च जातियों की भाषा में संस्कृतीय और साहित्यिक तत्वों के प्रवेश की प्रवृत्ति के रूप में समझाया जा सकेगा। ये आगंतुक शब्द हैं और भाषा के अपने प्राचीन रूपों (इसलिये ही अधिक आदरणीय - प्रतिष्ठित) के साथ अनुसंधि दिखानेवाले हैं।

ब्राह्मणों में बोली जानेवाली बैंग्लोर की कन्नड़ और ओक्कलिगों में बोली जाती बैंग्लोर की कन्नड़ से भिन्नता दिखानेवाले ब्राइट के अध्ययन[10] से मालूम होता है कि ब्राह्मणों की बोली संस्कृत से लिए गए कुछ भेदों को निभाती है और अधिक प्राचीन रूपोंवाली है, जब कि ओक्कलिगों की बोली में आगंतुक विदेशी शब्दों और आगंतुक विशेष रचनाओं का अधिक परिहार होता है। परिस्थिति (औपचारिक अनौपचारिक प्रकार की) के संदर्भ में भाषागत वैविध्य के उदाहरण और उच्चारयिता की प्रतिष्ठा के मूल्य के संदर्भ में भाषागत वैविध्य के दृष्टांत ब्राइट ने उद्धृत किए हैं जिनमें से दो नीचे दिए गए हैं —

	औपचारिक	ब्राह्मण	ब्राह्मणेतर
मनुष्य	मनुष्य	मनुश्य	मनूस
माफ कीजिए	क्शमिसु	क्शेम्सु	चॅ्एम्सु

१०. ब्राइट १९६० : १, २।

ये दृष्टांत, आगंतुक शब्दों को, मूल रूप के साथ सामीप्य के आलेखन से प्रकट करते हैं।

जूल्स ब्लाश् ने तामिल में ऐसी ही परिस्थिति का उल्लेख किया है— प्राचीन तामिल z ब्राह्मणों की बोलियों में सुरक्षित है जब कि ब्राह्मणेतर बोलियों में वह 'य, ल, ळ' या शून्य के साथ मिल जाता है।

ब्राइट का अवलोकन ठीक है—

'संक्षेप में, ब्राह्मणों की बोली — आगंतुक शब्दजन्य और सादृश्यजन्य — भाषागत परिवर्तन के अत्यंत समान स्तरों से अत्यंत नवीन प्रवर्तन का परिचय देने वाली दिखाई पड़ती है जब कि ब्राह्मणेतर लोगों की बोली — घटकों और अर्थघटकों के स्थानांतरण जैसे असंप्रज्ञात रूप से होनेवाले परिवर्तन को व्यापक बनानेवाली लगती है'[११]।

इसका अर्थ स्पष्ट रूप से यह हो सकता है कि एक प्रदेश में व्याप्त ध्वनिपरिवर्तन ब्राह्मणों या ब्राह्मणेतरों को समान रूप से प्रभावित करेगा लेकिन आगंतुक शब्दों के निरंतर ग्रहणव्यापार से ब्राह्मणों की बोली कुछ विशिष्ट तत्वोंवाली रहेगी। अतः भिन्न भिन्न 'जातिबोलियों' में 'परिवर्तनविषयक पार्थक्य' के आलेखनसंदर्भ में प्रश्न उपस्थित करना निरर्थक लगता है।[१२] ब्राइट के दृष्टांत में ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर बोलियों का विकास संयुक्त रूप से होता है; यह स्पष्ट निर्देश करता है कि भारतीय समाज के वाग्व्यवहार की धारा में जाति स्वतः व्यवहार में बाधा देनेवाला समूह नहीं है।

'सामाजिक बोली' के विचार को यथार्थ रूप से व्याख्याबद्ध करने में कठिनाई खड़ी होती है। बोली की ब्लूमफील्डीय विभावना है—वाग्व्यवहार के प्रमाण का अनुपात और भाषागत परिवर्तन का अनुपात। इस सामाजिक अंतर की भाषाशास्त्रीय अभि - व्यक्तियों का 'जातिबोलियों' से जब नामाभिधान करता है तब वह सापेक्ष रूप से मानने लगता है कि आंतरजातीय वाग्व्यवहार की घनता ज्यादा नहीं और जातियाँ ही वाग्व्यवहार के घनिष्ठ वर्ग हैं, उदाहरणार्थ — 'जहाँ सांस्कृतिक नियंत्रणों से आंतरवर्गीय वाग्व्यवहार कुछ मर्यादित है वहाँ अधिक संख्या में अधिक व्यापक रूप में इन भेदों के होने की अपेक्षा हम रखते हैं'।[13] लेकिन परिस्थिति बिलकुल

११. वही, १९६० : २।
१२. फर्गुसन और गंपर्स, १९६० : ३।
१३. वही, १९६० : १०।

भिन्न है। जहाँ उच्च नीच जातियों का सतत मिलना जुलना होता है वहाँ ही जातियों को अपना विशिष्ट स्थान निभाने के लिये ऐसे विशिष्ट वाक्संकेतों का अस्तित्व जाति जाति के बीच अधिक मात्रा में वाग्व्यवहार का सूचन करता है।

यदि हम शिष्ट पढ़े लिखे लोगों की भाषा में से 'संशुद्ध' तत्वों को निकाल दें तो शेष बचनेवाली व्यवस्था सारे प्रदेश के लिये एक सामान्य ही होगी। **ब्राइट** का निरीक्षण—

'अर्वाचीन कन्नड़ भाषाओं की उभय, ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर बोलियाँ, प्राचीन और मध्यकालीन कन्नड़ भाषाओं की तुलना में ऐतिहासिक परिवर्तनों का सूचन करती हैं। कुछ परिवर्तनों के विचार से तो दोनों बोलियों में भिन्नता अवश्य दिखाई पड़ती है लेकिन ऐसे जाने कितने परिवर्तन हैं जो दोनों में समान हैं, जैसे अनादि स्वरों का लोप'।[१४]

प्रस्तुत संदर्भ में 'अधिकांश' अर्थगर्भ है। कोई आगे बढ़कर सोच सकता है कि पढ़े लिखे लोगों ने जिसे अपनाया है वह संस्कृतीय आगंतुक तत्व, 'शुद्धता' और मूल के साथ सामीप्य की भिन्न भिन्न कोटियों में, अनुकरण की प्रक्रिया से मध्यम और निम्न जातियों में व्याप्त है, ऐसे संस्कृतीय तत्वों ने जातियों में वाग्व्यवहार के एक उपयोगी मार्ग की रचना की थी ; भाषणकर्ता वाग्व्यवहार के साथ साथ प्रतिष्ठा के आलेखन पर संस्कृतीय तत्व के व्यवहार से अपना दर्जा भी सुरक्षित रखता है।

ऊपर दिए गए गुजराती उदाहरणों में हमने देखा कि पढ़े लिखे लोगों की भाषा सामान्य जनता की भाषा के साथ एकरूप हो जाने से, पढ़े लिखे लोग आगे की ओर खिसक गए, धीरे धीरे आगे बढ़े और जो सामाजिक अंतर था वह यथावत् ही बना रहा। प्रतिष्ठासर्जक तत्वों (यहाँ संस्कृतीय और अन्य आगंतुक तत्व) ने भिन्न भिन्न प्रकार के परिवर्तनों को सक्रिय बनाया, उन्होंने नए भेदक तत्वों और अधिक नई रचनाओं का प्रवेश करवाया; लेकिन हम उनको, भाषागत परिवर्तन — संक्षेप में ध्वनिपरिवर्तन — के उपादानकारणों के रूप में नहीं सोच सकेंगे।[१५]

होनीजवाल्ड ने आगंतुक तत्वों के प्रसरण और ध्वनिपरिवर्तन की समान प्रकृति का उल्लेख किया है। ध्वनिघटक का परिवर्तन, अतिदेशकारी (डिस्क्रीट) है; सामान्य वाचिक प्रकृतियों से विद्यमान भेदों का निरसन करना इतना विरोधी है कि उनको अधिक प्रतिष्ठित बोलियों में से अल्प प्रतिष्ठित बोलियों के ग्रहणव्यापार के रूप में ही समझा जा सकेगा।

१४. ब्राइट, १९६० - १ : ४२४।

१५. जूल मार्टिन, १९५२।

'सामान्यतया किसी भाषासमाज में ध्वनिपरिवर्तन के साथ उसके आंतरिक बलाबल और आयास के फलस्वरूप होने से, उसकी मूलभूत योजना आगंतुक शब्दों के ध्वनि के रूपांतर की है ··· चिंत्य होने पर भी इस निष्कर्ष पर ही आना पड़ता है··· ···।'

अँगरेजी बोलचाल में कोई अँगरेजी भाषणकर्ता 'क्निप् और लिप्', 'क्निक् और लिक्' 'क्नॉक् और लॉक्' जैसे भेद को छोड़कर क्वचित् ही सरलता से व्यवहार कर सकेगा। लेकिन ये कुछ न कुछ 'नाइट' (knight) और 'नाइट, (night), निट्' (knit) और 'निट' (nit) एवं 'नॉट' (knot) और 'नॉट' (not) में कुछ सदियों पहले हुआ था, वैसा ही है। यह परिवर्तन सिर्फ उच्चारणभेद से शुरू हुआ था और समाज के कुछ सभ्यों ने अपने अधिक प्रतिष्ठित पड़ोसियों की मूल बोली मे गौण kn (के-एन् बिना स्फोट युक्त ? सानुनासिक घोष ?) ध्वनि को लेकर अपने n (एन्) के स्थान पर उसका आदेश करने के अनुवर्ती प्रयत्न (गलत समझौता) से उसका पुनः निर्माण किया, ऐसा यदि हम दिखा सकेंगे तो एक कठिन समस्या का कुछ हल निकाला जा सकेगा।

ऐसे तर्कों के सामने कुछ शंकाएँ हो सकती हैं। 'भेद के त्वरित लोप' की कठिनाई का सामना करने से हट जाने के लिये ध्वनिपरिवर्तन के सूक्ष्म प्रवर्तन को आगंतुक तत्वों की प्रवृत्ति के साथ एकरूप माना गया है, ऐसा मालूम होता है। क्योंकि सभी घटकपरिवर्तनों का निजी धर्म ही अतिदेश का है और ध्वनिपरिवर्तन की क्रमिकता (या ध्वनिपरिवर्तन की अनावर्तकता) पर ही प्रश्न उठा है। लेकिन, भिन्न भिन्न स्तरों से आते हुए ध्वनिगत और घटकगत परिवर्तन के संपर्कविधानों से समझौता हो सकेगा। परिवर्तन की प्रक्रिया सातत्ययुक्त है और ध्वनिघटक की विभावना अभ्यासी है। इसमें मापक के लिये ध्वनि का परिवर्तन कोई अतिदेशकारी घटना नहीं है, यह तो एक व्यवस्थालक्षित विधान होता है। वह नए घटकों के भेदों और रूपांतरों का विवरण रखता है; केएन् > एन् > न् को वाचिक प्रकृति के सतत परिवर्तन की दृष्टि से ही देखा जायगा, यह तब होगा जब 'क्न्' kn और 'न्' n दोनो की व्यवस्था अँगरेजी में कैसी है, उसका वर्णन किया जायगा, तभी भेद के लोप का विधान करने में हम समर्थ होंगे। भाषा का अभ्यासी भेद को पहचानता है, किंतु भाषणकर्ता निरंतर परिवर्तन-रूपशृंखला में फँसा हुआ होता है।

यदि हम ध्वनिपरिवर्तन को 'एक भाषासमाज के समूहों के आंतरिक बलाबल और आयास का परिणाम' मानते हैं तो हम भाषा की ध्वनिव्यवस्था की असमतुला से सर्जित परिवर्तन का मूल्य कम कर देंगे। ध्वनिपरिवर्तन का बोझ, सामाजिक व्यवस्था (एक भाषासमाज के समूहों के आंतरिक बलाबल) जैसे बाह्य खंडों पर डालने का प्रयत्न करना, अर्थात् ध्वनिपरिवर्तन के कारणों पर दृष्टिपात करने से अस्वीकार करने

वाली, प्राचीन क्लैसिकल सिद्धांत की दिशा में गतिशील होना है। परिवर्तनप्रक्रिया का बीज भाषाव्यवस्था से परे, समाजव्यवस्था में कैसे माना जा सकता है?

होनीजवाल्ड इस कठिनाई को पहचानते हुए लिखते हैं—

'संभव है कि ध्वनिव्यवस्था की आंतरिक विषमताएँ, भेदकघटकों के उपस्थितिसंबंधी नियमन, भेदकघटक कितने शब्दों को भिन्न रख सकते हैं, उनका गाणितिक प्रमाण इत्यादि जो भाषागत घटनाओं का वाग्व्यवहार में व्यक्ति व्यक्ति के बीच आदानप्रदान होता रहता है उनके साथ संलग्न हैं और ध्वनिपरिवर्तन इनके ऊपर निर्भर हो सकता है।'

इन प्रश्नों को हल करने के लिये क्षेत्रकार्य अधिक करना होगा। ऐसे क्षेत्रकार्य (फील्ड वर्क) के बाद ही ध्वनिपरिवर्तन की सूक्ष्म प्रक्रिया को हम देख सकेंगे। **ब्लूमफील्डीय** 'बोली' की विभावना (जो सर्वथा वाग्व्यवहार की मात्रा को परिवर्तन की मात्रा के साथ संलग्न रखती है), हमारी सामाजिक व्यवस्था के उपलक्ष्य में कहाँ तक सफल होती है, यह विचारणीय है। ऐसे भी परिवर्तन हो सकते हैं जो वाग्व्यवहार की घनिष्ठता में बाधा दिए बिना फैल सकते हैं*।

संदर्भग्रंथ

१. ऋक्प्रातिशाख्य — मंगलदेव शास्त्री, वाराणसी।

२. अलेन डब्लू० एस० १९५३ — फॉनेटिक्स इन एन्शयेंट इंडिया लंदन।

३. ब्लाश् जूल्स १९१० — कास्ने जे डायलेक्ते जैं तमिल, मेमायरे दे ला सोसायते लिंग्विस्तीक दे पारी। १६ : १ - ३०।

४. ब्राइट विलियम १९६० —१. 'लिंग्विस्टिक चेंज इन सम साउथ इंडियन कास्ट डायलेक्ट्स' 'लिंग्विस्टिक डाइवर्सिटी इन साउथ एशिया', सप्लीमेंट टू इंटरनेशनल जर्नल आव् अमेरिकन लिंग्विस्टिक्स २६ : १९ - २६।

वही — २. 'सोशल डायलेक्ट ऐंड लैंग्वेज हिस्टरी' करेंट ऐंथ्रॉपॉलॉजी १. सित० नवं० १९६० पृ० ४२४-२५।

* मूल अँगरेजी से हिंदी अनुवाद कुमारी पूर्णिमा शाह, एम० ए० ने किया है। लेखक उनका आभारी है।

५. चटर्जी सुनीतिकुमार १९६० — इंडो आर्यन ऐंड हिंदी, अहमदाबाद।

६. फर्गुसन ऐंड गंपर्स (संपा०) — लिंग्विस्टिक डाइवर्सिटी इन साउथ एशिया। सप्लीमेंट टु इंटरनेशनल जर्नल आव् अमेरिकन लिंग्विस्टिक्स २६, १९६०।

७. गंपर्स जान १९५८ — 'डायलेक्ट डिफरेंसेज ऐंड सोशल स्ट्रैटिफिकेशन इन ए नार्थ इंडियन विलेज' अमेरिकन ऐंथ्रॉपॉलॉजिस्ट ६०।४ : ६६८ - ६८२।

८. होनीजवाल्ड हेनरी १९६० — लैंग्वेज चेंज ऐंड लिंग्विस्टक री-कंस्ट्रक्शन। युनिवर्सिटी आव् शिकागो प्रेस।

९. जूस मार्टिन १९५२ — 'द मेडिवल सिब्रिलैंट्स' लैंग्वेज २८ : २२२ - ३१ (रीप्रिंटेड इन रीडिंग्स इन लिंग्विस्टिक्स) (संपा० एम० जूस), ३७२ - ७८, १९५७। अमेरिकन काउंसिल आव लर्नेड सोसायटीज, वार्शिंगटन।

१०. काकती बानीकांत १९४१ — आसामीज, इट्स फांउडेशन ऐंड डेवलपमेंट, गौहाटी।

११. पिशल रिचर्ड १९०० — ग्रामातीक देर प्राकृत स्प्राशें, अँगरे० अनु० सुभद्र झा, १९५७ वाराणसी।

१२. स्पेंसर जान १९५७ — 'रिसीव्ड प्रोनन्सिएशन : सम प्राब्लेंस आव् इंटरप्रिटेशन' लिंग्वा ७।१। ७ - २९।

*

कालिदास : भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि

राजबली पांडेय

संस्कृति एक ऐसी समष्टयात्मक धारणा है जिसमें जीवन की विभिन्न दृष्टियों का समाहार है। विशेषतया भारतीय संस्कृति अपनी भौगोलिक स्थितियों के कारण, इतिहास के सुदीर्घ विस्तार तथा जातीय जटिलताओं के कारण बहुमुखी है। कोई एक ऋषि भारतीय धर्म का प्रतिनिधित्व नहीं करता, कोई एक दार्शनिक समग्रतः भारतीय अवधारणा की तात्विकता की व्याख्या नहीं देता और कोई एक कवि भारतीय संस्कृति के विभिन्न तथा अगणित स्वरों के गान का दावा नहीं करता। फिर भी यदि पूछा जाय कि प्राचीन लेखकों और कवियों में किसे भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधि माना जाय तो वाल्मीकि और व्यास के बाद मुख्यतः कालिदास का नाम आता है। रामायण में, राम के रूप में, वाल्मीकि ने आदर्श पुरुष के शक्तिशाली व्यक्तित्व का चित्रण किया है। व्यास का कथन है कि सूर्य की परिधि में समानेवाले सब कुछ का आख्यान उन्होंने महाभारत में कर दिया है—

'जो यहाँ है वह अन्यत्र है, जो यहाँ नहीं है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है।'[1]

'अमितबुद्धि व्यास के द्वारा यहाँ अर्थशास्त्र (जिसमें राजनीतिशास्त्र भी आता है) का आख्यान है, महत् धर्मशास्त्र (परमार्थशास्त्र और समाजशास्त्र) भी कहा है और वैसे ही कामशास्त्र (रतिशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र) का भी कथन किया है।'[2]

कालिदास का ऐसा कोई दावा नहीं है। वे नम्रता के प्रतिरूप थे। वाल्मीकि आदि पुराकवियों की तुलना में अपने को देखते वे रघुवंश में कहते हैं—

'कहाँ तो सूर्य से उत्पन्न वंश और कहाँ मैं अल्पविषय मतिवाला कवि! यह मेरी मूढ़ता ही है जो लघु नौका से अपार सागर को पार करना चाहता हूँ। किंतु

१. यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।

२. अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना॥

कवियश का आकांक्षी मैं उपहासभाजन ही बनूँगा—उस वामन के समान जो लोभ से हाथ ऊँचे करके दीर्घजनसुलभ फल को प्राप्त करना चाहता है। इस उज्ज्वल वंश का ज्ञान पूर्ववर्ती कवियों के द्वारा निर्मित साहित्यद्वार से ही मेरे लिये सुलभ है, मणियों में कठोर सूई से छेद करके पिरोए हुए सूत्र के समान ही······।[3] यद्यपि अल्पज्ञान से ही मैं रघुवंश का इतिहासवर्णन करूँगा, किंतु मेरे इस साहस का कारण इस वंश के राजाओं के गुणों का कानों द्वारा श्रवण ही है'।[4]

कालिदास की यह नम्रता ही अपने आप में गहरे और स्वच्छ संस्कार का परिणाम है। वाल्मीकि और व्यास के अतिरिक्त, जिनके वे अतिशय कृतज्ञ थे, संपूर्ण संस्कृत कवियों में कालिदास ही में भारतीय संस्कृति का सर्वाधिक समावेश था, जिसका चित्रण उन्होंने अपनी काव्यकला के द्वारा वास्तविक जीवन में किया है। यह ध्यान देने की बात है कि कालिदास की कविता आनंद के लिये ही नहीं है, अपितु वह मानवमूल्यों की अत्यधिक संस्थापिका भी है। संस्कृति के परिष्कारक और उन्नायक तत्व उनकी काव्यकृतियों के विषय हैं।

भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि के रूप में कालिदास का मूल्यांकन करने से पूर्व स्थूल रूप से यह जान लेना आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति के प्रमुख सिद्धांत क्या हैं। सामान्यतः माना जाता है कि भारतीय संस्कृति का आधार आध्यात्मिक है, जिसका अर्थ है आत्मा के अस्तित्व के स्थायी सिद्धांत में, विश्व के शाश्वत तथा चित् कारणरूप ब्रह्म में और अंततः दोनों की एकात्मता में विश्वास। इन दोनों (ब्रह्म और आत्मा) की एकात्मता की प्राप्ति जीवन का चरम लक्ष्य है। भारत के प्राचीन मनीषियों ने इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये पुरुषार्थचतुष्टय के रूप में स्थूल रूप से जीवन के मूल्यों का निर्धारण किया। पुरुषार्थ ये हैं—

१. धर्म (अध्यात्मशास्त्र, दर्शन, नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र और विधिशास्त्र पर आधारित जीवन के नियामक सिद्धांत)।

३. क सूर्यप्रभवो वंशः क चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥ १।२
मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः॥ १।३
अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः॥ १।४

४. रघुवंश, १।६

२. अर्थ (अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा भौतिक विज्ञानों द्वारा अर्जित जीवनयापन के साधन) ।

३. काम (सौंदर्य तथा रतिशास्त्र, साहित्य तथा कला के द्वारा जीवन की उचित कामनाओं की पूर्ति) ।

४. मोक्ष (आत्मा और ब्रह्म की एकात्मतासाधन के माध्यम से समस्त बंधनों से पूर्ण मुक्ति) ।

इससे संबद्ध विषय हैं — दर्शन, अध्यात्म, नीतिशास्त्र आदि ।

उपर्युक्त मूल्यों की उपलब्धि की ओर अग्रसर करनेवाले जीवनक्रम का नियोजन, वर्ण (व्यक्तिगत पात्रता) और आश्रम (व्यक्तिगत शिक्षण) के आधार पर होना चाहिए। भारतीय दृष्टिकोण से यह संगठन वर्णाश्रम धर्म (वर्ण और आश्रम पर आधारित) जीवन की आचारसंहिता है। इस आचारसंहिता का प्रणयन किसी एक लौकिक कर्ता ने नहीं किया है। कालक्रम से स्वयं समाज के द्वारा ही इसका विकास हुआ है। इसके पालन की अपेक्षा हर व्यक्ति से थी और इसका प्रवर्तन करना राज्य का कर्तव्य था। कालिदास की रचनाएँ इस संगठन की भावना और सिद्धांतों से परिपूर्ण हैं।

कालिदास की आस्था विश्व के आध्यात्मिक आधार में है। अभिज्ञानशाकुंतल के मंगलाचरण में उनकी आध्यात्मिक वृत्ति स्पष्ट है—

'आठ गोचर रूपों, ब्रह्मा की प्रथम सृष्टि जल; विधिपूर्वक दी हुई आहुति को धारण करनेवाला अग्नि; आहुति देनेवाला होता; काल के नियामक दो प्रत्यक्ष रूप सूर्य और चंद्रमा; संपूर्ण जगत् को आवृत करनेवाला और श्रवणगोचर शब्द (ध्वनि) गुण से युक्त आकाश; समस्त सृष्ट वस्तुओं का आधार पृथ्वी; सब प्राणधारियों में प्राणसंचार करनेवाला वायु, से युक्त वह परम पुरुष तुम्हारा कल्याण करे।'[५]

इसी प्रकार विक्रमोर्वशीय में कालिदास अपनी दार्शनिक मान्यता का आख्यान करते हैं—

'जिसे वेदांत एकपुरुष कहते हैं, जो पृथ्वी और आकाश को व्याप्त करके स्थित है, जिसमें ही ईश्वर का विशेषण अक्षरशः घटित है, जिसे मुमुक्षु प्राणवायु

५. या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री।
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः।
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥ १॥
४ (६६–२-४)

निरोध से प्राप्त करते हैं, जो स्थिर भक्तियोग से सुलभ होता है, वह स्थाणु तुम पर कृपालु हो।'[६]

पुनः मालविकाग्निमित्र में कवि की वंदना है—

'एकैश्वर्य में ही स्थित होते हुए भी, जो भक्तों को बहु फल देनेवाला होकर भी स्वयं हाथी की खाल पहने है, जो कांतासंमिश्र देह होकर भी स्वयं मन के लिये अविषय तथा यतिश्रेष्ठ है, जगत् को अपने आठ रूपों से धारण करते हुए भी जो 'अहं' से परे है, ऐसे भगवान् (शिव) तुम्हारी तामसवृत्ति को दूर करें, जिससे तुम सन्मार्ग पर चल सको।'[७]

कालिदास का परमतत्व भौतिक जगत् से परे का वास्तविक सत्य है—आत्मा और भूततत्व के विभाजन से ऊपर। यह अपने को विभिन्न रूपों में व्यक्त करता है। धर्म और दर्शन का लक्ष्य इस दिव्य सत्य के साक्षात्कार में है। हम प्रायः कालचक्र में ग्रस्त होते हैं और क्षणिक अस्तित्व में आते हैं। उस सत्य से अवगत होना ही मानव-जीवन का उद्देश्य है, जो देश और काल से परे है। रघुवंश में कालिदास का कथन है, 'उसने परम अस्तित्व की गति प्राप्त की।'[८] अपने अस्तित्व के इस सत्य का ज्ञान अपने आत्मा से ही होता है (आत्मानम् आत्मना वेत्सि)।[९] ज्ञान, योग और भक्ति के तीन मार्ग कवि ने माने हैं, यद्यपि उसके मत से अंतिम ही सरलतम है।

धर्म के उद्देश्य से कालिदास का परमतत्व निम्नतर (सगुण) धरातल पर आता है और तीन रूपों में विभक्त होता है[१०]—ब्रह्मा (सृष्टिकर्ता), विष्णु (पालन

६. वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते।
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः ॥ १।१

७. एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतबहुफले यः स्वयं कृत्तिवासाः
कान्तासम्मिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्तादयतीनाम्।
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः ॥ १।१

८. ब्रह्मभूयं गतिमाजगाम। रघु०

९. आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना।
आत्मना कृतिना च त्वमात्मन्येव प्रलीयसे ॥ कुमार० २।१०

१०. एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा। वही, ७।४४

कर्ता) और शिव (संहारकर्ता किंतु मूलतः शुभंकर)। अपने अपने मत के भक्तों के लिये इनमें प्रत्येक की क्षमता परमतत्व होने की है। अभिव्यक्ति के क्रम में ये पुनः देवता तथा उपदेवता वर्ग में विभाजित होते हैं। कालिदास स्वयं शैव थे, किंतु उनकी आस्था इन तीनों रूपों की समता म थी। वे धार्मिक उदारता के पूर्ण उदाहरण थे।[११] उन्होंने अपने युग के परिणत और समन्वयमूलक धर्म म वैदिक ज्ञान, उपासना और कर्म का पर्याप्त समाहार किया, जिसमे धर्म के उन परंपरागत तथा सार्वकालिक तत्वों पर बल है जिन्हें भारत शाश्वत एवं सार्वभौम तत्व अंगीकार करता है।

धर्म : सामाजिक नीति और व्यवस्था की आचारसंहिता

कालिदास सामाजिक व्यवस्था के महान उन्नायक हैं। उनके सुप्रसिद्ध महाकाव्य रघुवंश की समग्र विषयवस्तु समाज के आदर्श पर केंद्रित और दंडी के काव्यसिद्धांतों के सर्वथा अनुरूप है—'काव्य को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधक होना चाहिए।' रघुवंश के प्रथम सर्ग के ५ से ९ श्लोकों तक महाकाव्य की विषयवस्तु की स्थापना यों की गई है—

'मैं यहाँ रघु के वंशजो का इतिहास वर्णन करूँगा—जो जन्म से ही शुद्ध हैं, जो फलोदयपर्यंत कर्मशील रहते हैं, जो समुद्र तक फैली पृथ्वी के स्वामी हैं, जिनके रथ आकाश तक जाते हैं, जो विधि के अनुसार यज्ञ करते हैं, जो याचक के इच्छानुसार दान देते हैं, जो अपराध के अनुरूप दंड देते हैं, जो समय पर उठते हैं, जो त्याग के लिये धनोपार्जन करते हैं, जो सत्य के लिये मितभाषण करते हैं, जो संतान के लिये (आनंद के लिये नहीं) गृहस्थ होते हैं, जो यश के लिये विजय करते हैं, जो बाल्यकाल में विद्यालाभ करते हैं, जो युवावस्था में जीवन के आनंद भोगते हैं, जो वृद्धावस्था में त्याग का जीवन बिताते हैं और जो अंत में योग के द्वारा देह त्याग करते हैं।'[१२]

हर व्यक्ति के लिये आवश्यक चार आश्रमों की जीवनचर्या का यह स्पष्ट चित्र है। कालिदास की परिकल्पना के अनुसार ब्रह्मचर्य का काल गुरु के अनुशासन में विद्याभ्यास का काल, युवावस्था (गृहस्थाश्रम) विवाह तथा जीवन के आनंद का काल, वृद्धावस्था (वानप्रस्थ) स्वाध्याय एवं एकाग्रता का काल तथा अंतिम अवस्था (संन्यास) समस्त विधिनिषेधों से उपराम का काल है। रघुवंश में चार वर्णों—

११. त्वमेव हव्यं होता च भोज्यं भोक्ता च शाश्वतः।
वेद्यं च वेदिता चासि ध्याता ध्येयं च यत्परम्॥ वही २।१५

१२. सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम्।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम्॥ आदि

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्तव्यों का वर्णन भी इससे कम विशद नहीं है। सुपरिचित होने के कारण उनका विस्तृत विवरण आवश्यक नहीं। इन वर्णों और आश्रमों के प्रतिपालन पर कालिदास ने पर्याप्त बल दिया है। नियमों में बराबर कर्तव्यों और बंधनों पर जोर दिया गया है, अधिकारों तथा सुविधाओं पर नहीं। जो व्यक्ति जितना उच्च वर्ग का हो, उतना ही गुरुतर और अधिक अनिवार्य कर्तव्यभार उसपर रखा गया है।

धर्म के बाद जीवन में दूसरा महत्व अर्थ का है। कालिदास ने राजनीति के अंतर्गत ही अर्थ को माना है। उनके अनुसार राजकौशल जीवन की आर्थिक सफलता का मौलिक अंग है। रघुवंश, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुंतल के उत्तरार्ध में उन्होंने दिलीप, रघु, राम, पुरूरवा, दुष्यंत तथा भावी राजा भरत आदि जैसे आदर्श राजाओं के जीवन का चित्रण किया है। वे बराबर प्रजा के प्रति राजाओं के कर्तव्यों की ओर इंगित करते हैं। दिलीप के राज्य का वर्णन वे इन शब्दों में करते हैं—

> 'उस नियंता (दिलीप) की प्रजा मनु के बताए प्रशस्त मार्ग से रंचमात्र भी इधर उधर नहीं होती थी। वह प्रजा के कल्याण के लिये ही प्रजा से राजस्व ग्रहण करता था—जिस प्रकार सूर्य (पृथ्वी से) ग्रहण किए हुए जल को पुनः हजार गुना बरसाने के लिये ही ग्रहण करता है। उसकी सेना केवल शोभा के लिये थी। शांति और व्यवस्था रखने का उद्देश्य दो अन्य साधनों से पूर्ण होता था—१–शास्त्रों में तीक्ष्ण गति और २–धनुष पर सदैव चढ़ी हुई प्रत्यंचा (सैन्यप्रयोग के लिये सदा संनद्धता)। अपनी मंत्रणा और निर्देशों को गुप्त रखनेवाले राजा दिलीप के कार्य, पूर्वजन्म के संस्कारों की भाँति, अपने परिणाम से ही जाने जाते हैं।'[13]

बिना भय के वे अपनी रक्षा करते हैं, बिना आयास के धर्माचरण करते हैं, बिना लोभ के धनसंचय करते हैं तथा बिना राग के सुख भोगते हैं।

१३. रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम् ।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः ॥
प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् ।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥
सेनापरिच्छदस्तस्य द्वयमेवार्थसाधनम् ।
शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता ॥
तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेङ्गितस्य च ।
फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव ॥ रघु० १।१७-२०

ज्ञानसंपन्न होते भी वे मौन रखते हैं, शक्तिसंपन्न होते भी सहनशील हैं, त्यागी होने पर भी आत्मप्रशंसक नहीं हैं—इस प्रकार समस्त विरोधी गुण उनमें सहोदर की भाँति निवास करते हैं।

विषयों के प्रति अनासक्ति, शास्त्रों में गंभीर ज्ञान और धर्म में प्रगाढ़ रुचि के कारण युवावस्था में ही वे सबके आदरभाजन हुए।

शासन की क्षमता से उन्होंने प्रजा को धर्ममार्ग पर प्रेरित किया, विपत्तियों से उसकी रक्षा करके और जीवन के सभी साधन जुटाकर वे उसके वास्तविक पिता हुए, उनके अपने पिता तो केवल जन्म देने के लिये थे। अपराधी को ही दंड देनेवाले और केवल वंशवृद्धि के लिये ही विवाह करनेवाले संतप्रकृति दिलीप के लिये अर्थ (अर्थ और राजनीति) तथा काम भी धर्म (समाजनीतिनिर्वाह) ही थे।'[१४]

अन्य राजाओं के कर्तव्यों का भी ऐसा ही ओजस्वी वर्णन है। रामराज्य, राज्य के उच्चतम आदर्श का निदर्शन करता है—

'पिता की आज्ञा से प्राप्त बनवास की अवधि समाप्त होने तथा राज्यलाभ करने पर, राम ने धर्म, अर्थ और काम के प्रति समता का भाव रखा, जिस प्रकार उन्होंने लघु भ्राताओं के साथ रखा था।'[१५]

उनके लोभ से परे होने के कारण लोक संपन्न हो गया; संपूर्ण विघ्नबाधाओं के हट जाने से वह क्रियाशील हो गया; उनके नेतृत्व में उसने पितृलाभ किया; और समस्त दुःखों का नाश करके वे वस्तुतः पुत्रवान हुए।'[१६]

यदि हम कालिदास के काव्यों में वर्णित राजाओं के कर्तव्यों और बाध्यताओं का संकलन और वर्गीकरण करें तो उन्हें हम तीन परंपरागत वर्गों में रख सकते हैं—१–सेना तथा राजकौशल द्वारा (बाह्य संकटों तथा आंतरिक अव्यवस्था से) प्रजा की रक्षा, २–प्रजापालन (जीवननिर्वाह साधनों की व्यवस्था) और ३–प्रजानुरंजन (साहित्य और कला के माध्यम से प्रजा का शिक्षण तथा मनोरंजन)।

१४. रघुवंश, १।२१-२५

१५. पितुर्नियोगाद्वनवासमेवं निस्तीर्य रामः प्रतिपन्न राज्यः।
धर्मार्थकामेषु समां प्रपेदे तथैवावरजेषु वृत्तिम् ॥ रघु०, १४।२१

१६. तेनार्थवाँल्लोभपराङ्मुखेन तेन घ्नता विघ्नभयं क्रियावान्।
तेनास लोकः पितृमान्विनेत्रा तेनैव शोकापनुदेन पुत्री ॥ वही, १४।२३

राज्य और व्यक्ति के अस्तित्व के साथ ही उपर्युक्त प्रथम कर्तव्य सबसे आगे तथा मौलिक है। पशु भी राजा का संरक्षण पाने की अपेक्षा करते हैं। राज्य के इस कर्तव्य का सुंदर उदाहरण राजा दिलीप के जीवन से मिलता है जब उन्होंने नंदिनी, गौ की रक्षा में अपने शरीर को ही दाँव पर रख दिया—

> 'लोक में 'क्षत्र' शब्द का अर्थ पूर्णतः स्थापित है—क्षत्र (क्षत्रिय) वह है जो क्षतों से रक्षा करे। ऐसे राज्य अथवा मलिन जीवन से भी क्या लाभ जो विपरीत आचरण के कारण व्यक्ति (राजा) के लिये दुर्नाम ही लाए।'[१७]

> 'और यदि तुम्हारे विचार से मैं अहिंस्य हूँ तो तुम मेरे यशःशरीर पर दया करो। भौतिक शरीर पर मेरे जैसों की आस्था नहीं, क्योंकि इसका नाश तो ध्रुव है।'[१८]

प्रजापालन के कर्तव्य पर भी कालिदास ने बड़ा बल दिया है। रघु को पूर्णतः प्रजा के कल्याण में स्थित (प्रजानाम् वृत्ते स्थितः)[१९] बताया गया है। वृत्ति शब्द पर टीका करते हुए मल्लिनाथ लिखते हैं—'वैध उपायों से धन का उपार्जन, संवर्धन, संरक्षण तथा सत्पात्र में वितरण, ये चार लक्षण राजवृत्ति के होते हैं।'[२०] पुनः राजा को 'प्रजाक्षेमविधानदक्षः' (प्रजा के कल्याणसाधान में दक्ष)[२१] कहा गया है। अभिज्ञानशाकुंतल में यह भरतवाक्य है—प्रवर्तताम् प्रकृतिहिताय पार्थिवाः[२२] (राजा प्रजा के कल्याणसाधन में प्रवृत्त हों)। अनुरंजन (प्रजा का शिक्षण और मनोरंजन) को व्यापक रूप से राजा के प्रमुख कर्तव्यों में माना गया है। 'राजन्' शब्द की व्युत्पत्ति ही 'रञ्ज्' धातु से है, 'राजा प्रजारंजन लब्धवर्णः'[२३] (राजा प्रजा का रंजन करता

१७. क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा॥ रघु०, २।५३

१८. किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु॥ वही, २।५७

१९. किमत्र चित्रं यदि कामसूर्भूर्वृत्ते स्थितस्याधिपतेः प्रजानाम्।
अचिन्तनीयस्तु तव प्रभावो मनीषितं द्यौरपि येन दुग्धा॥ वही, ५।३३

२०. न्यायेनार्जनमर्थस्य वर्धनं पालनं तथा।
सत्पात्रे प्रतिपत्तिश्च राजवृत्तिं चतुर्विधम्॥

२१. रघु०, १८।६

२२. शाकुं०, ७।३४

२३. रघु०, ६।२१

हुआ शासन करता है)।[२४] कालिदास की राजनीतिसंबंधी धारणा में विदेशी राज्यों के संबंध में साम, दाम, भेद और दंड का समावेश है। इनका क्रमशः अथवा सबका एक साथ समष्टिरूप में उपयोग होता था। आरोहात्मक क्रम को सदैव वरीयता दी जाती थी। केवल नीति को कायरता और केवल युद्ध को पाशविक माना जाता था।[२५] राजा से अपने कर्तव्यपालन में निरंतर श्रम और तत्परता की अपेक्षा की जाती थी।

जहाँ तक जीवन के तीसरे लक्ष्य, काम का प्रश्न है, कालिदास ने इसे जीवन में समुचित स्थान दिया है। इसे मानव अस्तित्व का आवश्यक अंग माना गया है। काम के अंतर्गत प्रणय और सौंदर्य दोनो का समावेश है। वासना की वैध परितृप्ति को लेकर कालिदास के मन में कोई द्विधा या निषेधभावना नहीं है। प्रेम के विभिन्न रूपों पर उन्होंने अपनी समृद्ध कल्पनाओं को उन्मुक्तता प्रदान की है। प्रकृतिप्रेम कालिदास को अत्यंत आकृष्ट करता है। सार्वभौम प्रेम की वह वैदिक परंपरा उन में बद्धमूल थी, जो मानव ही नहीं मानवेतर जीवन पर भी छाई रहती है। उनके मन में प्रकृति और मनुष्य के बीच किसी कृत्रिम दीवार की कल्पना नहीं है। उनकी आरंभिक रचना 'ऋतुसंहार' प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति मानव की कोमल उद्भावनाओं का उद्घाटन करती है। मेघदूत में पर्वतों, नदियों, घाटियों, ऋतुओं, बादलों आदि के साथ मानव की जीवंत एकतानता है। मनुष्य की कल्पना और भावना इनके साथ विश्व के दिगंतों तक संचरण करती है। कालिदास ने अपने काव्य 'कुमारसंभव' में अधिकतर शक्ति और प्रबलतर कल्पना के साथ हिमालय का सौंदर्यगान किया है। रघुवंश में जहाँ मनुष्य प्रकृति पर हावी होता है, वहाँ भी प्रकृति की शांति और सौंदर्य के प्रति मानव की स्पृहा किसी प्रकार उपराम नहीं ग्रहण करती। वशिष्ठ का आश्रम वन के मध्य है। दिलीप नंदिनी को हिमालय के वन में चराते हैं। राम का वनवास पौर तथा वन्यजीवन के बीच पूर्ण सामंजस्य का है। अयोध्या लौटने के बाद भी सीता वन्य जीवन की उत्कट अभिलाषिणी हैं। उनके दोनो पुत्रों का जन्म वाल्मीकि के आश्रम में हुआ और वहीं उनका लालनपालन तथा शिक्षण भी। यद्यपि मालविकाग्निमित्र की कथावस्तु नागरिक जीवन की है और प्रकृति का उसमें कोई महत्वपूर्ण योग नहीं है, फिर भी उसके पात्र उद्यानों के इच्छुक हैं और अनेक दृश्य उन्हीं में स्थित हैं। विक्रमोर्वशीय में पुनः प्रकृतिप्रेम के दर्शन होते हैं। अप्सरा उर्वशी हिमालय के सौंदर्य की आकांक्षिणी है; यही बात पुरूरवा के संबंध में भी है। शकुंतला ऐसी प्रकृतिकन्या है जिसका सारा जीवन ही वन्य वनस्पतियों और जीवों के प्रेम से ओतप्रोत है।

२४. विक्रमोर्वशीय।

२५. कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम्। रघु०, १७।४७

नर और नारी के प्रेम को कालिदास के हाथों अत्यंत कोमल तथा सहानुभूतिपूर्ण अभिव्यंजना मिली है। वे विवाहेतर स्वच्छंद प्रणयाचार के विरोधी रहे। परंतु ऐसे प्रणय के प्रति वे विचारशील भी थे जो आगे विवाहसंबंध में परिणत हो जाय, यद्यपि ऐसे संयोग का वे समर्थन नहीं करते। जो विवाह अवैध ढंगों से होते हैं, उनमें परिणामस्वरूप प्रायः उलझन, वियुक्ति, पश्चात्ताप और संकट ही आते हैं। पुरूरवा और उर्वशी तथा दुष्यंत और शकुंतला के उन्मुक्त प्रणय के बाद उलझनें एवं कष्ट ही आए। यहाँ तक कि पार्वती का एकांगी प्रेम भी विफलता की ओर उन्मुख हुआ। माता पिता की अनुज्ञा से संपन्न ब्राह्म और प्राजापत्य विवाहों को ही महाकवि का समर्थन प्राप्त है और स्वयंवर को भी जो वृद्धों की उपस्थिति में होता था। मानव प्रणय की चरितार्थता मातृ पितृत्व में है। उर्वशी अप्सरा, और शकुंतला अर्ध अप्सरा, दोनो ही सुखद पुनर्मिलन होने के पूर्व मातृत्व प्राप्त करती दिखाई गई हैं।

मानवप्रणय में शारीरिक सौंदर्य की उपेक्षा नहीं की गई है, यद्यपि नैतिक तथा आध्यात्मिक विवेक उसके ऊपर रहा है। मेघदूत का यक्ष भी वियोगावस्था में अलकास्थित अपनी पत्नी के शारीरिक सौंदर्य पर ध्यानमग्न है। मेघदूत को उसकी पहचान समझाते हुए वह कहता है—

'तन्वी, षोडशी, नुकीले दाँतोंवाली, पक्व बिंब जैसे अधर ओष्ठवाली, पतली कमरवाली, चकित हरिणी से नेत्रोंवाली, गहरी नाभिवाली, नितंबभार से अलसगमन वाली तथा स्तनों के कारण किंचित् झुकी हुई, वहाँ धाता की बनाई युवतियों में वह प्रथम युवती होगी।'[२६]

एक अन्य रचना शृंगारतिलक में, जो कालिदास की कही जाती है, नारीसौंदर्य का वर्णन इन शब्दों में है—

'ब्रह्मा ने तुम्हारे नेत्र इंदीवर से, मुख कमल से, दाँत कुंद से, अधर नव किसलय से और अंग चंपे की पंखुड़ियों से रचकर हे प्रिये! तुम्हारा हृदय पाषाण से क्यों बना दिया।'[२७]

२६. तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी।
मध्ये क्षामा चकितहरिणी प्रेक्षणा निम्ननाभिः॥
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्याम्।
सा तत्र स्याद् युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥ मेघदूत, २।२२

२७. इन्दीवरेण नयनं मुखमम्बुजेन कुन्देन दन्तमधरं नवपल्लवेन।
अंगानि चम्पकदलैः स विधाय वेधाः कान्ते कथं घटितवानुपलेन चेतः॥

इसमें संदेह नहीं कि कालिदास ने जहाँ तहाँ ऐसे प्रणय का भी वर्णन किया है जो वासनारंजित है, फिर भी इसमें कवि की असहमति सर्वदा मिलती है क्योंकि इसके परिणाम कल्याणकारी नहीं होते। रघुवंश का अंतिम राजा अग्निवर्ण वासना तथा कामातिचार के वशीभूत होकर कारुणिक मृत्यु को प्राप्त हुआ। कालिदास की रचनाओं में प्रेमी अथवा प्रेमिका के लिये कष्ट और कठोरता सहन करने के कारण प्रेम घनीभूत हो उठा है। परिणतिपथ में बाधाओं के आने पर यह प्रेम उसी प्रकार अनेकमुखी गंभीरता से युक्त हो जाता है जिस प्रकार पथ में पड़नेवाले शिलाखंडों के अवरोध के कारण नदी के प्रवाह का वेग बढ़ जाता है।[२८] प्रेम के प्रसंग में कालिदास सदा शालीनता तथा संयम के पक्ष में हैं। वैवाहिक प्रेम में भी वे वासना को प्रमुखता नहीं देते। उनका आदर्श है, 'वंश के लिये विवाह।'[२९]

सौंदर्य के क्षेत्र में कालिदास ने यथासंभव विस्तृत परिधि को समेटा है। गीतिकाव्य, महाकाव्य, नाटक जैसी प्रमुख और विशुद्ध साहित्यिक विधाओं का प्रयोग उन्होंने किया है और इन्हें अद्भुत कौशल तथा अनोखेपन से सजाया है। विषय-निर्वाचन, चरित्रचित्रण तथा भावाभिव्यंजना के विचार से साहित्यिक सौष्ठव की पूर्ण प्रतिष्ठा की है। साहित्य के क्षेत्र में वे अप्रतिम हैं।

अपनी रचनाओं में उन्होंने वास्तु, तक्षण, चित्र, संगीत, रंग (नाट्य) आदि ललित कलाओं का निर्देश गहनता, औचित्य तथा मर्यादा के साथ किया है।

यद्यपि कालिदास की रुचि पार्थिव से अपार्थिव तक जीवन की सभी दिशाओं में थी, परंतु जीवन का परम लक्ष्य—मानव का चतुर्थ पुरुषार्थ—उनकी दृष्टि से कभी परे नहीं हुआ। जीवन की चरितार्थता के हेतु मनुष्य के लिये इसका साधन आवश्यक था। परंतु, इसकी उपलब्धि कर्मविधि से अनेक जन्मों की साधना से होती है। इसी जन्म के उद्योगों से इसे पाने का उपाय करना चाहिए।

मोक्ष के उपायों के रूप में कालिदास ने योग और समाधि का स्वभावतः संकेत किया है। योगबल से देह त्यागते हुए रघुवंशी राजाओं के वर्णन मिलते हैं। अज को यौवराज्य देकर रघु स्वयं वन में चले गए थे। वहाँ साधना का आश्रय लेकर उन्होंने अंत में दिव्यलोक प्राप्त किया—

२८. नद्या इव प्रवाहो विषमशिलासंकटस्खलितवेगः।
विघ्नित समागमसुखो मनसिशयः शतगुणीभवति॥ विक्रमो०

२९. प्रजायै गृहमेधिनाम्। रघु०

'समदर्शन राजा रघु अज के इच्छानुसार कुछ काल बिताकर योगसमाधि द्वारा दिव्य परमपद को प्राप्त हुए।'[30]

रसिक दुष्यंत भी जीवन के अंतिम वर्ष में मोक्षप्राप्ति की कामना करता है—

'अपनी शक्ति में अधिष्ठित स्वयंभू नीललोहित भगवान् मेरे जन्ममरण की शृंखला को समाप्त करें।'[31]

कालिदास सहानुभूति और प्रज्ञा के कवि हैं। अपनी संपूर्ण समृद्धि और विविधताओं के साथ उन्होंने जीवन को समग्र रूप में चित्रित किया है। उन्होंने शैशव के भोलेपन तथा अनुशासन की प्रशंसा की है। यौवन के उन्माद और हर्ष को उन्होंने सराहा है। वार्धक्य में वे संन्यास के समर्थक थे। नैतिक और मानसिक संयम के द्वारा उन्होंने मोक्ष को लक्ष्य रखा है। उनके दर्शन का मर्म जीवन के अनेकविध सिद्धांतों के सामंजस्यपूर्ण चित्रण में है। वे मानव के पूर्ण तथा सर्वांगीण व्यक्तित्व के प्रतिपादक हैं, तथापि वे पुरुषार्थचतुष्टय के आपेक्षिक महत्व को मानते थे। अर्थ और काम, धर्म के आश्रित तथा तीनो चतुर्थ पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष के साधक माने गए हैं। यही भारत का सामान्य जीवनदर्शन है। साहित्य के माध्यम से उन्होंने भारत के उस संतुलित जीवन आदर्श की अभिव्यंजना की जिसकी प्रतिष्ठापना महान् ऋषियों ने उच्छेद अथवा विभंग के स्थान पर समुच्चय अथवा समन्वय के रूप में की है। कालिदास की कालजयी कीर्ति और महिमा का यही रहस्य है।

*

३०. अथ काश्चिदजव्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शनः समाः।
तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः॥ रघु०, ८।२४

३१. ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः॥ अभिज्ञान०, ७।३५

हिंदी में वैष्णवपदावली का प्रथम रचयिता

बलदेव उपाध्याय

यह तो सर्वविदित है कि वैष्णवधर्म के अभ्युदयकाल में वैष्णव कवियों ने राधामाधव के लीलाचिंतन के अवसर पर पदशैली में अपने काव्यों का प्रणयन किया। 'पद' का काव्यरूप में उद्गम मध्ययुगीय भाषा साहित्य की एक मान्य विशिष्टता है। निर्गुण पंथी संतों ने अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिये इस काव्यरूप का आश्रयण किया; यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। परंतु इस काव्यरूप का उत्कृष्ट स्वरूप हमें वैष्णवकाव्यों में ही उपलब्ध होता है। राधाकृष्ण की उपासना के साथ संगीत का बड़ा ही घनिष्ठ संबंध है। फलतः इन संगीतमय पदों के माध्यम से वैष्णवकवि अपने भावों को पूर्ण वैभव के साथ प्रकट करने में समर्थ हुए; यह कथन सर्वथा सत्य है। राधाकृष्ण की ललित लीलाओं का वर्णन प्रबंधकाव्यरूप में सफलतापूर्वक नहीं हो सका; यह बात नहीं कि उधर प्रयास नहीं किए गए। प्रयास तो किए गए, परंतु इन कवियों को इस कार्य में साफल्य प्राप्त नहीं हुआ। गीति ही इन कमनीय कोमल केलिविलासों के समुचित विन्यास के निमित्त एक सुकुमार माध्यम है; इस ऐतिहासिक सत्य का कथमपि अपलाप नहीं किया जा सकता। हिंदी के भीतर हम उसकी 'विभाषाओं' का भी अंतर्भाव मानते हैं। इसी धारणा पर हिंदी में वैष्णवपदावली लिखनेवाले आद्य कवि का ऐतिहासिक तथा साहित्यिक परिचय यहाँ संक्षेप में देने का उद्योग किया जा रहा है।

पदशैली : भाषाकाव्य

भाषाकाव्य में पदशैली का आविर्भाव जयदेव के गीतगोविंद के आदर्श पर मानना सर्वथा न्यायसंगत प्रतीत होता है। उत्तर भारत की प्रधान भाषाओं—मैथिली, बंगला तथा व्रजभाषा के कवियों ने इस शैली को अपनाकर बड़े ही सुकुमार पदों की रचना की। मैथिली में विद्यापति ने, बंगला में चंडीदास ने तथा व्रजभाषा में सूरदास ने श्री व्रजनंदन के केलिवर्णन के निमित्त इस शैली को स्वीकार किया और उसका बड़ी सफलता के साथ निर्वाह किया। साधारणतः माना जाता है कि व्रजसाहित्य का आरंभ सूरदास से होता है और व्रज में पदकर्ता होने के हेतु हिंदी के प्रथम पदकार वे ही हैं। सूरदास का जन्म १४६३ ई० में हुआ तथा अपने जीवन के चालीसवें वर्ष में १५३३ ई० में उन्होंने वल्लभाचार्य से वैष्णवधर्म में दीक्षा ग्रहण की तथा वे उन्हीं के उपदेश से व्रजभाषा में श्रीकृष्णविषयक पदों की रचना में प्रवृत्त हुए। फलतः

सूरदास द्वारा पदरचना का आरंभकाल १५३५ ई० के आसपास मानना कथमपि अनुपयुक्त न होगा। विद्यापति तथा चंडीदास दोनो वैष्णवकवि सूरदास से प्राचीन हैं। सूर के ऊपर विद्यापति का भी प्रभाव लक्षित होता है। विद्यापति तथा चंडीदास, ये दोनो कवि समकालीन थे, क्योंकि दोनो के आविर्भाव का समय १५वीं शती का उत्तरार्ध माना जाता है। सूरदास को व्रजभाषा का प्रथम पदकर्ता मानना कथमपि उपयुक्त नहीं है, क्योंकि उनसे लगभग सत्तर अस्सी वर्ष पूर्व के एक कवि की व्रजभाषा की कविता तथा पद भी उपलब्ध हुए हैं। इन कवि का नाम विष्णुदास है। इनका प्रथम परिचय तो बाबू श्यामसुंदरदास ने १९०६-७ की हिंदी ग्रंथों की खोज रिपोर्ट में दिया था; परंतु इनके ऐतिहासिक महत्व का परिचय अभी चला है।

पदशैली : विष्णुदास

नवीन खोज से पता चलता है कि व्रजभाषा में काव्य का आरंभ सूरदास से लगभग एक शती पूर्व ही हो गया था। विष्णुदास की काव्यरचनाओं की सूचना हिंदी पुस्तकों की खोज रिपोर्टों में प्रकाशित हुई है। परंतु उनके काव्यों का ऐतिहासिक मूल्यांकन अभी होने लगा है। साहित्य की दृष्टि से इनके दो काव्य नितांत महत्वपूर्ण हैं—**स्नेहलीला** तथा **रुक्मिणीमंगल**। इनमें से स्नेहलीला गोपी तथा उद्धव के संवादरूप में है और सूरदास के भ्रमरगीत का मूलरूप माना जा सकता है। 'रुक्मिणीमंगल' मंगलकाव्य है जिसमें श्रीकृष्ण के साथ रुक्मिणी जी के विवाह का काव्यमय वर्णन है। इस रुक्मिणीमंगल में पदशैली के दर्शन हमें मिलते हैं। इनका समय १४२५ ई० माना गया है जो सूरदास से पूर्व लगभग अस्सी साल से कम नहीं है।[1] **व्रजभाषा में विष्णुदास ही प्रथम पदकार माने जा सकते हैं।** 'रुक्मिणीमंगल' से इनका एक पद यहाँ उद्धृत किया जाता है।

मोहन महलन करत बिलास।
कनक मंदिर में केलि करत हैं और कोउ नहिं पास।
रुकमिनि चरन सिरावै पी के पूजी मन की आस।
जो चाहों सो अबे पावों हरि पति देवकि सास॥
तुम बिन और न कोऊ मेरो धरनि पताल अकास।
निस दिन सुमिरन करत तिहारो सब पूरन परकास॥
घट घट व्यापक अंतरजामी त्रिभुवनस्वामी सब सुखरास।
'विष्णुदास' रुकमन अपनाई जनम जनम की दास॥

१. डा० शिवप्रसाद सिंह, सूरपूर्व व्रजभाषा और उसका साहित्य, पृष्ठ १४१-५२, काशी १९६१।

ब्रजभाषा के प्रथम पदकर्ता विष्णुदास से मैथिली पदकर्ता विद्यापति तथा बंगला पदकर्ता चंडीदास दोनो प्राचीनतर हैं। यह तो प्रायः सर्वत्र विदित है। परंतु इन दोनो विश्रुत पदकर्ताओं से लगभग साठ सत्तर वर्ष पूर्व उत्पन्न होनेवाले एक मैथिली पदकर्ता की ओर आलोचकों का ध्यान यहाँ आकृष्ट किया जाता है, क्योंकि मेरी दृष्टि में ये ही हिंदी में वैष्णवपदावली के आदि रचयिता हैं। इनका नाम है—उमापति उपाध्याय या केवल उमापति। इन्होंने संस्कृत में 'पारिजातहरण' नामक लघुकाय रूपक का प्रणयन किया है जिसमें मैथिली भाषा में ही गीत पर्याप्त मात्रा में दिए गए हैं। प्राचीन काल में भी संस्कृत नाटकों में गीतों की रचना प्राकृत भाषा में की जाती थी; प्राकृत थी लोकभाषा और लोकभाषा में निबद्ध गीतों का प्रभाव जनता पर विशेष रूप से पड़ता था; यह तो एक नैसर्गिक घटना है। प्रांतीय भाषाओं के उदय होने पर संस्कृत के नाटकों में तत्तत् प्रांतीय भाषाओं का उपयोग गीतों की रचना में किया जाने लगा। उमापति का 'पारिजातहरण' इस वैशिष्ट्य का समर्थक एक उज्वल नाटक है। यहाँ उमापति के ऐतिहासिक वृत्त का और साहित्यिक चमत्कार का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

उमापति और उमापतिधर की भिन्नता

प्रथमतः ध्यान देने की बात है कि उमापति उस उमापतिधर नामक कवि से नितांत भिन्न हैं जिनका उल्लेख जयदेव ने लक्ष्मणसेन के समसामयिक कवि पंडितों की गणना में किया है। 'वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः'—जयदेव का यह कथन उमापतिधर की काव्यशैली का पर्याप्त द्योतक है। ये अपने 'वाक्पल्लवन' के लिये उस युग के कवियों में नितांत विश्रुत थे और इस विश्रुति का पुष्ट प्रमाण भी उपलब्ध होता है इनकी निःसंदिग्ध कविता की समीक्षा से। विजयसेन की देवपाड़ा प्रशस्ति के निर्माण का श्रेय इन्हीं उमापतिधर को है, जिसका उल्लेख उस शिलालेख में स्पष्टतः किया गया है। यह प्रशस्ति उत्कृष्ट गौडी रीति में निबद्ध की गई है। दंडी के 'काव्यादर्श' के अनुसार 'वाक्पल्लवन' गौडी रीति की प्रमुख पहचान है। उस युग के वैष्णव वातावरण का प्रभाव इनके ऊपर कम नहीं था। 'सदुक्तिकर्णामृत' में उमापतिधर के नाम से अनेक कविताएँ उद्धृत की गई हैं जिनका विषय ही है श्रीकृष्ण की वृंदावन-लीला। हरिक्रीड़ा के विषय में इनका एक पद्य यहाँ उद्धृत किया जाता है जिसमें श्रीकृष्ण की दृष्टियों की विजयकामना की गई है—

> भ्रूवल्लीचलनैः कयापि नयनोन्मेषैः कयापि स्मित-
> ज्योत्स्ना विच्छुरितैः कयापि निभृतं सम्भावितस्याध्वनि।
> गर्वोद्‌भेदकृतावहेलविजयश्रीभाजि राधानने
> सातंकानुनयं जयन्ति पतिताः कंसद्विषो दृष्टयः॥

इस पद्य का तात्पर्य है कि जब श्रीकृष्ण रास्ते में जा रहे थे, तब गोपियों ने उनका नाना भाव से स्वागत किया। किसी गोपी ने अपनी भौंहें चलाकर, किसी ने नेत्रों को फैलाकर, किसी ने अपनी मुसुकान की चाँदनी छिटकाकर, किसी ने चुप रह कर उनकी अभ्यर्थना की। राधा इस दृश्य को दूर से देखकर विमना बन गई। उसके मुखमंडल पर एक साथ गर्वजनित अवहेलना का भाव उदित हुआ तथा विजय की शोभा से वह दमकने लगा। ऐसे मुखमंडल पर कृष्ण ने जब अपनी दृष्टियाँ डालीं तब उनमें आतंक (भय) तथा अनुनय के भाव सद्यः स्फुरित हो रहे थे। कवि कृष्ण की इन दृष्टियों की विजयकामना करता है। यह पद्य विभिन्न मनोवृत्तियों के चित्रण के कारण नितरां रमणीय है। उमापतिधर के एक दूसरे पद्य में श्रीकृष्ण के एक गुप्त भाव की हम अभिव्यक्ति पाते हैं—

> व्यालाः सन्ति तमालवल्लिषु वृतं वृन्दावनं वानरैः
> उन्नक्रं यमुनाम्बु घोरवदनव्याघ्रा गिरेः सन्धयः।
> इत्थं गोपकुमारकेषु वदतः कृष्णस्य तृष्णोत्तर-
> स्मेराभीरवधू निषेधि नयनस्याकुंचनं पातु वः॥
>
> —हरिक्रीड़ा, पद्य ४

श्रीकृष्ण अपने संगी साथियों से घिरे हुए खेल रहे हैं, परंतु वह निराले में राधा से भेंट करने के इच्छुक हैं। इसलिये वह अपने मित्रों को किसी बहाने से खेल से पराङ्मुख करने के लिये कह रहे हैं—तमाल लताएँ साँपों से भरी हुई हैं; वृंदावन को बंदरों ने घेर रखा है; यमुना के जल में मगर भरे पड़े हैं और पर्वतों की संधियों में विकराल मुखवाले व्याघ्र वर्तमान हैं। ऐसी बातें गोपकुमारों से कहकर श्रीकृष्ण अपनी एक आँख सिकोड़कर मिलन की तृष्णा से अधीर होनेवाली स्मेरवदना राधा को निषेध कर रहे हैं। व्रजनंदन के नेत्र का यह आकुंचन तुम्हारी रक्षा करे।

वेणुनाद के विषय में भी इनका एक रोचक पद्य 'सदुक्तिकर्णामृत' में उद्धृत किया गया है जो 'पद्यावली' में भी इन्हीं के नाम पर दिया गया है। द्वारिका के मंदिर में श्रीरुक्मिणी देवी के द्वारा आलिंगित होने पर श्रीकृष्ण को यमुना के तीर पर वानीरकुंज में मिलित राधा की लीला के स्मरणमात्र से मूर्च्छा आ जाती है; इस तात्पर्य का वर्णन इस मधुर पद्य में में किया गया है—

> रत्नच्छायाच्छुरितजलधौ मन्दिरे द्वारिकाया
> रुक्मिण्यापि प्रततपुलकोद्भेदमालिंगितस्य।
> विश्वं पायान् मसृणयमुनातीरवानीरकुंजे-
> ष्वाभीरस्त्रीनिभृतचरितध्यानमूर्च्छामुरारेः॥

श्लोक का व्यंग्यार्थ यह है कि द्वारिका के पूर्ण वैभव तथा विलास से घिरे रहने पर भी तथा रुक्मिणी देवी के द्वारा विपुल रोमांच के उदय से संवलित आलिंगन पाने पर भी व्रजनंदन के हृदय में राधा की वह वेतसलता के कुंज की केलि कथमपि विस्मृत नहीं होती। वे उसके ध्यानमात्र से मूर्च्छित हो जाते हैं। फलतः कवि की दृष्टि में राधा की केलि का रुक्मिणी के आलिंगन की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व है, स्नेह की स्वाभाविकता में तथा आनंद के उल्लास में। स्पष्टतः उमापतिधर राधा के लीलावाद के समर्थक रसिक जीव हैं, राधामाधव के यथार्थ उपासक कवि हैं।

इन उद्धरणों से उमापतिधर की वैष्णव काव्यसुषमा का किंचित् आभास हमें मिल जाता है। परंतु जो पदकर्ता उमापति हमारी चर्चा के विषय हैं वे उमापतिधर से देशतः तथा कालतः इस प्रकार उभयतः, भिन्न और पृथक् हैं। **उमापतिधर** गौड देश के अधिपति राजा लक्ष्मणसेन की सभा के रत्न थे तथा १२वीं शती के उत्तरार्ध में वर्तमान थे। उमापति मिथिला देश के शासक राजा हरिहरदेव की सभा के रत्न थे तथा १४वीं शती के आरंभ में (१३२० ई० के लगभग) विद्यमान थे। फलतः उमापति उमापतिधर से निश्चित रूप से डेढ़ सौ वर्ष पीछे उत्पन्न हुए। ऐसी विभिन्नता के वर्तमान रहते दोनों की अभिन्नता मानना एकदम अनुचित है। अब उमापति के व्यक्तित्व से परिचय पाना विषय की स्पष्टता के लिये आवश्यक है।[१]

उमापति : परिचय

इस प्रकार उमापतिधर से उमापति की भिन्नता केवल काव्यशैली पर ही आश्रित नहीं है, प्रत्युत आविर्भावकाल की भिन्नता पर भी अवलंबित है। उमापतिधर ने सेनवंशी **विजयसेन** की देवपाड़ा प्रशस्ति की रचना की है जिसमें विजयसेन के द्वारा मिथिला के राजा नान्यदेव (१०९८–११३५ ई०) के पराजय की घटना उल्लिखित है। इसी नान्यदेव की चौथी पीढ़ी में उमापति के आश्रयदाता ने जन्मग्रहण किया था। मिथिला में यह किंवदंती है कि उमापति ने नान्यदेव से चौथे राजा हरिदेव (या हरदेव) के शासनकाल में इस नाटक की रचना की थी। नाटक की अंतरंग परीक्षा इस किंवदंती की पर्याप्त पोषिका है। इस नाटक की प्रस्तावना से पता चलता है कि उमापति उपाध्याय रचित इस 'पारिजातहरण' नाटक का अभिनय हिंदूपति श्रीहरिहर

१. विशेष के लिये द्रष्टव्य—प्रस्तुत लेखक का 'काव्यानुशीलन' नामक ग्रंथ, पृष्ठ ११५-२७, पारिजातहरण—मैथिली नाटक शीर्षक निबंध। (प्रकाशक रमेश बुकडिपो, जयपुर सन् १९५५)।

देव के आदेश से उनके सामंतों के सामने किया गया था।[3] मिथिला के नरेश हरिहरदेव के लिये कवि ने जिन विशेषणों का प्रयोग किया है उनसे दो तथ्यों का स्पष्ट संकेत मिलता है। उन्होंने मिथिला में उच्छिन्न होनेवाले वैदिक मार्ग की प्रतिष्ठा में योगदान दिया तथा यवनों के पराजय में अपनी वीरता का प्रदर्शन किया। इनमें से दूसरा संकेत ऐतिहासिक महत्व रखता है। उमापति के समय में मुहम्मद तुगलक दिल्ली का शाहंशाह था। उसने बंगाल पर चढ़ाई कर उसे अपने अधिकार में किया। इतिहास में उसके बंगालविजय की घटना बहुशः प्रशंसित है, परंतु मिथिला में किसी संघर्ष के विषय में इतिहास मौन है। मिथिला की राजधानी 'द्वारबंग' (दरभंगा) के नाम से इसी लिये प्रसिद्ध है कि बंगाल में प्रवेश करने का द्वार यहीं से होकर है। यह अनुमान असंगत नहीं माना जा सकता है कि मिथिला के संघर्ष में हरिहरदेव के हाथों पटान बादशाह को परास्त होना पड़ा था। उमापति के वर्णन में अतिशयोक्ति के पुट को हटा देने पर इस ऐतिहासिक घटना की एक फीकी झाँकी अवश्य मिलती है। अतएव हमारे कवि के आश्रयदाता हरिहरदेव तथा नान्यदेव से चतुर्थ मिथिला-नरेश हरदेव या हरिदेव एक ही व्यक्ति हैं। हरिहर का राज्यकाल सन् १३०३ से सन् १३२३ तक माना जाता है। उमापति के आविर्भाव का यही काल है—चतुर्दश शती का प्रथम चतुर्थांश (१३२० ई० के आसपास)।

पारिजातहरण : विषयवर्णन

उमापति उपाध्याय का यह लघुकाव्य मैथिली नाटक श्रीकृष्णचरित की एक विश्रुत घटना पर आधारित है। सत्यभामा के आग्रह करने पर श्रीकृष्ण ने इंद्र को पराजित कर उनके नंदनवन से पारिजात वृक्ष का हरण किया था। यह घटना हरिवंश तथा श्रीमद्भागवत में संक्षेप से वर्णित है, परंतु विष्णुपुराण में यह रोचक विस्तार के साथ निर्दिष्ट की गई है। इस नाटक के पात्रों में वार्तालाप तो देववाणी में ही दिया गया है, परंतु प्रकृति की सुषमा, सत्यभामा का सौंदर्य तथा भाव, मानिनी सत्यभामा की श्रीकृष्ण के द्वारा मनुहार आदि विषयों का वर्णन नाना गेय पदों में किया गया है

१. सूत्रधारः—आदिष्टोऽस्मि यवनवनच्छेदन करालकरवालेन विच्छेदगत चतुर्वेद पथप्रकाशकप्रतापेन भगवतः श्रीविष्णोर्दशमावतारेण हिंदूपति श्रीहरिहरदेवेन यथा उमापत्युपाध्यायविरचितं नवपारिजात मंगलमभिनीय वीररसावेशं शमयन्तु भवन्तो भूपाल मण्डलस्य।
—पारिजातहरण पृ० २, प्रकाशक मिथिलाप्रकाश परिषद्, दरभंगा, सन् १८११। भारतजीवन यंत्रालय, काशी में मुद्रित।

विशुद्ध मैथिली में। साहित्य की दृष्टि से ये पद बड़े ही अभिराम, सरस तथा कोमल हैं और ऐतिहासिक दृष्टि से हिंदी में ही नहीं, प्रत्युत किसी भी उत्तर भारतीय भाषा में वैष्णवपदशैली का यह प्रथम अवतार है। इनमें से कतिपय पद आगे उद्धृत किए जाते हैं।

उमापति ने इन पदों के लिये उपयुक्त रागों का विधान भी निर्दिष्ट किया है। ऐसे रागों में मालवराग (पृ० ३, २०), वसंतराग (पृ० ४ तथा २१), असावरी-राग (पृ० ५, ७), राजविजयराग (पृ० १०,२२), केदारराग (पृ० १६, १७), ललितराग (पृ० ३५) मुख्य हैं। इससे स्पष्ट है कि उमापति संगीत के भी जानकार थे। तथा गेय पदों के लिये उपयुक्त रागों की छानबीन करने में समर्थ थे। ये मैथिली गीत माधुर्य से सर्वथा परिपूर्ण हैं। शब्दों की सुबोधता तथा सरसता पर विशेष ध्यान दिया गया है। मैथिली में मिठास स्वभावतः प्रचुर मात्रा में होती है; इस नाटक के गेय पदों में वह मिठास कथमपि न्यून मात्रा में नहीं है। सबसे बड़ी विशिष्टता है छोटे छोटे प्रसन्न शब्दों का विन्यास। माधुर्य के साथ प्रसाद की अधिकता सोने में सुगंध का काम कर रही है। इन गीतियों में हृदय के कोमल भावों की अभिव्यंजना की ओर कवि का विशेष आग्रह है। इसलिये इन गीतियों में सहृदय को रससिक्त बनाने की क्षमता विद्यमान है। यह कम श्लाघा का विषय नहीं है कि हिंदी की ये आद्य गीतिकाएँ उन सभी गुणों तथा चमत्कारों से समन्वित हैं जिन्हें हम वैष्णवगीतिकाओं के उत्कर्ष काल में प्रचुरतया उपलब्ध करते हैं। निष्कर्ष यह है कि भाषा की सुरसता तथा अर्थों की सुकुमारता दोनो दृष्टियों से उमापति की ये गीतिकाएँ नितांत श्लाघनीय हैं। वैष्णवपदावली के विकास की दृष्टि से तो इनका महत्व समधिक मननीय है।

उमापति : वैष्णवपदावली

वसंतवर्णन (वसंतरागे गीतम्)

अनगनित किंशुक चारु चंपक बकुल बकुहुल फुल्लिआ
पुनु कतहु पाटलि पटलि नीप नेवारि माधवि मल्लिआ।
अति मंजु बंजुल पुंज पिंजल चारु चूअ बिराजहीं
निज मधुहि मातल पल्लवच्छबि लोहितच्छबि छाजहीं।
पुनि केलि कलकल कतहु आकुल कोकिलाकुल कूजहीं
जनि तीनि जग जिति मदन नृप मुनिविजय राज सुराजहीं।
नव मधुर मधुर समुगुध मधुकर कोकिला रस भावहीं।
जनि मानिनी जन मानभंजन मदन गुण गुरु गावहीं।
बह मलय परिमल कमल उपबन कुसुम सौरभ सोहहीं
ऋतुराज रैवत सकल दैवत मुनिहु मानस मोहहीं।

जदुनाथ साथ बिहार हरषित सहस षोडश नायिका
भन गुरु 'उमापति' सकल नृपपति होथु मंगलदायिका ॥१॥

श्रीकृष्ण के स्निग्ध रूप की छटा इस पद में देखिए—

सखि हे रभस रसु चलु फुलवाडी
तहाँ मिलत मोर मदनमुरारी।
कनक मुकुट मणि भल भासा
मेरु शिखर जनु दिनमणि बासा।
सुंदर नयन बदन सानंदा
उगल जुगल कुवलय लय चंदा।
पीतबसन तनु भूषण मनी
जनि नव घन उग दामिनी।
बनमाला उर उपर उदारा
अंजनगिरि जनु सुरसरिधारा ॥२॥

इस पद में श्रीकृष्ण की शोभा का वर्णन अलंकृत रूप में किया गया है। कृष्ण के पीतवसन की सजल नील मेघों में कौंधनेवाली बिजली से तुलना कितनी अनुरूप है। कृष्ण जी के गले में लटकनेवाली आजानुलंबिनी माला का ध्यान कर किस सहृदय का चित्त अंजनगिरि से बहनेवाली पवित्र सलिला सुरसरिता की उज्ज्वलधारा की उत्प्रेक्षा से सद्यः आनंदनिमग्न नहीं हो जाता।

सत्यभामा की रूपशोभा का वर्णन कम चमत्कारी नहीं है—

(मालवरागे गीतम्)

सत्यभामा देवि देल परवेश
स्वामि सोहाग सोहाउनि वेश।
हरषित हृदय गरू अभिमान
कृष्ण पिआरी प्राण समान।
देखइत चान कला क संदेह
बसुधा बसु जनि बिजुरी रेह।
मणिमय भूषण अंग अमूल
कनकलता जनु फूलल फूल।
सुमति 'उमापति' कवि परमान
पट महिषी देवि हिंदूपति जान ॥३॥

सत्यभामा की विरहदशा का वर्णन उसकी सखी सुमुखी श्रीकृष्ण के सामने कर रही है—

(वियोग पद)

कि कहब माधव तनिक विशेशे
अपनहु तनु धनि पाव कलेशे।
अपनु क आनन आरसि हेरी
चातक भरम काप कत बेरी।
भरमहु निय कर उर पर आनी
परसै तरस सरसीरुह जानी।
चिकुर-निकर निय नयन निहारी
जलधर जाल जानि हिय हारी।
अपन बचन पिकरव अनुमाने
हरि हरि तेहु परितेजय पराने।
माधव आवहु करिय समधाने
सुपुरुष निठुर रहय न निदाने।
सुमति 'उमापति' भन परमाने
माहेशरि देइ हिंदूपति जाने ॥४॥

सत्यभामा की विरहदशा गजब की है—अपने ही शरीर से भय। आश्चर्य! दर्पण में अपना ही मुँह देखकर सत्यभामा चंद्रमा समझती है और डर से काँप उठती है। अपने ही केशपाश को देखकर नील घनघटा की भ्रांति से उसका दिल बैठ जाता है। अपने ही मधुर वचनों में कोकिला की काकली की भ्रांति हो जाती है। विरह में ऐसी भ्रांति—ऐसा पागलपन—अपनी ही देह से भय खाना—क्या अलौकिक नहीं है!

सत्यभामा को जब सुध आती है, तब वह छलिया कृष्ण की विचित्र करतूतों पर आश्चर्य प्रकट करती है और अपने ठगे जाने पर शोक अभिव्यक्त करती है—मेघ की छाया के नीचे तो मैंने शयन किया—उसे शीतल सुखद समझकर; परंतु अंत में वह तीव्र घाम के रूप में बदल गया! उन्होंने अपनी पुरानी रसमयी प्रीति को जो भुला दिया उसमें उनका दोष ही क्या? काले साँप को कितना भी जतन कर पाला जाय क्या वह कभी पोस मानता है? अब मैं आगे अपमान पाने की शंका से कभी अपने स्नेह को प्रकट नहीं करूँगी। पत्थर को दस हजार बार अमृत में भिजाया जाय, तो क्या वह कभी कोमल हो सकता है? घनश्याम के प्रति यह उलाहना कितना सुंदर और साहित्यिक है—

(उपालंभ पद)

हरि सो प्रेम आस कय लाओल
पाओल परिभव ठामे।

जलधर छाहरि तर हम सुतलहु
आतप भेल परिनामे।
सखि हे, मन जनु करिय मलाने
अपन करम फल हम उपभोगब
तोहें किय तेजह पराने। (ध्रुवम्)
पुरुब पिरिति रिति हुनि यँ बिसरब
तइओ न हुनकर दोसे
कतेक जतन धरि यँ परिपालिय
साप न मानय पोसे।
कबहु नेह पुनु नहि परगासब
केवल फल अपमाने।
बेरि सहस दस अमिय भिजाबिअ
कोमल न होय पखाने।
गुरु 'उमापति' हरि होएब परसन
मान होएब अवसाने।
सकल नृपतिपति हिंदूपति जिउ
महारानि बिरमाने ॥५॥

साँवरे कृष्ण सत्यभामा के महल में पहुँचते हैं और मानिनी को मनाने का सतत उद्योग करते हैं—

मानभंजन पद (मालवरागे गीतम्)

अरुण पुरुब दिसि बहलि सगर निसि
गगन मलिन भेल चंदा।
मुनि गेलि कुमुदिनि तइअओ तोहर
धनि मूनल मुख अरबिंदा।
कमल बदन कुवलय दुहु लोचन
अधर मधुरि निरमाने।
सगर सरीर कुसुम तुअ सिरजल
किए तुअ हृदय पखाने।
असकति कर कंकण नहि पहिरसि
हृदय हार भेल भारे।
गिरिसम गरुअ मान नहि मुंचसि
अपरुप तुअ बेवहारे।

अवगुन परिहरि हरषि हेरु धनि
मान क अवधि बिहाने।
हिमगिरि कुंमरि चरण हृदय धरि
सुमति 'उमापति' भाने ॥६॥

श्रीकृष्ण की समझ में मानिनी सत्यभामा का व्यवहार बिलकुल बेढंगा जान पड़ता है। मोतियों का हार तो बोझ सा जान पड़ता है, इसी लिये उसने उसे उतार फेंका है, परंतु पहाड़ के समान भारी मान को वह नहीं छोड़ती और उसे अपने हृदय में छिपाए बैठी है। क्या उसके व्यवहार में अपरूपता नहीं है? सत्यभामा का समग्र शरीर सुकुमार कुसुममय है; मुख कोमल है; दोनों आँखें कुवलय हैं; अधर रसमय महुआ के फूल से विरचित प्रतीत होता है। परंतु आश्चर्य है कि ब्रह्मा ने उसके कोमलतम अंग हृदय को पत्थर से बना रखा है।

इतनी मनावन करने पर सत्यभामा का मान क्षीण नहीं होता; तब श्रीकृष्ण को एक नई युक्ति सूझती है। वे झट अपना दोष मान लेते हैं और दंड देने के लिये सत्यभामा से आग्रह करने लगते हैं। दंड पाने में उनके मनोरथ की सिद्धि सद्यः हो जाती है। वे सुंदर व्यंग्य भरे वचनों में अपनी भावना प्रकट करते हैं—

मानिनि! मानह जओं मोर दोसे
शास्ति करिय बरु न करिय रोसे।
भौंह कमान बिलोकन बाने
बेधह विधुमुखि! कय समधाने।
पीन पयोधर गिरिवर साधी
बाहुफाँस धनि धरु मोहि बाँधी।
को परिणति भय परसनि होही
भूषण चरण कमल देइ मोही।
सुमति 'उमापति' भन परमाने
जगमाता देइ हिंदूपति जाने ॥७॥

हे मानिनि! यदि मेरा ही दोष मानती हो, तो उसके लिये मुझे दंड दो, रोष न करो। हे विधुवदनी! अपनी कमान रूपी, भौंहों से साधकर बाण के समान तीखे कटाक्ष छोड़ो और मुझे विद्ध कर डालो। अपने पीन पयोधर रूपी पर्वतों में साधकर मुझे तुम भुजा रूपी पाश से जकड़कर बाँध लो। यह दंड सहने के लिये मैं सर्वथा उद्यत हूँ।

उमापति के इन पदों के ऊपर गीतगोविंद का प्रभाव यथेष्टरूपेण अभिव्यक्त है। अनेक पदों के भाव तथा अर्थ गीतगोविंद के किसी प्रख्यात पद की छाया लेकर

विरचित हैं। ऐसा होना स्वाभाविक है। इस पदशैली को वैष्णव भावों की अभिव्यंजना के निमित्त प्रचलित करना श्री जयदेव के ही सरस हृदय तथा अलौकिक प्रतिभा का संवलित परिणाम है। फलतः जयदेव का प्रभाव पिछले कवियों के ऊपर चाहे वे संस्कृत के हों अथवा भाषा के हों — पड़ना स्वाभाविक है। उमापति के ऊपर यह प्रभाव मात्रा में न्यून नहीं है। ऊपर उद्धृत सप्तम पद के भावों की तुलना गीत-गोविंद के एक विश्रुत पद से भली भाँति की जा सकती है। श्रीकृष्णचंद्र मानिनी राधिका जी की मानग्रंथि खोलने का यत्न कर रहे हैं। इसी प्रसंग मे उनका राधिका के प्रति यह ललित निवेदन है—

सत्यमेवासि यदि सुदति मयि कोपिनी
देहि खर - नखर - शर - घातम्।
घटय भुजबंधनं जनय रदखंडनं
येन वा भवति सुखजातम्॥

आशय है कि हे सुदति राधिके, यदि तुम सचमुच ही मेरे ऊपर क्रुद्ध हो, तो मेरे शरीर पर तीखे नख रूपी बाणों से प्रहार करो। मुझे अपनी भुजाओं से बंधन में डाल दो तथा अपने दाँतों से मेरे अधर आदि अंगों का खंडन करो जिससे तुमको सुख उत्पन्न हो। अपराधी को उसके अपराधों के लिये बाणों से प्रहार, बंधन में डालना तथा अस्त्र से शरीर का खंडन आदि दंड दिए जाते हैं। मैं भी इन दंडों के लिये तैयार हूं, परंतु इन दंडों का रूप शृंगारिक होने से रस का पोषक है, शोषक नहीं। उमापति के पूर्वोक्त पद में यही भाव सुबोध मैथिली शब्दों में अभिव्यक्त किए गए हैं।

इस नाटक का संस्कृतभाग तो नितांत साधारण है। कथनोपकथन के लिये, पात्रों में परस्पर वार्तालाप के निमित्त प्रयुक्त यह संस्कृत सामान्य कोटि की है। बीच बीच में संस्कृत के सुंदर पद्य अवश्य पिरोए गए हैं। परंतु इसके सर्वाधिक मूल्यवान् अंश है मैथिली गीतें। अब तक महाकवि विद्यापति ही मैथिली के और साथ ही साथ हिंदी के भी प्रथम पदकर्ता माने जाते थे; परंतु इस नाटक ने इस धारणा को निर्मूल सिद्ध कर दिया है। यह नाटक विद्यापति (लगभग १४०० ई०) से करीब ७५ वर्ष पहले लिखा गया था। अतएव उमापति को मैथिली का तथा साथ ही साथ हिंदी का प्रथम वैष्णवपदकर्ता मानना कथमपि असंगत नहीं है। बंगला के प्राचीन पदावली-संग्रहों में उमापति के एक दो पद अवश्य यत्र तत्र मिलते हैं, परंतु विद्यापति के कवित्वमय व्यक्तित्व के सामने उमापति का व्यक्तित्व कुछ फीका पड़ गया था और इसी लिये इनकी उतनी प्रसिद्धि न हो सकी।

*

रामचरितमानस के कतिपय महत्वपूर्ण पाठ

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

प्राचीन ग्रंथों के संपादन में इधर विशेष प्रकार की सरणि का अनुसरण किया जाने लगा है। ऐसे संपादित ग्रंथों के ऐसे संस्करण को 'वैज्ञानिक और समीक्षात्मक संस्करण' के नाम से अभिहित किया जाता है। संस्कृत के प्रसिद्ध महाग्रंथों वाल्मीकीय रामायण और महाभारत के ऐसे संस्करणों का संपादन और प्रकाशन हो रहा है। देखादेखी हिंदी में भी इस प्रकार के संस्करणों के संपादन-प्रकाशन का उन्मेष होने लगा है। रामचरितमानस हिंदी का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ माना जाता है। इसलिये उसके ऐसे संस्करणों के संपादन-प्रकाशन की ओर हिंदीवालों का ध्यान आरंभ में ही जाना स्वाभाविक है। इस प्रकार के जो प्रयास अद्यावधि हो चुके हैं उनमें उल्लेखनीय चार हैं—नागरीप्रचारिणी सभा वाराणसी द्वारा प्रकाशित और श्री शंभुनारायण चौबे द्वारा संपादित रामचरितमानस। इसमें संपादक ने सं० १७२१ में लिखित मानस के हस्तलेख को प्रमुख स्थान दिया है। यह प्रति भारतकलाभवन, काशी विश्वविद्यालय में सुरक्षित है। चौबे जी ने मक्षिकास्थाने मक्षिका रखने का प्रयास किया है। दूसरा महत्वपूर्ण संस्करण श्री विजयानंद जी त्रिपाठी द्वारा संपादित है। इसमें पाठ को संपादित करने और उसमें एकरूपता लाने का प्रयत्न किया गया है। जहाँ तक पता चला है इस कार्य में उनकी यथेच्छ सहायता काशी विश्वविद्यालय के हिंदीविभाग के दिवंगत अध्यक्ष पं० केशवप्रसाद मिश्र ने की थी। मानस में पुरानी हिंदी या अपभ्रंश के परिवर्ती रूपों का प्रयोग बहुत्र है। मिश्र जी अपभ्रंश के अन्यतम मर्मज्ञ थे। इसलिये शब्दरूपों के समझने समझाने में उन्होंने नदीष्णता का परिचय दिया। तीसरा संस्करण गीता प्रेस द्वारा प्रकाशित है। इसका संपादन प्रमुख रूप से हिंदी के प्रसिद्ध समालोचक और संप्रति सागर विश्वविद्यालय के हिंदीविभाग के अध्यक्ष श्री नंददुलारे वाजपेयी ने किया है। इसमें भी एकरूपता-संपादन का भरपूर प्रयास किया गया है। इस संस्करण में बालकांड और अयोध्याकांड के अतिरिक्त अन्य कांडों में सं० १७२१ वाली परंपरा का ही प्रधानतया ग्रहण है। चौथा संस्करण डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित है। इन्होंने वर्तमान वैज्ञानिक पद्धति का पूर्णतया सहारा लिया है और शाखाभेद का उल्लेख करते हुए पाठांतर दिए हैं। मानस के पाठों के संबंध में इन्होंने एक पुस्तक ही प्रकाशित की है। गुप्त जी का विश्वास है कि मेरे संस्करण के अनंतर मानस का अब कोई संस्करण करना तब तक निरर्थक है जब तक कोई प्राचीनतम महत्वपूर्ण हस्तलेख न मिल जाय या स्वयं तुलसीदास के हाथ की लिखी हस्तलिपि ही न प्राप्त हो जाय।

मानस के संपादन-प्रकाशन के जो भी प्रयास हुए हैं सुश्लाघ्य हैं। प्रत्येक ने अपनी शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार सर्वोत्तम कार्य किया है। हिंदी के प्राचीन ग्रंथों के संपादन में संस्कृत ग्रंथों के संपादन के अनुभव सर्वत्र सहायक नहीं हो सकते। जहाँ तक सामान्य नियमों की बात है वहीं तक सहायता मिल सकती है। हिंदी की कुछ समस्याएँ संस्कृत से भिन्न हैं। उनपर ध्यान न जाने से अनेकत्र यथावांछित कार्य नहीं हो सकता। हिंदी की सबसे बड़ी समस्या है मात्रिक छंद की। संस्कृत में छंद वर्णवृत्त हैं। वहाँ छंद में नियत आरोह-अवरोह होता है। इसलिये एक शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द रख देने पर अन्यत्र प्रायः परिवर्तन करने की अपेक्षा पाठपरिवर्तिन करनेवालों को नहीं हुआ करती। पर हिंदी में किसी शब्द को परिवर्तित करने में प्रवाह पर प्रभाव पड़ता है। इसलिये बहुत से स्थलों पर पुष्कल परिवर्तन कर देना पड़ता है। दूसरी समस्या लिपि की है। हिंदी के प्राचीन हस्तलेख प्रमुख रूप से दो लिपियों में लिखे जाते रहे हैं। एक नागरी लिपि में और दूसरे कैथी लिपि में। हिंदी के सूफी कवियों के ग्रंथ एक तीसरी फारसी या उर्दू लिपि में लिखे हुए अधिक मिलते हैं। हिंदी की नागरी लिपि कैथी लिपि से कुछ प्रभावित भी हुई है। तीसरी समस्या हस्तलेखों के प्राप्त करने की है। संस्कृत के उक्त दो महाग्रंथों के संपादन में जैसा संभार किया गया है वैसा हिंदी के किसी ग्रंथ के संपादन के लिये, आज तक नहीं हो सका और न निकट भविष्य में होने की संभावना है। मानस के काशिराज संस्करण के संपादन में भी वैसा संभार नहीं किया जा सका। हाँ, काशिराज के व्यक्तिगत प्रभाव से मानस के प्राचीनतम दुर्लभ हस्तलेख मूलरूप में, प्रतिच्छायारूप में, अनुलिपिरूप में जिस रूप में भी वे मिल सके उन्हें उपलब्ध किया जा सका।

मानस के वैज्ञानिक या अवैज्ञानिक संपादन में अभी तक एक बात पर अधिक ध्यान नहीं रखा गया है। किसी प्राचीन हस्तलेख में यथास्थान संशोधन भी होते हैं। संशोधन दो प्रकार के होते हैं। एक तो मूल हस्तलेख का लिखिया या लिखक द्वारा किया गया और दूसरा परवर्ती काल में किसी अन्य द्वारा किया गया। जहाँ संशोधन के पूर्व का पाठ स्पष्ट है वहाँ तो संपादकों ने उसका ठीक उपयोग किया है, अन्यत्र उन्होंने परवर्ती संशोधित पाठ को भी मूल पाठ मान लिया है। ऐसा करने में मानस का मूल पाठ उपलब्ध करने में यथेप्सित लाभ नहीं हुआ है। अतः मानस के संपादन की अपेक्षा इन संस्करणों के प्रकाशित होने पर भी बनी हुई थी। उसी की पूर्ति का यथासामर्थ्य प्रयास काशिराज संस्करण में किया गया है। इस संस्करण के संपादन में पाठसंबंधी जो स्थितियाँ सामने आई उनमें से कुछ महत्वपूर्ण स्थितियों का निवेदन ही यहाँ वांछनीय है। यहाँ यह स्पष्ट करदेना भी अपेक्षित है कि मानस के जिस वैज्ञानिक संपादन की धूम है उसी से मिलता जुलता प्रयास काशिराज के यहाँ सं० १९०३ के आस-पास महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह की मानसाभिरुचि के कारण आरब्ध किया

गया था। उस समय मानस के जितने भी प्राचीनतम या परवर्ती हस्तलेख उपलब्ध हो सके उनके संग्रह का महदुद्योग किया गया। महाराज ने घोषणा की कि यदि कोई तुलसीदास की स्वलिपि में लिखित प्रति ला देगा तो उस प्रति को सोने से तौलकर दाता को सुवर्ण दिया जायगा। उसी के लोभ में रामनगर में कई सौ प्रतियाँ एकत्र हुईं और जो मूल रूप में उपलब्ध न हो सकीं उनकी अनुलिपि करा ली गई। उक्त संपादन १५ प्रतियों के आधार पर आरब्ध हुआ था। उन सबमें महत्वपूर्ण सं० १७०४ की प्रति है। जिसकी विशेषता यह है कि मानस के सातो सोपानों (कांडों) की संपूर्ण प्राचीनतम प्रति यही है। यद्यपि इसका उपयोग पहले के संस्करणों में किया गया है तथापि उसका ठीक ढंग से उपयोग न करने के कारण अनेक भ्रांतियाँ हो गई हैं।

यहीं यह उल्लेख भी कर देना है कि प्राचीन हस्तलेखों में बहुधा कुछ पन्ने किसी कारण लुप्त हो जाते हैं। उनके स्थानों में नए पन्ने जोड़े जाते हैं। इन पन्नों में पाठ परवर्ती ही रखे जा सकते थे। पिछले संस्करणों में इस पर भी ध्यान नहीं दिया गया है। मानस के संपादन में इसी प्रकार की और भी अनेक समस्याएँ हैं उन सबका विस्तृत विवेचन इस लघु प्रयास में संभव नहीं है। इतना ही कहा जा सकता है कि प्राचीन ग्रंथों का संपादन करने में मेरे तीन युग (३६ वर्ष) व्यतीत हो गए। अतः स्वकीय अनुभव से यही कह सकता हूँ कि कोरी वैज्ञानिक प्रक्रिया से मानस क्या हिंदी के किसी ग्रंथ का ठीक संपादन नहीं हो सकता। उसके लिये साहित्यिक संपादन की सरणि का परित्याग अहितकर है। वैज्ञानिक प्रक्रिया भारतीय दार्शनिक दृष्टि से विज्ञान होने से जड़ है। साहित्यिक प्रक्रिया दर्शन होने से चेतन है। मूल ग्रंथ के लेखक से लेकर संपादक तक सभी चेतन प्राणी होते हैं। जड़ की गतिविधि जितनी व्यवस्थित होती है उतनी चेतन की नहीं। अतः चेतन का प्रयास सर्वत्र नियत नहीं होता। वैज्ञानिक प्रक्रिया शब्द पर अधिक ध्यान देती है और साहित्यिक प्रक्रिया शब्द पर ध्यान देते हुए भी अर्थ पर विशेष दृष्टि रखती है। साहित्य शब्द और अर्थ का संपृक्त रूप होता है, अतः शब्द और अर्थ पर समान दृष्टि ही प्राचीन ग्रंथों के संपादन में उपयोगी हो सकती है। वैज्ञानिक सरणि के नियम का इतना ही सदुपयोग या पालन हो सकता है कि संपादक किसी शब्द को हस्तलेखों में न मिलने पर अपने अर्थबल से बदल न सके। आगे बताया जायगा कि इस नियम से भी कठिनाई होती है। पर इसका पालन न करने से कहीं कहीं जो हानि संभावित है उसके कारण इस नियम का कड़ा बंधन ही वांछनीय है। हिंदी में प्राचीन ग्रंथों के संपादन की साहित्यिक सरणि के प्रवर्तक काशी विश्वविद्यालय के दिवंगत प्राध्यापक आदरणीय लाला भगवानदीन, रामचंद्र शुक्ल और श्यामसुंदरदास थे। उनके संपादनों के अतिरिक्त स्वर्गीय जगन्नाथदास रत्नाकर ने सबसे अधिक समय और साधना द्वारा हिंदी के प्राचीन ग्रंथों

का संपादन किया। बिहारी-सतसैया के संपादन में उन्होंने २२ वर्ष लगाए। आज के वैज्ञानिक उस संस्करण को तर्जनी द्वारा मूर्च्छित कर देना चाहते हैं। पर वह कुम्हड़े की बतिया नहीं है। यदि वैज्ञानिक संपादन के कुछ नियमों का पालन उसमें और किया गया होता तो शोध के लिये कुछ अधिक सामग्री बची रह जाती। अब भी बिहारी-सतसैया का वह संस्करण सर्वोत्तम है। इसी प्रकार नागरीप्रचारिणी सभा से तुलसी-ग्रंथावली के प्रथम खंड के रूप में लाला भगवानदीन और पंडित रामचंद्र शुक्ल द्वारा संपादित मानस का जो संस्करण निकला था उसमें अनेक अच्छाइयाँ हैं जो वैज्ञानिक संपादनों में नहीं रह गई हैं। अतः दोनो सरणियों के तुल्यबलसंयोजन से ही सर्वोत्तम कार्य हो सकने की अधिक संभावना है।

अब मानस के कतिपय महत्वपूर्ण पाठों की ओर आइए।

१—प्रथम सोपान या बालकांड में दुर्जनों की शंसा या अभिशंसा करते हुए तुलसीदास ने लिखा है—

> *बायस* **पलिअहिं अति अनुरागा।**
> **होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा॥**

इस अर्धाली के 'बायस' के बदले प्राचीन हस्तलेखों में संशोधन के पूर्व का पाठ 'पायस' है। यद्यपि इस अर्धाली में 'बायस' और 'कागा' से होनेवाली द्विरुक्ति का परिहार करने के लिये पर्यायवाची शब्दों का व्यवहार किया गया है तथापि यहाँ दो बार उल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं है। अनुराग से पालने में 'निरामिषत्व' का ग्रहण दूरारूढ़ है। 'पायस' (खीर) के द्वारा 'निरामिष' की प्रतिद्वंद्विता ठीक ठीक होती है। 'पायस' और 'पलिअहिं' में 'प' का अनुप्रास भी है जिसकी दाद अलंकारप्रेमी देंगे वह अलग ही है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि उक्त चारो संस्करणों में 'बायस' ही पाठ गृहीत है। जिन प्राचीनतम हस्तलेखों को उन्होंने आधार बनाया उन्हीं में संशोधन के पूर्व उक्त पाठ सुरक्षित है।

२—कैथी लिपि के कारण मानस की निम्नलिखित अर्धाली के दो पाठ हो गए—

> **तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी।**
> *धिग* **धर्मध्वज** *धंधक* **धोरी॥**

प्राचीन पाठ 'धीग धरमध्वज धंधक धोरी' है। 'धीग' को कैसे 'धिग' पढ़ा गया यह कैथी लिपि बता देगी जिसमें मात्राओं में ह्रस्व और दीर्घ इकार के लिये दीर्घ ही ईकार चलता है और ह्रस्व एवं दीर्घ उकार के लिये ह्रस्व ही उकार रखा जाता है। 'धीग' को 'धीग' और 'धिग' दोनो पढ़ सकते हैं। जिसने 'धीग' को 'धिग' पढ़ा उसने तुलसीदास के नियम के विरुद्ध 'धर्मध्वज' को भी

पढ़ा। मानस में संस्कृत के दो शब्दों में समास होने पर 'संयुक्ताद्यं दीर्घम्' का नियम दोहे चौपाइयों में नहीं है। केवल संस्कृत श्लोकों या संस्कृतमिश्रित स्तुतियों में है। 'धंध्रक' शब्द के 'र' को अनावश्यक समझकर 'धंधक' कर दिया गया। उसके अर्थ में आज भी मतभेद है। यह 'धँधरक' का खिंचा रूप है जिसका दूसरा रूप पूर्वी भाषाओं में 'ढँगरच' चलता है। 'ढग' या 'ढोंग' रचनेवाला इसका अर्थ होता है। यहाँ यह बता देना अच्छा होगा कि उक्त प्रतियों में से केवल विजयानंद जी त्रिपाठी ने अर्थानुसारी पाठ 'धँधरच' रखा है, शेष में 'धंध्रक' का 'र' हट गया है। 'धंधक' ही पाठ रह गया है। इसका कारण यह है कि बालकांड की सबसे प्राचीन प्रति जो श्रावणकुंज अयोध्या में सुरक्षित है, परवर्ती संशोधित पाठ 'धंधक' वाली है। उसी में संशोधन के पूर्व का पाठ 'धंध्रक' है। 'धंधक' का अर्थ झगड़ा, बखेड़ा, द्वंद्व करनेवाला लगाया जाता है।

२ - मानसरूपक में मानसरोवर के चारो ओर की अमराई का उल्लेख करते हुए उसमें होनेवाले 'फूल फल' तथा 'आस्वाद' का रूपक इस प्रकार बाँधा गया है।

सम जम नियम फूल फल ग्याना।
हरिपद *रति* रस बेद बखाना॥

इस अर्धाली के 'रति रस' के स्थान पर श्रावणकुंज में केवल 'रस' है। इस प्रकार दो मात्राएँ उसमें कम हो गई हैं। सं० १७०४ की प्रति में 'रस बर' है। श्रावणकुंज की प्रति स० १६६१ की लिखी है। सं० १७०४ के लगभग 'रस' शब्द मात्र से पूर्ति न होते देखकर 'बर' शब्द बढ़ाकर पूर्ति कर दी गई, पर पूर्तिकार ने यह विचार नहीं किया कि इससे तो रूपक खंडित हो जाता है। श्रावणकुंज में पहले संशोधन में यही परवर्ती पाठ लिया गया। सं० १७१४ के आसपास इस पाठ पर फिर विचार हुआ तो उसका संशोधन 'रति रस' किया गया। १७०४ ने 'बर' रखा था। यहाँ संशोधन करनेवाले ने रूपक का विचार कर 'रति' शब्द बढ़ाया। श्रावणकुंज में 'रस' के पहले 'रति' शब्द भी आगे चलकर बढ़ा दिया गया। इस प्रकार उसका दूसरा संशोधित पाठ हुआ 'हरिपद रति रस बर बेद बखाना'। इस प्रकार दो मात्राएँ बढ़ गईं। सं० १७४२ के लगभग इस पर ध्यान जाने पर फिर संशोधन किया गया और रूपक का ध्यान नहीं रखा गया। संशोधक ने दो 'र' अक्षर कम कर दिए। अब वहाँ पाठ हो गया 'हरिपद रति सब बेद बखाना'। इसमें संदेह नहीं कि इन सबमें सर्वोत्तम पाठ 'हरिपद रति रस' ही है। पर मूल लेखक का यह पाठ नहीं है। ऐसी धारणा लेखनसरणि पर विचार करने से प्रतीत होती है। श्रावणकुंज में संशोधन के पूर्व जो पाठ है उसमें लिखक ने सामान्यतया होनेवाली एक भूल कर दी है। यदि कहीं एक ही आकारप्रकार के दो शब्द होते हैं तो लिखक भूलकर उनमें से एक ही का 'ग्रहण' करता है। मुद्रित होनेवाले ग्रंथों का प्रूफ

देखनेवाले भली भाँति परिचित हैं कि यदि एक ही शब्द दो पंक्तियों में आता है तो प्रायः अक्षर जोड़नेवाले पूरी एक पंक्ति की भूल कर दिया करते हैं। एक ही आकार-प्रकार के शब्द दो बार लिखना लोगों को अभी तक कम पसंद है। लाघव की प्रक्रिया के लिये अब भी 'धीरे धीरे' के बदले 'धीरे २' लिखा जाता है। हस्तलेखों में भी कहीं कहीं दूसरी विधि से यही सरणि अपनाई जाती है। जिस शब्द को दो बार पढ़ना होता है उस पर कोई द्विरुक्तिबोधक चिह्न लगा देते हैं। यहाँ मूल पाठ 'हरिपद रस रस बेद बखाना' जान पड़ता है। दो बार 'रस' शब्द आ जाने से एक 'रस' शब्द छूट गया है। अथवा द्विरुक्तिबोधक चिह्न लगाना लिखक भूल गया है। 'रस' का अर्थ प्रेम होता ही है। दो बार 'रस' शब्द से यमक अलंकार की जो छटा आती है उसकी प्रशंसा किए बिना साहित्यशास्त्राभ्यासी नहीं रह सकते। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि दो बार 'रस' कहने से जितना जोर पड़ता है उतना 'रति रस' कहने से नहीं। वैज्ञानिक पद्धति इस 'रस रस' के ग्रहण के पक्ष में नहीं है। क्योंकि यह पाठ किसी हस्तलेख में नहीं है। बहुत पहले ही किसी प्रकार यह पाठ छूट गया। अतः इस पाठ का केवल सुझाव ही दिया जा सकता है।

४ - जहाँ राम के विवाह में जानेवाली बरात सजाई जा रही है वहाँ हाथियों के प्रस्थान पर यह अर्धाली है—

चले मत्त गज घंट बिराजी।
मनहुँ सुभग सावन घनराजी॥

इस अर्धाली में 'घंट बिराजी' व्याकरणविरुद्ध है। यदि बिराजी क्रिया रखी जाय तो 'घंटि बिराजी' रूप ठीक होगा। पर हाथी के गले में 'घंटी' क्या ठीक है, वहाँ तो 'घंटा' ही ठीक है। किसी किसी ने मात्राधिक्य का विचार न कर 'घंटा' पाठ भी धर दिया है। आगे चलकर इसी प्रसंग में 'घंटा' भी आया है—

गरजहिं गज घंटाधुनि घोरा।

यहाँ ध्यान देने योग्य यह है कि संशोधन के पूर्व दो प्राचीनतम प्रतियों में 'घय' पाठ है। इसी 'घय' को न समझने के कारण 'घंट' संशोधन किया गया है, जो पाठ सभी मुद्रित प्रतियों में गृहीत है। यहाँ वास्तविकता क्या है उस पर दृष्टि जाते ही प्रकृत पाठ सामने आ जाता है। संशोधन के पूर्व श्रावणकुंज तथा १७०४ की प्रतियों में जो 'घय' है वह तत्वतः लिखावट की त्रुटि है। मूल पाठ 'घटा' है। 'टा' में 'ट' की टाँग आकार की पाई से जा मिली और 'घटा' का रूप 'घय' हो गया। 'घय' को अनर्थक समझकर 'घंट' बनाया गया। व्याकरण के घटाटोप पर भी किसी ने ध्यान नहीं दिया। संस्कृत में गजघटा और घनघटा का युगपत् वर्णन बहुत हुआ है। तुलसीदास ने उसी का ग्रहण यहाँ किया है। यह पाठ तीन ही हस्तलेखों में मिलता है। ये तीनो हस्तलेख

वाराणसी क्या उत्तरप्रदेश के बाहर के हैं। यहाँ प्राचीन प्रति में गड़बड़ी हो जाने से पाठ बदल गया। पर परिवर्तित पाठ के पूर्वरूप को सुरक्षित रखनेवाली प्रति से लेने के कारण अन्य प्रदेशों में लिखी जानेवाली प्रतियों में ठीक मूल पाठ बचा रह गया।

५ - मानस का निर्माण जिस समय हुआ उस समय अपभ्रंश या पुरानी हिंदी का पूरा प्रभाव था। मानस के प्राचीनतम हस्तलेखों से यह सिद्ध है कि इस ग्रंथ में अपभ्रंश या प्राकृत के परंपरित रूपों का व्यवहार कई स्थानों पर है। उन रूपों को न समझने के कारण परिवर्तन हुए और पाठ बदल गए। मानसवंदना के अंतर्गत कवि ने लिखा है—

सोइ भरोस मोरें मन आवा।
कहिं न सुसंग बड़त्तनु पावा॥

इसमें 'बड़त्तनु' को न समझने के कारण उसका आधुनिक रूप 'बड़प्पन' कर दिया गया है। धनुषयज्ञ के प्रसंग में सीता जी की मनःस्थिति का निरूपण करते हुए कवि लिखता है —

प्रभुतन चितै *प्रेमतन* ठाना।
कृपानिधान राम सब जाना॥

यहाँ 'प्रेमतन' का परवर्ती पाठ 'प्रेमपन' है। जिन्होंने पुराना पाठ लिया भी उन्होंने 'प्रेमतन ठाना' का अर्थ किया तन में 'प्रेम ठाना'। भला सोचिए तो प्रेम मन में ठानने की वस्तु है या तन में। 'प्रेमतन' का 'प्रेमपन' अर्थ की दृष्टि से दुष्ट पाठ नहीं है। पर रूप की दृष्टि से अवश्य दुष्ट है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'प्रेमतन' अपभ्रंश का 'प्रेमत्तन' है, जैसे बड़त्तन का बड़प्पन हुआ वैसे ही प्रेमतन का 'प्रेमपन' हो गया।

६ - हिंदी में संस्कृत का अधिक प्रयोग करने के लिये केशवदास बदनाम हैं। पर उनका दोष इतना ही है कि उन्होंने संस्कृतव्याकरण का मोह नहीं छोड़ा है। उन्होंने 'देवता' पर संस्कृत के ही व्याकरण का अनुशासन रखा है और उसे स्त्रीलिंग में प्रयुक्त किया है। पर तुलसीदास ने केशवदास की अपेक्षा कहीं अधिक संस्कृत का सहारा लिया है पर अनुशासन हिंदीव्याकरण का रखा है। इसलिये इनके यहाँ 'द्विज देवता घर ही के बाढ़े' में 'देवता' पुंलिंग है। तुलसीदास ने जहाँ ऐसे संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया है जो लोगों की समझ मे नहीं आए वहाँ पाठ में परिवर्तन कर दिया गया है। पार्वती सप्तर्षियों से कहती हैं—

देखहु मुनि अबिबेकु हमारा।
चाहिअ *सदासिवहि* भरतारा॥

संस्कृत जाननेवाला जानता है कि 'शिव' का एक नाम 'सदाशिव' भी है। तुलसीदास ने इस शब्द का प्रयोग अन्यत्र मानस में ही किया है —

बिनती सुनहु सदासिव मोरी।

पर पार्वती के प्रसंग में 'सदासिव' में से केवल 'सिव' का ही ग्रहण किया गया। फल यह हुआ कि 'सदा' को शिव से पृथक् करके उसे 'भरतारा' से संबद्ध किया गया। अतः अर्थ को स्पष्ट करने के लिये पाठभेद करके व्यत्यय कर दिया गया और नया पाठ हो गया — चाहिअ सिवहि सदा भरतारा। पूर्ण वैज्ञानिक संपादन करनेवाले डा० माताप्रसाद गुप्त ने यही पाठ ठीक माना है।

सीताहरण के प्रसंग में वैदेही के विलाप में 'पुरोडास' शब्द का व्यवहार हुआ है जिसे न समझ सकने के कारण उसमें यों पाठभेद हो गया है —

१ पुडारास — पूड़े की राशि।
२ बुडारास — बूड्डे की राशि, दलफरे की राशि।
३ पुआडास — पूए का विस्तृत ढेर।

ऐसे ही—

हा जगदेव बीर रघुराया।
कहि अपराध बिसारेहु दाया॥

में 'जगत्+एक' पर ध्यान न देने से 'जग एक' पाठ हुआ। यहाँ तक तो गनीमत थी, पर यह जगदेव या जगदैअ भी हो गया। किसी ने और कुछ नहीं किया तो हिंदी के मत से संधि करके 'जगदैक' भी कर डाला।

७ - तुलसीदास ने संस्कृत के शब्दों का ही व्यवहार नहीं किया है। संस्कृत के रामकथा संबंधी ग्रंथों, नाटकों आदि का भी सहारा लिया है। मानस तथा अपने अन्य ग्रंथों में उन्होंने आहृत अंश ऐसे रूप में उपस्थित किया है कि यदि मूल सामने न हो तो ठीक अर्थ ही नहीं लग सकता। तुलसी के अन्य ग्रंथों के संपादान में संस्कृत सबंधी मूलस्रोत पर बहुत कम ध्यान गया है। अतः वहाँ बहुत ही अनर्थ हो गया है। पर मानस में भी मूल सामने न होने से पाठभेद और अर्थभेद कर दिया गया है। अशोकवाटिका में रावण सीता को सुमुख करने के लिये जब आता है तब सीताकृत अपमान का अनुभव करके अपनी चंद्रहास नाम्नी तलवार खींच लेता है। उस चंद्रहास को संबोधित कर सीता जी कहती हैं —

चंद्रहास हर मम परितापं।
रघुपतिबिरह अनल संजातं॥

सीतल निसित बहसि बर धारा।
कह सीता हरु मम दुख भारा॥

यह अंश मानस में जयदेवकृत प्रसन्नराघव नाटक के आधार पर रखा गया है। वहाँ इसका रूप यों है —

चंद्रहास हर मे परितापं।
रामचंद्रविरहानलजातं॥
त्वं हि कान्तिजितमौक्तिकचूर्णं।
वहसि धारया शीतलमम्भः॥

इसके अनुसार 'बहसि बर धारा' ही पाठ ठीक है। हस्तलेख में सभी शब्द मिले रहते हैं। संस्कृत के हस्तलेखों में ही नहीं हिंदी के हस्तलेखों में भी। फल यह हुआ कि 'सीतलनिसितबहसिबरधारा' का शब्दच्छेद 'सीतल निसि तव हसि बर धारा' कर लिया गया। 'हसि' को किसी ने 'है' के अर्थ में समझा तो किसी ने उसे 'असि' भी कर दिया। अतः दो अर्थों के लिये अवकाश हो गया। 'है' के लिये भी और 'तलवार' के लिये भी।

यहाँ तुलसीदास ने मूलाधार से परिवर्तन कर जो स्वारस्य उत्पन्न किया है उसकी प्रशंसा यद्यपि प्रस्तुत प्रसंग के बाहर है तथापि 'रामचंद्रविरहानलजातं' का 'रघुपतिबिरह अनल संजातं' कर देने में जो दो प्रमुख वैशिष्ट्य आ गए हैं उन्हें प्रहीताओं को बता ही देना श्रेयस्कर है। मानस में सीता अपने पति राम का नाम कहीं नहीं लेतीं। केवल किष्किंधा के वानर बताते हैं कि 'राम राम हा राम पुकारी। हमहि देखि दीन्हेउ पट डारी।' आपद्धर्म में सीता को पति का नाम लेना पड़ा। पर उसे भी कवि ने उनके मुख से अधिकांश नहीं कहलाया। शास्त्र की आज्ञा जो है —

आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च।
श्रेयस्कामा न गृह्णीयात् ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः॥

अतः भला सीता कब 'रामचंद्र' कह सकती थीं। उनका तो अपने पति के लिये रखा नाम करुणानिधान है। अतः कवि ने 'रामचंद्र' के बदले 'रघुपति' रखा। 'सं' जोड़कर मात्रा की पूर्ति कर ली। दूसरी विशेषता यह उत्पन्न की कि मात्रिक छंद चौपाई में अधिकाधिक लघु मात्राएँ रहने से प्रवाह में लालित्य और गीतात्मकता आती है। 'रघुपति' में तो लघु मात्राएँ थी हीं। 'विरहानल' को भी 'बिरह अनल' कर दिया गया।

८ - अवधी के प्रयोगों, वाग्योगों और लोकोक्तियों को न जानने के कारण भी पाठ ऐसे बदले हैं कि मूल अर्थ से कहीं कहीं भेंट ही नहीं होती —

केवट बुध बिद्या बड़ि नावा ।
सकहिं न खेइ अैक नहिं आवा ॥

यहाँ 'अैक' का अर्थ 'अंदाज' है। पानी का अंदाज नहीं मिलता। यह शब्द नाविकसंप्रदाय का अपना है। इस 'अैक' का 'एक' समझकर अर्थ किया गया है — एक भी नहीं आता, कुछ भी नहीं आता। अवधी के मुहावरे के अनुसार 'एक अंक' या 'एक आँक' का अर्थ होता है 'निश्चय'। यही घिसकर 'यकंक' या 'इकंक' भी हो जाता है जिसका प्रयोग अवध प्रदेश के अनेक कवियों ने किया है। पर जब भरत कहते हैं कि

एकहि आँक इहै मन माहीं।
प्रातकाल चलिहौं प्रभु पाहीं ॥

तो 'एकहि आँक' का अर्थ किया गया है — 'एक ही लकीर है, हृदय में एक ही रेखा है'। —'थी एक लकीर हृदय में जो अलग रही लाखों में'। (प्रसाद)

९ - लोगों ने मानस में प्रयुक्त बोलचाल के शब्दों के रूप पर या दूसरे शब्दों में प्राकृत शब्दरूपों के वंशजों पर भी कम ध्यान दिया है। मानस में 'सरयू' के लिये 'सरजू' तो है ही, कहीं कहीं 'सरऊ' भी है। कुछ व्यास 'सरऊ' सुनकर चौंकते और नाक भौंह भी सिकोड़ते हैं। पर किया क्या जाय। प्राकृत के अनुसार 'क ग च ज त द प य वां प्रायो लोपः। अनादेः' के अनुसार 'सरऊ' ही ठीक है। सरयू के किनारे अवध के ठेठ ग्रामों में यही नाम चलता रहा है। अब भी चलता है। सरयू ही नहीं 'कर्मनाशा' का एक नाम उसके तटवर्ती ग्रामों में 'कइनासा' भी है। कहीं कहीं ठेठ गाँवों में। यही शब्द मानस में प्रयुक्त है भाषावैज्ञानिक 'व' श्रुति-सहित। पर उसके बदले 'क्रमनासा' पाठ ही वैज्ञानिक संस्करणों में लिया गया है —

कासी मग सुरसरि कविनासा ।
मरु मारव महिदेव गवासा ॥

यह 'कविनासा' वैसा ही रूप है जैसा कैलास (स्वर्ग) के लिये जायसी आदि कवियों द्वारा प्रयुक्त 'कविलास'। इसका पुराकालीन उच्चारण 'व' श्रुतिसहित था। पर अब 'कइनासा' है। यह शब्द 'कृतिनाशा' से बना है और प्राकृत के सूत्रों के अनुसार ठीक बना है। 'कविनासा' की 'व' श्रुति 'ब' भी हो गई और 'कबिनासा' रूप आ गया।

१० - अवधीव्याकरण न जानने से लोगों ने 'मरम बचन सीता तब बोला। हरिप्रेरित लछिमन मन डोला' को पाठांतरित कर दिया। तुलसीदास ने तुकांत के लिये स्वर को प्रायः दीर्घ कर दिया है। यहाँ अवधी रूप 'बोल' 'डोल' हैं।

लोगों ने इसे खड़ी बोली का 'बोला' 'डोला' मान लिया। ऐसे प्रयोग जायसी में भी आए हैं —

सुनत बचन पदमावति हँसा।

कोई कोई 'बोला' को 'बचन' से संबद्ध करते हैं। यह केवल स्वकल्पना है। पाठांतर हुआ —

मरम बचन सीता तब बोली।
हरिप्रेरित लछिमन मति डोली॥

कोई कोई 'मन डोला' को ठीक प्रयोग नहीं मानते। उनके लिये 'पीपर पात सरिस मन डोला' का स्मरण कर लेना पर्याप्त होगा।

मानस में पाठसंबंधी अनेक समस्याएँ हैं। अपभ्रंश के अकारांत पुंलिंग शब्दों में प्रथमा और द्वितीया के एकवचन में लगनेवाली 'उकार' की मात्रा और तृतीया, सप्तमी के लिये सानुनासिक रूपों का व्यवहार अनुलिपि करनेवालों के लिये कष्टद रहा है। परवर्ती काल में धीरे धीरे इनका अधिकतर परित्याग कर दिया गया। अब जब कोई कहता है कि तुलसीदास 'गुरु' शब्द को 'गुर' नहीं लिख सकते और जब कोई धमकाता है कि यदि 'राम' को 'रामु' लिखा जायगा तो 'जान आदि कबि नाम प्रतापू। भयेउ सुद्ध करि उलटा जापू' से संगति न होगी, क्योंकि 'राम' का ही उलटा तो मरा होगा। रामु से तो 'मुरा' हो जायगा। तब मानस पर अधिकार जतानेवाले मर्मज्ञों के ज्ञान पर किसी को हँसी आ जाय तो अस्वाभाविक न होगी। वे यह नहीं जानते कि 'राम' प्रातिपदिक रूप से ही सर्वत्र प्रयोजन है—हिंदी - संस्कृत - प्राकृत - अपभ्रंश सर्वत्र। रामः या 'रामु' सुबंत रूप से नहीं। यह रामु भी तो 'रामः' का ही विकास है — रामः का रामो फिर रामु। यदि संस्कृत 'रामः' का उलटा किया जाय तो मःरा = महरा उच्चारण होगा, मरा नहीं। इसी प्रकार अवधी का शब्द 'गुर' ही है जो 'निगुरा' में अपने देश्य रूप में ही उपस्थित है। प्राचीन हस्तलेखों के अनुसार मानस में 'गुरु' शब्द प्रथमा और द्वितीया में ही 'रामु' की भाँति प्रयुक्त हुआ है।

मानस ऐसे ग्रंथ के नानाविध शोध के लिये जितने विशाल संभार और आयोजन की अपेक्षा है वह अभी हिंदी के लिये दूर है। फिर भी काशिराज ने जितना उत्साह दिखाया उसके आधार पर पर्याप्त नूतनोपलब्धि हुई है। मानस का काशिराज संस्करण विदुषों का तोष ही नहीं परितोष भी करेगा ऐसा विश्वास उसके संपादक को है।

*

उड़ीसा में अवशिष्ट बौद्ध धर्म

परशुराम चतुर्वेदी

•

भारतवर्ष में ईसवी सन् १९५६ के मई मास की वैशाखी पूर्णिमा को, बौद्ध धर्म के ढाई सहस्र वर्ष व्यतीत कर चुकने का एक महान् उत्सव मनाया गया और उस अवसर पर 'बौद्ध धर्म के २५०० वर्ष' नामक एक परिचयात्मक ग्रंथ भी प्रकाशित हुआ जिसके अंतर्गत उसकी आज तक की उपलब्धियों का एक सुंदर लेखाजोखा प्रस्तुत किया गया। इस पुस्तक के देखने से पता चलता है कि यह धर्म यहाँ पर उदय होकर किस प्रकार सुदूर देशों तक जा पहुँचा और वहाँ क्रमशः प्रचलित हुआ तथा अपने इस विस्तारक्रम की वैसी प्रगति में, इसने कितने और कौन कौन से विभिन्न रूप धारण कर लिए तथा किस प्रकार यह इतना प्रभावशाली भी बन गया। फिर भी यह देखकर हमें आश्चर्य होता है कि जहाँ उसमें इसके विश्व में अन्यत्र उतना व्यापक और विशाल रूप से विद्यमान पाए जाने का न्यूनाधिक विवरण उपस्थित किया गया है वहाँ इसके मूल क्षेत्र भारत में अवशिष्ट किसी अंश की वर्तमान दशा का कोई परिचय नहीं दिया गया है अथवा उसका वहाँ पर कोई स्पष्ट उल्लेख तक नहीं किया गया। इस पुस्तक का मुख्य सारांश संभवतः, इस संबंध में, इतना ही जान पड़ता है कि 'समय पाकर बौद्ध धर्म हिंदू धर्म के सुधरे हुए रूप द्वारा अपने में आत्मसात् कर लिया गया'[1] जिससे वस्तुतः उस परंपरागत कथन के ही जैसा परिणाम निकलता है जिसके अनुसार इस धर्म को, अंत में शंकर एवं कुमारिल जैसे हिंदू धर्माचार्यों ने इसके अनुयायियों को शास्त्रार्थ में परास्त कर इसे भूभाग से बाहर भगा दिया था।

इसके सिवा, इस विषय में कुछ विद्वानों की धारणा इस प्रकार की भी दीख पड़ती है कि बौद्ध धर्म ने हमें कभी चाहे कोई दार्शनिक दृष्टिकोण एवं प्रचुर साहित्य भले ही प्रदान कर दिया हो तथा सम्राट् अशोक जैसे कतिपय प्रचारकों के कारण, कुछ समय के लिये, इसके अनुयायियों की संख्या में कभी कोई वृद्धि भी भले ही हो गई हो, किंतु 'वास्तव में भारतवर्ष कभी पूर्णतः 'बौद्धभारत' हुआ ही नहीं था और इसका जो कुछ भी प्रभाव हमें यहाँ कहीं पर लक्षित होता है उसे भी यथार्थ में

१. '२५०० इयर्स आव् बुद्धिज्म', संपादक प्रो० पी० वी० बापट, पब्लिकेशंस डिवीजन, गवर्नमेंट आव् इंडिया, पृ० ७।

केवल आंशिक, स्थानीय अथवा अधिक से अधिक क्षणस्थायी मात्र ही सिद्ध किया जा सकता है'।[२] ऐसा मत प्रकट करते समय डा० आर० सी० मित्र ने बौद्ध धर्म के इस देश में क्रमशः होते गए ह्रास का एक विस्तृत विश्लेषण किया है और उसे विभिन्न भारतीय प्रांतों की दशा के आधार पर उदाहृत करते हुए, अंत में उसके मूल कारणों की ओर भी संकेत किया है। उनके अनुसार उसके जो प्रधान कारण थे वे कदाचित् इसमें इसके आरंभ से ही, अंतर्निहित रहे और उसके बाहरी कारणों की संख्या उतनी नहीं रही और न केवल इन्हीं के कारण, यह यहाँ से कभी निर्मूल कर दिया जा सकता था। इन बाहरी कारणों में उन्होंने केवल हिंदू धर्म की ओर से किए गए अभिद्रोह तथा मुस्लिमविजय के ही नाम लिए हैं, किंतु उसके भीतरी कारणों की चर्चा करते समय, सर्वसाधारण की दृष्टि से इस मत में पाई जानेवाली निगूढ़ता, बौद्धिकता निराशावादिता एवं नास्तिकता का उल्लेख किया है तथा इसी प्रकार समय पाकर इसके अनुयायियों के भीतर आए हुए कतिपय गंभीर दोषों का भी वर्णन किया है। इसके साथ ही उन्होंने यह बतलाने की भी चेष्टा की है कि यह धर्म मूलतः हिंदू धर्म के सिद्धांतों पर ही आश्रित था तथा इसका लक्ष्य भी पहले उसमें आवश्यक सुधार लाने का ही जान पड़ता था, इस कारण जब इसने उस ओर प्रयत्न किए तथा जब उसके फलस्वरूप इसे अपने मिशन में पर्याप्त सफलता दीख पड़ी तो यहाँ पर यह, अंत में आपसे आप गतिहीन बन गया।

इस प्रकार भारत में बौद्ध धर्म का अंततोगत्वा लुप्त हो जाना ही प्रतीत होता है। जिस बात पर विचार करते समय एक स्थल पर डा० राधाकृष्णन् ने भी कहा है, 'विश्व की उत्तम से उत्तम वस्तुओं को अपना कायाकल्प करने के पूर्व एक बार मर जाना पड़ता है जो बात बौद्ध धर्म के संबंध में भी देखी गई क्योंकि भारत में वह नष्ट होकर फिर विशुद्ध ब्राह्मण धर्म के रूप में प्रकट हो सका'।[३] किंतु यदि इस प्रकार के मतों का आशय इतना और भी मान लिया जाय कि यह धर्म अपने उपर्युक्त कर्त्तव्य का पालन करके पीछे हिंदू धर्म के अंतर्गत सर्वथा विलीन हो गया और यह इस देश में फिर अपना कोई भी वाह्य चिह्न पृथक् रूप में छोड़ न पाया तो यह बात, वास्तव में तथ्य से कुछ दूर जाती हुई सिद्ध होगी और फलतः उसे इस रूप में सभी स्वीकार भी नहीं कर सकेंगे। जिस किसी ने भी आज तक इस प्रश्न की ओर समुचित

२. डा० आर० सी० मित्र, द डिक्लाइन आव् बुद्धिज्म इन इंडिया, विश्वभारती, १९५४ पृ० २।

३. डा० एस० राधाकृष्णन्, इंडियन फिलासफी खंड १, जार्ज अलेन ऐंड अनविन लि०, लंदन, पृ० ६०९।

ध्यान दिया होगा और बिना किसी पूर्वाग्रह के वास्तविकता तक पहुँचने की चेष्टा की होगी उसे यह स्वीकार कर लेने में कोई हिचक न हुई होगी कि इस धर्म ने यहाँ पर न केवल उपर्युक्त विशिष्ट 'दार्शनिक दृष्टिकोण एवं प्रचुर साहित्य' प्रदान किया है, प्रत्युत हमें चित्रकला, मूर्तिकला एवं स्थापत्यकला आदि के क्षेत्रों तक में एक विशाल भांडार अर्पित किया है तथा इसने अपने पीछे इस देश में ऐसे अनेक भूभाग भी छोड़ दिए हैं जहाँ की जनता में अभी तक इसके द्वारा आमूलतः परिवर्तित मानवजीवन के अवशिष्ट उदाहरण उपलब्ध होते हैं। हो सकता है कि वे कुछ अंशों में न्यूनाधिक विकृत अथवा विकसित भी हो चुके हों, किंतु इसमें संदेह नहीं कि वे फिर भी उपेक्षणीय नहीं ठहराए जा सकते।

आज से अनेक वर्ष पूर्व बंगाल के स्व० महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री का ध्यान इस विषय के महत्व की ओर आकृष्ट हुआ था और उन्होंने प्राचीन बंगला-साहित्य की हस्तलिखित पुस्तकों की खोज और उनका अध्ययन करते समय, माणिक गांगुली के *धर्ममंगल* एवं रामाई पंडित के *शून्यपुराण* जैसे ग्रंथों के आधार पर यह अनुमान किया था कि उनके प्रांत में प्रचलित धर्मठाकुर की पूजनपद्धति का संबंध किसी बौद्ध संप्रदाय के साथ हो सकता है। उन्होंने फिर इस प्रश्न का समाधान पाने के उद्देश्य से अनेक स्थानों में भ्रमण भी किया और नेपाल से लौटकर एक प्रबंध पढ़ा जो अँगरेजी में 'डिस्कवरी आव् लिविंग बुद्धिज्म इन बंगाल' अर्थात् 'बंगाल में जीवित बौद्ध धर्म की उपलब्धि' के शीर्षक से था। इस बार उन्होंने अपना यह मत स्पष्ट रूप से प्रकट किया कि 'धर्मठाकुर की पूजा वस्तुतः बौद्ध धर्म का ही अवशिष्ट अंश है'।[४] उन्होंने फिर नेपाल की यात्रा एक से अधिक बार करके वज्रयानी एवं सहजयानी बौद्ध सिद्धों की भी कई रचनाएँ प्राप्त कीं और अपनी प्रायः बीसों वर्ष की अनवरत खोज के फलस्वरूप, यह निष्कर्ष निकाला कि न केवल बंगाल प्रांत अपितु भारत के कतिपय अन्य क्षेत्रों तक में भी, इस प्रकार के उदाहरण मिल सकते हैं। इसके सिवा उनकी यह भी धारणा हो गई कि यहाँ के नाथपंथ जैसे कई संप्रदायों पर बौद्ध धर्म का अत्यंत स्पष्ट प्रभाव पड़ा है तथा कम से कम बंगाल प्रांत के सनातनी हिंदूजीवन को भी हम उसके द्वारा बहुत कुछ प्रभावित ठहरा सकते हैं। स्व० शास्त्री महोदय के इस मत का स्वागत स्वभावतः सर्वत्र एक ही रूप में नहीं हुआ और किसी किसी ओर से इसका कड़ा विरोध तक किया गया, किंतु इस बात से वे तनिक भी विचलित नहीं हुए, प्रत्युत अपने विचारों की पुष्टि में वे बराबर अन्य सामग्री प्रस्तुत करते रहे।

४. म० म० हरप्रसाद शास्त्री, हाजार बछरेर पुराण बांगला भाषाय बौद्ध गान ओ दोहा, बंगीय साहित्यपरिषद्, कलिकाता, १३५८ बं०, मुखबंध पृ० २-४।

स्व० शास्त्री के उपर्युक्त मत का पूर्ण समर्थन प्रसिद्ध प्राच्यविद्यामहार्णव स्वर्गीय नगेंद्रनाथ वसु के अनुसंधानकार्य से मिला जिन्होंने इस संबंध में दो अँगरेजी पुस्तकें क्रमशः 'द आर्क्योलाजिकल सर्वे आव् मयूरभंज, भाग १' तथा 'माडर्न बुद्धिज्म ऐंड देयर फालोवर्स इन उड़ीसा' नामों से लिखीं। उनमें से दूसरी की 'भूमिका' के रूप में स्वयं उन्होंने भी अपने विचार प्रकट करते हुए उसे 'अत्यंत रोचक' बतलाया। वास्तव में यह दूसरी पुस्तक पहली का एक अंश मात्र ही थी और इसे उचित महत्व प्रदान करने की दृष्टि से ही उक्त 'भूमिका' के साथ स्वतंत्र रूप दे दिया गया। जैसा स्व० वसु बाबू ने स्वयं भी कहा है, इस पुस्तक की रचना उन्हें, मयूरभंज के महाराजा के साथ नवंबर सन् १९०८ ई० में पुरातत्व अनुसंधान के समय यात्रा के अवसर पर प्राप्त कतिपय अनुभवों के आधार पर करनी पड़ी थी। इन्हें उस समय यह बात स्पष्ट रूप में प्रतीत हुई थी कि जिन लोगों के बीच जाकर इन्हें अपना कार्य करना पड़ा था तथा जिनमें से कुछ के मुखों से इन्होंने विभिन्न गान सुने थे वे लोग 'निर्भ्रांत रूप में बौद्ध धर्म की शिक्षाओं को मानते हैं'। यद्यपि इसे वे सभी स्वीकार नहीं करते थे। अतएव, इन्होंने अपनी इस पुस्तक की 'प्रस्तावना' में ऐसा कथन करने में भी कोई संकोच नहीं किया कि 'मेरे अनुसंधान और उनके द्वारा उपलब्ध परिणाम उनके सिद्धांतों तथा भिन्न दृष्टिकोण से पहुँचे गए नए निर्णयों का केवल पुष्टीकरण और पूर्ति करते हैं'।[५] उनकी ओर से लिखी गई 'भूमिका' के लिये इन्होंने उनके प्रति अपनी कृतज्ञता भी प्रकट की। स्व० वसु के उक्त अनुसंधानकार्य तथा इनकी रचनाओं की चर्चा पीछे सर चार्ल्स ईलियट नामक लेखक ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक हिंदुइज्म ऐंड बुद्धिज्म अर्थात् 'हिंदू धर्म एवं बौद्ध धर्म' के भाग २ में की है और वह इनके द्वारा उपलब्ध परिणामों को बहुत कुछ स्वीकार करता हुआ भी जान पड़ता है।[६]

जैसा स्व० वसु की पुस्तक के शीर्षक 'उत्कल में आधुनिक बौद्ध धर्म और उसके अनुयायी' से ही स्पष्ट है इसमें इनके द्वारा केवल उत्कल प्रांत में ही किए गए अन्वेषणकार्य का परिणाम संगृहीत किया गया है। वहाँ के मयूरभंज स्थित बड़साई और खिचिंग के निकटवर्ती जंगली स्थानों में इन्हें कई उड़िया पांडुलिपियों का पता लगा था जिनसे बौद्ध धर्म की परवर्ती अवस्था पर यथेष्ट प्रकाश पड़ा और, तत्संबंधी वंशानुक्रमिक अनुसंधानों के भी फलस्वरूप, इन्होंने यह 'अकाट्य निष्कर्ष' निकाल लिया कि धर्मसंप्रदाय और बौद्ध धर्म की परवर्ती दशा का प्रभाव वहाँ के लोगों

५. प्रस्तावना, पृ० २।

६. सर चार्ल्स ईलियट, हिंदुइज्म ऐंड बुद्धिज्म, ऐन हिस्टारिकल स्केच, रटलेज ऐंड केगन पाल लि० १९५४, भाग दो पृ० ११४-१५।

पर बना हुआ है और वह अब भी उनके जीवन को नियमित करता है तथा वे अज्ञात रूप से भी उन प्रथाओं का अनुसरण कर रहे हैं जो महायानी बौद्ध धर्म की हैं। इसके अतिरिक्त स्व० बसु को, उड़िया भाषा के प्रसिद्ध भक्त कवि 'पंचसखा' लोगों की रचनाओं के अध्ययन से भी, इस विषय के संबंध में निर्णय करते समय पर्याप्त सहायता मिली और महादेवदास की 'धर्मगीता' के पढ़ने पर इन्हें यह स्पष्ट हो गया कि जिस प्रकार बंगाल के राढ़ नामक भूभागवालों की सांप्रदायिक मनोवृत्ति का वास्तविक परिचय रामाई पंडित के 'शून्यपुराण' से मिलता है उसी प्रकार उत्कल के विशिष्ट स्थलों के लोगों के संप्रदाय का पता इस पुस्तक के द्वारा मिल सकता है। अतएव, इस संबंध में इनका यह परिणाम निकालना स्वाभाविक था 'यद्यपि दोनों देशों के प्राकृतिक गठनों की विभिन्नताओं और समय द्वारा प्रभावित परिवर्तनों तथा सदियों तक व्याप्त दोनो प्रदेशों के लोगों के मानसिक गठन में अंतर के कारण राढ़ तथा उत्कल के धार्मिक विकास के इतिहासों में छोटे मोटे भेद लक्षित होते हैं, फिर भी इसमें तनिक भी संदेह नहीं हो सकता कि आरंभ में ये इतिहास एक ही वृक्ष की दो शाखाओं की भाँति एक से और समान थे' और इस बात का समर्थन इन्हें एक तिब्बती परिव्राजक द्वारा किए गए किसी संकेत द्वारा भी मिल गया।

जिन बातों पर स्व० बसु ने अपने इस ग्रंथ में प्रकट किए गए निर्णय को आधारित किया है उनमें सबसे उल्लेखनीय प्रसिद्ध 'पंचसखा' भक्त कवियों की वे उड़िया रचनाएँ हैं जिन्हें उन्होंने अपनी खोज के समय अनेक पांडुलिपियों अथवा हस्तलिखित ग्रंथों में पाया था और जिनके विशेष अध्ययन द्वारा उन्हें इस विषय में यथेष्ट बल प्राप्त हुआ था। इन 'पंचसखा' में बलरामदास (ज० स० १४७२ ई०), जगन्नाथदास (ज० स० १४६० ई०), यशोवंतदास (ज० स० १४६२ ई०), अनंतदास (ज० स० १४६३ ई०) और अच्युतानंददास (ज० स० १५०३ ई०) के नाम लिए जाते हैं जो बंगाल के महाप्रभु चैतन्यदेव (ज० स० १४८५ ई०) के समकालीन थे और जिनका, इसी कारण इनकी पुरीयात्रा के अवसर पर विद्यमान रहना भी कहा जाता है। कहते हैं कि 'पंचसखा' लोग वैष्णव भक्त थे और वे महाप्रभु की विचारधाराओं द्वारा बहुत कुछ प्रभावित भी थे। उनमें से कम से कम बलरामदास को इनके द्वारा 'मत्त' बलरामदास कहा जाना तथा जगन्नाथदास के गुणों पर मुग्ध होकर उन्हें 'अति बड़ी' उपाधि प्रदान करना भी इस बात का द्योतक है कि इनसे उन लोगों का संभवतः कोई स्पष्ट मतभेद भी न रहा होगा। वे लोग पीछे वस्तुतः महाप्रभु चैतन्यदेव के 'पंचसखा' कहलाकर भी प्रसिद्ध हो गए थे।[७]

७. डा० आर्त्तवल्लभ महांति, उड़िया साहित्य का विकासक्रम, राष्ट्रभाषा रजतजयंती ग्रंथ-प्रकाशक उत्कल प्रांतीय राष्ट्रभाषाप्रचार सभा, कटक, पृ० १३८-४१।

इसके सिवा उत्कल प्रांत में उन दिनों राजा प्रतापरुद्र देव का राज्यकाल (सन् १४६५-१५४० ई०) भी चल रहा था जो वैष्णव धर्म के प्रसिद्ध पोषकों एवं संरक्षकों में गिने जाते हैं तथा जिनके विद्वान मंत्री राय रामानंद महाप्रभु के 'पट्टशिष्य' तक समझे जाते थे। इस राजा प्रतापरुद्र द्वारा बौद्ध धर्म के विरुद्ध कभी कभी किसी न किसी रूप में अभिद्रोह किए जाने के भी उल्लेख पाए जाते हैं। ऐसी दशा में बसु महोदय का यह कथन कि बौद्धों का महाशून्यसंबंधी माध्यमिक दर्शन का सिद्धांत उन पंचसखा लोगों के 'धार्मिक जीवन का मुख्य स्रोत' रहा तथा उनका यह अनुमान कि बलरामदास वस्तुतः बौद्ध धर्म के एक 'प्रच्छन्न अनुयायी' या 'वैष्णव बौद्ध' थे' हमें कुछ विचित्र सा लगता है और इसे सिद्ध करने के लिये उनकी ओर से बार बार दिए गए उद्धरणों के ऊपर किंचित् सावधानी के साथ विचार करने की प्रवृत्ति आपसे आप जागृत होने लगती है।

उदाहरण के लिये स्व० बसु ने जहाँ बलरामदास की 'सारस्वत गीता' के उद्धरणों द्वारा उनके महाशून्य, शून्यपुरुष एवं श्रीकृष्ण को पूर्ण रूप से 'एक एवं वही' सिद्ध किया है तथा 'देहधारी निरंजन' के आधार पर भी वैसा ही होना मान लिया है वहाँ पर हमें ऐसा लगता है कि उन्होंने उस कवि के निर्गुण भक्त होने की ओर भी यथेष्ट ध्यान नहीं दिया है, प्रत्युत वे केवल कुछ शब्दों के ही फेर में पड़ गए हैं। इसी प्रकार जहाँ पर उन्होंने 'शून्यसंहिता' एवं 'तुलाभिना' जैसे ग्रंथों के उद्धरण देकर जीव को 'राधा' तथा परमात्मा को 'मुरारी' ठहराते हुए 'गोलोक' की नित्यता पर भी प्रकाश डाला है वहाँ पर भी हमें, उनकी प्रायः वही चेष्टा दीख पड़ती है। उनके द्वारा 'पाँच विष्णु' एवं 'पाँच ध्यानी बुद्ध' तथा सृष्टिक्रम के रहस्य एवं 'धर्म निर्वाण', 'अनुत्तर योग' और भक्तिसंबंधी विषयों पर किया गया तुलनात्मक अध्ययन अवश्य कहीं अधिक रोचक और तर्कसंगत भी प्रतीत होता है। यहाँ पर उन्होंने यथास्थल अनेक उद्धरण देकर उनके द्वारा हमें इन भक्त कवियों का बौद्ध धर्म की विचारधारा से प्रभावित होना बतलाया है जिसमें कदाचित् कुछ भी संदेह नहीं है। परंतु जैसा इन उद्धरणों पर एक बार ध्यानपूर्वक विचार कर लेने पर कहा जा सकता है, हम केवल इन्हीं के आधार पर 'पंचसखा' में से किसी कवि को सहसा 'प्रच्छन्न बौद्ध' भी नहीं ठहरा सकते और न उन्हें हम 'सच्चे बौद्ध या बुद्ध के भक्त' मानकर 'ब्राह्मणों तथा राजाओं के उत्पीड़न के भ्रम से' अपनी मानसिक प्रवृत्तियों को वैष्णव धर्म के छद्मवेश में छिपा रखना आवश्यक और अनिवार्य समझ लेनेवाले ही मान ले सकते हैं जब तक हम उनकी रचनाओं का कोई गंभीर अध्ययन कर वास्तविक तथ्य तक पहुँच न सकें। केवल ऐसी ही बातों के आधार पर तो उन्हें वैष्णव भक्त की पूर्ण पदवी प्रदान करनेवाला भी अपना एक भिन्न परिणाम निकाल सकता है और अपना निर्णय दे सकता है कि ऐसी बातें उस

काल के उत्कल में प्रचलित बौद्ध सिद्धांतों की कतिपय मान्य प्रवृत्तियों की संगति में अपने विचारों को लाने की स्वाभाविक चेष्टा के कारण भी कह डाली गई होंगी।

स्व० वसु का यह भी कहना है कि बौद्ध धर्म के ग्रंथों में प्रायः उसके अनुयायियों द्वारा अपने धर्म को 'बौद्ध धर्म' न कहकर 'सद्धर्म' या 'सधर्म' कहा गया है जिसका एक अनुकरण हमें उत्कल प्रांत के 'महिमा धर्म' में भी किया गया मिलता है। यह 'महिमा धर्म' उनके अनुसार बौद्ध धर्म के एक पुनरुत्थान के रूप में, पुरी के राजा दिव्यसिंह के राज्यकाल के इक्कीसवें वर्ष अर्थात् सन् १८७५ ई० में, भक्त भीमभोई द्वारा घोषित किया गया था। इस धर्म या संप्रदाय के अनुयायी अपने धर्म-ग्रंथों में चैतन्यदास कृत 'विष्णुगर्भ पुराण' तथा 'निर्गुण माहात्म्य' बलरामदास कृत 'छत्तीस या गुप्तगीता', जगन्नाथदास कृत 'तुलाभिना' और अच्युतानंददास कृत 'शून्यसंहिता' एवं 'अनादिसंहिता' की गणना करते हैं जिससे स्पष्ट है कि इनका संबंध उक्त 'पंचसखा' की भी कृतियों से कम नहीं है। फिर भी इनके यहाँ 'यशोमति-मालिका' को विशेष महत्व दिया जाता है जिसके अनुसार हमें पता चलता है कि 'महिमा धर्म' के अनुयायियों में जिन बारह तेरह नियमों का पालन किया जाता है वे वैष्णव धर्म में अथवा अन्य ऐसे हिंदू मतों में प्रायः नहीं पाए जाते। ये लोग गौतम बुद्ध को 'भक्तजन के उद्धारहेतु नरदेह में अवतार धारण करनेवाला' मानते हैं और उनकी तथा जगन्नाथ की पूजा को ही सर्वश्रेष्ठ स्थान देते हैं। अतएव, स्व० वसु के अनुसार यह धर्म या संप्रदाय उत्कल में बौद्ध धर्म के पुनरुत्थान का एक ज्वलंत उदाहरण कहा जा सकता है और इस कारण उन्होंने 'महिमा धर्म' के एक संक्षिप्त परिचय से ही अपनी पुस्तक को समाप्त भी किया है। इसके अतिरिक्त, एक अन्य लेखक श्री चित्तरंजनदास के अनुसार आचार्य आर्त्तवल्लभ महांति अपनी 'भीमभोई की श्रुतिचिंतामणि' वाली 'प्रस्तावना' में अच्युतानंददास को भी इस धर्म का एक व्याख्याता मानते हैं, किंतु श्री विनायक मिश्र इसे सहजिया वैष्णव धर्म का ही एक रूपांतर समझते जान पड़ते हैं।[८]

श्री दास ने किसी विश्वनाथ बाबा नामक महिमाधर्मी संन्यासी के आधार पर बतलाया है कि उक्त संप्रदाय के वास्तविक पुरस्कर्ता संस्थापक भीमभोई नहीं थे, प्रत्युत कोई महिमा गोसांई थे जो सन् १८२६ ई० में पुरी में प्रकट हुए थे। उन्हीं के आधार पर इन्होंने इस विषय में कुछ अधिक विस्तार के साथ लिखा है तथा उसके सिद्धांतों का भी परिचय दिया है। उक्त विश्वनाथ बाबा का कथन है कि महिमा

८. चित्तरंजनदास, स्टडीज इन मेडिवल रेलिजन ऐंड लिटरेचर आव् उड़ीसा, विश्वभारती अनवल खंड ४, शांतिनिकेतन, १९५१, पृ० १५५-५६।

गोसाईं को प्रायः 'बुद्ध स्वामी' और 'प्रबुद्ध स्वामी' भी कहा जाता है। किंतु महिमा धर्म के अनुयायी इसके कारण, अपने मत के साथ प्रसिद्ध गौतम बुद्ध का कोई भी संबंध मानना पसंद नहीं करते। 'सिद्धों ने महिमा गोसाईं को बुद्धावतार केवल इसलिये कहा है कि उन्होंने आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये पर्याप्त रूप में उपदेश दिए हैं'।[9] श्री दास का कहना है कि महिमा धर्म प्रमुखतः भक्तिमार्ग का प्रचार करता है जो पूर्ण आत्मसमर्पण का लक्ष्य रखता है। इस कारण श्री दास के अनुसार स्व० बसु ने इसे बौद्ध धर्म के पुनरुत्थान का एक उदाहरण मान लेने में भूल की है। इनका कहना है कि आचार्य महांति और श्री मित्र भी इस धर्म के रहस्य से परिचित नहीं जान पड़ते। महिमा धर्म वस्तुतः पंचसखा भक्तों की विचारधारा एवं साधना को ही महत्व देता है और उनका निर्गुण ब्रह्म यहाँ तक एक विचित्र प्रकार से विकास पाता हुआ इस धर्म के परमतत्व अथवा 'महिमा' में परिणत हो गया है।[10] 'महिमा धर्म न केवल वर्तमान उत्कल प्रांत का ही एक जीवित संप्रदाय कहला सकता है, अपितु यह इस समय अपने निकटवर्ती आंध्र प्रदेश तक में प्रवेश पा चुका है। इस धर्म का संप्रदाय तथा इसके प्रसिद्ध प्रचारक (न कि पुरस्कर्ता) भक्त कवि भीमभोई के संबंध में इधर कुछ और भी प्रकाश डाला गया है।'[11] जिसके आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि स्व० बसु का अनुमान सर्वथा तथ्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, न हम इस संबंध में उसे सभी जानकारों की ओर से मान्य किसी अंतिम निर्णय का कोई रूप ही दे सकते हैं।

इस संबंध में यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि स्व० शास्त्री महोदय की जो धारणा, धर्मठाकुर की पूजनपद्धति के आधार पर धर्मसंप्रदाय को बंगाल में जीवित बौद्ध धर्म के रूप में स्वीकार कर लेने की बन गई थी और जिसके पूर्ण रूप में समर्थित होने की आशा स्व० बसु के उपर्युक्त निष्कर्षों द्वारा की जाती थी उसका भी खंडन इधर किए गए अनेक विद्वानों के अनुसंधानों से होता जान पड़ रहा है और अब यह बहुत कुछ संदिग्ध सी समझी जाने लगी है। धर्मसंप्रदाय के संबंध में अब अनुमान किया जाने लगा है कि उसका मूल स्रोत वस्तुतः बौद्ध धर्म नहीं है, प्रत्युत कोई 'कोल' अथवा 'आष्ट्रिक' पूजनपद्धति की परंपरा है जिसे

९. विश्वभारती अनल्स, भाग चार, पृ० १५६।

१०. वही, पृ० १७७।

११. प्रो० कपिलेश्वरप्रसाद, महिमा धर्म और भक्त कवि भीमभोई, भारतीय साहित्य, भटनागर अभिनंदन, आगरा विश्वविद्यालय आगरा, १९६१, पृ० ८३-१००।

उससे अधिक प्राचीन भी कहा जा सकता है। स्व० शास्त्री को यह कदाचित् भ्रम हो गया था कि धर्मसंप्रदाय के साथ जुड़ा हुआ धर्म शब्द बौद्ध धर्म द्वारा मान्य 'त्रिरत्न' (अर्थात् बुद्ध, धर्म एवं संघ) में से ही अन्यतम हो सकता है तथा इसी प्रकार जो 'शून्यमूर्ति और निरंजन' शब्द यहाँ पर दीख पड़ते हैं वे भी उस धर्म के शून्यवाद आदि की ही ओर संकेत करते हैं और ये उसी प्रकार ध्यान के साथ लगे हुए भी हैं। इसके सिवा स्व० शास्त्री ने जिसे किसी बौद्ध चैत्य के सूक्ष्माकार (मिनिएचर) का पाँच ध्यान बुद्ध होना समझ लिया था वह अब किसी कछुए की एक ऐसी आकृति रूप में ही निर्मित सिद्ध किया जा चुका है जिसके सिर एवं पैर बाहर की ओर निकले हुए हैं।[12] श्री के० पी० चट्टोपाध्याय ने इधर मिदनापुर, वीरभूमि आदि के अनेक स्थानों में प्रचलित धर्मसंप्रदाय की पूजाविधि एवं पौराणिक गाथाओं के विषय में बड़ी सावधानी के साथ अध्ययन किया है और उन्होंने भी उक्त मत के ही अनुकूल परिणाम निकाले हैं।[13]

श्री चट्टोपाध्याय के ऐसे मत का प्रत्यक्ष समर्थन डा० सुकुमार सेन द्वारा किए गए उस कथन से भी भली भाँति हो जाता है जो उन्होंने इस प्रश्नसंबंधी प्रायः सारी बातों पर एक नवीन दृष्टिकोण से विचार करते हुए अपने निबंध 'इज द कल्ट आव् धर्म ए लिविंग रेलिक आव् बुद्धिज्म इन बंगाल'[14] अर्थात् क्या धर्मसंप्रदाय बंगाल में बौद्ध धर्म का एक जीवित अवशिष्ट अंश है? में किया है तथा जिसकी पुष्टि उनके द्वारा प्रकट किए गए विचारों से भी होती है। डा० सेन के अनुसार बंगाल में धर्मठाकुर की पूजा विशेषकर डोम जाति के युद्धप्रिय वर्गों द्वारा ही की जाती है और वह प्रधानतः एक ऐसा युद्धदेवता है जिसके स्वरूप में बौद्ध धर्म के प्रणिधान का नितांत अभाव पाया जाता है। उसकी पूजा करते समय उसे मदिरा जैसी वस्तुएँ अर्पित की जाती हैं और उसके लिये एक श्वेत बकरे का बलिदान भी किया जाता है जिसके विषय में परंपरागत कथाओं के आधार पर कहा जाता है कि वह किसी बालक का प्रतिनिधित्व करता है। ऐसे बालक के बलिदान किए जाने की कथा ऐतरेय ब्राह्मण के अंतर्गत भी आती है, जहाँ पर प्रसिद्ध हरिश्चंद्र के राजकुमार रोहिताश्व की जगह पर शुनःशेप के बलिदान का प्रसंग पाया जाता है जो डा० सेन के अनुसार, स्वयं भी आष्ट्रिक जाति की ही प्राचीन परंपरा पर आधारित हो सकता है और जिसे इसी कारण

१२. डा० आर० सी० मित्र, डिक्लाइन आव् बुद्धिज्म इन इंडिया, पृ० ८० ।

१३. द जर्नल आव् द रायल एशियाटिक सोसायटी आव् बंगाल, खंड आठ, पृ० ३३–११५ ।

१४. बी० सी० ला, कमेमोरेशन भाग प्रथम ।

बौद्ध काल के पूर्व ही ब्राह्मणसाहित्य के अंतर्गत संमिलित कर लिया गया होगा।[15] ऐसे शिशुबलिदान की परंपरा के कुछ अवशिष्ट चिह्न का गंगासागर नामक तीर्थस्थान की ओर अभी कुछ दिनों पहले तक भी पाया जाना प्रसिद्ध है।[16] धर्मठाकुर की पूजा के समय नृत्य किया जाना भी बौद्ध न होकर किसी प्राचीन आर्यपद्धति का ही अनुसरण करना जान पड़ता है और इन जैसी सभी बातों का परिणाम यही हो सकता है कि धर्मसंप्रदाय बौद्ध धर्म का अवशिष्ट अंश न हो। सारांश यह कि इसके बौद्ध धर्म से कहीं अधिक अत्यंत प्राचीन कोल या आष्ट्रिक संस्कृति का अवशिष्ट अंश होने की ही संभावना है।

उत्कल प्रांत के बहुत दिनों से बौद्ध धर्म द्वारा प्रभावित होते आने में कोई संदेह नहीं किया जा सकता। प्रसिद्ध है कि वहाँ पर सम्राट् अशोक के समय से ही इसका प्रचार होना आरंभ हो गया था और तब से यह किसी न किसी रूप में बराबर चलता आया। यहाँ पर अन्य कई बातों के अतिरिक्त इसके लिये इस तथ्य की ओर भी संकेत किया जाता है कि पुरी में अवस्थित प्रसिद्ध मंदिर की जगन्नाथवाली मूर्ति एवं तत्संबंधी अनेक विशेषताएँ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। जनरल कनिंघम ने इस बात को बड़ी योग्यता के साथ सिद्ध करने की चेष्टा की है कि जगन्नाथ की मूर्ति का 'त्रिमूर्ति रूप' वस्तुतः बौद्ध धर्म के त्रिरत्न से भिन्न नहीं है और हंटर ने तो अपने उड़ीसा के इतिहास में 'पुरी का वैष्णव धर्म केवल पुराने बौद्ध धर्म का उत्तराधिकारी मात्र है' कहकर भी इसका समर्थन किया है।[17] इसके सिवा आचार्य नागार्जुन द्वारा इस प्रदेश को बहुत काल तक अपना प्रचारक्षेत्र बनाना तथा कान्हूपा जैसे बौद्ध सिद्धों का यहाँ रहकर अपनी अनेक रचनाएँ प्रस्तुत करना भी इस प्रकार की धारणा की पुष्टि करते बतलाए जाते हैं। वास्तव में यह भूभाग भारत के अन्य धर्मों एवं संप्रदायों के प्रचारकों का भी कार्यक्षेत्र माना जाता आया है। इसी कारण, यहाँ की विचारधारा एवं प्रचलित सामाजिक और सांस्कृतिक परंपराओं के विषय में भी कहा जाता है कि वे विभिन्न प्रभावों द्वारा प्रभावित हैं। तदनुसार डा० शशिभूषण दासगुप्त का अनुमान है कि उड़ीसा के वैष्णव धर्म पर सिद्धमत योगियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धदेह के अमरत्ववाले

१५. वही, डा० एस० के० चटर्जी का बुद्धिस्ट सर्वाइवल्स इन बंगाल आवसी शीर्षक निबंध।

१६. आगस्टस सौमरविले, क्राइम्स एँड रेलिजस बिलीफ्स इन इंडिया, पृ० १६८-७०।

१७. प्रभात मुकर्जी, द हिस्टरी आव् मेडिवल वैष्णविज्म इन उड़ीसा, आर० चटर्जी, कलकत्ता, १९४०, पृ० १५, १७-१८।

आदर्श का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है[१८] तथा 'पंचसखा' वाले भक्तों पर सिद्धमत की कायासाधना का भी प्रभाव लक्षित होता है और ये उसकी उलटी साधना को अपने यहाँ 'उजान' कहकर उसका वर्णन करते हैं।[१९] यह सिद्धमत उस योगिमत से अभिन्न है जो भारत में अत्यंत प्राचीन काल से प्रचलित रहा और जिसके अंतर्गत नाथपंथी और सिद्धरसायनी भी आ जाते हैं। इस प्रकार पंचसखा वाले उपर्युक्त भक्त कवियों का ऐसे लोगों की विचारधाराओं द्वारा भी प्रभावित होना ठहराया जा सकता है।

उत्कल प्रांत के कुछ भागों में सराकी नामक लोगों को भी किसी एक विशेष संप्रदाय का कहा जाता है जो बौद्ध धर्म की अनेक बातों को स्वीकार करता है तथा जिसके नामवाले मूल रूप का 'श्रावक' होना भी अनुमान किया गया है। कटक एवं पुरी के आसपास पाए जानेवाले ये सराकी लोग बहुधा ताँतियों का व्यवसाय करते हैं जिनकी चर्चा स्व० श्री शास्त्री ने भी अपनी भूमिका में की है तथा जिनके वर्गवाले कुछ अन्य लोगों का उन्होंने बंगाल के बाँकुड़ा और बर्दवान में होना भी कहा है।[२०] ये लोग अपना मूल संबंध बौद्ध धर्म की महायान शाखा के साथ जोड़ते हुए बतलाए जाते हैं। अनंत वासुदेव को आदिबुद्ध के साथ प्रायः एक और अभिन्न ठहराते हैं। गौतम बुद्ध की जयंती (वैशाखी पूर्णिमा) का व्रत करते हैं, मांस, मदिरा आदि का परित्याग करने में पूरी कट्टरता प्रदर्शित करते हैं और चैतन्य भागवत के प्रणेता ईश्वरदास के अनुसार उनके यहाँ यह कथा प्रसिद्ध है कि सत्ययुग में उनके धर्मप्रचारक वीरसिंह को नृसिंह भगवान् ने कहा था कि तुम बौद्धमार्ग का प्रचार करना।[२१] अतएव, हो सकता है कि सराकियों का यह वर्ग पंचसखा लोगों के अनुयायियों अथवा महिमाधर्मियों से भी कहीं अधिक बौद्ध धर्म के निकट सिद्ध किया जा सके और वह किसी न किसी प्रकार उसका अवशिष्ट अंश भी कहलाने योग्य हो। इसी प्रकार भारत के ही लद्दाख जैसे एक भूभाग में बौद्ध धर्म का एक स्पष्ट रूप आज भी वर्तमान है तथा यदि यथेष्ट अनुसंधान किया जाय तो संभव है, इसका कोई न कोई विकृत या विकसित रूप कश्मीर, केरल एवं असम आदि में भी मिल सके। बौद्ध धर्म का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव तो न्यूनाधिक रूप में सारे भारतीय समाज पर ही ठहराया जा सकता है जिस कारण स्व० वसु महोदय का उसे उत्कलीय समाज एवं साहित्य पर किसी विशिष्ट

१८. शशिभूषण दासगुप्त, आब्सक्योर रेलिजस कल्ट्स, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९४६ पृ० २१२।

१९. वही, पृ० २११।

२०. शास्त्री, भूमिका, पृ० २६-३०।

२१. चित्तरंजनदास, विश्वभारती अनल्स, खंड ४, पृ० ८१-८७।

रूप में निर्दिष्ट करना तथ्य से दूर जाना नहीं हो सकता। इसको एक बहुत बड़ा महत्व इस दृष्टि से दिया जा सकता है कि उन्होंने इसके द्वारा हमारे लिये एक नवीन विषय के यथेष्ट अनुसंधान की ओर भी संकेत कर दिया है जो कतिपय धार्मिक और साहित्यिक समस्याओं से संबद्ध है और वे उपेक्षणीय भी नहीं हैं।

इन दोनो समस्याओं में से प्रथम का संबंध इस प्रश्न से है कि 'क्या भक्ति की उपासना का कभी किसी निर्गुण एवं निराकार उपासक के विषय में भी होना संभव है, अथवा यह केवल सगुण एवं साकार के ही प्रति की जा सकती है।' स्व० बसु ने 'पंचसखा' के महिमाधर्मियों के स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत करके इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देनेवालों के लिये अपनी धारणा के ऊपर एक बार फिर से विचार करने का अवसर उपस्थित कर दिया है। इसके सिवा उन्होंने इस विषय में, यहाँ तक कह डाला है कि ऐसा होना बौद्ध धर्म की शून्यवादी मान्यता की दशा में भी असंभव नहीं है। इसी प्रकार, उक्त दूसरी समस्या को हम इस प्रश्न पर आधारित कर सकते हैं कि क्या किसी साहित्य के भक्त कवियों को, पृथक् पृथक् किन्हीं 'निर्गुणधारा' एवं 'सगुणधारा' जैसी दो भिन्न भिन्न शाखाओं के अनुसार स्थान दिए जा सकते हैं? ये दोनो प्रश्न मूलतः एक ही कहे जा सकते हैं और इनका प्रमुख अंतर केवल क्रमशः साधनाविशेष एवं कथनशैली के आधार पर ठहराया जा सकता है तथा इन्हीं का स्पष्टीकरण करते समय, इस संबंध मे प्रायः तर्कवितर्क भी किया जाता है। यह सच है कि निर्गुणधारा एवं सगुणधारा के अनुसार भक्त कवियों को विभाजित करने का प्रयास सभी साहित्यों के संबंध में किया गया नहीं दीख पड़ता और मराठीसाहित्य जैसे वाङ्मयों के आलोचक इस विषय में मौन रहना भी पसंद करते जान पड़ते हैं। परंतु हिंदीसाहित्य के इतिहासों के अंतर्गत उपर्युक्त दो धाराओं के भीतर दो दो विभिन्न उपधाराओं तक के पाए जाने का अनुमान किया गया है और स्वयं उड़िया-साहित्य के विवरणों में भी हमें यह प्रवृत्ति सगुणधारा को शुद्ध भक्तिधारा और निर्गुणधारा को ज्ञानमिश्रा तथा योगमिश्रा भक्तिधारा के रूपों में कथन करते समय दीख पड़ती है।

❀

शब्द : एकत्ववाद और नानात्ववाद

रामसुरेश त्रिपाठी

'शब्द एकत्ववाद' वह मत है जिसके अनुसार अर्थभेद होने पर भी शब्द एक ही रहता है। गो शब्द के अर्थ गाय, इंद्रिय, किरण आदि हैं पर अर्थभेद के कारण शब्दभेद नहीं होता। शब्द गो एक ही है।

नानात्ववादी दर्शन के अनुसार एक ही शब्द भिन्न भिन्न अर्थ में भिन्न भिन्न शब्द के रूप में गृहीत होना चाहिए। गाय का बोधक गो शब्द और इंद्रिय का बोधक गो शब्द भिन्न भिन्न हैं। उनमें एकता का भान सादृश्यनिबंधना प्रत्यभिज्ञा के बल पर होता है।

शब्द के कार्यत्वपक्ष में और नित्यत्वपक्ष में एकत्ववादी और नानात्ववादी अपने अपने सिद्धांत अपनाए रहते हैं।

एकत्ववादी दर्शन के अनुसार जाति - व्यक्ति - व्यवहार की संभावना नहीं है। क्योंकि जाति के बिना भी एक बुद्धि या एक प्रत्यय की प्रवृत्ति स्वयमेव हो जाया करेगी। इसलिये उनके मत में जातिभेदनिबंधन संज्ञासंज्ञिसंबंध भी नहीं है।

एकत्ववादी के अनुसार, शब्द के नित्यत्वपक्ष में, एकत्व मुख्य होता है, अर्थात् उपचार से एकता नहीं होती बल्कि स्वाभाविक रूप में होती है। कभी कभी कारणभेद से प्राप्त भेद में उपचरित एकत्व मानना पड़ता है किंतु भेद में भी अभेदज्ञान के सदा होने से प्रकल्पित एकत्व मुख्यसदृश ही है। शब्द के कार्यत्वपक्ष में भी एक वर्ण या एक पद के एक बार उच्चारण के बाद पुनः उच्चारण करने पर यह वही वर्ण है, वही पद है ऐसी बुद्धि सदा देखी जाती है। इस अभेदबुद्धि से शब्द के एकत्व की कल्पना की जाती है।

एकत्वदर्शन को ही मानकर कात्यायन ने 'एकत्वादकारस्यसिद्धम्' (वार्तिक, अइउण) कहा है। उपलब्धि के व्यवधान से वर्ण या शब्द की एकता नष्ट नहीं होती। वस्तुतः व्यवधान उपलब्धि में होता है, वर्ण में नहीं। वर्ण की अभिव्यक्ति के साधन की क्रियाशीलता से वर्ण की उपलब्धि होती है, अन्यथा नहीं होती। जैसे भिन्न देशों में स्थित द्रव्यों में एक साथ ही गृहीत सत्ता, सत्ता के रूप में एक ही रहती है अपना एकत्व नहीं छोड़ती, वैसे ही वर्ण भी भिन्न काल में उच्चरित होकर भी अभेदप्रत्यय के कारण एकत्व नहीं छोड़ पाते हैं।

नानात्ववादी दर्शन के अनुसार, शब्द के नित्यत्व या कार्यत्व पक्ष में नानात्व मुख्य रहता है और एकत्व औपचारिक होता है। नानात्ववादी को भी औपचारिक एकत्व मानना पड़ता है। क्योंकि शाब्द व्यवहार एकत्व के बिना सिद्ध नहीं होता। एक शब्द का उच्चारण किया गया, पुनः उसी शब्द का द्वितीय बार उच्चारण किया गया। अब यदि उस शब्द के प्रथम उच्चरित स्वरूप से द्वितीय उच्चरित स्वरूप का भेद माना जाय तो अर्थ में गड़बड़ी संभव है। एक व्यक्ति जब गो शब्द कहेगा और उस गो शब्द के अर्थ को पहले से जाननेवाला व्यक्ति उसका अर्थ समझ जायगा, परंतु वही व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा उच्चरित गो शब्द को नहीं समझ पायगा क्योंकि उसे उस अन्य व्यक्ति द्वारा उच्चरित गो शब्द का संकेतज्ञान नहीं है। अतः नानात्ववादी भी गौण रूप में एकत्व की सत्ता स्वीकार करते हैं। गो शब्द के लगभग नव अर्थ होते हैं। इन नवो अर्थों में नव तरह के गो शब्द हैं। किंतु गोद्रव्य का बोधक गो शब्द एक ही है। इसी तरह किरणद्रव्य का बोधक गो शब्द एक है। इसी तरह विभिन्न अर्थों के साथ उनका एकत्व लगा हुआ है। भिन्नार्थक एक पद में और भिन्न पदों में स्थित एक ही वर्ण में, नित्यत्व और कार्यत्व दोनो पक्षों में, नानात्व मुख्य है और एकत्व औपचारिक।

एकत्वदर्शन के अनुसार विभिन्न पदों में स्थित एक वर्ण के एकत्व की हानि नहीं होती। अर्क, अश्व, अर्थ शब्द में स्थित अकार एक ही है। यद्यपि उसकी उपलब्धि काल से व्यवहित हो सकती है। भिन्न भिन्न समय में वह सुना जा सकता है, अन्य शब्द से व्यवहित हो सकता है, ध्वनि आदि शब्द निमित्त के अभाव में वह स्पष्ट नहीं भी सुना जा सकता है और प्रयोक्ता की देशभिन्नता या उच्चारणवैशिष्ट्य के कारण भी वह भेदरूप में भासित हो सकता है। परंतु है वह एक ही। जिस तरह एक ही पुरुष की शीशे की या जलगत छाया निमित्तभेद से भिन्न भिन्न रूप में दिखाई देती है परंतु पुरुष एक ही है, उसी तरह विभिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न भिन्न रूप में उच्चरित एक वर्ण भी वस्तुतः एक ही है। उसके स्वरूपों में अभेद है।

इसी तरह भिन्न वाक्यों में स्थित एक पद भी अपना एकत्व नहीं छोड़ता। अक्ष शब्द जूए के अर्थ में, गाड़ी के धूरे के अर्थ में और विभीतक के अर्थ में व्यवहृत होता है। विभिन्न वाक्यों और विभिन्न अर्थों में व्यवहृत वह अक्ष शब्द अपने मूलरूप में एक है। कभी कभी नाम और आख्यात पदों में भी परस्पर एकता दिखाई देती है। जैसे अक्षि, अश्व आदि। अक्षि का, नाम के रूप में, आँख अर्थ है। क्रिया के रूप में इसका अर्थ 'तुम फैलो' आदि है (अक्षत् से, अश् से और अद् से इन तीनो धातुओं से यह पद बन सकता है)। आँख के अर्थ में और फैलने के अर्थ में भी प्रयुक्त अक्षि शब्द अपना एकत्व कायम रखता है। अश्व शब्द, नाम के रूप में, घोड़ा अर्थ का वाचक है और क्रिया के रूप में अश्व का अर्थ

है 'तुम चलो या तुम बढ़ो' (गति और वृद्धि अर्थवाले टुओश्वि धातु के मध्यम पुरुष एक वचन का रूप अश्व है)। इसी तरह 'तन' शब्द सर्वनाम भी है और विस्तार अर्थवाले तनु धातु के लिट् लकार मध्यम पुरुष बहुवचन के रूप में क्रिया शब्द भी है। भिन्नार्थक नामपदों में तो कुछ मात्रा में अर्थसादृश्य संभव भी है किंतु सदृश आकारवाले नाम और आख्यातपदों में अर्थ एक दूसरे से अत्यंत विलक्षण होगा। इन पदों की एकता का कारण सुनने में सादृश्य अर्थात् श्रुति अभेद है।

एकत्ववादी एक डग और आगे जाते हैं। उनके अनुसार वस्तुतः पद और वाक्य की सत्ता नहीं है। सब वर्ण ही वर्ण हैं। पद भी वर्ण ही हैं। वर्ण के अतिरिक्त पद बन नहीं सकता। क्योंकि उनके अनुसार वर्ण सावयव हैं और क्रमवाले हैं। उच्चारण के बाद उनका प्रध्वंस होता जाता है। एक साथ उनका स्वतः उच्चारण भी संभव नहीं है। ऐसे स्वभाववाले वर्णों से कोई शब्दांतर गठित नहीं किया जा सकता। पद नाम की कोई वस्तु नहीं बनाई जा सकती। इसलिये वर्णमात्र पद हैं। इस दर्शन के अनुसार वर्ण की भी वर्णरूप में सत्ता नहीं है। क्योंकि वर्ण सावयव है। उनके अवयव क्रम से प्रवृत्त होते हैं। कुछ दूर तक इनके अवयवों का बुद्धि द्वारा अलगाव किया जा सकता है, पर उसकी भी सीमा है। इनकी १६वीं कला (अवयव) व्यवहार से परे है, एक तरह से अनिर्वचनीय है, अव्ययदेश्य है। इसी लिये जब वर्ण की ही सत्ता को ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता तो पद और वाक्य की सत्ता की चर्चा तो और दूर है—

···वर्णमात्रमेव पदम्। तेषामपि सावयवत्वात् क्रमप्रवृत्तावयवानामा व्यवहाराविच्छेदात्तुरीयतुरीयकं किमप्यव्यपदेश्यं रूपं व्यवहारातीतं अस्ति इति न वर्णपदे विद्येते।[1]

जब वर्ण का समुदाय उपर्युक्त दृष्टि से संभव नहीं है, परिच्छिन्न रूपवाली और सीमित अर्थवाली शब्द नाम की कोई वस्तु भी नहीं है।

नानात्ववादी मानते हैं कि पद में वर्ण नहीं होते और न वर्ण में अवयव होते हैं। वाक्य से पदों का कोई अत्यंत अलगाव नहीं होता। वे इस बात को तो मानते हैं कि वर्ण की विवक्षाजन्य ध्वनि से अभिव्यक्त वर्ण की प्रतिपत्ति (ज्ञान) पद की विवक्षाजन्य अभिव्यक्ति की प्रतिपत्ति से विलक्षण है क्योंकि पद में समुदायविषयक प्रयत्न की जरूरत पड़ती है, वर्ण के उच्चारण में उतनी नहीं। फिर भी तुल्यस्थान-करण आदि के कारण वर्णों की ध्वनियों में एक सादृश्य आ जाता है। फलतः वर्णविभाग का ज्ञान पद की प्रतिपत्ति में आभासित होता है। अर्थात् जिस पद में कोई

१. वाक्यपदीय, १।७३, हरिवृत्ति, पृष्ठ ७५।

विभाग नहीं है, वह विभागवाला जान पड़ने लगता है। वस्तुतः पद एक है, अविच्छिन्न है, नित्य है, अभेद्य है। वह अंतिम वर्ण (तुरीय वर्ण) से मानो अभिव्यक्त होता है। वर्णों के तुरीय (वह अंतिम अवयव जिनसे उनकी अभिव्यक्ति स्पष्ट हो जाती है) कल्पित हैं क्योंकि वे व्यवहारातीत और अव्यपदेश्य हैं। इसलिये शास्त्रव्यवहार में उनका एकत्व प्रसिद्ध है। परंतु लौकिक व्यवहार में वाक्य का प्रयोग होता है। वाक्यप्रतिपत्ति में उपायस्वरूप पदप्रतिपत्ति है। वाक्य अविच्छिन्न है, निर्भाग है। वाक्य के उच्चारण करने पर वर्ण, पद आभासवाली क्रमवती जो बुद्धि पैदा होती है, वह अतात्त्विक है। वाक्य में अभिधेयनिबंधनभेद के अभाव के कारण उसमें पद, वर्ण का विवेक अवास्तविक है। संग्रहकार ने कहा है—

न हि किंचित्पदं नामरूपेण नियतं क्वचित्।
पदानामर्थरूपं च वाक्यार्थादेव जायते ॥[१]

शब्द के भेदाभेददर्शन को वार्तिककार और महाभाष्यकार, दोनों ने 'अइउण्' सूत्र के विवेचन में स्पष्ट किया है। कात्यायन ने एकत्वदर्शन को अपनाते हुए 'एकत्वादकारस्य सिद्धम्' यह वार्तिक लिखा है और नानात्वदर्शन को मानते हुए 'आन्यभाव्यं तु काल शब्दव्यवायात्' यह दूसरा वार्तिक लिखा है।

भाष्यकार के अनुसार अक्षरसमाम्नाय में पठित अकार, अनुवृत्ति (शास्त्र की लक्ष्य में प्रवृत्ति) में उपलब्ध अकार और धात्वादिस्थित अकार एक हैं। 'अ' मूलवाले प्रत्यय जैसे 'अण्', 'क' आदि में अनुबंधकार्यसांकर्य नहीं हो सकेगा क्योंकि उनमें विशेष स्थलों के लिये विशेष अनुबंध इसी दृष्टि से किए गए हैं कि 'कित्' आदि के स्थान में 'णित्' आदि कार्य न होने पाएँ और उदात्तादि की पहचान स्पष्ट रहे। यह आक्षेप कि जैसे एक घट से अनेक व्यक्ति एक साथ ही काम नहीं ले सकते उसी तरह वर्ण एकत्व मानने पर एक वर्ण का उच्चारण कई व्यक्ति एक साथ नहीं कर सकते, ठीक नहीं है। जिस तरह एक ही घट के दर्शन और स्पर्श जैसे कार्य अनेक व्यक्ति भी एक साथ कर सकते हैं वैसे ही 'अकार' आदि वर्ण का उच्चारण भी अनेक व्यक्ति युगपत् कर सकते हैं।

भाष्यकार ने नानात्वपक्ष का भी समर्थन किया है। कालव्यवधान से, शब्द-व्यवधान से (शब्द के व्यवधान में भी कालव्यवधान रहता है) और उदात्तादि गुणों के भिन्न भिन्न होने से अकार को भी भिन्न भिन्न मानना चाहिए। भिन्न होते हुए भी उसका प्रत्यभिज्ञान 'अत्व' आदि सामान्य निबंधन है। अकार अश्व, अर्क, अर्थ जैसे विभिन्न

१. संग्रह, वाक्यपदीय २।२१८ में पुण्यराज और वाक्यपदीय १।२६ हरिवृत्ति में भर्तृहरि द्वारा उद्धृत।

पदस्थलों में एक साथ ही उपलब्ध हो जाता है। एकत्वदर्शन के अनुसार ऐसा संभव नहीं है। एक ही देवदत्त एक साथ ही स्रुघ्न और मथुरा में अवस्थित नहीं देखा जा सकता। अकार विभिन्न स्थलों में एक साथ देखा जाता है। अतः अनेक है, एक नहीं। यह नहीं कहा जा सकता कि जैसे एक ही सूर्य अनेक स्थानों में युगपत् देखा जाता है वैसे एक ही अकार विभिन्न पदों में युगपत् देखा जा सकता है क्योंकि एक द्रष्टा अनेक स्थानगत सूर्य को एक साथ ही नहीं देख सकता। शब्द प्रयोगमय ध्वनि से अभिव्यक्त होता है। श्रोत्र द्वारा उसकी उपलब्धि होती है, बुद्धि द्वारा उसका ग्रहण होता है और उसका देश आकाश है। जिस तरह एक ही पृथ्वी के विभिन्न नगरों के आधार पर विभिन्न देश का व्यवहार होता है उसी तरह एक ही आकाश में विभिन्न संयोगी द्रव्यों की सीमा के कारण अनेक आकाशदेश का व्यवहार होता है। अनेक अधिकरणस्थ सूर्य की तरह अनेक अधिकरणस्थ अकार की भी युगपत् उपलब्धि नहीं हो सकती।

शब्दभेदपक्ष को मानकर भाष्यकार ने लिखा — 'ग्राम शब्द के बहुत अर्थ हैं — शालासमुदाय, वाटपरिक्षेप (गाँव की रक्षा के लिये उसके चारो ओर का घेरा), मनुष्य और अरण्यवाला, सीमावाला और जमीनवाला।' पुनः अभेदपक्ष को मानते हुए यह कहा — 'जब कहा जाता है कि ये दोनो ग्राम एक में मिले हैं तो वहाँ ग्राम शब्द से तात्पर्य सारण्यक ससीमक सस्थंडिल से है।[3]

व्याकरणदर्शन दोनो पक्षों को ग्राह्य मानता है। श्रुति के अभेद से अनेकार्थत्व में भी एक शब्दत्व और अर्थभेद से एक श्रुति होने पर भी अनेक शब्दत्व मानते हैं। एक के मत में भेद औपचारिक और एकत्व मुख्य है। दूसरे के मत में एकत्व व्यावहारिक और पृथकत्व (भेद) मुख्य है। इसी तरह अनेक शक्तियोग और एक शक्तियोग के विषय में भी विकल्प है।

भर्तृहरि ने एकत्ववाद और नानात्ववाद को वैदिक वाङ्मय में भी दिखाया है। विकृति याग में त्रयोदश (किसी के मत में एकादश) सामधेनी ऋचाएँ होती हैं। समिंधनार्थ होने के कारण ऋचाओं को भी सामधेनी कहते हैं। इनमें प्रथम और अंतिम ऋचाओं की तीन तीन बार आवृत्ति की जाती है जिससे इनकी संख्या सत्रह (अथवा पंद्रह) हो जाती है। आवृत्ति से बढ़ी हुई ऋचाओं की संख्या से स्पष्ट ही है कि आवृत्त ऋचाओं को विभिन्न (स्वतंत्र) माना गया है। इससे शब्दभेदवाद वेद में भी अपनाया गया जान पड़ता है। इसी तरह एक ही मंत्र विनियोग के भेद से भिन्न भिन्न माना जाता है जैसा कि ऊहमंत्रों में भी देखा जाता है —

३. महाभाष्य, १।१।७ ।

सामिधेन्यन्तरं चैवमावृत्तावनुपश्यते ।
मन्त्रारच विनियोगेन लभन्ते भेदमूहवत् ॥[४]

इसी तरह सावित्रीमंत्र संस्कार में दूसरा, यज्ञ में दूसरा और जप में भी भिन्न माना जाता है यद्यपि उसका स्वरूप एक ही मालूम पड़ता है —

अन्या संस्कारसावित्री कर्मण्यन्या प्रयुज्यते ।
अन्या जपप्रबन्धेषु सा त्वेकैव प्रतीयते ॥[५]

इसके विपरीत कुछ लोग वेदमंत्रों में अर्थ ही नहीं मानते। इसलिये उनके लिये अर्थभेद से शब्दभेद की चर्चा का मूल्य नहीं है। कुछ लोग शब्दस्वरूप को ही अर्थ मानते हैं—

अनर्थकानां पाठो वा शेषस्त्वन्यः प्रतीयते ।
शब्दस्वरूपपर्थस्तु पाठोऽन्येरुपवर्ण्यते ॥[६]

वाक्यपदीय में एक शब्ददर्शन में शब्दोपचार प्रसिद्धि अप्रसिद्धि निमित्तक माना गया है और अर्थोपचार, स्वरूपार्थत्व और बाह्यार्थत्व भेद से दो तरह का माना गया है। इस प्रसंग में भर्तृहरि ने शब्द के गौणमुख्य पहलू पर भी विचार किया है क्योंकि गौणमुख्य का स्वरूप शब्द के भेदाभेददर्शन से प्रभावित है।

गौणमुख्य विचार

शब्द एकत्ववादी के मत में गौणमुख्यभाव प्रसिद्ध अप्रसिद्ध भेद पर आश्रित है। गौर्वाहीक शब्द में गौ शब्द का ही अर्थ वाहीक भी है। अंतर इतना ही है कि गौ के अर्थ में गो शब्द अपेक्षाकृत अधिकप्रसिद्ध है और वाहीक के अर्थ में कम प्रसिद्ध है[७] —

यदि केवल शब्दोपचार माना जाय तो शब्द और अर्थ के संबंध में अनित्यतादोष आ जायगा इसलिये भर्तृहरि ने अर्थोपचार भी माना है। शब्द का अर्थ दो तरह का होता है — स्वरूप और बाह्य। गौर्वाहीकः में गौ शब्द का अर्थ गोत्व है। जाड्य आदि के आधार पर गोत्व वाहीक से भी जुड़ जाता है, यही

४. वाक्यपदीय, २।२९० ।
५. वही, २।२९१ ।
६. वही, २।२९१ ।
७. वही, २।२५५ ।

बाह्यार्थोपचार है। अंतर केवल इतना ही है कि गौ में गोत्व मुख्य है और वाहीक में उपचरित है।[८]

इसी तरह शब्द का स्वरूप भी सभी अर्थों से अनुषक्त होता है। सर्वत्र शब्द का अर्थ उसका अपना स्वरूप ही है। गो शब्द का अर्थ अपना गो शब्दरूप-स्वरूप है। वह स्वरूप कभी गो जाति से जुटता है और कभी वाहीक जाति से। इसमें किसी की मुख्यता और किसी की गौणता, प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि पर निर्भर है।

शब्दभेदवादी (नानात्ववादी) के अनुसार गौण अर्थ व्यक्त करनेवाला गौ शब्द अन्य है और मुख्य अर्थ व्यक्त करनेवाला गौ शब्द अन्य है। शब्दभेद-वाद व्याकरणदर्शन के एक मान्य सिद्धांत पर अवलंबित है। व्याकरणदर्शन में शब्द और अर्थ में अध्यासलक्षणसंबंध माना गया है। यदि एक शब्दवाद माना जायगा तो एक शब्द का किसी एक अर्थ में अध्यास माना जायगा और वह उस अर्थ से अभेद प्राप्त कर लेगा फिर एक अर्थ के साथ अभेद होकर वह किसी अन्य के साथ कैसे अध्यास प्राप्त करेगा? अतः शब्दभेदपक्ष मानना चाहिए। महाभाष्यकार ने भेदपक्ष और अभेदपक्ष दोनो को स्वीकार किया है—

एतच्च भेदाभेदस्वभावे दर्शनद्वयं शब्दानां भाष्यकारेण वार्तिक व्याख्यानावसरे दर्शितम्।[९]

अनेक शब्ददर्शन के पक्ष में अर्थभेद से शब्दभेद मानने के कारण गौण अर्थ अन्य है और मुख्य अर्थ अन्य है, ऐसा माना जाता है।

गौणमुख्यभाव के संबंध में एक शब्दवाद और अनेक शब्दवाद में एक मौलिक भेद यह भी है कि अनेक शब्दवाद के अनुसार शब्दोपचार ही उपयुक्त माना जाता है क्योंकि उसके मत में सारूप्य के कारण अभेद प्रतीत होता है। मुख्य अर्थ के अधिक प्रसिद्ध होने के कारण उसके वाचक शब्द में उपचार मानना उचित है; जब कि एकत्ववाद के अनुसार अर्थोपचार का आश्रय लिया जाता है। एकत्ववादी अर्थोपचार का आश्रय शब्द और अर्थ के संबंध में अनित्यतादोष के निवारण के लिये लेते हैं। भर्तृहरि ने शब्दोपचार और अर्थोपचार दोनो का यथा अवसर आश्रय लिया है।[१०]

८. वही, २।२५७।

९. पुण्यराज, वाक्यपदीय, २।२५९।

१०. वही, २।२६३।

गौणमुख्यभाव का निमित्त क्या है — गौणमुख्य का ठीक स्वरूप क्या है, इसपर भर्तृहरि ने अनेक मतों का उल्लेख किया है। कुछ प्रसिद्ध मत निम्नलिखित हैं —

अर्थप्रकरण शब्दांतर संनिधानपक्ष

इस मत के अनुसार सभी तरह के अर्थ व्यक्त करने में समर्थ शब्द का गौणमुख्य विभाग निमित्तवश होता है। निमित्त के आधार पर वही शब्द कभी मुख्य और कभी गौण कहा जाता है। वे निमित्त, अर्थ, प्रकरण और शब्दांतर के योग हैं। गो शब्द जैसे सास्ना, लांगूलवाले व्यक्ति को व्यक्त करता है उसी तरह वाहीक को भी व्यक्त करता है। इनमें मुख्य और गौण व्यवहार प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि पर निर्भर है।

संग्रहकार के अनुसार मुख्य शब्द और अर्थ वह है जिसके निरपेक्ष उच्चारण से भी स्वार्थ की अभिव्यक्ति हो। जो शब्द अपनी अभिव्यक्ति के लिये अर्थप्रकरण अथवा किसी अन्य शब्द के संनिधान की अपेक्षा रखता है, वह गौण है —

> शुद्धस्योच्चारणे स्वार्थः प्रसिद्धो यस्य गम्यते ।
> स मुख्य इति विज्ञेयो रूपमात्रनिबन्धनः ॥
> यस्त्वन्यस्य प्रयोगेण यत्नादिव नियुज्यते ।
> तमप्रसिद्धं मन्यन्ते गौणार्थाभिनिवेशिनम् ॥[11]

इसको कुछ लोग इस रूप में भी कहते हैं कि निमित्त तो मुख्य अर्थ होता है और निमित्ती गौण होता है। गो शब्द वाहीक के अर्थ में प्रयुक्त होता हुआ सास्ना आदि वाले अर्थ को व्यक्त करनेवाले गो शब्द के संबंधी अर्थ को निमित्त के रूप में ग्रहण करता है इसलिये उस विषय में मुख्य अर्थ निमित्त है और निमित्ती गौण है। दूसरे शब्दों में, जहाँ शब्द की गति स्खलित नहीं होती वहाँ मुख्य अर्थ और जहाँ शब्द की स्खलद्गति होती है वहाँ गौण अर्थ होता है। यह मत अर्थोपचार-पक्ष में एक शब्दवाद के अनुसार है। यहाँ शब्दभेद कल्पित समझना चाहिए क्योंकि एकशब्द - दर्शनपक्ष में शब्दभेद संभव नहीं है।

परंतु भर्तृहरि ने अर्थप्रकरण के आधार पर गौणमुख्य विभाग को प्रश्रय नहीं दिया है। बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनके अर्थ का निर्णय अर्थप्रकरण आदि के आधार पर किया जाता है। जैसे पुरा, आरात् आदि। पुरा और आरात् शब्द का

11. वाक्यपदीय २।२६७, २६८; ये संग्रहकार के श्लोक हैं। इसमें प्रमाण पुण्यराज हैं।

क्रमशः भूत और भविष्य और कभी दूर और समीप अर्थ होता है। प्रकरण के अनुसार उसका निश्चय हो जाता है। यदि प्रकरणसहाय अर्थ को गौण माना जाय तो पुरा आरात् में भी गौणमुख्यभाव होने लगेगा पर होता नहीं है। इसलिये अर्थप्रकरण के आधार पर गौणमुख्यविवेचन उतना युक्तियुक्त नहीं है।

एक शब्दवाद और अनेक शब्दवाद दोनो पद और पदार्थ को सत्य मानकर चलते हैं। परंतु अखंड वाक्यवादियों के मत में पद और पदार्थ असत्य हैं। फलतः पद और पदार्थ पर आश्रित गौणमुख्यभाव भी संभव नहीं है। गौर्वाहीक, यह अखंड वाक्य है और इससे गोगतधर्म से अवच्छिन्न वाहीकलक्षण-अर्थ अखंड रूप में ही प्रतिपादित किया जाता है। जहाँ एक ही पद है वहाँ भी क्रिया चरित (छिपी) रहती है। इसी लिये 'कोऽयम्' के प्रश्न में गौः (अस्ति), अश्वः (अस्ति) आदि के रूप में क्रिया छिपी रहती है। इसलिये एक अखंड वाक्य ही वाचक है। फिर भी अपोद्धारपद्धति का आश्रय लेकर पदपदार्थ की कल्पना की जाती है और प्रसिद्धि अप्रसिद्धि के आधार पर गौणमुख्य विभाग किया जाता है।

न्यूनाधिकभाव

कुछ लोग गौणमुख्य विभाग का आधार न्यून और अधिक भाव मानते हैं। धर्मों का न्यूनभाव गौणता का प्रतीक है और अधिक भाव मुख्यता का द्योतक है परंतु भर्तृहरि के मत में यह मत अवैज्ञानिक है। क्योंकि न्यून और अधिक भाव अनवस्थित हैं। किसी धर्म का आधिक्य या प्रसिद्धि भी कभी किसी दृष्टि से न्यून हो सकती है, इसलिये न्यूनाधिक भाव को गौणमुख्य विभाग का निमित्त नहीं माना जा सकता।

सादृश्य निमित्त के रूप में

कुछ आचार्यों के मत में गौणमुख्यभाव में निमित्तसादृश्य है। वाहीक में गोत्व जाति नहीं है। फिर भी गो शब्द वाहीक के अर्थ में प्रयुक्त होता है क्योंकि गो व्यक्ति के जाड्य, मांद्य आदि गुणों का वाहीकगत जाड्य, मांद्य आदि गुणों से सादृश्य है। इसी सादृश्य के आधार पर गो शब्द गोत्वरहित वाहीक के लिये भी प्रयुक्त होता है।

पुण्यराज के अनुसार यह मत भी उपयुक्त नहीं है क्योंकि 'काश्यपप्रतिकृतिः काश्यपः' जैसे स्थलों में सादृश्य निमित्त तो है परंतु गौणता नहीं है। इसलिये सर्वत्र सादृश्य को गौणमुख्यभाव का निमित्त नहीं माना जा सकता।

विपर्यास

गौण और मुख्य भाव के विवेचन में एक मत विपर्यास पर भी अवलंबित है। वाहीक रूप अर्थविपर्यास से मानो गोरूप हो जाता है। वाहीक का गोरूप होना

अर्थांतर होना है। इसलिये उसका वाचक गो शब्द गौण है। विपर्यास दो तरह से होता है अध्यारोपरूप में और अध्यवसायरूप में। गौर्वाहीकः शब्द में गोगत गुणों का वाहीक में अध्यास होता है। अतः यहाँ विपर्यास अध्यारोपित है। 'रजतं इदम्' इसमें विपर्यास अध्यवसायरूप में है। अध्यारोप और अध्यवसाय में अंतर यह है कि अध्यारोप में आरोप्यमाण और आरोपविषय दोनो का भेद अपह्नुत नहीं होता जब कि अध्यवसाय में आरोप्यमाण के द्वारा आरोपविषय निगीर्ण (अंतःकृत) होता है। अध्यारोप में दो वस्तुओं में भेद होते हुए भी ताद्रूप्य की प्रतीति मुख्य प्रयोजन है जब कि अध्यवसाय में सर्वथा अभेद का परिज्ञान प्रयोजन होता है। वस्तुतः जहाँ अध्यारोप है वहाँ गौणमुख्यभाव हो सकता है परंतु जहाँ अध्यवसाय है वहाँ गौणमुख्यभाव स्पष्ट नहीं होता। इसलिये केवल अध्यारोपलक्षणविपर्यास को गौण-मुख्यभाव का निमित्त माना जा सकता है।

रूप और शक्ति

शब्द रूप और शक्ति से स्वभावतः संपन्न रहता है। 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबंधः'[12] इस न्याय से भी शब्द में स्वाभाविक शक्ति निहित है। शब्द रूप और शक्ति दोनो से उत्पत्तिकाल से ही युक्त रहता है। शब्द में अनेक शक्तियाँ हैं। इसलिये शब्द अपनी शक्ति के बल से अनेक अर्थ कर सकता है। अतएव कुछ विचारकों के मत में, गौण मुख्य व्यवहार रूपशक्ति निमित्तक है। सीर (हल), मुसल, खंग आदि अपने रूप और अपनी शक्ति से समन्वित होकर नियत अर्थ रखते हुए भी कभी कभी अन्य अर्थ को प्रकट करते हैं। जैसे किसी के 'खंग लाओ' वाक्य से लड़ाई की बात आ गई है, इस अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। यह अभिव्यक्ति रूपशक्ति की महिमा है। रूपशक्ति के बल से गौणमुख्य विभाग की प्रक्रिया यह है कि शब्द श्रवणमात्र से अपने जिस स्वाभाविक अर्थ को व्यक्त करता है वह मुख्य अर्थ है और जहाँ अभिधानशक्ति के होते हुए भी अप्रसिद्धि के कारण प्रकरण आदि के सहारे यत्नपूर्वक उसका अन्य अर्थ किया जाता है वह अर्थ गौण है —

> श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादर्थ्यमवसीयते।
> मुख्यं तमर्थं मन्यन्ते गौणं यत्नोपपादितम्॥[13]

अन्नंभट्ट के अनुसार मुख्यता और गौणता क्रमशः शब्दांतरनिरपेक्ष और शब्दांतरसापेक्ष अर्थप्रतीति के आधार पर माननी चाहिए। यथा —

१२. मीमांसासूत्र, १।१।५।

१३. वाक्यपदीय, २।२८०।

अङ्गेषु मुख्यस्य प्राधान्यं तथा शब्दांतरनिरपेक्षतया प्रतीयमानत्वमर्थस्य प्राधान्यम् । शब्दस्यापि स्वशक्तिविषयतादृशार्थप्रतिपादकत्वेनमुख्यत्वम् ।[१४]

व्याकरणसंप्रदाय के अनेक आचार्य शब्दार्थ को बौद्ध मानते हैं। उनके अनुसार शब्दों में गौणमुख्य विभाग संभव नहीं है। वक्ता जिस अभिप्राय से शब्द का प्रयोग करता है प्रतिपत्ता को उस शब्द से उसी अर्थ का ज्ञान होगा, अतः सर्वत्र शब्द मुख्य रूप में ही रहेगा कभी गौण न हो सकेगा। फलतः गौणमुख्य विभाग भी उपयुक्त न होगा। परंतु भर्तृहरि इस मत को प्रश्रय नहीं देते। एक तरह के दर्शन या ज्ञान होने पर भी लोक में सत्य और असत्य का भेद देखा जाता है। देखने में मृगमरीचिका में जल दिखाई पड़ता है परंतु मृगमरीचिका जल नहीं है, चित्रों में नदी, पर्वत आदि के स्वरूप निम्न और उन्नत दिखाई देते हैं परंतु चित्रगत उच्चता या निम्नता से प्रतिघात आदि कोई कार्यभेद नहीं होता। देश, काल, इंद्रिय गत भेद से वस्तु अन्यथा रूप में (अपने शुद्ध रूप के विपरीत) दिखाई पड़ती है परंतु लोक में क्रियाभेद के आधार पर और प्रसिद्धि के आधार पर उस वस्तु का अविपरीत (यथार्थ) रूप में ही ग्रहण होता है; वस्तुतः जो सत्य के विपरीत उपघातज ज्ञान है और जो अलौकिक ज्ञान है उन दोनो से व्यवहार नहीं होता। शब्द लोकव्यवहार के निमित्तभूत होते हैं। इसलिये प्रसिद्धि या अप्रसिद्धि अथवा स्खलद्गति या अस्खलद्गति के आधार पर शब्दार्थ के बौद्ध होने पर भी शब्द के गौणमुख्य विभाग संभव हैं।

गौणमुख्यभाव मानकर ही 'गौणमुख्ययोः मुख्ये कार्यं संप्रत्ययः' (परिभाषावृत्ति, सीरदेव १०३) यह परिभाषा प्रतिष्ठित है। 'अग्नेर्ढक्' (४।२।३३) इस सूत्र से मुख्य अग्नि शब्द से ढक् प्रत्यय होता है, अग्निर्माणवक जैसे उपचरित (गौण) अग्नि शब्द से नहीं होता। 'अगौः गौःसंपद्यते गोऽभवत्' जैसे स्थानों में गौणार्थ होने के कारण ओदंत के निपातन होने पर भी ओत् (पा० १।१।१५) से प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती।

वार्तिककार ने 'गोऽभवत्' जैसे स्थलों मे प्रकृतिभाव के निषेध के लिये 'ओतश्च प्रतिषेधः', इस तरह का प्रयत्न किया है। इससे यह जान पड़ता है कि वार्तिककार के मत में गोऽभवत् में च्व्यर्थ लक्षण गो शब्द का मुख्य अर्थ ही है। सभी अर्थ मुख्य ही होते हैं। इसलिये गौणमुख्यभाव विभाग संभव नहीं है। परंतु महाभाष्यकार ने गौणमुख्यन्याय के आधार पर यहाँ प्रगृह्य संज्ञा का निर्देश किया है। इसी तरह अग्निषोम शब्द में 'स' का 'ष' तो होता है परंतु 'अग्निसोमौ माणवकौ' में नहीं

१४. अन्नंभट्ट, महाभाष्यप्रदीपोद्योतन, द्वितीय भाग, पृ० ११ ।

होता क्योंकि दूसरा गौण हो गया है। महाभाष्यकार ने इसकी पुष्टि के लिये कहा है कि जैसे 'गौरनुबंध्य' से वाहीक का अनुबंध नहीं होता।

परंतु यदि गौणमुख्यन्याय के आधार पर केवल मुख्य में ही शास्त्रीय कार्य होंगे, गौण में नहीं तो 'गौः वाहीकः तिष्ठति', 'गांवाहीकं आनय' जैसे वाक्यों में वृद्धि और आत्व नहीं होना चाहिए क्योंकि यहाँ ये शब्द गौणार्थक हैं। इसके उत्तर मे भाष्यकार ने कहा है कि वृद्धि और आत्व शब्दाश्रय हैं। गौणमुख्यन्याय अर्थाश्रय में होता है। भाव यह है कि शब्दों के कार्य दो तरह के हैं — प्रातिपदिक कार्य और पदकार्य। पदकार्य में गौणमुख्यन्याय लगता है। प्रातिपदिक कार्य में नहीं लगता। क्योंकि प्रातिपदिक कल्पित अन्वय व्यतिरेक द्वारा कल्पित रूप में अर्थवान् होते हैं। उस अवस्था में लौकिक अर्थ का अभाव होने से गौण या मुख्य किसी के न होने से रूपमात्राश्रय कार्य होते हैं। भाष्यकार के 'शब्दाश्रय' शब्द का भाव कैयट के अनुसार, यह भी है कि शब्द कभी भी अपने अर्थ को छोड़कर अर्थांतर में प्रवृत्त नहीं होता। यदि ऐसा होगा, शब्द अर्थ का संबंध अनित्य हो जायगा परंतु अर्थ अर्थांतर में आरोपित होता है। अर्थांतर आरोपित अर्थ के लिये गौण शब्द का व्यवहार किया जाता है। इसलिये पदाश्रय कार्यों में ही गौणमुख्य का विचार किया जाता है —

पदाश्रयेष्वेव कार्येषु गौणमुख्यव्यवस्थाश्रयणम्[१५]

'गां वाहीकमानय' जैसे स्थलों में भी जहाँ जाड्य आदि विशिष्ट गो शब्द से द्वितीया होती है, वहाँ पहले कारक का क्रिया से ही अन्वय होता है बाद में कारकों का विशेषण विशेष्य के रूप मे अन्वय होता है। इसलिये विभक्तिकाल में गौणता की प्रतीति नहीं होती। भाष्यकार के 'कटं करोति भीष्मं' जैसे वाक्यों में यह स्पष्ट है। अरुणाधिकरणन्याय से भी यह स्पष्ट है —

अरुणाधिकरणन्यायेन इहापि कटं करोति भीष्मं इत्यादिभाष्यानुरोधेन च कारकाणां क्रियान्वय एव प्रथमः। पश्चात् परस्पराकांक्षायां कारकाणामेव विशेषण्यभावेन अन्वयः इति विभक्तिकालेऽन गौणत्वप्रतीतिरित्यर्थः।[१६]

नागेश के अनुसार 'अमहान् महा संपद्यते महद्भूतश्चंद्रमा' में महत् शब्द शास्त्रीय प्रक्रिया में कल्पित रूप में ही अर्थवान् है परंतु पुण्यराज महत् शब्द को मुख्य अर्थ में ही मानते हैं।[१७]

१५. कैयट, महाभाष्य, ८।१।८३।

१६. अन्नंभट्ट, महाभाष्यप्रदीपोद्योतन, द्वितीय भाग, पृ० १५।

१७. वाक्यपदीय, २।२८१।

पुरुषोत्तमदेव के मतानुसार लक्ष्य के अनुसार मुख्य और गौण दोनो का आश्रय शास्त्रीय प्रक्रिया में लिया जाता है। गौण का आश्रय लेकर शीत और उष्ण शब्द से 'कन्' प्रत्यय होता है जिससे शीतक (आलसी) और उष्णक (दक्ष) शब्द बनते हैं।[१८]

साहित्यमीमांसकों ने 'गौः वाहीकः' में समानाधिकरण्य लाने के लिये लक्षणा का आश्रय लिया है। मम्मट ने इस संबंध में तीन तरह के मत व्यक्त किए हैं। कुछ लोग मानते हैं कि गो शब्द ही वाहीक अर्थ का अभिधान करता है। इसमें प्रवृत्ति, निमित्त, जाड्यमांद्य आदि गुण हैं जो गोत्व अथवा गो व्यक्ति के सहचारी हैं — और जो स्वयं लक्ष्यमाण हैं। भास्करसूरि ने इस मत में तीन दोष दिखाए हैं — प्रवृत्तिनिमित्त का लक्ष्यमाण होना, व्यधिकरणत्व और गो शब्द के असंकेतित अर्थ को व्यक्त करना —

अस्मिन् पक्षे प्रवृत्तिनिमित्तस्य लक्ष्यमाणत्वं, व्यधिकरणत्वं, गो शब्दस्यासंकेतित वाहीकार्थाभिधायकत्वं चेति त्रितयमप्ययुक्तम्।[१९]

दूसरे मत में स्वार्थसहचारी जाड्यमांद्य आदि गुणों से अभेद होने के कारण परार्थगत (वाहीकगत) गुण ही लक्षित होते हैं न कि परार्थ का अभिधान होता है। इस मत में भास्करसूरि के अनुसार समानाधिकरण की अनुपपत्ति और गौः जाड्यं जैसे अनीप्सित की अभिव्यक्ति, ये दो दोष हैं —

अत्र पक्षे लक्षकस्य गोशब्दार्थस्य वाहीकगतजाड्यादेः संबंधो दुर्घटः। तथाहि न तावत् गुणैक्यम्। तच्च तुल्यगुणत्वं वा तुल्यगुणवत्त्वं वा। तुल्यगुणत्वं लक्षके न घटते। तुल्यगुणवत्त्वं लक्ष्ये न घटते। किं च जाड्यादिगुणमात्र प्रतीतौ गौ जाड्यमिति स्यात्।[२०]

तीसरे मत के अनुसार साधारण गुण के आश्रय से परार्थ ही लक्षित होता है न कि परार्थगत गुण। इस मत में पूर्वोक्त दोष नहीं है।

गौण और मुख्य के प्रसंग में भर्तृहरि ने मुख्य और नांतरीयक का भी विचार किया है। जिसके प्रतिपादन के लिये शब्द का प्रयोग किया जाता है वह उसका प्रयोजक-मुख्य है। उस अर्थ के प्रतिपादन के समय उसके अतिरिक्त जो कुछ अन्य का भी बोध हो

१८. परिभाषावृत्ति, पृ० ४।

१९. साहित्यदीपिका, काव्यप्रकाश की टीका, हस्तलेख पृ० १६।

२०. वही, हस्तलेख, पृ० १६।

जाता है उसे मुख्य का नांतरीयक कहते हैं।[21] किसी विशेष वस्तु के देखने के लिये दीप का आश्रय लिया जाता है परंतु उस वस्तु के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु भी दीप के प्रकाश में दिखाई देती है। अग्नि के लिये अरणी का मंथन किया जाता है पर आग के अतिरिक्त उसमें से अनपेक्षित धूम भी निकल उठता है। ऐसी ही शब्दों की भी कथा है। शब्द अपने अर्थ के अतिरिक्त लिंग, संख्या आदि को भी व्यक्त करते हैं। लिंग, संख्या आदि शब्द के साथ अत्यंत संसृष्ट रहते हैं। इसलिये न चाहते हुए भी नांतरीयकरूप में इनकी अभिव्यक्ति होती है। कहीं लिंग, संख्या, काल आदि की विवक्षा रहती है और कहीं अविवक्षा। कहीं इनका उपयोग परार्थ के लिये होता है।

······लिंगसंख्याकालानामविवक्षा, क्वचिच्च विवक्षेति लक्षण-व्यवस्थापनं तर्काधीनम्। तथा च नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत् इति कालोपलक्षणार्थं नक्षत्रदर्शनं तत्। प्रधानस्यान्यथा सिद्धौ परार्थत्वात् दृश्यमानेषु ज्योतिःषु कालविशेषे परिच्छेदे सति क्रियते।[22]

अविवक्षा और पारार्थ्य में अंतर यह है कि अविवक्षा में नांतरीयक शब्दोपात्त का उपादान होता है, उसका कोई उपयोग नहीं होता जब कि पारार्थ्य में वह दूसरे का उपलक्षण होता है।[23]

मुख्य और नांतरीयक के संबंध में चार प्रकार के विभाग वाक्यपदीय में व्यवहृत हैं —

१ - गुणप्रधानताविपर्यय, २ - पदार्थैकदेशविवक्षा, ३ - सकलपदार्थअविवक्षा और ४ - उपात्तपदार्थ के अपरित्याग से अन्य अर्थ का उपलक्षण।

गुणप्रधानताविपर्यय वहाँ माना जाता है जहाँ प्रधान भाव की अविवक्षा रहती है, फलतः लिंग, पुरुष आदि का विपर्यय आवश्यकतानुसार कर लिया जाता है।

२१. कैयट ने नांतरीय शब्द पर यों टिप्पणी दी है —

अन्तर शब्दो गहादिषु पठ्यते, स च विनार्थे वर्तते। अन्तरे भवं अन्तरीयम्। तत्र नञ् समासे कृते पृषोदरादित्वाद् भाष्यकारवचनप्रामाण्याद्वा नलोपाभावः। ततः स्वार्थे कन् प्रत्ययः। — कैयट, महाभाष्य, २।३।१८।

२२. वाक्यपदीय, १।१३७ हरिवृत्ति।

२३. वृषभ, वाक्यपदीय, १।१३०, पृ० १२२।

'तेन दिव्यति खनति जयति जितम्' (४।४।२) में दिव्यति का निर्देश एक वचन में, एक संख्यक और वर्तमान काल में किया गया है। अतः इस आधार पर द्विवचन और बहुवचन में तथा भूत भविष्य काल में प्रत्यय नहीं होना चाहिए। साथ ही दिव्यति में प्रथम पुरुष के द्वारा अर्थ निर्दिष्ट है, फलतः 'शालाकिकः अस्मि,' 'आक्षिकः असि' आदि उत्तम तथा मध्यम पुरुष के साथ तद्धित प्रत्यय नहीं होना चाहिए। आख्यात के क्रियाप्रधान होने के कारण दिव्यति में क्रिया प्रधान है और कर्ता गुणीभूत है। आक्षिक आदि तद्धित में कर्ता प्रधान है और क्रिया गुणीभूत है। परंतु 'दिव्यति' के द्वारा निर्दिष्ट होने के कारण तद्धित में भी क्रिया ही प्रधान होनी चाहिए। इन सब आपत्तियों को दूर करने के लिये मान लिया जाता है कि दिव्यति के प्रत्ययार्थ में संख्या, काल आदि की अविवक्षा है।[२४] किसी न किसी संख्या द्वारा तथा किसी न किसी काल द्वारा निर्देश अनिवार्य है, फलतः संख्या, काल आदि नांतरीयक हैं। नांतरीयक रूप में वे यहाँ अविवक्षित हैं। फलतः द्विवचन, बहुवचन तथा भूत भविष्य अर्थ में भी प्रत्यय होता है। आख्यात के क्रियाप्रधान होते हुए भी तद्धित साधनप्रधान स्वभावतः होता है अर्थात् स्वभावतः गुणप्रधान भाव का विपर्यय हो जाता है। आख्यात में क्रिया प्रधान थी, साधन (कर्ता) गौण था। तद्धित में कर्ता प्रधान है, क्रिया गौण है। यही गुणप्रधानताविपर्यय है —

आख्यातं तद्धितार्थस्य यत् किञ्चिदुपदर्शकम्।
गुणप्रधानभावस्य तत्र दृष्टो विपर्ययः॥[२५]

जहाँ लिंग, संख्या आदि का सांनिध्य अविवक्षित रहता है, लिंग और संख्या प्रयोजक नहीं होते, वहाँ पदार्थैकदेश अविवक्षा मानी जाती है। 'तस्यापत्यम्' (४।१।९२), 'भावे' (३।३।१८) जैसे स्थलों में पुंलिंग द्वारा निर्देश किया गया है। अतः नपुंसक लिंग और स्त्रीलिंग से प्रत्यय नहीं होना चाहिए। इसके उत्तर में भाष्यकार ने कहा है कि यहाँ लिंग और संख्या नांतरीयक हैं, अतः अविवक्षित हैं। जिस तरह अन्न की कामना से कोई व्यक्ति तुष और पलाल सहित शालि लाता है, पुनः उसमें से अन्नादि जो कुछ लेने योग्य होता है उसे लेता है; शेष को छोड़ देता है। अथवा जिस तरह मांसार्थी शकल और कंटक सहित मत्स्य लाता है क्योंकि शकल

२४. वृषभ ने यहाँ काल की विवक्षा मानी है—'तेन दिव्यति खनति जयति जितम्' इति कालस्य विवक्षा — वाक्यपदीय, १।१३७।
परंतु जयादित्य, न्यासकार, पदमंजरीकार सभी अविवक्षा मानते हैं।

२५. वाक्यपदीय, २।३०८।

और कंटक नांतरीयक हैं। पुनः लेने योग्य अंश को लेकर शकल, कंटक आदि को फेंक देता है, उसी तरह शब्दशास्त्र में भी तद्धितार्थ निर्देश आदि में तद्धितार्थ का तो ग्रहण किया जाता है और नांतरीयकरूप में व्यक्त लिंग और संख्या को छोड़ दिया जाता है, वे विवक्षित नहीं होते। इसी को पुण्यराज ने 'पदार्थैकदेशाविवक्षा कहा है।

कैयट के अनुसार कहीं कहीं संख्या विवक्षित होती है जैसे 'सुप् सुपा' में —

सर्वत्रैव हि शास्त्रेऽस्मिन् नांतरीयकत्वादुपात्तं लिंगसंख्यं न विवक्ष्यते। क्वचित्तु संख्या विवक्ष्यते यथा सुप् सुपेति।[26]

सकलपदार्थ अविवक्षा वहाँ होती है जहाँ शब्द के द्वारा उपात्तपदार्थ का त्याग कर दिया जाता है और अनुपात्त अर्थ गृहीत होता है। जैसे 'तस्यादित उदात्तमर्द्धह्रस्वम्' (१।२।३२) में अर्द्धह्रस्व शब्द। अर्द्धह्रस्व का अर्थ तो होना चाहिए ह्रस्व का आधा। पर इस अर्थ के लेने पर दीर्घ और स्वरित की अर्ध मात्रा का ग्रहण नहीं होगा, परंतु होना चाहिए। इसलिये अर्द्धह्रस्व शब्द का अर्थ अर्ध मात्रा कर दिया जाता है। यहाँ ह्रस्व शब्द उपलक्षण है, दीर्घ और स्वरित का भी —

अर्द्धह्रस्वमित्यनेन अर्द्धमात्रा लक्ष्यते, ह्रस्वग्रहणमतन्त्रम्[27]

कुछ लोग 'ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः' (१।२।२७) में ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के एक साथ निर्देश होने के कारण ह्रस्व शब्द से दीर्घ और प्लुत भी लक्षित हैं ऐसा मानते हैं। कुछ लोगों के अनुसार 'अर्द्धह्रस्व' प्रमाण के अर्थ में रूढ़ि शब्द है, निरवयव है।

अर्द्धह्रस्व शब्दः प्रमाणवाची रूढिशब्दः। व्युत्पत्त्यर्थं च ह्रस्वस्योपादानम्। अर्द्धमात्रा त्वनेनाभिधीयते।[28]

उपात्त पदार्थ के अपरित्याग द्वारा अन्य अर्थ का उपलक्षण भी मुख्य और नांतरीयक का एक प्रकार है। जब कोई कहता है 'अभी बहुत चलना है, सूर्य को देखो' तो उसका उद्देश्य दिन के अल्पशेष भाग को दिखाना रहता है। ऐसे स्थलों में प्रधान अर्थ ही अन्य अर्थ का उपलक्षण हो जाता है। इसी तरह 'काक से दधि की रक्षा करो' इस वाक्य का काक शब्द अन्य जीवों जैसे, कुत्ते आदि का भी उपलक्षण है। शास्त्र में भी 'विध्यत्यधनुषा' इस वाक्य में अधनुषा पद से करणसामान्य मात्र का

२६. कैयट, महाभाष्य, ४।१।४२।

२७. काशिका, १।२।३२।

२८. कैयट महाभाष्य, १।२।३२।

निर्देश माना जाता है। 'भोजनमस्योपाद्यताम्' इस वाक्य के कहने पर नांतरीयक के रूप में आसनदान, पात्रप्रक्षालन आदि भोजन के अंग के रूप में भासित होते ही हैं।

पुण्यराज के अनुसार सकलपदार्थ अविवक्षा और उपात्तपदार्थ के अपरित्याग द्वारा अन्य अर्थ का उपलक्षण, ये दो मुख्य नांतरीयक के विभाग अविवक्षित वाच्यलक्षणा (ध्वनि?) और विवक्षितान्यपरवाच्यलक्षणा (ध्वनि?) के सूचक हैं।[२९]

*

२९. वाक्यपदीय, २।११५।

ऋग्वेद में आभूषणसंबंधी सामग्री

राय गोविंदचंद्र

ऋग्वेद के १०२८ मंत्रों में प्रायः देवताओं की स्तुतियाँ हैं परंतु इन स्तुतियों में हमारी सांस्कृतिक सामग्री भरी पड़ी है। आर्यों के इस प्राचीनतम ग्रंथ में उनकी उस काल की सभ्यता का जो दिग्दर्शन होता है, वह बहुत विस्तृत है। यहाँ अन्य सामग्री के साथ हमें वस्त्रों और आभूषणों के नाम भी मिलते हैं। ऋग्वेद के अनुसार आभूषण सुंदरता की दृष्टि से पहने जाते थे।

अधोलिखित मंत्र में अरंकृताः शब्द प्राप्त होता है जो कदाचित् अलंकृताः का प्राचीन रूप है। पाणिनि ने भी लिखा है कि 'र' के स्थान पर 'ल' हो जाता है।

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा *अरंकृताः*।
तेषाम् पाहि श्रुधी हवम्॥ ऋक्—१, २, १।

यह शब्द आभूषित करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है इससे अरंकार शब्द भी प्राप्त होगा जिसका अर्थ आभूषण होगा। इस प्रकार हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि ऋग्वेद के काल में आभूषण धारण किए जाते थे और आभूषण से सजे हुए या सुशोभित पुरुष को अरंकृताः कहते थे जैसे यहाँ सोम को अरंकृताः कहा है।

एक और शब्द 'आभरः' यहाँ प्राप्त है जिससे आगे चलकर आभरण शब्द बना है। यह शब्द अलंकार के अर्थ में प्रयुक्त होता था, ऐसा अनुमान होता है। यह अधोलिखित मंत्र में मिलता है—

या इन्द्र भुज *आभरः* स्वर्वा असुरेभ्यः।
स्तोतारमिन्मघवन्नस्य वर्धय ये च त्वे वृक्तबर्हिषः॥
ऋक्—८, ९७, १।

(हे इंद्र भुजा पर आभरण धारण करनेवाले! तुम जो असुरों के पास से भोग के योग्य धन ले आए हो उससे स्तुति करनेवाले को धनवान् बनाओ। स्तुति करनेवाले कुशा बिछाए हुए बैठे हैं।[1])

१. सायणभाष्य के अनुसार इसका अर्थ कुछ भिन्न है। तदनुसार कहा गया है कि हे इंद्र जो कि तुम सर्वसुखसंपन्न अथवा स्वर्गवाले या सर्वात्मा हो — ऐसे गुणवाले तुमने असुरों से जिन भोक्तव्य पदार्थों का आहरण किया है,

एक शब्द 'हिरण्यैः' का साधारण रूप से सुवर्ण के अलंकारों के हेतु ऋग्वेद में व्यवहार हुआ है।[२]

पत्नीव पूर्वहूतिं वावृधध्या उषासानक्ता पुरुधा विदाने।
स्तरीर्नात्कम् व्युतम् वसाना सूर्यस्य श्रिया सुदृशी *हिरण्यैः*॥

ऋक्—१, १२२, २।

(जैसे पति के प्रथम आवाहन पर पत्नी शीघ्र चली आती है वैसे ही अहोरात्र देवता हमारे प्रथम आवाहन पर शीघ्र आएँ। अरिमर्दन सूर्य की भाँति उषा देवी हिरण्य के आभूषणों से युक्त होकर सूर्य के समान शोभा धारण करें।) यहाँ हमें यह भी संकेत मिलता है कि वधू विवाह के समय विविध आभूषणों को धारण करती थी।[3]

एक और मंत्र में अश्व के सुवर्ण के आभूषणों का वर्णन इस प्रकार है—

यदश्वाय वास उपस्तृणन्त्यधीवासं या हिरण्यान्यस्मै।
संदानमर्वन्तम् पड्बीशम् प्रिया देवेष्वा यामयन्ति॥

ऋक्—१, १६२, १६।

(जिस आच्छादनयोग्य वस्त्र से अश्व को आच्छादित किया जाता है तथा उसको जो सुवर्ण के आभूषण पहिराए जाते हैं; जिन साधनों से उसके पैर तथा मस्तक बाँधे जाते हैं, वे सब देवों को प्रिय हों, ऋत्विक् लोग देवों को यह सब वस्तुएँ प्रदान करते हैं।)

रुद्र की स्तुति में इसी प्रकार सुवर्ण अलंकार के हेतु 'हिरण्यैः' शब्द प्रयुक्त हुआ है —

हे संपत्तिशाली इंद्र ? उसके द्वारा अपने स्तुतिकर्ता को वृद्धिसंपन्न बनाओ और जो यज्ञ करनेवाले तुम्हारे लिये कुशा का आस्तरण प्रस्तुत करते हैं उनका भी संपत्तिवर्धन करो।

इस प्रकार यहाँ 'भुज' शब्द 'भुज्' का बहुवचन है और इसका अर्थ भोक्तव्य द्रव्य है तथा 'आभरः' क्रियापद है जिसका अर्थ है 'आहरण किया'।

प्राच्य और पाश्चात्य शैली की व्याख्याओं में ऋग्वेद के टीकाकारों के अर्थ भिन्न भिन्न मिलते हैं। ऐसे अर्थभेद आगे की ऋचाओं के अर्थों में भी देखे जा सकते हैं। — संपादक।

२. ए० ए० मेकडानल एंड कीथ—वैदिक इंडेक्स (१९५८, दूसरा संस्करण) खंड २, पृ० ५०५।

स्थिरेभिरंगै पुरुरूप उग्रो बभ्रुः शुक्रेभिः पिपिशे *हिरण्यैः*।
ईशानादस्य भुवनस्य भूरेर्न वा उ योषद्रुद्रादसुर्यम् ॥
ऋक्—२, ३३, ६।

(दृढ़ांग, बहुरूप, उग्र तथा बभ्रुवर्ण रुद्र दीप्त तथा हिरण्यमय अलंकारों से सुशोभित हैं। रुद्र सारे भुवनों के अधिपति तथा भर्ता हैं। इनका बल कभी कम नहीं होता।)

विवाह के समय वर के धारण करनेवाले अलंकारों को भी 'हिरण्यैः' कहा है—

वरा इवेद्रैवतासो *हिरण्यैरभि* स्वधाभिस्तन्वः पिपिश्रे।
श्रिये श्रेयांसस्तवसो रथेषु सत्रा महांसि चक्रिरे तनूषु ॥
ऋक्—५, ६०, ४।

(विवाह के समय धनवान् वर जिस प्रकार सुवर्णमय अलंकारों से तथा उदक से शरीर को भूषित करता है[४], उसी प्रकार मरुद्गण रथ पर बैठकर शरीर की शोभा के हेतु तेज को धारण करें।)

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पुरुष तथा स्त्रियाँ दोनों वैदिक युग में अलंकार धारण करते थे। ये अलंकार प्रायः सुवर्ण के बनते थे और इन अलंकारों के हेतु हिरण्यैः शब्द का व्यवहार होता था।

एक और शब्द 'चित्र' का भी आभूषणों के हेतु ऋग्वेद में व्यवहार हुआ है —

इयं या नीच्यर्किणी रूपा रोहिण्या कृता।
चित्रेव प्रत्यदर्श्यायत्यन्तर्दशसु बाहुषु ॥ ऋक्—८, १०१, १३।

यहाँ उषा से चित्र की उपमा दी गई है। उषा में कई रंग दिखाई देते हैं तथा चित्र उस आभूषण को कहते हैं जिसमें रंगविरंगे रत्न जड़े हों। एक और मंत्र में स्वर्ण-चित्र मिलता है—

किमादमत्रम् सख्यम् सखिभ्यः कदा नु ते भ्रात्रम् प्र ब्रवाम।
श्रिये सुदृशो वपुरस्य सर्गाः स्वर्ण चित्रतममिष आ गोः ॥
ऋक्—४, २३, ६।

३. ऋक्—१०, ८५, २१।

४. ऋग्वेद—टीकाकार पं० रामगोविंद त्रिवेदी और पं० गौरीनाथ झा, प्रकाशक पं० गौरीनाथ झा वैदिक पुस्तकमाला कृष्णगढ़, सुलतानगंज; भागलपुर; ज्येष्ठ १९८६ वि० चतुर्थ पुष्प; पृ० ६२।

अलंकार निर्माणकर्ता

इन आभूषणों के बनानेवालों का नाम हिरण्यकार अथवा सुवर्णकार ऋग्वेद-संहिता में नहीं प्राप्त होता। इसका दर्शन तो हमें वाजसनेयिसंहिता में तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में होता है।[५] परंतु ऋग्वेद में हमें कर्मार शब्द प्राप्त होता है जिसका अर्थ वैदिक इंडेक्स में लोहार किया गया है।[६] परंतु ऐसा ज्ञात होता है कि यह शब्द कारीगर के अर्थ में व्यवहृत होता रहा हो। चाहे वह लोहार हो अथवा सोनार क्योंकि अधोलिखित मंत्र में कहीं 'अयस' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है।

ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मारइवाधमत्।
देवानाम् पूर्व्ये युगेऽसतः सद्जायत॥ ऋक्—१०, ७२, २।

(जिस प्रकार कर्मार धातु को भट्ठी में डालकर खूब तपाता और धौंकता है उसी प्रकार वेदपालक ब्राह्मण विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य के समय तप कराता है।)

एक शब्द इसी प्रकार सुकर्माण प्राप्त होता है। जो कदाचित् सुवर्णकार का द्योतक रहा हो—

सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तोऽयो न देवा जनिमा धमन्तः।
सुचन्तो अग्निम् ववृधन्त इन्द्रमूर्वम् गव्यम् परिषदन्तो अग्मन्॥
ऋक्—४, २, १७।

(जिस प्रकार अच्छा कारीगर (सुवर्णकार) अपनी धातु को आग में डालकर निर्मल करने के हेतु गलाता है उसी प्रकार देवाभिलाषी स्तोता यज्ञादि कार्यों द्वारा अपने को निर्मल करता है। वह अग्नि को दीप्त करके इंद्र का आवाहन करता है, चारो ओर उपवेशन कर बहुत सा जौ प्राप्त करता है।)

धातु गलाने के संबंध में ध्मातरी शब्द भी हमें ऋग्वेद में मिलता है जिससे ऐसा ज्ञात होता है कि इस क्रिया के करनेवालों की एक अलग श्रेणी थी।[७]

ऋग्वेद में चाहे सुवर्णकार का नाम न प्राप्त हो परंतु उसके और कर्मों का संकेत तो अवश्य मिलता है —

निष्कं वा घा कृणवते स्रजम् वा दुहितर्दिवः।
त्रिते दुष्ष्वप्न्यं सर्वमाप्त्ये परि दद्मस्यनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः॥
ऋक्— ८, ४७, १५।

५. वाजसनेयिसंहिता—३०, १७; तैत्तिरीय ब्राह्मण—३, ४, १४, १।
६. ए० ए० मेकडानल ऐंड कीथ—वही, खंड १, पृ० १४०।
७. ऋक् – ५, ९, ५।

(हे आदित्य ! स्वर्ग की पुत्री उषा में, स्वर्णकार अथवा माला बनानेवाले में जो दुःस्वप्न है, अर्थात् चौरकर्म है वह हमसे दूर रहे। तुम्हारी रक्षा में हमें इनसे दुःख मिलना संभव नहीं है; तुम्हारी रक्षा ही सुरक्षा है।)

धातुओं के जो विविध नाम ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं वे हैं अयस[8] जो वैदिक इंडेक्स के विवरण के अनुसार कई धातुमिश्रित ताँबा (ब्रांज) होना चाहिए; चंद्र जो वैदिक इंडेक्स के विवरण से स्वर्ण होना चाहिए[9] परंतु जो चाँदी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ ज्ञात होता है[10] स्वर्ण[11] हिरण्य[12] तथा रजत[13]। ये ही धातुएँ कदाचित् आभूषणों के बनाने में काम आती रही होंगी। अयस तथा रजत के आभूषणों का विवरण ऋग्वेद में नहीं मिलता। रजत शब्द रथ के संबंध में प्रयुक्त हुआ है —

ऋअमुक्षण्यायने रजतम् हरयाणे। रथम् युक्तमसनाम सुषामणि।
ऋक् — ८, २५, २२।

(उक्ष गोत्र में उत्पन्न तथा सुषामा के पुत्र वरू राजा के दान में प्रवृत्त होने पर हमें सरलगामी अश्वों से युक्त **रजत** का रथ प्राप्त हुआ था। सुषामा के पुत्र का रथ शत्रुओं का जीवन तथा ऐश्वर्य दोनो हरण करता है।)

इस प्रकार आभूषणों के लिये उपयोग में आनेवाली धातु हिरण्य ही रह जाती है।

स्वर्ण

वैदिक इंडेक्स के विवरण के अनुसार यह संकेत मिलता है कि स्वर्ण शब्द का ऋग्वेद में धातु के अर्थ में व्यवहार नहीं किया गया है।[14]

किमाद्मत्रं सख्यं सखिभ्यः कदा नु ते भ्रात्रम् प्र ब्रवाम।
श्रिये सुदृशो वपुरस्य सर्गाः स्वर्ण चित्रतममिष आ गोः॥
ऋक् — ४, २३, ६।

८. ए० ए० मैकडानल ऐंड कीथ — वही, खंड १, पृ० ३१, ३२।
९. वही, खंड १, पृ० २५४।
१०. ऋक् – २, २, ४।
११. ऋक् – ४, २३, ६; ७, ६०, ६।
१२. ए० ए० मेकडानल ऐंड कीथ — वही, खंड २, पृ० ५०४।
१३. ऋक् – ८, २५, २२।
१४. ए० ए० मेकडानल ऐंड कीथ – वही, खंड २, पृ० ४५६।

हिरण्य को आर्यों ने बड़ा महत्व दिया है।[१५] हिरण्य को आनंदप्रदाता कहा गया है। इसे सूर्य के रंगवाला तथा सूर्य के समान चमकवाला कहा गया है।

यः शुक्र इव सूर्यो हिरण्यमिव रोचते। श्रेष्ठो देवानाम् वसुः।

ऋक् — ८, ४३, २६।

दूसरे मंत्र में —

हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृगपाम् नपात्सेदु हिरण्यवर्णः।
हिरण्ययात्परि योनेर्निषद्या हिरण्यदा ददत्यन्नमस्मै॥

ऋक् — २, ३५, १०।

(अपाम् नपात देवता की स्तुति में यह मंत्र है। हे अपाम् नपात देवता; आप हिरण्यरूपी हैं, आपकी हिरण्याकृति है, आप हिरण्यवर्णवाले हैं तथा हिरण्य के सिंहासन पर आसीन हैं, आप हिरण्यप्रदाता हैं।)

सोम की प्रार्थना करते हुए भी यह कहा गया है कि हे सोम तुम हिरण्यमय हो —

पुनानः सोम धारयापो वसानो अर्षसि।
आ रत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सो देव *हिरण्ययः*॥

ऋक् — ९, १०७, ४।

(हे सोम तुम शोधित होकर धाररूप में त्वरित होते हो। तुम रत्नदाता हो तुम्हारा स्थान सत्य यज्ञ में है। हे सोम, तुम स्पंदनशील देदीप्यमान हिरण्यमय हो तुम पधारो।)

ऐसा ज्ञात होता है कि यह धातु इस काल में नदियों के बालू से प्राप्त होती थी, इसी कारण सिंधु को हिरण्ययी कहा है।[१६] तथा हिरण्य की नदी बताया है।

स्वश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासा हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती।
उर्णावती युवतिः सीलमावत्युताधि वस्ते सुभगा मधुवृधम॥

ऋक् — १०, ७५, ८।

उत स्या श्वेतयावरी वाहिष्ठा वां नदीनाम्। सिन्धुर्हिरण्यवर्तनिः॥

ऋक् — ८, २६, १८।

१५. वही – खंड २, पृ० ५०४; ऋक् – ६, ४७, २३; ८, ७८, ९।
१६. वही, खंड २, पृ० ५०४; ऋक् १०, ७५, ८।

(वायु देवता की स्तुति करते हुए यह कहा गया है कि नदियों में स्पंदनशील श्वेत जलवाली, सिंधु जो हिरण्य की नदी है तुम्हारे पास जाती है।) परंतु ऐसा अनुमान होता है कि ऋग्वेदकाल के आर्यों को यह ज्ञात था कि सोना पृथ्वी के गर्भ से भी निकाला जाता है।[१७]

सुषुप्वांसं न निर्ऋतेरुपस्थे सूर्यं न दस्रा तमसि क्षियन्तम्।
शुभे रुक्मं न दर्शतं निखातमुदूपथुरश्विना वन्दनाय॥

ऋक्—१, ११७, ५।

(जिस प्रकार अंधकार का नाश होने पर सोते हुए स्त्रीपुरुष जगाकर खड़े कर दिए जाते हैं उसी प्रकार अंधकाररूपी मिट्टी में छिपे हुए स्वर्ण को जो सूर्य के समान है खोदकर निकालो इत्यादि।) अधोलिखित मंत्र में भी कुछ इसी प्रकार का संकेत प्राप्त होता है, यों विविध टीकाकारों ने इस मंत्र के विविध अर्थ किए हैं।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीम् द्यामुतेमाम् कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

ऋक्—१०, १२१, १।

(इस जगत् के उत्पन्न होने के पूर्व हिरण्य इत्यादि को गर्भ में रखनेवाली पृथ्वी का एक पति विद्यमान था। वह पृथ्वी को भी धारण करता है तथा सूर्यवत तेजोमय लोकों को भी। उस अज्ञात स्वरूपवाले देव की विशेष भक्ति से सेवा करो।)

ऐसा ज्ञात होता है कि उस काल में स्वर्ण उस स्थान के ईशानकोण की किसी कान से आता था—जहाँ आर्य रहते थे।

ईसानासो ये दधते स्वर्णो गोभिरश्वेभिर्वसुभिर्हिरण्यैः।
इन्द्रवायू सूरयो विश्वमायुरर्वद्भिर्वीरैः पृतनासु सह्युः॥

ऋक्— ७, ९०, ६।

(हे ईशान के देवता हमें स्वर्ण, गौएँ, भूमि, घोड़े पूर्ण जीवन प्रदान करो। हे इंद्र-वायु, आपकी कृपा से हमारे सूर, जो शत्रुओं का नाश करने में समर्थ हैं, संग्रामों में विजय प्राप्त करें।)

इस प्रकार उस काल में, यह अनुमान किया जा सकता है कि, सुवर्ण सिंधु नदी से तथा कानों से प्राप्त होता था। इसको प्रचुर मात्रा में पाने की इच्छा उस काल के आर्यों को निरंतर बनी रहती थी जैसा इस मंत्र से संकेत प्राप्त होता है।

१७. वही, खंड २, पृ० ५०४।

दशाश्वान्दश कोशान्दश वस्त्राधिभोजना।
दशो हिरण्यपिण्डान्दिवोदासादसानिषम्॥

ऋक् — ६, ४७, २३।

(मैंने दिवोदास से दस घोड़े, दस सुवर्ण के कोश, कपड़े, भोजन तथा दस हिरण्यपिंड प्राप्त किए।)

सुवर्ण के बने आभूषणों को आर्य बड़े चाव से पहनते थे। इस कारण कंठ के आभूषण निष्क तथा कान के आभूषण कर्णशोभिना सुवर्ण के ही बनते थे।[18] यही नहीं हिरण्य के रथ भी बनते थे जिसको बनाने के हेतु पर्याप्त कारीगरी की आवश्यकता थी —

दानासः पृथुश्रवसः कानीतस्य सुराधसः।
रथमं हिरण्ययम् ददन्मंहिष्ठः सूरिरभूद्वर्षिष्ठमकृत श्रवः॥

ऋक् — ८, ४६, २४।

(उत्कृष्ट धनवाले कन्यापुत्र पृथुश्रवा का यही दान है। उन्होंने सोने का रथ दिया है। वे अमित दाता और प्राज्ञ हैं। उन्होंने अत्यंत प्रवृद्ध कीर्ति प्राप्त की है।)

हिरण्य के आभूषण बनाने की क्रिया

सुवर्ण के आभूषण कैसे बनते थे, इसका विवरण तो प्राप्त नहीं होता परंतु ऐसा संकेत मिलता है कि धातु को कारीगर अग्नि पर रखकर गलाता था। इस क्रिया के करनेवाले को ध्मातरी कहते थे तथा क्रिया को धमनि कहते थे।[19] यह कार्य अग्नि का नियंत्रण करके किया जाता था।

अधस्म यस्यार्चयः सम्यक्संयन्ति धूमिनः।
यदीमह त्रितो दिव्युप ध्मातेव धमति शिशीते ध्मातरी यथा॥

ऋक् — ५, ९, ५।

(धूमवान् अग्नि की शिखाएँ सर्वत्र व्याप्त होती हैं। तीनो स्थानों में व्याप्त होनेवाला अग्नि अपनी ज्वाला को स्वयं आकाश में भेजता है जैसे कर्मकार धातु को गलाने के हेतु अग्नि को धौंककर उत्तेजित करता है।)

एक शब्द द्रप्स हमें ऋग्वेद में प्राप्त होता है जिसका अर्थ सायण ने बूँद किया है[20]। यहीं बूँद सोम की बूँद के अर्थ में प्रायः प्रयुक्त है[21]। परंतु एक आध

१८. ए० ए० मेकडानल ऐंड कीथ — वही, खंड २, पृ०, ५०४।

१९. वही, खंड १, पृ० ४०५।

२०. वही, खंड १, पृ० ३८०। अँगरेजी शब्द 'ड्राप' कदाचित् इसी से निकला है।

२१. ऋक् — ६, ७८, ४; ६, ८५, १०; ६, ८६, २; ६, ९७, ५६।

स्थान पर धातु की बूँद के अर्थ में भी प्रयोग हुआ है, ऐसा जान पड़ता है। जैसे —

अध स्वनादुत बिभ्युः पतत्रिणो द्रप्सा यत्ते यवसादो व्यस्थिरन्।
सुगम् तत्तो तावकेभ्यो रथेभ्योऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयम् तव ॥

ऋक् — १, ६४, ११।

यहाँ बूँद पिघले हुए धातु की बूँद ज्ञात होती है जिससे ऐसा अनुमान होता है कि सुवर्णकार धातु की बूँद बनाते थे तथा उससे आभूषण। कर्मकार अग्नि को अपने कार्य के हेतु तीक्ष्ण करने के लिये पक्षियों के पंखों की भाँति पंखे बनाता था[२२] तथा धातु को पीटकर उससे विविध वस्तु बनाना जानता था क्योंकि सोम के प्याले के बनाने से इस क्रिया का विवरण मिलता है[२३]—

रक्षोहा विश्वचर्षणिरभि योनिमयोहतम्। द्रुणा सधस्थमासदत् ॥

ऋक् — ६, १, २।

एक शब्द पेशश ऋग्वेद में प्राप्त होता है जिसका अर्थ है[२४] सुवर्ण के तार का बना हुआ। परंतु इसका दूसरा शब्द वेशेसकारी जो यजुर्वेद में प्राप्त होता है (वाजसनेयि — ३०, ६) ऐसा ज्ञात होता है कि उससे, आधुनिक हिंदी का पच्चीकारी शब्द बना हो। हो सकता है कि पेशश शब्द पच्ची के अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो।

रत्न

आभूषण केवल धातु के ही नहीं बनते थे, रत्नों के भी बनते थे। रत्न शब्द ऋग्वेद के प्रथम मंत्र से ही प्राप्त होने लगता है[२५], परंतु कई स्थानों पर यह आभूषणों के रूप में धारण किए जानेवाले रत्नों के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ दिखाई देता है।

परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत्। दधद्रत्नानि दाशुषे ॥

ऋक् — ४, १५, ३।

(अन्न के पालक, मेधावी अग्नि हवि देनेवाले यजमान् को रमणीय धन (अर्थात् रत्नों) को देकर हवि को चारो तरफ से व्याप्त करें।)

२२. ऋक् — ६, ११२, २।
२३. ए० ए० मेकडानल एंड कीथ — वही, खंड १, पृ० १४१।
२४. ऋक् — १, १, १।
२५. वैदिक इंडेक्स, खंड २, पृ० १६६।

अथवा —

प्राता रत्नम् प्रातरित्वा दधाति तम् चिकित्वान् प्रतिगृह्या नि धत्ते ।
तेन प्रजाम् वर्धयमान आयु रायस्पोषेण सचते सुवीरः ॥
ऋक् — १, १२५, १ ।

(स्वनय राजा ने प्रातःकाल रत्नों को लाकर रखा । कक्षीवान् ने उठकर रत्न ग्रहण करके स्थापित किया । सुवीर दीर्घतमा ने उस रत्नराशि द्वारा प्रजा और आयु की वृद्धि करके धनलाभ किया[२६] ।

अथवा —

त्वमग्ने शशमानाय सुन्वते रत्नम् यविष्ठ देवतातिमिन्वसि ।
तं त्वा नु नव्यम् सहसो युवन्वयम् भगं न कारे महिरत्न धीमहि ॥
ऋक् — १, १४१, १० ।

(हे अग्नि, जो तुम्हारी स्तुति करते हैं और तुम्हारे लिये अभिषव करते हैं तुम उनका रमणीय हव्य लेकर देवों के पास जाते हो । हे तरुण हम तुम्हारी स्तुति करने के हेतु राजा की भाँति तुम्हें स्थापित करते हैं । तुम हमें बल, पुत्र, तथा महिरत्न प्रदान करो) । यहाँ महिरत्न, पृथ्वी से निकला हुआ रत्न हो सकता है ।

अथवा —

उदु ष्य देवः सविता सवाय शश्वत्तमम् तदपा वह्निरस्थात् ।
नूनम् देवेभ्यो वि हि धाति रत्नमथाभजद्वीतिहोत्रम् स्वस्तौ ॥
ऋक् — २, ३८, १ ।

अधोलिखित मंत्र में अच्छे रत्नों के क्रय करने का संकेत प्राप्त होता है —

सुभागान्नो देवाः कृणुता सुरत्नानस्मान्त्स्तोतॄनमरुतो वावृधानाः ।
अधि स्तोत्रस्य सख्यस्य गात सनाद्धि वो रत्नधेयानि सन्ति ॥
ऋक् — १०, ७८, ८ ।

(हे देवो (मरुतः), हमें उत्तम धन, उत्तम रत्नों का स्वामी बनाओ, हमें समस्त रत्नों के गुणदोषों को बताओ । (जिससे हम अच्छे रत्न खरीद सकें) आपके पास अनेक सुंदर रत्न हैं इत्यादि) ।

२६. ऋग्वेदसंहिता — रामगोविंद त्रिवेदी तथा गौरीनाथ झा, द्वितीय पुष्प पृ० ८ ।

मणि

मणि शब्द ऋग्वेद में प्राप्त होता है। इसका आधुनिक अर्थ है छेदा हुआ रत्न जो डोरा डालकर पहना जा सके। उस प्राचीन काल के इस प्रकार के छेदे हुए बहुत से रत्न प्रायः सभी स्थानों पर पाए गए हैं। इस कारण इस शब्द का यदि यह अर्थ किया जाय तो कुछ अनुपयुक्त न होगा।

हिरण्यकर्णम् मणिग्रीवमर्णस्तन्नो विश्वे वरिवस्यन्तु देवाः।
अर्यो गिरः सद्य आ जग्मुषीरोस्राश्चाकन्तूभयेष्वस्मे॥

ऋक् — १, १२२, १४।

(हे विश्वदेव ! हमें हिरण्य के कर्णों के आभूषण तथा ग्रीवा के हेतु मणि की माला तथा रूपवान् पुत्र प्रदान करो। हे विश्वदेव, हम आपकी स्तुति करते हैं तथा आपको हव्य प्रदान करते हैं।)

मोती

रत्नों में मोती का नाम 'कृशन' ऋग्वेद में मिलता है। जो मनुष्य को आकर्षित करे उसे ही कृशन कहा जा सकता है। यहाँ मोती सवित्रि के रथ में लगा हुआ कहा गया है—

अभीवृतम् कृशनैर्विश्वरूपम् हिरण्यशम्यम् यजतो बृहन्तम्।
आस्थाद्रथम् सविता चित्रभानुः कृष्णा रजांसि तविषीम् दधानः॥

ऋक् — १, ३५, ४।

(सविता जिस प्रकार सुवर्ण के रथ पर आरूढ़ होकर जिसमें कृशन अर्थात् मोती लगे हुए हैं जो बड़े तेजवान् हैं, जो विश्वरूप हैं, जो प्रखर शक्तियों से युक्त हैं, जो विविध रंगो से युक्त हैं, वे हमारा पोषण करनेवाले हों।)

अश्व को भी सजाने के हेतु मोती का व्यवहार किया जाता था जैसा अधोलिखित मंत्र से पता लगता है —

चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणाः सहस्रस्याग्रे श्रेणिं नयन्ति।
मदच्युतः कृशनावतो अत्यान्कक्षीवन्त उदमृक्षन्त पज्राः॥

ऋक् — १, १२६, ४।

(हजार गायों को सामने करके दसो रथों में चौबीस लोहित वर्ण अश्व पंक्ति-बद्ध होकर चलने लगे। कक्षीवान् के अनुचर उनके लिये घास आदि जुटाकर इन मोतियों के आभूषणों को धारण किए हुए मदमत्त अश्वों को जो चलने में कभी थकते नहीं मलने लगे।)

रत्नों से आभूषण बनाने की विधि

मणियों को सूत्र में पिरोकर माला बनाई जाती थी।[२७] जैसा उपर्युक्त मंत्र 'हिरण्य कर्णाम् मणिग्रीवम्' इत्यादि[२८] से स्पष्ट है। एक मंत्र में हमें 'जरितु रत्निनीम्' पद प्राप्त होता है जिससे ऐसा संकेत मिलता है कि रत्न जड़े जाते थे—

जम्भयतमभितो रायतः शुनो हतम् मृधो विदथुस्तान्यश्विना।
वाचंवाचम् जरितू रत्निनीम् कृतमुभा शंसं नासत्यावतं मम॥

ऋक् — १, १८२, ४।

(हे अश्विनद्वय देवता ! जो कुत्ते की तरह हमारे विनाश करने के हेतु आ रहे हैं, इन्हें नष्ट करो, इन्हें मार डालो। हमारी प्रत्येक स्तुति को रत्नजड़ित करो। हे नासत्यद्वय हमारी रक्षा करो।)

ऋग्वेद में आभूषणों के नाम तथा उनके संभावित स्वरूप

पुरुषों के सिर के आभूषण — हमें ऋग्वेद में दो शब्द 'स्तुका' तथा 'स्तूप' प्राप्त होते हैं।[२९] स्तुका का वैदिक इंडेक्स में अर्थ है शिखा या केश की चोटी। यही अर्थ मोनियर विलियम्स ने भी किया है।[३०] स्तूप शब्द का अर्थ वैदिक इंडेक्स में शिखा की गाँठ या मस्तक पर का जूड़ा कहा गया है। मोनियर विलियम्स ने इस शब्द का अर्थ मिट्टी का ढूहा किया है[३१]। इससे ऐसा ज्ञान होता है कि यह शब्द पहले उस आकार का द्योतक था जो कालांतर में मिट्टी के ढूहे या भीटे का बन जाता है अर्थात् ऊपर से गोल अंडाकार तथा नीचे से फैला हुआ। प्रायः इस प्रकार के ढूहों के नीचे कुछ अवश्य रहता है। बौद्ध स्तूपों के नीचे तो बुद्ध भगवान् अथवा उनके शिष्यों का अवशेष प्रायः रहता है। इस प्रकार इस शब्द से यदि यह मान लिया जाय कि यह कोण के आकारवाली किसी वस्तु का नाम है जिसके नीचे कुछ रहता था तो अनुचित न होगा। इस अनुमान पर यह धारणा बनती है कि सिर पर जब स्तूप का वर्णन मिलता है तो वह कोण के आकार का आभूषण होना चाहिए जिसके नीचे शिखा की ग्रंथि हो। ऋग्वेद का मंत्र यों है —

२७. ए० ए० मेकडानल ऐंड कीथ — वही, खंड २, पृ० १२० ।
२८. ऋक् — १, १२२, १४ ।
२९. ए० ए० मेकडानल ऐंड कीथ — वही, खंड १, पृ० ४८३ ।
३०. मोनियर विलियम्स — संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी — प्रथम संस्करण, पृ० ११४३ ।
३१. वही, पृ० १२५१ ।

अबुध्ने राजा वरुणो वनस्योर्ध्वं स्तूपं ददते पूतदक्षः।
नीचीनाः स्थुरुपरि बुध्न एषामस्मे अन्तर्निहिताः केतवः स्युः ॥
ऋक् — १, २४, ७ ।

(प्रकाशमान राजा वरुण स्वच्छ पवित्र तथा तेजोबल से युक्त होकर सबके ऊपर बंधनरहित स्तूप को धारण करते हैं। इसमें से प्रकाशित होनेवाली किरणें इस भूमि पर आकर पड़ती हैं। इन सबका केंद्र ऊपर ही है और वे ही किरणें हमारे भीतर भी विद्यमान हैं।) दूसरा मंत्र यों है —

जुषस्व नः समिधमग्ने अद्य शोचा बृहद्यजतम् धूम मृण्वन् ।
उप स्पृश दिव्यम् सानु स्तूपैः सं रश्मिभिस्ततनः सूर्यस्य ॥
ऋक् — ७, २, १ ।

(हे अग्नि तू काष्ठ को प्राप्त करके तेजस्वी बन इस बृहत् यज्ञ को उज्ज्वल कर और अपने धूम से शत्रु को कंपित करनेवाली शक्ति प्रदान कर। सूर्य के स्तूप नामक आभूषण से निकली हुई रश्मियों के समान अपने तेज का विस्तार कर।)

इन मंत्रों से यह अनुमान होता है कि यह मस्तक का आभूषण था तथा इसे पुरुष धारण करते थे। यह प्रायः सुवर्ण का होता था जैसा मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से प्राप्त हुआ है।[३२]

एक दूसरा शब्द शिप्र मिलता है जिसका अर्थ विविध भाँति से किया गया है। गेल्डनर ने इसका अर्थ ओठ किया है[३३], जिमर ने इसका अर्थ मूँछ किया है[३४] परंतु जब इस शब्द को इसके विशेषण के साथ देखा जाता है यथा अयः शिप्र,[३५] हिरण्य शिप्र[३६], हरि शिप्र[३७], हिरी शिप्र[३८] और सुशिप्र[३९], तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह धातु की बनी कोई वस्तु होगी। मोनियर विलियम्स ने इसे पगड़ी कहा

३२. मार्शल — मोहनजोदड़ो ऐंड दी इंडस सिविलिजेशन भाग २ पृ० ५१६ तथा माधोस्वरूप वत्स — एक्सकवेशंस ऐट हड़प्पा, पृ० ६४ (१९४०)।
३३. गेल्डनर — ऋग्वेद ग्लासरी, पृ० १७० ।
३४. ए० ए० मेकडानल ऐंड कीथ — वैदिक इंडेक्स, पृ० ३७९ – ८० ।
३५. ऋक् — ४, ३७, ४ ।
३६. ऋक् — २, ३४, ३ ।
३७. ऋक् — १०, ९६, ४ ।
३८. ऋक् — २, २; ३, ६, २५, ३ ।
३९. ऋक् — २, ३३, ५ ।

है।[४०] अब यदि मंत्रों को देखा जाय तो अयः शिप्र ऋभुगण पहने हुए दिखाई देते हैं —

पीवोअश्वाः शुचद्रथा हि भूतायःशिप्रा वाजिनः सुनिष्काः।
इन्द्रस्य सूनो शवसो नपातोऽनु वश्चेत्यग्रियम् मदाय॥

ऋक् — ४, ३७, ४

(हे ऋभुगण तुम्हारे अश्व पीन हैं, तुम्हारे रथ दृढ़ हैं, तुम्हारे मस्तक पर की टोपी अथवा शिरस्त्राण ताँबे की मिश्रित धातु (ब्रांज) के बने हुए हैं, तुम निष्क धारण किए हुए हो तथा तुम अन्नवान् हो। हे इंद्र के पुत्रो, तुमको प्रसन्न करने के हेतु यह प्रथम यज्ञ अनुष्ठित हुआ है।

इसी प्रकार हिरण्यशिप्र मरुत पहने हुए हैं—

उक्षन्ते अश्वाँ अत्याँ इवाजिषु नदस्य कर्णैस्तुरयन्त आशुभिः।
हिरण्यशिप्रा मरुतो दविध्वतः पृक्षम् याथपृषतीभिः समन्यवः॥

ऋक् — २, ३४, ३।

(मरुद्गण विशाल भुवन को तुरंग की भाँति सिक्त करते हैं। वे घोड़ों पर चढ़कर शब्दायमान मेघों के पास से होकर द्रुत गति से जाते हैं। वे हिरण्य की पगड़ी पहने हुए क्रोध करने में समर्थ हैं। वे वृक्ष आदि को कंपित करते हैं। वे गुलदार मृगों पर चढ़कर अन्न के लिये जाते हैं।)

अधोलिखित मंत्र में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह सिर का आभूषण था और धातु का बना होता था तथा टोपी के सदृश रहा होगा।

अंसेषु व ऋष्टयः पत्सु खादयो वक्षःसु रुक्मा मरुतो रथे शुभः।
अग्निभ्राजसो विद्युतो गभस्त्योः शिप्राः शीर्षसु वितता हिरण्ययीः॥

ऋक् — ५, ५४, ११।

यहाँ शिप्र सिर पर है, बड़ा है तथा हिरण्य का है। इसे मुकुट भी कह सकते हैं। इस प्रकार के टोपीनुमा मुकुट[४१] सिंधुघाटी से प्राप्त कुछ मृण्मय मूर्तियों के मस्तकों पर दिखाई देते हैं परंतु यह नहीं कहा जा सकता कि ये शिप्र ही हैं।

गोल मुकुट का संकेत इस मंत्र से भी मिलता है —

स भूतु यो ह प्रथमाय धायस ओजो मिमानो महिमानमातिरत्।
शूरो यो युत्सु तन्वम् परिव्यत शीर्षणि द्याम् महिना प्रत्यमुंचत॥

ऋक् — २, १७, २।

४०. मोनियर विलियम्स — वही, पृ० १००६।
४१. ई० मैके—फरदर एक्सकवेशंस ऐट मोहनजोदड़ो।

(जिन इंद्र ने बल का प्रकाश करके सर्वप्रथम सोम पान किया था तथा जिन इंद्र ने युद्धकाल में अपने शरीर को सुरक्षित रखा था वे इंद्र प्रसन्न हों। उन्होंने अपनी महिमा से गोल द्युःलोक को धारण कर रखा है। द्युःलोक का प्रतीक गोल मुकुट हो सकता है।)

ऐसा ज्ञात होता है कि पुरुष कभी कभी अपने मस्तक पर शृंग भी धारण करते थे। इनको धारण करने के हेतु मुकुट में ही स्थान बनाया जाता रहा होगा। इंद्र को शृंगवृषो कहा गया है —

यस्ते शृंगवृषो नपात्प्रणपातकुण्डपाय्यः। न्यस्मिन्दध्र आ मनः॥

ऋक् — ८, १७, १३।

यहाँ टीकाकारों ने इंद्र को शृंगवृषा नामक ऋषि का पुत्र बनाकर इस मंत्र का अर्थ लगाया है। परंतु यदि यह कहा जाय कि इंद्र ही शृंगवृषा है तो कुछ अनुचित न होगा। (हे शृंगवृषा इंद्र, तुम्हारी रक्षा करनेवाला जो कुंडपायी यज्ञ है उसको मुनियों ने प्रारंभ कर दिया है।)

इंद्र को हिरण्यशृंग भी कहा है—

हिरण्यशृंगोऽयो अस्य पादा मनोजवा अवर इंद्र आसीत्।
देवा इदस्य हविरद्यमायन्यो अर्वन्तम् प्रथमो अध्यतिष्ठत्॥

ऋक् — १, १६३, ६।

(हिरण्यशृंग इंद्र ऐसे घोड़े पर सवार हैं जिसका पैर अयस (ब्रांज) का है जो मन के समान वेगवाला है। देवगण हविभक्षण के हेतु आते हैं परंतु इंद्र उन सबसे पहले ही पहुँचे हैं। यहाँ कुछ टीकाकारों ने अश्व को हिरण्यशृंग की उपाधि दी है परंतु अश्व के वेग की प्रशंसा की जाती है; उसके दृढ़ पैर की, उसके मस्तक की नहीं, इस कारण हिरण्शृंग इंद्र ही प्रतीत होते हैं।) यहाँ शृंग भी पुरुषों के मस्तक का ही आभूषण है।

स्रज एक दूसरा आभूषणपरक शब्द मिलता है यह कदाचित् माला का द्योतक था जो मस्तक पर पहनी जाती थी —

उत स्मासु प्रथमः सरिष्यन्नि वेवेति श्रेणिभी रथानाम्।
स्रजं कृण्वानो जन्यो न शुभ्वारेणुम् रेरिहत्किरणंददश्वान॥

ऋक् — ४, ३८, ६।

अश्विनी को पुष्करस्रज कहा है।[४२]

४२. ऋक् — १०, १८४, २।

स्त्रियों के सिर के आभूषण

हमें ऋग्वेद में 'कुरीर' तथा 'ओपश' शब्द स्त्रियों के मस्तक के आभूषणों के संबंध में प्राप्त होते हैं।[४३]

कुरीर शब्द की व्याख्या गेल्डनर ने शृंग की है[४४]। यह शब्द अथर्ववेद[४५] तथा यजुर्वेद[४६] में भी प्राप्त होता है। यजुर्वेद में सिनिवाली को सुकुरीरा कहा है। यह शब्द ऋग्वेद में विवाह के समय वधू के शृंगार के प्रकरण में प्राप्त होता है —

स्तोमा आसन्प्रतिधयः कुरीरम् छन्द ओपशः।
सूर्याया अश्विना वराग्निरासीत्पुरोगवः॥

ऋक् — १०, ८५, ८।

(नव वधू उषा के तुल्य अनुरागवाली जब अपने पति के साथ जाने को हो तो उसको उत्तम उपदेश दिए जायँ। उसे कुरीर तथा ओपश नाम के आभूषणों से सजाया जाय जिससे उसकी मनोकामना पूर्ण हो। वर आगे चले और स्त्री उसका अनुसरण करे इत्यादि।) कुरीर शब्द का अर्थ दयानंद जी ने उणादि भाष्य में 'क्रियते इति कुरीरम् मैथुनम् इति' किया है, परंतु यह ठीक नहीं ज्ञात होता। मोनियर विलियम्स ने इसे एक प्रकार का स्त्रियों का मुकुट कहा है।[४७] कदाचित् यह 'कुरी' शब्द से बना हो। कुरी एक प्रकार की घास होती है जो सीधी खड़ी रहती है। एक प्रकार का अभूषण मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा मे स्त्रियों के मस्तक पर दिखाई देता है जो मोरपंख की भाँति खड़ा है।[४८] हो सकता है इसका नामकरण आर्यों ने कुरीर किया हो या यही नाम उस आभूषण का सिंधुघाटी में प्रचलित रहा हो और इसे आर्यों ने अपना लिया हो।

दूसरा शब्द 'ओपश' मिलता है यह आभूषण आज के बंदी की भाँति कदाचित् मस्तक के चारो ओर चला जाता था। यह केश का वेष्ठन जान पड़ता है जैसा इस मंत्र में संकेत मिलता है। मोनियर विलियम्स ने इसे सिर का आभूषण कहा है।

४३. ए० ए० मेकडानल ऐंड कीथ — वही, खंड १, पृ० १६४।
४४. गेल्डनर – वेदिश स्टूडियेन, १, १३१, १३२।
४५. अथर्व, ६, १३८, ३।
४६. वाजसनेयि – ११, ५६; तैत्तिरीयसंहिता ४,१,५,३; मैत्रायणी-संहिता – २, ७, ५।
४७. मोनियर विलियम्स – वही, पृ० २३६।
४८. पिगट – प्री हिस्टारिक इंडिया, प्लेट, ८।

प्र यदित्था महिना नृभ्यो अस्त्यरम् रोदसी कक्ष्ये नास्मै।
सं विव्य इन्द्रो वृजनम् न भूमा भर्ति स्वधावाँ ओपशमिव द्याम्॥
ऋक् — १, १७३, ६।

(इंद्र अपने प्रताप से कर्मनिष्ठ यजमानों को स्वर्ग आदि फल देता है। यह द्यावा पृथ्वी उसकी आकांक्षा की पूर्ति के हेतु पर्याप्त नहीं है जैसे अंतरिक्ष इस पृथ्वी को वेष्ठित करता है वैसे ही इंद्र इन तीनो लोकों को ओपश की भाँति वेष्ठित करता है।) दूसरे मंत्र में यह बात और स्पष्ट है —

यज्ञ इन्द्रमवर्धयद्यद्भूमिम् व्यवर्तयत्।
चक्राण ओपशम् दिवि॥
ऋक् — ८, १४, ५।

(जैसे चक्र ओपश द्वारा बाँधे जाने पर रथ की रक्षा करता है वैसे ही इंद्र यज्ञ द्वारा बाँधे जाने पर पृथ्वी की रक्षा करता है इत्यादि)। यह ओपश इस काल में कदाचित् स्त्रियों के सिर का आभूषण था, ऐसा मंत्र से ज्ञात होता है —

स्तोमा आसन्प्रतिधयः कुरीरम् छन्द ओपशः।
सूर्याया अश्विना वराग्निरासीत्पुरोगवः॥
ऋक् — १०, ८५, ८।

यह शब्द सिनिवाली के आभूषणों में यजुर्वेद में भी मिलता है[४९]। इस प्रकार का शिरोवेष्ठन सिंधुघाटी की सभ्यता की मृण्मूर्तियों के मस्तकों पर भी दिखाई देता है[५०] और यह आभूषण वहाँ से प्राप्त भी हुआ है[५१]।

कर्ण के आभूषण

कर्ण के आभूषणों में हमें सर्वप्रथम कर्णशोभना प्राप्त होता है[५२]। यह शब्द आज भी कानपाशा के पर्यायवाची रूप में बंगला में प्राप्त होता है।

४९. वाजसनेयिसंहिता —११, ५६; मैत्रायणीसंहिता – २, ७, ५; तैत्तिरीयसंहिता – ४, १, ५, ३।

५०. व्हीलर, सर मार्टिमर — अर्ली इंडिया ऐंड पाकिस्तान, डी० बी० तारापुरवाला संस ऐंड कंपनी लि०, बंबई। टेम्स ऐंड हडसन, लंदन १९५९ प्लेट १३।

५१. मार्शल — मोहनजोदड़ो ऐंड दी इंडस सिविलिजेशन खंड २, पृ० ५२२; खंड ३ प्लेट १५१ (ए)।

५२. ए० ए० मेकडानल ऐंड कीथ — वही, खंड १, पृ० १४०।

उत नः कर्णशोभना पुरूणि धृष्णवा भर ।
त्वम् हि शृण्विषे वसो ॥

ऋक् — ८, ७८, ३ ।

(शत्रुओं को पीस देनेवाले और वास देनेवाले इंद्र तुम्हारी ही कीर्ति सुनी जाती है । तुम हमें बहुसंख्या में कर्णाभरण प्रदान करो) कदाचित् यह आभूषण पाणिनि की कर्णिका की भाँति रहा होगा[५३] । इस आभूषण का ठीक स्वरूप नहीं ज्ञात होता । वैदिक इंडेक्स के विवरण के अनुसार यह पुरुषों का आभूषण था[५४] । ऐसा अनुमान होता है कि यह कर्णफूल की भाँति का कोई आभूषण था ।

आभूषणों के संबंध में एक दूसरा शब्द चक्र भी प्राप्त होता है । वैदिक इंडेक्स के अनुसार यह शब्द पहिए का द्योतक[५५] है परंतु सब स्थानों पर ऐसा ज्ञात नहीं होता ।

सुकिंशुकम् शल्मलिम् विश्वरूपम् हिरण्यवर्णम् सुवृतम् सुचक्रम् ।
आ·रोह सूर्ये अमृतस्य लोकम् स्योनम् पत्ये वहतुम् कृणुष्व ॥

ऋक् — १०, ८५, २० ।

(हे सूर्य के समान वधू तुम अच्छे किंशुक नाम के वस्त्र को धारण करके शाल्मलि के फूलों से सजकर सुनहले गोल चक्रों को कान में धारण करके पति के साथ कभी न नाश होनेवाले लोक में विराज ।)

इस प्रकार के कान के आभूषण हड़प्पा से प्राप्त हुए हैं[५६] इनमें से एक पर पहिए के अरे की भाँति के चिह्न भी बने हुए हैं । एक स्थान पर हमें हिरण्यकर्ण शब्द प्राप्त होता है —

हिरण्यकर्णम् मणिग्रीवमर्णस्तन्नो विश्वे वरिवस्यन्तु देवाः ।
अर्यो गिरः सद्य आ जग्मुषीरोस्राश्चाकन्तूभयेष्वस्मे ॥

ऋक् — १, ११२, १४ ।

इस शब्द का अर्थ कदाचित् कुंडल रहा हो । इन मंत्रों से यह ज्ञात होता है कि कर्णशोभना तथा हिरण्यकर्ण पुरुष पहनते थे और चक्र स्त्रियाँ ।

५३. अग्रवाल वासुदेवशरण — पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० १३८; पाणिनि, ६।४, ३, ६५ ।

५४. ए० ए० मेकडानल ऐंड कीथ — वही, खंड १, पृ० १४० ।

५५. वही, खंड १, पृ० २५२ ।

५६ माधोस्वरूप वत्स — एक्सकवेशंस ऐट हड़प्पा, खंड २, प्लेट १३३ — ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४ ।

ग्रीवा के आभूषण

उपर्युक्त मंत्र (ऋक् – १, १२२, १४) में मणि को ग्रीवा पर पहनने का संकेत प्राप्त होता है। इससे यह तो सिद्ध होता ही है कि ग्रीवा पर मणियों की माला पुरुष भी पहनते थे।

यहाँ एक शब्द 'मला' प्राप्त होता है। वैदिक इंडेक्स में, यह मल के रूप में है तथा इसे मुनियों का वस्त्र कहा गया है[५७]। मंत्र इस प्रकार है —

मुनयो वातरशनाः पिशंगाः वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिम् यन्ति यद्देवासो अविक्षत॥

ऋक् — १०, १३६, २।

(इस मंत्र के पूर्वमंत्र में केश के विषय में चर्चा है, 'केश्यऽग्नि केशी विषम् केशी बिभर्ति रोदसी' इत्यादि (ऋक् – १०, १३६, १)। इस कारण इस मंत्र में यदि मुनियों के वस्त्र इत्यादि की चर्चा मान ली जाय तो अनुपयुक्त न होगा। इसका अर्थ यदि इस प्रकार किया जाय कि 'जब देवगण प्रबल होकर गति करते हैं तब वायु का भोजन करनेवाले मुनि पीत वस्त्र पहने, माला धारण किए हुए अपनी इंद्रियों को अंतर्मुखी कर लेते हैं।')

ऐसा ज्ञात होता है कि यह शब्द मल नहीं मला है जिससे हिंदी का माला शब्द तथा संस्कृत का माल्य शब्द बना है[५८]। सेंट पीटरवर्ग के कोश में इसका अर्थ चमड़े का वस्त्र दिया है[५९]। जो भ्रामक ज्ञात होता है। इस कोश के निर्माता ने कदाचित् इस शब्द की उत्पत्ति 'म्ला' से की है जिसका अर्थ है चमड़े को सिझाना।

दूसरा शब्द निष्क हमें प्राप्त होता है जो ग्रीवा में धारण किया जाता था। मोनियर विलियम्स ने इसका अर्थ गले का आभूषण किया है तथा इसे बत्तीस रत्ती का दीनार भी कहा है[६०]। वैदिक इंडेक्स में यह गले का आभूषण है।

आ श्वैत्रेयस्य जन्तवो द्युमद्वर्धन्त कृष्टयः।
निष्कग्रीवो बृहदुक्थ एना मध्वा न वाजयुः॥

ऋक् — ५, १९, ३।

(स्तोत्रों के पाठ करनेवाले अन्नाभिलाषी गले में निष्क धारण किए हुए यजमान तथा ऋत्विज स्तोत्रों द्वारा अंतरिक्षावर्ती अग्नि के दीप्तिमान बल को बाँधते हैं।)

५७. ए० ए० मेकडानल ऐंड कीथ — वही, खंड २, पृ० १३० ।
५८. छांदो० उपनिषद् – ८, २, ६१; पंचविंश ब्राह्मण – १३, ४, ११ ।
५९. ए० ए० मेकडानल ऐंड कीथ – वही, खंड २, पृ० १३७ ।
६०. मोनियर विलियम्स – वही, पृ० ५०६ ।

एक दूसरे मंत्र में १०० निष्कों का विवरण प्राप्त होता है। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि १०० निष्कों की बनी माला कक्षिवान् ने असुर राजा से प्राप्त की।

शतम् राज्ञो नाधमानस्य निष्कांछतमश्वान् प्रयतान्त्सद्य आदम्।
शतम् कक्षिवाँ असुरस्य गोनाम् दिवि श्रवोऽजरमाततान॥

ऋक् — १, १२६, २।

(असुर राजा से कक्षिवान् ने १०० निष्क, १०० घोड़े तथा १०० बैल लिए, राजा की कीर्ति स्वर्ग में नित्य विस्तृत होगी।)

एक मंत्र में संकेत प्राप्त होता है कि रुद्र निष्क धारण करते हैं—

अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कम् यजतम् विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वम् न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति॥

ऋक्—२, ३३, १०।

(पूजनीय रुद्र तुम धनुर्बाणधारी हो। तुम नाना रूपोंवाले पूजनीय हो। तुमने निष्क धारण कर रखा है। तुम सारे संसार की रक्षा करते हो। तुमसे बली दूसरा कोई नहीं है।)

इन मंत्रों से ऐसा ज्ञात होता है कि निष्क की माला पुरुष धारण करते थे। यह सिक्कों को छेदकर तथा उन्हें पोहकर बनाई जाती थी। इस प्रकार की माला आज भी पहनी जाती है।

एक और आभूषण का नाम हिरण्य उर्वसी ऋग्वेद में मिलता है। इसे इंद्र ने धारण किया था—

त्वम् न इन्द्र वाजयुस्त्वम् गव्युः शतक्रतो। त्वम् हिरण्ययुर्वसो॥

ऋक्—७, ३१, ३।

(हे इंद्र तू हमको अन्न, ज्ञान, भूमि, सामर्थ्य, वाणी इत्यादि देनेवाला है। हे शतक्रतो, तू हिरण्य उर्वसी को धारण करनेवाला है।)

वक्षस्थल पर पहनने के हेतु एक आभूषण का नाम ऋग्वेद में 'रुक्म' प्राप्त होता है। वैदिक इंडेक्स के अनुसार यह सुवर्ण का बनता था।[६१] शतपथ के अनुसार यह गोल होता था तथा इसमें २१ घुंडियाँ लगी होती थीं[६२]—

६१. ए० ए० मेकडानल ऐंड कीथ—वही, खंड २, पृ० २२४।

६२. शतपथब्राह्मण—३, ५, १, २०; ५, ४, १, २१; ५, ५, ४, २७; ५, ४, १, १३।

द्यावो न स्तृभिश्चितयन्त खादिनो व्यभ्रिया न द्युतयन्त वृष्टयः ।
रुद्रो यद्वो मरुतो रुक्मवक्षसो वृषाजनि पृश्न्याः शुक्र ऊधनि ॥
ऋक्-२, ३४, २ ।

वक्ष पर रुक्म धारण किए मरुतो, तुम्हें रुद्र ने पृथ्वी के उदर से उत्पन्न किया है । इसलिये जैसे आकाश में नक्षत्र अपने तेज से सुशोभित होता है उसी प्रकार तुम अपने आभूषणों से सुशोभित हो । तुम शत्रुभक्षक तथा जल के प्रेरक हो । तुम मेघ में विद्युत की भाँति सुशोभित हो ।

अन्य मंत्र में भी मरुतों को 'रुक्मवक्षसी' कहा है ।[६३] एक दूसरे मंत्र में सेना के नायक को रुक्म पहनने का आदेश है ।

चित्रैरंजिभिर्वपुषे व्यंजते वक्षःसु रुक्माँ अधि येतिरे शुभे ।
अंसेष्वेषाम् नि मिमृक्षुर्ऋष्टयः साकम् जज्ञिरे स्वधया दिवो नरः ॥
ऋक्-१, ६४, ४ ।

(सेना के नायक अपने शरीर पर विविध रंग के आभूषण तथा वक्ष पर रुक्म पहने जिसमे उन्हें लोग नायक समझें तथा अपने कंधों पर शत्रुनाशक हथियार रखें । इस प्रकार वे पृथ्वी की विजय तथा पालन के हेतु प्रयाण करें ।)

रुक्म को अग्नि के समान चमकीला कहा है—

अग्निर्न ये भ्राजसा रुक्मवक्षसो वातासो न स्वयुजः सद्यऊतयः ।
प्रज्ञातारो न ज्येष्ठाः सुनीतयः सुशर्माणो न सोमा ऋतं यते ॥
ऋक्-१०, ७८, २ ।

(जो अग्नि के समान चमकदार रुक्म वक्ष पर धारण करते हैं वे प्रबल वायुओं के समान एकाग्रचित्त धन प्राप्त करने के हेतु उत्कृष्ट ज्ञानवाले, पूज्य, उत्तम व्यवहार को जाननेवाले, संपन्न, सौम्य गुणवाले सत्य मार्ग पर गमन करते हैं ।)

एक और शब्द अतका ऋग्वेद में मिलता है । वैदिक इंडेक्स में इसे पगड़ी कहा है परंतु यह वास्तव में पट्टा होना चाहिए जो जनेऊ की भाँति पहना जाता था । यह हिरण्य का बना रहता था ।

यदश्वान्धूर्षु पृषतीरयुग्ध्वम् हिरण्ययान् प्रत्यत्काँ अमुग्ध्वम् ।
विश्वा इत्स्पृधो मरुतो व्यस्यथ शुभम् यातामनु रथा अवृत्सत ॥
ऋक्-५, ५५, ६ ।

६३. ऋक्-२, ३४, ८; १०, ७८, २; ५, ५३, ४; ५, ५६, १ ।

(हे मरुतो जब तुम रथ के अग्रभाग में पृषद्वर्णवाली जोड़ियों को जोतते हो और अपने अपने हिरण्य के अतका को पहन लेते हो तो तुम लोग सब संग्रामों में विजय प्राप्त करते हो। इत्यादि)

मणियाँ

गले की मालाएँ मणियों की बनती थीं, जैसा पहले लिखा जा चुका है, जो मणि ग्रीवावाले मंत्र से स्पष्ट है (ऋक्–१, १२२, १४)। ये मणियाँ उस काल में रत्नों को छेदकर बनती थीं तथा उनकी माला बनती थी। जब इनको सुवर्ण की बनाते थे तो इन्हें हिरण्यमणि कहते थे।

चक्राणासः परिणहम् पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः।
न हिन्वानासस्तितिरुस्त इन्द्रम् परि स्पशो अदधात्सूर्येण॥
ऋक्—१, ३३, ८।

(पृथ्वी पर शासन करनेवाले सुवर्ण की मणियों (माला के रूप में) से शोभायमान होकर भी वृद्धि तथा वीरता को प्राप्त करके भी इंद्र के आगे नहीं बढ़ पाते। वह प्रतिस्पर्द्धा करनेवालों पर सूर्य के प्रखर तेज के समान शासन करता है।)

अथर्ववेद में मणि सर्वाबाधाविनिर्मुक्त करनेवाली कही गई है[६४]। मणि सूत्र में पोही जाती थी, ऐसा विवरण पंचविंश ब्राह्मण में मिलता है[६५]।

एक शब्द 'मना' ऋग्वेद में मिलता है। यहाँ यह 'सचामनाहिरण्या' कहा गया है[६६]। इससे हिटाईट मीना से अथवा लाटिन मीना से कोई संबंध नहीं ज्ञात होता। वे दोनों बटखरे थे। हिरण्य के बटखरों का होना संभव नहीं दिखाई देता। इस कारण इस शब्द का अर्थ बड़ी मणि किया जाय तो ठीक हो। इस प्रकार यह सुवर्ण की बड़ी मणि ही समझ में आती है। हिंदी का 'मनका' शब्द कदाचित् मना से ही बना है। कबीर कहते हैं — 'कर का मनका डार दे मन का मनका फेर।'

बाहु तथा मणिबंधों के आभूषण

आ नूनम् यातमश्विना रथेन सूर्यत्वचा।
भुजी हिरण्यपेशसा कवी गम्भीरचेतसा॥
ऋक्—८, ८, २।

६४. अथर्ववेद – १, २९, १; २, ४, १ - २ इत्यादि।

६५. पंचविंश ब्राह्मण – २०, १६, ६।

६६. मेकडानल ऐंड कीथ – खंड २ पृ०, १२८, १२९; ऋक् – ८, ७८, ९।

(हे अश्विनो आपकी कांति सूर्य के समान है। आप अपने वेगवान् रथ पर अवश्य आएँ। आप सुवर्ण के तारों से बना भुज धारण करते हैं। आप उत्तम, विद्वान्, दीर्घदर्शी गंभीर चित्तवाले हैं।)

एक शब्द खादि ऋग्वेद में कई स्थानों पर आया है। इसका अर्थ वैदिक इंडेक्स में कड़ा दिया है[६७]। मोनियर विलियम्स ने इसका अर्थ हाथ का कड़ा दिया है[६८], शांखायन श्रौतसूत्र में हमें हिरण्यखादि भी मिलता है[६९]। यदि इसका अर्थ केवल कड़ा किया जाय तो अच्छा हो क्योंकि जहाँ हाथ का कड़ा कहना था वहाँ खादिहस्त कहा गया है तथा जहाँ पैर के कड़े का संकेत करना था वहाँ पत्सुखादि कहा है[७०]। यह बाहु पर भी पहना जाता था जैसा अधोलिखित मंत्र से जान पड़ता है[७१] —

बाहु पर खादि

विश्वानि भद्रा मरुतो रथेषु वो मिथस्पृध्येव तविषाण्याहिता।
अंसेष्वा वः प्रपथेषु खादयोऽक्षोवश्चक्रा समया वि वावृते॥

ऋक् — १, १६६, ९।

(मरुतो! सारे कल्याणकारी पदार्थ तुम्हारे रथ पर रखे हुए हैं, तुम्हारे कंधों पर आयुध है, बाहुओं पर खादि है, तुम्हारे रथ के चक्र अक्ष पर घूमते हैं।)

एक दूसरे मंत्र में भी यही संकेत मिलता है। यहाँ सु रुक्माः कहा गया है —

अंसेष्वा मरुतः खादयो वो वक्षःसु रुक्मा उपशिश्रियाणाः।
वि विद्युतो न वृष्टिभी रुचाना अनुस्वधामायुधैर्यच्छमानाः॥

ऋक् — ७, ५६, १३।

(हे मरुतो, आपके कंधों पर खादि या आपके कंधे के पास बाहुओं पर खादि वक्षस्थल पर रुक्म शोभायमान है, वर्षाकाल में जैसे बिजली चमकती है वैसे ही आपके आयुध चमक रहे हैं, आप अपनी इस राष्ट्रभूमि को विजय करें।)

६७. मेकडानल एंड कीथ – वही, खंड १, पृ० २१९।
६८. मोनियर विलियम्स – वही, पृ० २७५।
६९. शांखायन श्रौतसूत्र – ३, ५, १२; ८, २३, ६।
७०. ऋक् – ५, ५४, ११।
७१. मैकडानल एंड कीथ – वही, खंड १ पृ० २१९।

मणिबंधों पर खादि

हाथ पर खादि का संकेत इस मंत्र में मिलता है—

सोमासो न ये सुतास्तृप्तांशवो हृत्सु पीतासो दुवसो नासते।
ऐषामंसेषु रम्भिणीव रारभेहस्तेषु खादिश्च कृतिश्च संदधे॥

ऋक्–", १६८, ३।

(सोमलता जैसे अभिषुत और पीत होकर हृदय के भीतर कार्य करती है वैसे ही ध्यान करने पर मरुद्गण भी करते हैं। उनको स्त्री की भाँति आयुत विशेष रूप से आलिंगन करता है, मरुद्गण हाथ में कड़े पहने हुए हैं।

एक अन्य मंत्र में भी खादि हाथ पर मिलता है—

त्वेषंगणं तवसं खादिहस्तं धुनिव्रतं मायिनं दातिवारम्।
मयोभुवो ये अमिता महित्वा वन्दस्व विप्र तुविराधसो नॄन्॥

ऋक्–५, ५८, २।

(हे होता, तुम दीप्तिमान बलशाली, वलयमंडित हस्तवाले, कंपनविधायक ज्ञानसंपन्न और धनदाता मरुतों की पूजा करो। ये सुखप्रदाता हैं। इनकी महिमा अमित है, ये अतुल ऐश्वर्यसंपन्न हैं इनकी वंदना करनी चाहिए।)

ऐसा ज्ञात होता है कि स्त्रियों की भाँति पुरुष भी हाथ में कड़ा पहनते थे।

एक और शब्द 'नर्य' प्राप्त होता है। यह अंगद के समान कोई बाहु का आभूषण था। ऐसा इस मंत्र से ज्ञात होता है—

भूरीणि भद्रा नर्येषु बाहुषु वक्षःसु रुक्मा रभसासो अंजयः।
अंसेष्वेताः पविषु क्षुरा अधि वयो न पक्षान्व्यनुश्रियो धिरे॥

ऋक्–१, १६६, १०।

(मनुष्यों के हितकारी मरुद्गण सुंदर भुजाओं पर नर्य धारण करते हैं, वक्ष पर रुक्म, कंधों पर श्वेत वर्ण की माला धारण करते हैं। वज्रसदृश आयुध धारण करते हैं जैसे पक्षि पक्ष धारण करते हैं वैसे ही मरुद्गण श्री धारण करते हैं।)

एक दूसरे मंत्र में भी यही संकेत मिलता है—

त्वमाविथ नर्यं तुर्वशं यदुं त्वं तुर्वीतिम् वय्यम् शतक्रतो।
त्वं रथमेतपं कृत्वे धने त्वम् पुरो नवितम् दम्भयो नव॥

ऋक्–१, ५४,६।

(हे इंद्र, तू शत्रुओं को नाश करने में समर्थ है, तू नर्य धारण करता है। तू यत्नशील है, शत्रुओं के मारने की कला में कुशल है। कांतिमय तेजस्वी रथों

पर चढ़ता है। रथारोही और घुड़सवारों की रक्षा कर तथा शत्रुओं के ६६ पुरों का विनाश कर।)

अँगूठी

ऋग्वेदकाल के आर्य अँगूठी पहनते थे जैसा कि इस मंत्र से संकेत मिलता है—

हिरण्यपाणिमूतये सवितारमुप ह्वये। स चेत्ता देवता पदम्॥

ऋक्–१, २२, ५।

(सविता का जो सब जगत् के उत्पादक हैं, जो पाणि में सुवर्ण धारण करते हैं, मैं सदा स्मरण करता रहूँ। वे ही साक्षात् सब पदार्थों को देनेवाले हैं।)

एक और मंत्र में भी सविता को हिरण्यपाणि कहा है—

हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभेद्यावा पृथिवी अन्तरीयते।
अपामीवाम् बाधते वेति सूर्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति॥

ऋक्–१, ३५, ६।

(हिरण्यपाणि सविता विशेष रूप से समस्त लोकों का आकर्षण करता है यह आकाश तथा पृथ्वी दोनो के बीच गमन करता है। रोगादि पीड़ाओं को दूर करता है, प्रकाशसमूह का उत्पादन करता है, अंधकार का नाश करता है तथा पृथ्वी और आकाश को प्रकाश से भर देता है।)

अँगूठी के हेतु एक विशेष शब्द प्राप्त होता है—

उत त्ये मा मारुताश्वस्य शोणाः क्रत्वामघासो विदथस्यरातौ।
सहस्रा मे च्यवतानो ददान आनूकमर्यो वपुषे नार्चत्॥

ऋक्–५, ३३, ६।

(मरुताश्व के पुत्र विदथ ने हमारे लिये जिन रक्त वर्ण और श्रेष्ठ अश्वों को प्रदान किया था वे हमें वहन करें। उन्होंने हमको सहस्र धन दिया है तथा अपने शरीर से उतार कर अँगूठी भी दी है।)

यह अनूक कैसा होता था इसका पता नहीं। हड़प्पा में अवश्य एक स्त्री के बीच की अंगुली पर एक अँगूठी प्राप्त हुई है।[७२]

कटि के आभूषण

कटि पर निमोचनी, वरुणपाश तथा हिरण्यवर्तनी पहनी जाती थी, ऐसा संकेत मिलता है।

७२. ह्वीलर मार्टिमर– हड़प्पा–एनशयंट इंडिया।

निर्मोचनी का अर्थ मोनियर विलियम्स ने करधनी किया है।[७३] यह शब्द ववाह के मंत्रों में प्राप्त होता है। आधुनिक संस्कृत में इसी प्रकार का शब्द नीवीबंध प्राप्त होता है।

रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी।
सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृतम्॥
ऋक्–१०, ८५, ६।

(विद्वानों की शिक्षा विवाह के अनंतर देने योग्य हो, मनुष्यों की स्तुति वधू के लिये नारी को सुपथ पर रखने की करधनी हो। उषा के समान नव कांतियुक्त वधू का वस्त्र खूब सुंदर तथा सुखप्रद हो)। वरुणपाश कदाचित् मूँज की करधनी होती थी जैसी आज भी यजमानपत्नी को श्रौतयज्ञों में पहनाई जाती है।

प्र त्वा मुंचामि वरुणस्य पाशाद्येन त्वाबध्नात्सविता सुशेवः।
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि॥
ऋक्–१०, ८५, २४।

(हे वधू, जिस पाश से तेरे उत्पादक पिता ने तुझे बाँधा था, उस वरुणपाश से मैं तुझे छुड़ाता हूँ। मैं तुझे यज्ञ और वेद तथा शुभ कर्माचरण के हेतु गृहस्थाश्रम में पति के गृह में पति के साथ स्थापित करता हूँ।)

एक मंत्र में रुद्रा को हिरण्यवर्तनी कहा है जिससे ऐसा ज्ञात होता है कि यह शब्द हिरण्य की करधनी के हेतु प्रयुक्त होता था।[७४]

आ नो रत्नानि बिभ्रतावश्विना गच्छतं युवम्।
रुद्रा हिरण्यवर्तनी जुषाणा वाजिनीवसू माध्वी मम श्रुतं हवम्॥
ऋक्–५ ७५, ३।

(हे अश्विनीद्वय तुम हमारे लिये रत्न लाओ। हे हिरण्यवर्तनी रुद्रा, अन्न, धन देनेवाली मधु विद्याविशारद हमारे आवाहन को सुनो। इत्यादि)

पद के आभूषण

पैर के गहनों में खादि शब्द का पुनः प्रयोग हुआ है। यह शब्द हिंदी में खड़ुआ के रूप में आज भी सुरक्षित है। इसका आकार संभवतः कड़े का रहा होगा।

७३. मोनियर विलियम्स—वही, पृ० ५७३।
७४. ऋक्–५, ७५, २; ८, ८, १ इत्यादि।

अंसेषु व ऋष्टयः पत्सु खादयो वक्षःसु रुक्मा मरुतो रथे शुभः।
अग्निभ्राजसो विद्युतो गभस्त्योः शिप्राः शीर्षसु वितता हिरण्ययीः॥
ऋक् – ५, ५४, ११।

यहाँ 'पत्सु खादयो' कहकर पैर के कड़े का संकेत किया गया है। खादि का एक विशेषण वृष दूसरे मंत्र में मिलता है। वृष खादि मरुतों के संबंध में व्यवहृत हुआ है। मैक्समूलर ने इसका अर्थ मोटा कड़ा किया है[७५]। यह अनुमान होता है कि यह पैर का मोटा कड़ा होगा।

विश्ववेदसो रयिभिः समोकसः संमिश्लासस्त विषीभिर्विरप्शिनः।
अस्तार इषुं दधिरे गभस्त्योरनन्त शुष्मा वृषखादयो नरः॥
ऋक् – १, ६४, १०।

(हे विश्ववेदस, आप ऐश्वर्य से पूर्ण हैं अच्छे स्थान में सदैव रहते हैं, संमिलित सेना के स्वामी हैं, गुणों और कार्यों में आपका महत्व है, अस्त्रों के चलानेवाले हैं, मोटे कड़े पहनते हैं, आप वीर हैं, अनंत बल से युक्त हैं।)

इस प्रकार के कड़े हमें मोहनजोदड़ो की मृण्मय मूर्तियों के पैरों में दिखाई देते हैं[७६]।

एक और शब्द हिरण्यपावा हमें ऋग्वेद में प्राप्त होता है कदाचित् यह पायजेब का कोई प्राचीन रूप हो —

अंजते व्यंजते समंजते क्रतुम् रिहन्ति मधुनाभ्यंजते।
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणम् हिरण्यपावाः पशुमासु गृभ्णते॥
ऋक् — ६, ८६, ४३।

(ऋत्विक् गोदुग्ध में सोम को मिलाते हैं, विविध भाँति से मिलाते हैं, भली भाँति मिलाते हैं, देवता सोम का आस्वादन करते हैं। जिस समय रस ऊपर उठता है सोम नीचे गिरता है। जैसे पशु को लोग जल में स्नान कराने ले जाते हैं उसी प्रकार सुवर्ण का आभूषण पैर में धारण किए हुए ऋत्विक् सोम को जल में ले जाते हैं)।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऋग्वेदकाल में स्त्री तथा पुरुष, दोनो आभूषण धारण करते थे। ये आभूषण प्रायः सुवर्ण के होते थे।

७५. मैक्समूलर – सेक्रेड बुक्स आव् दी ईस्ट, नं० ३२ पृ० १०७, ११०।
७६. मैके – वही, प्लेट ७६, ५; मार्शल – वही, ९५, २६ - २७।

चाँदी के हेतु कोई स्पष्ट शब्द ऋग्वेद में नहीं प्राप्त होता। कदाचित् वैदिक आर्यों को मिश्र के निवासियों की भाँति इस धातु का उस समय तक ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ जब तक इनका सिंधुघाटी के आदिवासियों से संबंध स्थापित नहीं हो गया।

आभूषणों के जो थोड़े से नाम आर्यों के इस प्राचीनतम ग्रंथ में प्राप्त होते है उनके स्वरूप स्पष्ट नहीं होते। केवल हिरण्य शब्द विशेषण के रूप में प्राप्त होता है या खादि के संबंध में हस्तखादि इत्यादि मिलता है। यह कहना कठिन है कि ये नाम उन आभूषणों के हैं जो हमें मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा, चान्हूदाड़ो इत्यादि नगरों से मिले हैं क्योंकि ये बस्तियाँ आर्यों की ज्ञात नहीं होतीं। पिगटके अनुसार तो आर्यों ने इन बस्तियों को नष्ट किया[७७]। इस कारण भी ये नाम उन आभूषणों के कदाचित् न हों।

७७. पिगट – प्री हिस्टारिक इंडिया, पृ० २५८ - ५९।

दीपशिखा की भूमिका

नगेंद्र

दीपशिखा महादेवी जी की पाँचवीं काव्यकृति है। इससे पूर्व उनकी चार रचनाएँ क्रमशः नीहार, रश्मि, नीरजा और सांध्यगीत नाम से प्रकाशित हो चुकी थीं। नीहार में महादेवी का किशोर कवि एक प्रकार से अपरिचित काव्यलोक में प्रवेश करता है, अतः वहाँ परिचायकरूप में कविसम्राट अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध की अत्यत संक्षिप्त भूमिका है। रश्मि में दर्शन के अध्ययन के प्रभाव से कवि में थोड़ा आत्मविश्वास आता है और 'अपनी बात' नाम से एक छोटी सी भूमिका के दर्शन पहली बार होते हैं। नीरजा का परिचय फिर रायकृष्णदास जी के शब्दों में दिया गया है, किंतु 'सांध्यगीत' के आरंभ में कवि की अपनी भूमिका है जिसमें स्थिर रूप से काव्य से संबद्ध कतिपय मौलिक प्रश्नों का विवेचन किया गया है। दीपशिखा की भूमिका का कलेवर इन सबकी अपेक्षा कहीं व्यापक और उसका स्वर कहीं अधिक आश्वस्त है। यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि को उत्तेजित कर दिया गया है। इस उत्तेजना की पृष्ठभूमि भी स्पष्ट ही है। उन दिनों प्रगतिवाद का आंदोलन जोर पकड़ रहा था और यह जोर रचनात्मक कम, ध्वंसात्मक अधिक था। प्रगतिवाद के पक्षधर आलोचक पूर्ववर्ती काव्यमूल्यों की भस्म पर नवीन सामाजिक मूल्यों का आरोपण करने में प्रयत्नशील थे और उनका सीधा प्रहार था छायावाद पर जिसकी प्रतिक्रिया में प्रगतिवाद का जन्म हो रहा था। कुछ कवि और आलोचक इस कोलाहल में कच्चे पड़ने लग गए थे। छायावाद के प्रबल समर्थक 'प्रगतिवाद को कवि के चारित्र्य की कसौटी' मानने पर आमादा हो गए थे। उस वातावरण में दीपशिखा का और उससे भी अधिक दीपशिखा की भूमिका का प्रकाशन अत्यंत महत्वपूर्ण और सामयिक घटना थी।

इस भूमिका में कवयित्री ने काव्य से संबद्ध अनेक मौलिक प्रश्न उठाए हैं। उदाहरण के लिये — सत्य का स्वरूप, काव्य और सत्य, सौंदर्य का स्वरूप, काव्य और उपयोगिता, ललित और उपयोगी कलाओं का भेद और उसकी निरर्थकता,

आदर्श एवं यथार्थ की परिभाषा और दोनों का अन्योन्याश्रित संबंध, रहस्यानुभूति और आधुनिक काव्य में उसकी स्थिति, छायावाद और अंत में प्रगतिवाद जिसके लिये इस नवीन और राजनीतिक नामकरण को छोड़ अपेक्षाकृत व्यापक शब्द यथार्थवाद का प्रयोग किया गया है। भूमिका का चतुर्थ एवं अंतिम खंड दीपशिखा की कविता के साथ प्रत्यक्ष रूप से संबद्ध है। यहाँ कवि ने गीत की परिभाषा और स्वरूप, गीत के दो प्रमुख भेद — रहस्यगीत और सगुणगीत, दीपशिखा में गीत और चित्रकला का योग, इन दोनों के लिये प्रयुक्त प्रकृति के उपकरण आदि पर संक्षिप्त किंतु मार्मिक वक्तव्य दिए हैं। इस विवेचन के अंत में यह भी संकेत किया गया है कि कवि का अपना जीवन एकांत काव्यसाधना का जीवन नहीं है — उसके 'कर्मक्षेत्र की विविधता भी सारवती नहीं है'; उसने आज के 'उपेक्षित संसार में भी बहुत कुछ भव्य पाया है अन्यथा सभ्य समाज से इतनी दूरी असह्य हो जाती।'

सत्य मूलतः अखंड अतः असीम है, किंतु जब वह व्यक्ति की चेतना का विषय बनता है तो उसके लिये एक विशेष सीमा में आना अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार सत्य की यह दोहरी स्थिति सहज स्वाभाविक है। वास्तव में इस दोहरी स्थिति में ही वह हमारे सामने आता है। भावक्षेत्र और ज्ञानक्षेत्र पृथ्वी के उन दो गोलार्धों के समान हैं जो मिलकर सत्य की इस चेतना को पूर्णता प्रदान करते हैं। व्यक्ति का सत्य राग और बुद्धि के इन दो अर्धवृत्तों मे अनिवार्यतः घिरा रहता है। इनमें राग अथवा अनुभूति की प्रवृत्ति गहराई की ओर है और बुद्धि की विस्तार की ओर; जीवन का सत्य इन्हीं दोनों में परिवेष्ठित रहता है। असीम सत्य को व्यक्ति की सीमित चेतना में प्राप्त करना — अखंड को खंड में सिद्ध कर लेना मानवचेतना के लिये जितना दुष्कर है उतना ही अनिवार्य भी। मानवचेतना ने सत्य की इस सिद्धि के लिये जितने माध्यमों का अनुसंधान किया है, काव्य या कला उनमें सबसे सफल माध्यम है। इसी लिये महादेवी का मत है कि सत्य काव्य का साध्य और सौंदर्य साधन है। सौंदर्य बाह्य रेखाओं और रंगों का सामंजस्य मात्र नहीं है — 'सत्य की प्राप्ति के लिये काव्य और कलाएँ जिस सौंदर्य का सहारा लेते हैं वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आश्रित है।' सौंदर्य वस्तुतः विकास के लिये अपेक्षित जीवन के प्रत्येक स्पर्श का पर्याय है। उसकी परिधि से छोटा, बड़ा, लघु, गुरु, सुंदर, विरूप, आकर्षक, भयानक, कुछ भी बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। उसके भीतर बहिर्जगत् और अंतर्जगत् दोनों का वैविध्य समंजित है। इस प्रकार महादेवी के अनुसार उपर्युक्त संदर्भ में कला सौंदर्य के माध्यम से सत्य की अभिव्यक्ति का नाम है।

उपयोगी और ललित कलाओं के रूप में कला का वर्गीकरण महादेवी जी को स्वीकार्य नहीं है—इस प्रकार का वर्गीकरण अत्यंत स्थूल है क्योंकि तत्वदृष्टि से उपयोगिता और लालित्य अथवा सौंदर्य में कोई मौलिक भेद नहीं रह जाता।

स्थूलद्रष्टा आलोचकों ने उपयोगिता का अर्थ जीवन की बहिरंग आवश्यकताओं की पूर्ति तक ही सीमित कर सौंदर्य से उसका भेद कर दिया है। किंतु यह भेद मिथ्या है। उपयोगिता के स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक असंख्य रूप हो सकते हैं और ये सूक्ष्मतर रूप ही वास्तव में सौंदर्य के प्रर्याय बन जाते हैं। इसी प्रकार सौंदर्य की भी अपनी विशेष उपयोगिता है जो जीवन की आंतरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। काव्य और ललित कलाओं का उपयोग उस उन्नत रागात्मक भूमिका पर स्थित होता है जो साधारणीकृत होने के कारण सहज रमणीय या सुंदर होती है। इसी परिप्रेक्ष्य में कवि ने काव्यगत नैतिक मूल्यों की भी व्याख्या की है — 'काव्य में नैतिकता का अर्थ विधिनिषेध नहीं है। जीवन को गति देने के दो ही प्रकार हैं – एक तो बाह्यानुशासनों का सहारा देकर उसे चलाना और दूसरे अंतर्जगत् में ऐसी स्फूर्ति पैदा कर देना जिससे सामंजस्यपूर्ण गतिशीलता अनिवार्य हो उठे'। काव्यगत नैतिक मूल्य दूसरे प्रकार के अंतर्गत ही आते हैं — अर्थात् काव्य के क्षेत्र में नैतिकता उन मूल्यों का नाम है जो जीवन के सामंजस्यपूर्ण विकास में सहायक होते हैं और चूँकि सामंजस्य ही सौंदर्य का भी आधारतत्व है इसलिये नीतिगत मूल्यों में और सौंदर्यगत मूल्यों में कोई तात्विक भेद नहीं रह जाता।

इसी प्रकार पूर्वोक्त अन्य विषयों का भी महादेवी ने गंभीर चिंतन किया है। अनुभूत होने के कारण उनके विचारों में एक विशेष प्रकार की मार्मिकता और विश्वास की दीप्ति आ गई है। इसलिये हिंदी आलोचना के क्षेत्र में उनके अनेक वाक्य सूत्र बनकर प्रचलित हो गए हैं जैसे — 'बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखंडता का भावन किया, हृदय की भावभूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौंदर्यसत्ता की रहस्यमयी अनुभूति प्राप्त की और दोनों को मिलाकर एक एक ऐसी काव्यसृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद आदि अनेक नामों का भार सँभाल सकी'।...'साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुखदुःखात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।'

प्रस्तुत प्रसंग में महादेवी की इन सभी मान्यताओं की समीक्षा करने का अवकाश नहीं है। इसलिये मैं केवल एक ऐसे प्रश्न को ही लेता हूँ जो अधिक ज्वलंत है और जिसका महादेवी के काव्य से प्रत्यक्ष संबंध है। यह है आधुनिक काव्य में रहस्यानुभूति का प्रश्न। बौद्धिकता के इस युग में छायावाद के कवि ने जब अपनी कविताओं में परोक्ष आलंबन के प्रति प्रणयनिवेदन का आग्रह किया तो अनेक आलोचकों ने उनकी अनुभूति की सत्यता पर संदेह किया। महादेवी ने प्रस्तुत भूमिका में अपने पक्ष में अनेक तर्क दिए हैं; १ – प्रत्येक सामंजस्य अथवा सौंदर्य की

अनुभूति ही अपने मूल में रहस्यानुभूति होती है। २ – अपनी अपूर्णताओं को किसी पूर्ण आदर्श की कल्पना में समर्पित करने की लालसा मानव में जन्मजात है। उन्हीं के शब्दों में 'स्वभाव से मनुष्य अपूर्ण भी है और अपनी अपूर्णता के प्रति सजग भी। अतः किसी उच्चतम आदर्श, भव्यतम सौंदर्य या पूर्ण व्यक्तित्व के प्रति आत्मसमर्पण द्वारा पूर्णता की इच्छा स्वाभाविक हो जाती है'। ३ – यह आत्मसमर्पण किसी न किसी प्रकार के रागात्मक संबंध की ओर इंगित करता है और रागात्मक संबंधों में भी केवल माधुर्यभाव के द्वारा ही पूर्ण के साथ अपूर्ण का एकांत तादात्म्य संभव हो सकता है। इस प्रकार से परोक्ष या रहस्यमय आलंबन के प्रति प्रणयनिवेदन मानवहृदय की एक सहज प्रवृत्ति और प्रायः एक सहज आवश्यकता भी हो जाती है। ४ – प्राचीन काव्य का इतिहास भी इस प्रकार की रहस्यानुभूति को सिद्ध करता है। कवि के अपने शब्दों में ही — 'अखंड और व्यापक चेतन के प्रति कवि का आत्मसमर्पण संभव है या नहीं — इसका जो उत्तर अनेक युगों से रहस्यात्मक कृतियाँ देती आ रही हैं वही पर्याप्त होना चाहिए'।...'प्रकृति के अस्तव्यस्त सौंदर्य में रूपप्रतिष्ठा, बिखरे रूपों में गुणप्रतिष्ठा, फिर इनकी समष्टि में एक व्यापक चेतन की प्रतिष्ठा और अंत में रहस्यानुभूति का जैसा क्रमबद्ध इतिहास हमारा प्राचीनतम काव्य देता है वैसा अन्यत्र मिलना कठिन होगा'।

इसमें संदेह नहीं कि ये तर्क अपने आप में बड़े प्रबल हैं और वास्तव में आधुनिक बुद्धिजीवी कवि की रहस्यानुभूति के पक्ष में कल्पना और वैदग्ध्य जितने भी उपकरण एकत्र कर सकते थे वे सब यहाँ उपस्थित हैं। किंतु हमारा विनम्र निवेदन है कि इन तर्कों में कल्पना की रमणीयता अधिक है। इनसे न प्रश्नकर्ता की बुद्धि ही निरुत्तर होती है और न उसका हृदय ही इन पर प्रत्यय कर पाता है। बुद्धि उत्तर देती है कि आपने जो कुछ कहा अर्थात् उच्चतम आदर्श, भव्यतम सौंदर्य या पूर्ण व्यक्तित्व और उसके प्रति माधुर्यमूलक आत्मसमर्पण, यह सब तो कल्पना का चमत्कार है। इन सबकी कल्पना पर किसी को आपत्ति नहीं है। प्रश्न यह है कि इस प्रकार के काव्य का मूलाधार रहस्यप्रणय की अनुभूति है या उसकी कल्पना? यदि कल्पना है तब तो वैमत्य का प्रश्न ही नहीं उठता, किंतु यदि रहस्यप्रणय की अनुभूति का आग्रह है तो वह पूर्वोक्त तर्कों से सिद्ध नहीं होती। अतः छायावादी काव्य में अभिव्यक्त रहस्यानुभूति की व्याख्या के दो मार्ग हैं — एक पार्थिव से अपार्थिव की ओर जाता है अर्थात् पार्थिव प्रणयभावना के उन्नयन की ओर इंगित करता है और दूसरा जैसा कि महादेवी जी मानती हैं अपार्थिव रहस्यानुभूति को लौकिक प्रणयप्रतीकों के माध्यम से व्यक्त करता है अर्थात् अपार्थिव से पार्थिव की ओर आता है। महादेवी की मान्यता को स्वीकार कर लेने से एक बड़ा अहित यह होता है कि छायावाद की, विशेषकर उनके काव्य की प्रेरकशक्ति 'अनुभूति' न होकर 'अनुभूति की कल्पना' मात्र

रह जाती है और प्रकारांतर से छायावाद का समर्थक उसके आलोचकों के आक्षेप के सामने सिर झुका देता है।

किंतु यह तो एक प्रसंग मात्र है और इसके विषय में भी अंतिम निर्णय देना संभव नहीं। हिंदी आलोचना के विकास में इस भूमिका का महत्व अक्षय है। इससे छायावादी काव्यदृष्टि अनाविल हुई, उसके संबंध में प्रचारित अनेक भ्रांतियों का निराकरण हुआ, शाश्वत काव्यमूल्यों की पुनःप्रतिष्ठा हुई और हिंदी में सौष्ठववादी आलोचना का पथ प्रशस्त हुआ।

*

कालिदासहजारा

किशोरीलाल गुप्त

कालिदास त्रिवेदी

हजारा के संकलयिता कालिदास त्रिवेदी के संबंध में शिवसिंहसरोज में निम्नांकित विवरण दिया गया है —

'कालिदास तिरवेदी बनपुरा अंतरवेदी के निवासी १७४९ ए कवि अंतरवेदि में बड़े नामी गिरामी हुए हैं। प्रथम औरंगजेब बादशाह के साथ गोलकुंडा इत्यादि दक्षिण के देशों में बहुत दिन तक रहे। तेहि पीछे राजा जोगाजीत सिंह रघुवंशी महाराजै जंबू के इहां रहे औ उन्हीं के नाम बधूविनोद नाम ग्रंथ महा अद्भुत बनाया और एक ग्रंथ कालिदासहजारा नाम संग्रह बनाया जिसमें संवत् १४८० से लेकर अपने समय तक अर्थात् संवत् १७७५ तक के कवि लोगों के एक हजार कबित्त २१२ कवि लोगों के लिखे हैं। हमको इस ग्रंथ के बनाने में कालिदास के हजारा से बड़ी सहायता मिली है और एक ग्रंथ और जंजीराबंद नाम महाविचित्र इन्हीं महाराज का हमारे पुस्तकालय में है। इनके पुत्र उदयनाथ कविंद औ पौत्र कवि दूलह बड़े महान् कवि हुए हैं।'

कालिदास त्रिवेदी की रचनाएँ

कालिदास त्रिवेदी की रचनाएँ दो प्रकार की हैं – १. मौलिक, २. संकलित। इनकी मौलिक रचनाएँ दो हैं – १. वधूविनोद, २. जंजीरा। संकलित रचना एक है जो 'कालिदासहजारा' नाम से प्रख्यात है।

वधूविनोद – इसमें राधाकृष्ण का प्रेम ललिता सखी द्वारा वर्णन किया गया है। ललिता सखी ने दूती का कार्य किया है। यह एक प्रकार से नायिकाभेद - संबंधी ग्रंथ है। सभा की खोज में इसकी अनेक प्रतियाँ मिली हैं।[1]

1. (क) राधामाधव मिलन बुधविनोद – १९०१।६८।
   (ख) 'वधूविनोद' या 'वार वधूविनोद' – १९०६।१७८ बी, १९२०।७५, १९२३।२०० ए, बी, सी, १९४१।४७६, पंजाब रिपोर्ट १९२२।५२।

यह ग्रंथ स्वतंत्र रूप से अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। बहुत पहले स्व० पंडित कृष्णबिहारी मिश्र ने स्वसंपादित 'साहित्य समालोचक' के एक अंक में इस ग्रंथ को पूरा का पूरा प्रकाशित कर दिया था।

कालिदास के आश्रयदाता – यह ग्रंथ जंबूनरेश जोगाजीत के लिये लिखा गया था —

जोगाजीत गुनीन को दीन्हों बहु बिधि दान।
'कालिदास' ताते कियो ग्रंथपंथ अनुमान ॥

कवि ने ग्रंथारंभ में अपने आश्रयदाता जोगाजीत एवं उनके वंश का वर्णन किया है। वह कहता है कि इस रसकथा को सुनने योग्य जोगाजीत हैं —

है सुनिबे के जोग जग जालिम जोगाजीत।
जाके आगे होत ही साहि भयो भयभीत ॥

जोगाजीत की प्रशस्ति —

भयभीत दुर्जन रहत है कर गहत को समसेर है।
कर खर्ग जालिम के जगै जिमि जयत जग जमसेर है ॥
जस जोति जोगाजीत लीन्हौं रच्यौ सुरपुर भगर है।
परसिद्ध जंबूदीप कीन्हौं थान जंबू नगर है ॥

जोगाजीत की राजधानी जंबू नगर का वर्णन —

नगर सु जंबू दीप में जंबू एक अनूप।
तरे बहै तिपदा नदी त्रिपथगामिनी रूप ॥

यह जंबू किसी त्रिपदा नदी के किनारे स्थित था। इस जंबू नगर और त्रिपदा नदी की, अख्याति के कारण, कोई अभिज्ञता हिंदीसंसार को नहीं। यह स्थल संभवतः बैसवाड़े में कहीं हो। यह प्रसिद्ध कश्मीरवाला जंबू तो हो नहीं सकता।

जोगाजीत के पूर्वज – जोगाजीत के पूर्वजों का नामोल्लेख करनेवाले छंद खोज रिपोर्टों में उद्धृत नहीं हैं, पर सरोज में हैं —

(छप्पय)

मालदेव महिपाल प्रथम पुनि रामसिंह हुव।
जैतसिंह समरत्थ हत्थ किय बहुरि सकल भुव।
माधवसिंह प्रसिद्ध भयो जग रामसिंह पुनि।
पुनि प्रचंड गोपालसिंह सुव हरीसिंह पुनि।

गोकुलदास नरिंद मनि तनय सु लक्ष्मीसिंह हुव।
रघुबंस अंस पूरन बखत वृत्तिसिंह जिमि धरनि धुव॥

(दोहा)

वृत्तिसिंह जिमि धरनि धुव जाते अरि भयभीत।
जाहिर भयो जहान में ताको जोगाजीत॥

खोज रिपोर्ट १६०२।७५ में इसी ग्रंथ के आधार पर जोगाजीत की यह वंशावली दी गई है, जो सरोज से ऊपर उद्धृत छंदों के पूर्ण मेल में है —

मालदेव - रामसिंह - जैतसिंह - माधवसिंह - जगरामसिंह (? रामसिंह) गोपालसिंह - बदरीसिंह (? हरीसिंह) गोकुलदास - लखमीसिंह (लक्ष्मीसिंह) वृत्तिसिंह - जोगाजीत ।]

खोज में प्राप्त सभी प्रतियों में एक सी पुष्पिका है —

इति श्री जंबू महीपकुमार कुलतिलक श्री वृत्यसिंहनंदन जोगाजीत मनोविनोदार्थ कवि कालिदास कृत वधूविनोदाख्य काव्य संपूर्णम्।

इस पुष्पिका में ग्रंथकर्ता कालिदास, उनके आश्रयदाता जोगाजीत, एवं जोगाजीत के पिता वृत्यसिंह तथा उनकी राजधानी जंबू का उल्लेख हुआ है।

वधूविनोद का रचनाकाल — शिवसिंहसरोज में वधूविनोद का रचनाकालसूचक यह छंद दिया गया है —

संवत सत्रह सै उनचास। कालिदास किय ग्रंथ विलास॥
वृत्तिसिंहनंदन उद्दाम। जोगाजीत नृपति के नाम॥

इस छंद से स्पष्ट है कि यह ग्रंथ संवत् १७४९ में रचा गया। सरोज में कालिदास त्रिवेदी का यही समय दिया गया है। स्पष्ट है कि सरोज में उपस्थितिकाल दिया गया है, न कि उत्पत्तिकाल। खोज में इस ग्रंथ की जितनी प्रतियाँ प्राप्त हैं, उनमें किसी में भी यह छंद नहीं है। 'साहित्य समालोचक' में प्रकाशित वधूविनोद में भी यह छंद नहीं है। काँथा की पहली यात्रा (नवंबर ५९) में मैंने सेंगरजी के वंशजों के पास इस ग्रंथ का जो हस्तलेख देखा, उसमें यह छंद है, पर यहाँ भी यह पुष्पिका के पश्चात् दिया गया है। स्पष्ट है, यह छंद कालिदास का लिखा हुआ नहीं है, किसी जानकार ने अपनी ओर से इसे बाद में रचकर जोड़ दिया है। ऐसी स्थिति में यह रचनाकाल बहुत प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता।

ग्रंथ का वास्तविक नाम — कालिदास के इस ग्रंथ के तीन नाम मिलते हैं। सामान्यतया यह 'वधूविनोद' के नाम से प्रख्यात है और अधिकतर लोगों ने इसका

यही नाम स्वीकार किया है। मिश्रबंधुओं ने इसका नाम 'वारवधूविनोद' दिया है। १६०१ वाली रिपोर्ट (संख्या ६८) में इसका नाम 'राधा माधव मिलन बुध विनोद' दिया गया है। मूलतः यह ग्रंथ नायिकाभेद का है। इसमें सभी प्रकार की नायिकाएँ हैं, केवल वारवधुएँ नहीं। हाँ, इसमें उचित अवसर पर वारवधू या गणिका का भी वर्णन है, पर वह दाल में नमक के बराबर है। अतः ग्रंथ का नाम वधूविनोद है, न कि 'वारवधूविनोद'। १६०१ वाली रिपोर्ट में जो नाम दिया गया है, वह वर्णनप्रधान है और उसमें लेखनदोष से 'वधू' का 'बुध' हो गया है, ऐसा १६२० वाली रिपोर्ट के निरीक्षक रायबहादुर हीरालाल जी का अभिमत है। वे इसका वास्तविक नाम 'वधुविनोद' ही मानते हैं। उनका यह भी कहना है कि 'बुध विनोद' नाम विषयानुकूल नहीं है।

कालिदास त्रिवेदी और महाकवि की एकता – शिवसिंहसरोज में महाकवि नाम के एक कवि स्वीकृत हैं। इनके विवरण में इनका केवल समय सं० १७८० दिया गया है, कोई अन्य बात नहीं। इनकी कविता के उदाहरण में निम्नांकित छंद उद्धृत है—

> राधिका माधवै एक ही सेज पै धाइ लै सोई सुभाइ सलोने।
> पारे 'महाकवि' कान्ह के मध्य में राधे कहै यह बात न होने।
> साँवरे सों मिलि ह्वै है न साँवरी बावरी बात सिखाई है कौने।
> सोने को रंग कसौटी लगै पै कसौटी को रंग लगै नहिं सोने॥
> —शिवसिंहसरोज, पृ० २५०।

स्व० पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने अपने मासिक 'साहित्य समालोचक' में बहुत पहले 'कालिदास' और 'महाकवि' की अभिन्नता प्रतिपादित कर दी थी। यह लेख मेरे देखने में नहीं आया। अतः उनके तर्कों की अवतारणा न तो मेरे लिये संभव है और न आवश्यक ही। उक्त छंद 'वधूविनोद' ग्रंथ का है और खोज रिपोर्ट (१६२७।२०० बी) में यह उक्त ग्रंथ के अंतिम भाग के उद्धरण में उद्धृत है। ग्रंथ के अंतिम प्रकरण 'राधामाधव मिलन' का २३वाँ छंद है। स्पष्ट ही 'महाकवि' कालिदास से अभिन्न है। इसके लिये यह एक प्रमाण पर्याप्त है। सरोज में 'महाकवि' का जो समय सं० १७८० दिया गया है, वह कालिदास के समय सं० १७४६ के मेल में है। दोनो कवि के रचनाकाल हैं।

जंजीराबंद – कालिदास की एक छोटी रचना है। इसमें कुल ३२ कवित्त-सवैये हैं। यह ग्रंथ श्री वेंकटेश्वर प्रेस बंबई से प्रकाशित हो चुका है। पहले इसका मूल्य एक आना था, अब दस नया पैसा है। यह ग्रंथ सभा की खोज में भी मिला

है (१९०४।५, १९०६।१७८ ए, १९२३।२०० डी)। इसमें राधाकृष्ण की केलि का वर्णन है। एक छंद जिन शब्दों से समाप्त होता है, उन्हीं शब्दों को लेकर दूसरा छंद प्रारंभ होता है। इस प्रकार एक छंद दूसरे से शब्दों की जंजीर में शृंखलाबद्ध हो गया है। बत्तीसवें छंद के अंतिम शब्द यदि प्रथम छंद के प्रारंभिक शब्द होते तो यह और भी सुशृंखल हो जाता। इस कारण ही इस ग्रंथ का नाम 'जंजीराबंद' है, संक्षेप में 'जंजीरा' भी। यह न तो किसी आश्रयदाता के लिये लिखा गया है और न इसमें इसका रचनाकाल ही दिया गया है।

कालिदास हजारा

हजारा का महत्व – कालिदास हजारा 'शिवसिंहसरोज' के प्रमुख आधार-ग्रंथों में से एक है। शिवसिंह ने सरोज में ८६ कवियों के परिचय में कहा है कि इनके कवित्त हजारे में हैं। इनमें से अधिकांश के उदाहरण उन्होंने हजारा से ही लिए होंगे। इन ८६ कवियों के अतिरिक्त भी बहुत से ऐसे कवि होंगे, जिनकी रचना उन्होंने कालिदास के हजारे से ही ली होगी और इन ८६ कवियों के ही समान जिनका समयनिरूपण उन्होंने इस हजारा के आधार पर ही किया होगा, पर जिनका उल्लेख उन्होंने नहीं किया। इस संग्रह में २१२ कवियों के १००० कवित्त हैं। जीवनचरित-खंड में इनकी कालावधि संवत् १४८० से सं० १७७५ तक मानी गई है। सरोज के भूमिकाखंड में ग्रंथ का रचनाकाल सं० १७५५ स्वीकार किया गया है। शिवसिंह ने सैकड़ों कवियों का समयनिरूपण कालिदासहजारा के आधार पर किया है। अतः यह संग्रह अत्यंत महत्वपूर्ण है। आज तक यह ग्रंथ खोज में नहीं मिल सका है। इसके मिल जाने से इतिहास की अनेक गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं।

सभा में सुरक्षित एक खंडित हस्तलेख – काशी नागरीप्रचारिणी सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय के हस्तलेख की संख्या ८५९ में दो ग्रंथ हैं। इनकी संख्या १३३३ एवं १३३४ है। १३३३ संख्यक ग्रंथ कालिदास त्रिवेदी का जंजीरा है, जो खंडित है। इस ग्रंथ के अंतिम ३ पत्र हैं, प्रथम ३ पत्र नहीं हैं। १३३४ संख्यक ग्रंथ भी आदि अंत से खंडित है, बीच में भी १३१ संख्यक पत्र नहीं है। इस ग्रंथ के आदि के ११ पत्र नहीं हैं, अंतिम पत्रसंख्या १६९ है। सुविधा के लिये सूचीपत्र में इस ग्रंथ का नाम 'संग्रह कवित्त सवैया आदि' रख लिया गया है। इस खंडित अंश में ९२ कवियों की रचनाएँ संकलित हैं। जंजीरा पतली कलम से लिखा गया है और संग्रह मोटी कलम से।

संग्रह में किसी भी कवि की कविता संकलित करने के पहले लाल स्याही से उसका नाम लिख दिया गया है। कहीं कहीं काली स्याही से भी नाम लिखा गया है। केवल 'केशवपुत्रवधू' का नाम कविता लिख लेने के पश्चात् अंत में दिया गया

है। आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इस संग्रह का उपयोग किया है। उन्होंने अत्यंत बारीक अँगरेजी कलम से अत्यंत सुदर अक्षरों में कविता के प्रारंभ के पहले, ग्रंथ की पद्धति से पूर्ण मेल बैठाने के लिये, 'केशवपुत्रवधू' लिख दिया है। ग्रंथ में एक स्थल पर ५ मुकरियाँ संकलित हैं। संभवतः ये किसी एक ही कवि की हैं। कवि का नाम संकलयिता को नहीं मालूम था, अतः उसने इनके प्रारंभ में 'कह मुकरी' शीर्षक लगा दिया। कवियों की कविताएँ प्रायः नए पन्ने या नए पृष्ठ से प्रारंभ की गई हैं। जहाँ कवि की कविता समाप्त हुई है, पत्र अथवा पृष्ठ का शेषांश कोरा छोड़ दिया गया है। बहुत कम स्थल ऐसे हैं जहाँ एक ही पृष्ठ पर दो कवियों की रचनाएँ सकलित हों। सारा ग्रंथ एक ही स्याही, कलम और हाथ से लिखा गया है। ग्रंथ का उपयोग किसी ने किया है। उसने हाशिए पर विभिन्न रचनाओं के शीर्षक लगाने का प्रयास किया है। यह काम किसी आधुनिक अध्येता का नहीं, किसी पुराने काव्यरसिक का है। हाशिए की यह लिखावट सं० १६५० वि० के इधर की नहीं प्रतीत होती।

ग्रंथ खंडित है। अतः इसके अंत में कोई पुष्पिका नहीं है, जिससे ज्ञात हो सके कि इसे किसने, कब और किसके लिये संकलित एवं प्रतलिपित किया। ग्रंथ में एक सादे स्थल पर बाद का यह लेख है —

साकिन कलकत्ता ठिकाना सिमलीया बाबू कृष्णसिंह लंबर २३ बाड़ी नवगुपाल बसु खेत्र मोहन बसु माई विंदवासिनी सं० १६४५।

इस क्षेपक से कम से कम यह सिद्ध हो जाता है कि उक्त प्रति सं० १६४५ के पहले की है। मेरा विश्वास है कि यह प्रति सं० १६०० के आसपास की है।

इस ग्रंथ में तीन छंद बाद के लिखे हुए हैं। ये दूसरी कलम से हैं और इनकी स्याही मूल हस्तलेख के समान न तो चटकीली है और न गाढ़ी ही। मूल में शिव कवि का एक छंद है, जो सरोज में भी कविसंख्या ७१३ पर उद्धृत है। दूसरी कलम से आगे के रिक्त स्थल पर इस कवि का यह छंद और लिख दिया गया है —

नदियन में धस धस फूलन में बस बस
बहै मंद मारुत गहत चपलाई है।
भनै 'सिव' कवि कोऊ प्यारे तैं न होहु न्यारे
कू कू देत वै कोकिला दुहाई है।
सजनी न मान कर ऐसी समै कैसी सोभ्या सों
रजनी बसंत की अनंत सरसाई है।
ब्याज करि चाँदनी को मैन मजिलिसि काज
चंद है फीरास च्यार चाँदनी बिछाई है।।

'देव' की कविता के बाद और 'सुकवि' की कविता के पहले रिक्त स्थान पर निम्नांकित छंद लिख दिया गया है, इसमें किसी कवि ने (संभवतः कुलपति मिश्र ने) बिहारी के प्रसिद्ध आश्रयदाता जयपुरनरेश जयसिंह के पुत्र राजा रामसिंह को एक पत्र लिखा है। पत्र क्या है एक हजार रुपये की दर्शनी हुंडी है।

स्वस्ति श्री रामसिंह कीरति बिदित भई
जौ लौं रहै राज तौ लौं थिर बर बैनी है।
रावरी कुसल हौं तौ सिसुनसमेत चाहौं
घरी घरी पल पल ह्याँहू सौ सुचैनो है।
हुंडी एक तुम पर कीनी है हजार की सु
कविन के राखे वहाँ धर्म जोग दैनी है।
कीजिये प्रमान मान बंस के सपूत नर
रोक गिनि दैने जस लेखै लिख लैनी है॥

तीसरा छंद एक कहमुकरी है। कहमुकरियों के प्रारंभ में यह जोड़ दी गई है और अश्लील होने के कारण उद्धृत नहीं की जा रही है।

खंडित संग्रह एवं शिवसिंहसरोज का तुलनात्मक अध्ययन—
१ - (क) निम्नांकित कवियों की कविताओं के हजारा में होने का उल्लेख सरोज में है। सरोज में एवं इस खंडित संग्रह में इनकी एक एक एवं वही कविताएँ हैं —

१. ओछीराम	२. कल्याण	३. कमाल
४. गोविंद अटल	५. नग्वाल प्राचीन,	६. जसवंत २ कवि प्राची
७. जगनंद वृंदावनवासी	८. जोइसी	९. तत्ववेत्ता
१०. प्रह्लाद	११. ब्रजलाल,	१२. बुधराम
१३. वलि जू	१४. मरमी	१५. मोतीराम
१६. मनसुख	१७. मिश्र कवि	१८. मुरलीधर
१९. सहीराम	२०. सदानंद	२१. शिव प्राचीन
२२. हरजू		

(ख) सबल और हीरामणि की भी कविता के हजारे में होने का उल्लेख सरोज में हुआ है। सरोज एवं इस संग्रह में इन कवियों के दो दो छंद हैं और दोनो में एक ही छंद हैं।

(ग) निम्नांकित ९ कवियों की कविता के हजारा में होने का उल्लेख सरोज में हुआ है। इस संग्रह में इन कवियों के कई छंद हैं। सरोज में इन कवियों के

कम छंद हैं, जो हैं वे इस संग्रह के ही छंदों में से हैं। इनका पूरा विवरण नीचे दिया जा रहा है —

कवि	संग्रह में संकलित छंदसंख्या	सरोज में संकलित छंदसंख्या और संग्रह का छंदांक
१. अभयराम बृंदावनी	२	१. दूसरा
२. जगजीवन	६	२. पहला, दूसरा
३. नागरीदास (सावंतसिंह)	२४	३. पहला, नवाँ, दसवाँ
४. पतिराम	२	१. दूसरा
५. वल्लभ रसिक	२	१. पहला
६. बिहारी कवि प्राचीन	२	१. पहला
७. रसिकशिरोमणि	२	१. दूसरा
८. राजाराम कवि	२	१. दूसरा
९. सामंत	२	१. दूसरा

(घ) अमरेश, ठाकुर और शिरोमणि के संबंध में सरोज में उल्लेख है कि इनकी कविताएँ हजारा में थीं। सरोज में इन कवियों के उद्धृत छंद कुछ तो इस खंडित संग्रह में हैं, कुछ नहीं। अमरेश के दो कवित्त सरोज में हैं। इस संग्रह में अमरेश का एक ही छंद है। यही छंद सरोज का अमरेश के नाम उद्धृत पहला छंद है। सरोज में उद्धृत अमरेश का दूसरा छंद दिग्विजयभूषण से लिया गया है। सरोज में ठाकुर के कुल ९ छंद हैं, संग्रह में कुल ११। सरोज के पहले ५ छंद इस संग्रह के १०, २, ४, ५, ११ संख्यक छंद हैं एवं सातवाँ छंद संग्रह का तीसरा छंद है। शेष ३ छंद कुछ पता नहीं, कहाँ से लिए गए। ये ६ छंद संग्रह के छंदों में उपलब्ध हैं, स्पष्ट है शिवसिंह ने इन्हें यहीं से लिया। सरोज में शिरोमणि के २ छंद हैं। संग्रह में इनके कुल ५ छंद हैं। संग्रह का तीसरा छंद सरोज में उदाहृत शिरोमणि का पहला छंद है। सरोज का दूसरा छंद दिग्विजयभूषण से लिया गया है। पहला छंद दिग्विजयभूषण में नहीं है।

(ङ) निम्नांकित ६ कवियों के संबंध में सरोज में यह सूचना नहीं दी गई है कि इनकी कविता हजारा में है। पर छानबीन करने से पता चलता है कि सरोज में इनके नाम पर उदाहृत छंद इस काव्यसंग्रह में सुलभ हैं।

कवि	संग्रह में संकलित छंदों की संख्या	सरोज में संकलित छंदों की संख्या, संग्रह का छंदांक
१. अमृत	३	१. तीसरा
२. आनंदघन	७	१. दूसरा

३. ईश्वर कवि	४	२. पहला और तीसरा
४. टोडर	४	२. पहला और तीसरा
५. बनवारी	२	२.
६. हरीराम प्राचीन	१	१.

इस तुलना से स्पष्ट है कि सरोज के ४२ कवियों की रचनाएँ खंडित संग्रह में संकलित ६२ कवियों में से ४२ की रचनाएँ हैं। इनमें से ३६ के संबंध में सरोज में स्पष्ट उल्लेख है कि इनकी रचना हजारा में है।

२ - घनानंद अपने छंदों में प्रायः 'घन आनंद' छाप रखते थे। अतः कुछ लोगों ने 'घनानंद' का वास्तविक नाम 'आनंदघन' समझ लिया। यही भूल इस संग्रह के संकलयिता से भी हुई। इस संग्रह में कवि का नाम 'आनंदघन' दिया गया है और इनके ७ छंद उद्धृत हैं, जिनमें से ६ में 'घन आनंद' छाप है, दूसरा छंद छापरहित है। सरोजकार ने इस कवि को दो कवि समझकर, एक बार प्रख्यात एवं वास्तविक नाम 'घनानंद' से और एक बार इस संग्रह के आधार पर 'आनंदघन' नाम से सरोज में दो बार स्थान दिया है।

शिवसिंहसरोज में 'आनंदघन' के नाम पर दो छंद उद्धृत हैं। पहला तो संग्रह में इस कवि के नाम पर संकलित एवं छापरहित दूसरा छंद है। दूसरा छंद केशवपुत्रवधू का है, आनंदघन का नहीं। भूल से सरोजकार ने इसे आनंदघन के नाम पर चढ़ा दिया है। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। इस संग्रह में आनंदघन की कविता के बाद केशवपुत्रवधू की कविता है। प्रस्तुत हस्तलेख में कवयित्री का नाम 'केशवपुत्रवधू' कविता के अंत में लिखा गया है। संभवतः ऐसा ही शिवसिंह जी वाली प्रति में भी रहा हो। प्रस्तुत प्रति में आनंदघन की कविता जिस पत्र पर समाप्त हुई है, वह उसका पहला पृष्ठ है। उक्त पृष्ठ का शेषांश रिक्त छोड़ दिया गया है। उलटे पन्ने पर अथवा उस पन्ने के दूसरे पृष्ठ पर केशवपुत्रवधू की उक्त कविता है जो इस पृष्ठ के पूर्वांश को सादा छोड़कर उत्तरांश में नीचे लिखी गई है। इसी से स्पष्ट है कि उक्त कविता किसी दूसरे की है, पर कविता के नीचे उसके रचयिता का स्पष्ट उल्लेख है, अतः यह निश्चित रूप से दूसरे की रचना है। हो सकता है शिवसिंहवाली प्रति में बीच की रिक्तता न रही हो। ऐसी स्थिति में यदि उन्होंने केशवपुत्रवधू की कविता को आनंदघन की कविता समझ लिया, तो कोई आश्चर्य नहीं। आनंदघन को घनानंद से भिन्न समझने का एवं आनंदघन के नाम पर केशवपुत्रवधू की कविता के उद्धृत कर देने का रहस्य इस संग्रह से ही खुलता है। स्पष्ट है कि शिवसिंह ने इस संग्रह का उपयोग किया था।

३ - शिवसिंह ने ठाकुर के प्रकरण में लिखा है कि कालिदासहजारा में ठाकुर के बहुत से कवित्त हैं और 'समयो यह वीर बरावनो है', यह छंद भी है। इस संग्रह में ठाकुर के ११ छंद हैं, जिनमें उक्त सवैया भी है।

४ - सेनापति के संबंध में सरोज में उल्लेख है कि 'हजारे में इनके बहुत कवित्त हैं'। इस संग्रह में सेनापति के ५८ कवित्त हैं।

५ - सरोज में एक भृंग कवि हैं। इन्हें सं० १७०८ में उपस्थित कहा गया है और इनके संबंध में केवल यह उल्लेख है — 'इनके कवित्त हजारे में हैं'। इनकी कविता के उदाहरण में यह छंद है —

जब नैनन प्रीति ठई ठग स्याम, सयानी सखी हठि यों बरजी।
नहिं जान्यो वियोग को रोग है आगे, झुकी तब हौं तिहिं सो तरजी।
अब देह भए पट नेह के घाले सों, ब्योंत करै बिरहा दरजी।
ब्रजराजकुमार बिना सुनु भृंग, अनंग भयो जिय को गरजी॥

यह सवैया गोस्वामी तुलसीदास की कवितावली के उत्तरकांड का १३३वाँ छंद है। यह भ्रमरगीतपरंपरा का छंद है। इसमें आया 'भृंग', उद्धव के लिये प्रयुक्त हुआ है, न कि यह कविछाप है। इस सवैये में कविछाप है ही नहीं। इस काव्यसंग्रह में गोस्वामी तुलसीदास के चार छंद उन्हीं के नाम से उद्धृत हैं। इनमें से चौथा छंद ऊपर उद्धृत भृंगवाला छंद है। सरोजकार ने उक्त संग्रह का उपयोग निर्विवाद रूप से किया था और प्रमाद से तुलसी के एक छंद में आए भृंग शब्द को पकड़कर उसने एक नवीन कवि की मिथ्या सृष्टि कर दी।

६ - धनराय कवि का नामोल्लेख सरोज में है। इनका समय सं० १६९२ दिया गया है। यद्यपि इनके संबंध में यह उल्लेख नहीं है कि इनकी कविता हजारे में है, पर इनका समय हजारा को ही दृष्टि में रखकर निश्चित किया गया है। धनराय कोई प्रसिद्ध कवि और साहित्यकार नहीं हैं। इनकी गणित की प्रसिद्ध कृति संस्कृत लीलावती का भाषानुवाद मिला है[१]। ये ओरछानरेश उदोतसिंह (शासनकाल सं० १७४६ - ९२ वि०) के दरबार में रहनेवाले एक कायस्थ सज्जन थे। सरोज में इनकी कविता भी उदाहृत नहीं है। सरोजकार को इस कवि का पता इसी संग्रह से चला। इस संग्रह में इनका यह पद उद्धृत है —

तागृदीता धूमी धिधिकट निकट तन पाननि चरवत।
ठागृदी की ठनबति ठबति टागृदी ढुकुनु कुनुकु परवत।

१. खोज रिपोर्ट १९०६।३५।

फागुदी की फुलवति फुलति फूल फल किंचत सिरचत।
थागुदी की धुंगति थिरकि थिरकि परियन पर थिरवत।
कहि घनुश्रराइ ई सब्ब सुभ महमद रस पिकम पिक्द।
सांसागुदी की सह सोरह मिलैं सु फाँफ गुदी की भकि मिफिकद मिक्ट॥

सरोजकार ने इस संग्रह से कवि का नाम लिया, पर इस कविता को न तो उद्धृत करने योग्य समझा और न देखने योग्य ही। इसी लिये इनकी कविता के हजारा में होने का उल्लेख तक नहीं किया। स्पष्ट है घनराय जी कवि नहीं थे, संगीतज्ञ एवं गणितज्ञ थे। अहमद से शायद इनके संबंध में कोई नवीन तथ्य ज्ञात हो सके।

७ - सरोज में मतिराम के छंदों में निम्नांकित सवैया उद्धृत है —

चोर की चोर, छिनार छिनार की, साहु की साहु, बली की बली।
ठग की ठग, कामुक कामुक की, अरु छैल की छैल, छली की छली।
परबीनन की परबीन ही त्यों, 'मतिराम' न जानैं कहाँ धौं चली।
इन फेरि दियो नथ को मुकुता, उन फेरि कै फूँकी गुलाब कली॥

स्व० कृष्णबिहारी मिश्र द्वारा संपादित 'मतिराम ग्रंथावली' के 'रसराज' में न तो यह छंद है और न 'ललितललाम' ही में। प्राप्त संग्रह में मतिराम के दो सवैये हैं। पहला तो ऊपर उद्धृत सवैया ही है। दूसरे का प्रतीक यह है —

नँदलाल गए तितही चलि कै

यह रसराज का २७०वाँ एवं ललितललाम का १८१वाँ छंद है सरोजकार ने मतिराम के नाम पर उद्धृत 'चोर की चोर' वाला सवैया इसी संग्रह से लिया।

इस तुलानात्मक अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शिवसिंह ने निश्चित रूप से इस संग्रह का उपयोग सरोज के प्रणयन में किया था और यह कालिदासहजारा की खंडित प्रति है।

कुछ विषमताएँ —सरोज में दिए गए विवरणों से यहाँ कुछ विभिन्नताएँ भी हैं। यहाँ उन पर भी विचार कर लेना चाहिए —

१ - प्रायः सभी कवियों के संबंध में सरोजकार ने कहा है कि इनके कवित्त हजारा में हैं। यहाँ कवित्त शब्द विचारणीय है। यह शब्द काव्य के अर्थ में प्रयुक्त है, ठीक वैसे ही जैसे तुलसीदास जी ने प्रयोग किया है —

निज कबित्त केहि लाग न नीका

इस संग्रह में मुख्यतया कवित सवैये संकलित हैं, पर छप्पय, पद, सबद, दोहा तथा एकाध और भी छंद इसमें हैं। गोविंद अटल, गिद्ध, नरहरि, तत्ववेत्ता और भरमी

के छप्पय इसमें हैं; अभयराम, पृथ्वीराज, घनराम, कमाल के पद हैं, कबीर का सबद है, तुलसी और सुंदर के दोहे हैं, हरिनाथ के समान सवैये एवं मंडन के अमृतध्वनि इसमें हैं। अतएव सरोज के 'कवित्त' का अत्यंत व्यापक अर्थ लेना चाहिए।

२ - सरोजकार ने 'इनके कवित्त हजारा में हैं, प्रायः ऐसा बहुवचनांत उल्लेख किया है। गोविंद अटल, ग्वाल, घासीराम, घनश्याम शुक्ल, जसवंत, जगनंद, जोइसी, तत्ववेत्ता, पहलाद, पृथ्वीराज, ब्रजलाल, बुधराम, बलिजू, मरमी, मोतीराम, मनसुख, मिश्र, मुरलीधर, श्याम, सहीराम, शिव आदि के एक ही एक छंद हस्तलेख में हैं। इस बहुवचनांत प्रयोग को शिवसिंह की असावधानी ही समझना चाहिए। अमरेश के संबंध में सरोज में कहा गया है — 'कालिदासजू ने अपने हजारे में इनकी कविता बहुत सी लिखी है।' हस्तलेख में इनका एक ही छंद है। सदानंद के संबंध में ठीक ठीक लिखा गया है — 'हजारे में इनका केवल एक कवित्त है।'

३ - भूषण के विवरण के अंत में सरोज में यह लेख है —

'कालिदास जी ने अपने ग्रंथ हजारा के आदि में ७० कवित्त नव रस के इन्हीं महाराज के बनाए हुए लिखे हैं।' इस संग्रह में भूषण के कवित्त न तो आदि में हैं और न वे संख्या ही में ७० हैं। वे ग्रंथ के मध्य में हैं और संख्या में कुल ३५ हैं। नवरस का सामान्य अर्थ कई रस लिया जा सकता है। संग्रह में भूषण के वीर, भयानक, बीभत्स, रौद्र, शृंगार एवं शांत रस के छंद हैं। इन्हें 'नव रस के कवित्त' समझा जा सकता है। हो सकता है कि छंदों में कमीबेशी और स्थान का उलटपलट प्रस्तुत प्रति के लेखक ने अपनी रुचि से कर दिया हो।

प्रथम दो अंतर तो सामान्य हैं और उनका उचित उत्तर दिया जा चुका है। यह तृतीय अंतर कुछ भयानक अवश्य है, पर इस एक अंतर के रहते हुए, अनेक साम्यों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अतः मेरा निष्कर्ष यह है कि उक्त संग्रह कालिदासहजारा की ही खंडित प्रति है।

कालिदासहजारा में संकलित कवियों की सूची — (क) सरोज के वे कवि जिनकी रचना के हजारा में होने का उल्लेख सरोज में है और जिनकी रचनाएँ इस खंडित संग्रह में भी हैं —

१. अमरेस २. अभयराम वृंदावनी ३. ऊधोराम ४. औलीराम ५. कबीर ६. कमाल ७. कल्याण ८. गोविंद अटल ९. ग्वाल प्राचीन १०. घनश्याम शुक्ल ११. घासीराम १२. जगजीवन १३. जगनंद १४. जसवंत १५. जोइसी १६. ठाकुर १७. तत्ववेत्ता १८. नागरीदास १९. मतिराम २०. परमेश प्राचीन २१. पहलाद २२. पृथ्वीराज २३. बलिजू २४. वल्लभ रसिक २५. बिहारी कवि (प्राचीन) २६. बुधिराम २७. ब्रजलाल २८. मरमी २९. भूधर (काशीवाले) ३०. भूषण

३१. मनसुख ३२. मिश्र कवि ३३. मुरलीधर ३४. मोतीराम ३५. रसिक शिरोमणि ३६. राजाराम कवि ३७. रामजी सुकवि ३८. रूपनारायण ३९. शिरोमणि ४०. शिव प्राचीन ४१. श्याम कवि ४२. सबल ४३. सदानंद ४४. सहीराम ४५. सामंत ४६. सेनापति ४७. हरजू ४८. हीरामणि।

(ख) वे कवि जो सरोज में हैं, पर जिनके संबंध में यह उल्लेख नहीं है कि इनकी रचनाएँ हजारा में हैं, साथ ही जिनकी रचनाएँ इस खंडित संग्रह में भी हैं —

१. अमृत २. आनंदघन ३. ईश्वर कवि ४. कविराम ५. कविंद ६. कालिदास ७. कासीराम कवि ८. केशवदास ९. गंग १०. गिद्ध ११. घनराय[3] १२. जैदेव १३. टोडर १४. तुलसीदास १५. दत्त कवि १६. दयाराम १७. देव १८. नरहरि १९. नरोत्तम २०. निपट २१. वंशीधर २२. बनवारी २३. बलभद्र २४. बीर कवि २५. बैताल २६. बेनी कवि २७. ब्रह्म २८. मंडन २९. मकरंद ३०. मतिराम ३१. मान कवि ३२. राम कवि ३३. सिंभ (शंभु कवि) ३४. सखीसुख ३५. सुकवि ३६. सुंदर ३७. सूरति कवि ३८. सोम कवि ३९. हरिनाथ कवि ४०. हरीराम ४१. हरिकेश।

(ग) वे कवि जिनकी रचनाएँ सरोज में हैं, साथ ही जिनके लिये सरोज में यह भी उल्लेख है कि इनकी रचनाएँ हजारा में हैं, पर खंडित होने के कारण जिनकी रचनाएँ इस संग्रह में नहीं हैं —

१. कलानिधि कवि (१ प्राचीन) २. कारेबेग फकीर ३. कुंदन कवि बुंदेलखंडी ४. कुलपति मिश्र ५. गोविंद जी कवि ६. चंद्र कवि ७. छैल ८. छीत ९. जलालुद्दीन १०. जीवन ११. ताज १२. तेगपाणि १३. तोष १४. दिलदार १५. निधान (१ प्राचीन) १६. नंदन १७. नंदलाल १८. परबत १९. बलदेव प्राचीन २०. व्यास जी कवि २१. बृजदास कवि प्राचीन २२. वाजिदा २३. भीषम कवि २४. मोहन प्राचीन २५. मुकुंद प्राचीन २६. मीर रुस्तम २७. मुहम्मद २८. मीरी माधव २९. मधुसूदन ३०. रघुनाथ प्राचीन ३१. लालनदास डलमऊवाले ३२. लोधे ३३. सेख ३४. शशिशेखर ३५. सेन ३६. हुसेन ३७. हरिजन।

क (४८) और ग (३७) के जोड़ने से ज्ञात होता है कि कुल ८५ कवियों के संबंध में सरोज में उल्लेख है कि इनकी कविता हजारे में थी। ऐसा उल्लेख 'भृंग' के संबंध में भी किया गया है, जिनका अस्तित्व ही नहीं सिद्ध होता। भृंग को भी मिलाकर ऐसे कुल ८६ उल्लेख हैं।

३. घनराय की कविता का उदाहरण सरोज में नहीं है।

(घ) वे कवि जिनकी रचनाएँ खंडित संग्रह में हैं, पर जो सरोज में कविरूप में स्वीकृत नहीं हैं —

१. कहमुकरियों वाला अज्ञात कवि। २. केशवपुत्रवधू । ३. कविनाथ।

क (४८), ख (४१) और घ (३) को जोड़ने से ज्ञात होता है कि खंडित संग्रह में कुल ६२ कवियों की रचनाएँ संकलित हैं।

(ङ) सरोज के प्रारूप में आए १७ नए कवि —

कांथा में शिवसिंहसरोज के पूर्वार्द्ध अथवा काव्य-संग्रह-खंड का प्रारूप अब भी है। इस प्रारूप के अंत में कवि नामानुक्रमणिका दी गई है। प्रत्येक वर्ण के कवियों का नाम देकर एक पड़ी रेखा खींच दी गई है। इस रेखा के नीचे 'हजारा' लिखकर, इसके नीचे हजारा में संकलित उस वर्ण के कवियों की नामावली दी गई है। यह सूची सर्वत्र नागरी लिपि में है, केवल म और स वर्णोंवाली सूची उर्दू लिपि में है। सबको एकत्र करने पर कुल ८३ नाम होते हैं जिनमें से एक नाम भृंग का भी है। इनमें से ३२ (क), (ख) और होते हैं जिनमें से एक नाम भृंग का भी है। इनमें से ३२ क[४], ७ ख[५] और २६ ग[६] सूची में आ चुके हैं। केवल निम्नांकित १७ नाम नए हैं —

४. १. औलीराम २. अभयराम ३. कल्याण ४. कमाल ५. ग्वाल ६. गोविंद अटल ७. जसवंत ८. जगनंद ९. जोइसी १०. जगजीवन ११. तत्ववेत्ता १२. नागर १३. मतिराम १४. पहलाद १५. बुधराम १६. बिहारी १७. बलिजू १८. ब्रजलाल १९. मरमी २०. मोतीराम २१. मनसुख २२. मिश्र २३. मुरलीधर २४. राजाराम २५. रूपनारायण २६. रसिक शिरोमणि २७. सहीराम २८. सदानंद २९. सबल ३०. सामंत ३१. हरजू ३२. हीरामनि।

५. १. ईश्वर कवि २. अमृत ३. आनंदघन ४. धनराइ ५. तुलसीदास ६. टोडर ७. बनवारी।

६. १. कलानिधि २. कुलपति ३. कारेबेग ४. गोविंद जी ५. छैल ६. छीत ७. जीवन ८. जलालदी ९. तेगपान १०. ताज ११. दिलदार १२. व्यास जी १३. ब्रजदास १४. बाजीदा १५. बलदेव १६. भीषम १७. मोहन प्राचीन १८. मुकुंदराम १९. मीर रुस्तम २०. मुहम्मद २१. मीरमाधव २२. रामजी २३. रघुनाथ प्राचीन २४. लोधे २५. सेन २६. शशिशेखर।

१. अभिमन्यु २. अनंत ३. आदिल ४. गोपनाथ ५. जदुनाथ ६. जगदीश ७. तुलसी २ ८. तालिबशाह ९. दामोदर १०. विश्वंभर ११. वृंद १२. भगवान १३. मलूक १४. मदनकिशोर १५. रंगलाल १६. रसदास १७. श्री गोविंद।

(च) १२२ कवियों की सूची के १० नए कवि — प्रारूप की इस नामानुक्रमणिका के पहले ही एक पन्ने पर १२२ कवियों के नाम दिए गए हैं। किन लोगों के नाम ये हैं, इसका कोई उल्लेख नहीं किया गया है। इन १२२ कवियों में से ९९ नाम ऊपर की क, ख, ग सूचियों में मिल जाते हैं। क सूची के ४७ नाम यहाँ हैं, 'रामजी सुकवि' नहीं हैं। ख सूची के ३८ नाम हैं, नरोत्तम, बंसीधर, और सुकवि के नाम नहीं हैं। ग सूची के ३७ नामों में से २३ नाम नहीं हैं, केवल ये १४ नाम हैं —

१. चंद २. छैल ३ छीत ४. नंदन ५. नंदलाल ६. परब्रत ७. व्यास जी ८. भीषम ९. मोहन १०. मुकुंद ११. मधुसूदन १२. रामजी १३. रघुनाथ १४. लोधे।

'घ' सूची के तीनो कवि यहाँ नहीं हैं।

'ङ' सूची में १७ नए कवि हैं। इन १७ नए कवियों में से १३ कवि इस १२२ वाली सूची में हैं — आदिल, तालिब शाह, वृंद, मदनकिशोर नहीं हैं। कुल १० नए नाम इस १२२ वाली सूची में हैं। अतः मेरा ऐसा ख्याल है कि यह सूची भी हजारा के ही कवियों की है। ये १० नए कवि निम्नांकित हैं —

१. गोप २. देवीदास ३. नाथ ४. निधान ५. प्रसिद्ध ६. फूल ७. ब्रजचंद ८. मनोहर ९. श्रीपति १०. श्रीधर।

सरोज में उल्लेख है कि हजारा में २१२ कवियों के १००० छंद हैं। इन सूचियों के आधार पर हजारा के १५६ कवियों के नाम हमें ज्ञात हो जाते हैं। भृंग को भी जोड़ लें तो संख्या १५७ हो जाती है। क ४८, ख ४१, ग ३७, घ ३, ङ १७, च १०, कुल योग १५६।

कालिदासहजारा का रचनाकाल — सरोज में कालिदासहजारा के समय के संबंध में तीन उल्लेख हैं। भूमिका में कहा गया है कि हजारा सं० १७५५ के लगभग बना। ठाकुर के जीवनचरित में इसका रचनाकाल सं० १७४५ के लगभग कहा गया है। कालिदास त्रिवेदी के जीवनचरित में कहा गया है कि हजारा में सं० १४८० से लेकर सं० १७७५ तक के २१२ कवियों के एक हजार कवित्त संकलित हैं। सरोज में 'वधूविनोद' का रचनाकालसूचक छंद भी उद्धृत है, जिससे उसका रचनाकाल सं० १७४९ सिद्ध होता है। सरोज में कालिदास का समय भी यही दिया गया है। पंजाब खोज रिपोर्ट में संख्या ५२ पर 'वधूविनोद' की एक खंडित प्रति का विवरण

है। रिपोर्ट के अनुसार इस अपूर्ण प्रति में ग्रंथ का रचनाकाल सं० १७६४ दिया गया है। पर निरीक्षक ने १७४६ वाली मान्यता को ही स्वीकार किया है। किसी भी खोज रिपोर्ट में वधूविनोद का रचनाकालसूचक छंद नहीं दिया गया है। शिवसिंह वाली प्रति में रचनाकालसूचक छंद है, जो पुष्पिका के अंत में है और स्वयं कवि का लिखा नहीं प्रतीत होता।

औरंगजेब ने सं० १७४५में गोलकुंडा पर चढ़ाई की थी। कालिदास ने निम्नांकित कवित्त में इस लड़ाई का वर्णन किया है —

गढ़न गढ़ी से गढ़ि, महल मढ़ी से मढ़ि,
बीजापुर ओप्यो दलमलि सुघराई में।
'कालिदास' कोप्यो वीर औलिया अलमगीर
तीर तरवारि गही पुहुमी पराई में।
बूँद तें निकसि महिमंडल घमंड मची
लोहू की लहरि हिमगिरि की तराई में।
गाड़ि कै सुझंडा आड़ कीनी बादसाही तातें
डकरी चमुंडा गोलकुंडा की लराई में॥

औरंगजेब से कालिदास का दरबारी संबंध निश्चित रूप से होना चाहिए, भले ही यह कुछ ही दिनों का रहा हो, अन्यथा औरंगजेब कोई राम, कृष्ण, शिव नहीं था कि उसकी प्रशंसा कालिदास करने जाते। आचार्य शुक्ल का अनुमान यह है कि कालिदास उक्त लड़ाई में औरंगजेब की सेना में किसी राजा के साथ गए थे। जो हो, सं० १७४५ में कालिदास सिद्ध कवि थे और उन्होंने सं० १७४६ में वधूविनोद नामक ग्रंथ रचा था। अतः इनका जन्म सं० १७२० के पूर्व होना चाहिए, पश्चात् नहीं।

कालिदास त्रिवेदी के पुत्र उदयनाथ त्रिवेदी कविंद हुए, जिन्होंने सं० १८०४ में रसचंद्रोदय नामक ग्रंथ की रचना की। कविंद के पुत्र दूलह हुए, जिनका कविकुल-कंठाभरण नामक ग्रंथ प्रसिद्ध है।

प्रस्तुत हस्तलेख में आनंदघन, कविंद, ठाकुर, नागरीदास, सूरति मिश्र आदि प्रसिद्ध कवियों की रचनाएँ संकलित हैं। हमें इन कवियों के समय पर विचार करके कालिदासहजारा के रचनाकाल का निर्णय करना चाहिए।

आनंदघन हिंदी के अत्यंत प्रसिद्ध कवि हैं। पहले यह दिल्ली के मुगल बादशाह मुहम्मद शाह रँगीले के दरबार में थे। मुहम्मद शाह का शासनकाल सं० १७७६ - १८०५ वि० है। आनंदघन जी का देहांत सं० १८१७ में वृंदावन में हुआ। अतः इनका रचनाकाल अधिक से अधिक सं० १७७५ - १८१७ है।

जिन कविंद के कवित्त कालिदास के हजारे में संकलित हैं, उन्हें कालिदास का पुत्र उदयनाथ कविंद होना चाहिए। हिंदी में इनको लेकर चार कविंद हुए हैं। एक तो इनसे पूर्ववर्ती शाहजहांकालीन कवींद्राचार्य सरस्वती हैं। दूसरे ये उदयनाथ त्रिवेदी कविंद हैं। तीसरे कवींद्र नरवरनिवासी सखीसुख के पुत्र हैं, जिन्होंने रसदीपक नामक ग्रंथ सं० १७६६ में रचा। यह कवींद्र उदयनाथ जी के समकालीन थे। चौथे कवींद्र भी त्रिवेदी थे। वे बेंती गाँव जिला रायबरेली के रहनेवाले सुकवि थे।

हस्तलेख में दो छंद ऐसे हैं, जिनसे कविंद के समय के संबंध में कुछ विचार हो सकता है —

> चढ़े साह भाऊ दोऊ तुलि के तमाम सेना
> दोऊ सिरदारन के बिक्रम के जोर हैं।
> भनत 'कविंद' जहाँ दुहूँघा धमकै बान
> दुहूँघा धमंकै धूम धूरिन के सोर हैं।
> सैफन सों, तोपन सों तबल रु ऊनन सों
> दक्खिनी दुरानिन के माचे झकाझोर हैं।
> चंदन लपेटे बमनेटे एक ओर परे
> रुधिर लपेटे पठनेटे एक ओर हैं॥

इस कवित्त में १७६१ ई० (सं० १८१८ वि०) में हुए पानीपत के तीसरे युद्ध का वर्णन है। एक ओर मराठों का सेनापति सदाशिव राव भाऊ था, दूसरी ओर अफगानिस्तान का बादशाह अहमदशाह दुर्रानी। जिस संकलन में यह छंद सुलभ हो, वह सं० १८१८ वि० के पहले का नहीं हो सकता।

> दान अधिकारी है नरेस कुसलेस जू को
> जो पै जिय जानिकै 'कविंद' कछू भोरौ सों।
> सेंगरसपूत कों सबायौ दरबार जानि
> सूम ताहि ताकत करत नित सोरौ सों।
> गोसें हैं सुनो जू अब दोष तौ हमें न कछू
> कबिन के कोसै तें बिलाय जात ओरौ सों।
> दातन को सुजस अदातन कों अपजस
> साथ ही रहत स्याह अबलख घोरौ सों॥

इस कवित्त में किसी सेंगर राजा कुशलसिंह का उल्लेख है। शिवसिंहसरोज में एक चेतनचंद्र कवि हैं, जिन्होंने सं० १६१६ में राजा कुशलसिंह सेंगरवंशावतंस

के आज्ञानुसार 'अश्वविनोद' नामक शालिहोत्र का ग्रंथ बनाया था। ग्रंथ में रचनाकालसूचक यह छंद है —

> संवत सोलह सौ अधिक चार चौगुने आन।
> ग्रंथ कह्यौ कुसलेस हित रछक श्री भगवान॥
> मास फालगुन, सुक्ल पख, दुतिया सुभ तिथि नाम।
> चेतनचंद भाखियत गुरु को कियो प्रनाम॥
>
> — खोज रिपोर्ट १९२३।७७ ए

रचनाकालसूचक यह छंद सरोज में भी उद्धृत है। यदि उक्त कवित्त के कुसलेस सेंगर चेतनचंद के आश्रयदाता कुसलेस सेंगर से अभिन्न हैं, तो इसके रचयिता कोई दूसरे कबिंद हैं और ऊपर उद्धृत दोनो कवित्तों के रचयिता दो भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं। पहले कवित्त के रचयिता चाहे कालिदास त्रिवेदी के सुपुत्र एवं दूलह के पिता कवींद्र हों, चाहे रसदीपक के रचयिता नरवरवाले कवींद्र, यह निष्कर्ष कि उक्त संग्रह सं० १८१८ के बाद बना, अपनी जगह पर अटल रहता है।

जिन नागरीदास के कवित्त सवैये शिवसिंहसरोज में हैं और जिनके छंद इस हस्तलेख में हैं, वे एक ही हैं। ये छंद कृष्णगढ़नरेश प्रसिद्ध सावंतसिंह हरिसंबंध-नाम नागरीदास के हैं। नागरसमुच्चय में ये सभी हैं। इन नागरीदास जी का देहावसान सं० १८२१ में हुआ था। इनका जन्म सं० १७५६ में पौष कृष्ण १२ को हुआ था। इनका रचनाकाल सं० १७८० - १८२१ समझना चाहिए।

सूरति मिश्र का रचनाकाल सं० १७६६ - १८०० है। इन्होंने सं० १७९१ एवं १८०० में रसिकप्रिया की क्रमशः रसग्राहकचंद्रिका एवं जोरावरप्रकाश टीकाएँ प्रस्तुत की थीं। अलंकारमाला इनकी प्रथम ज्ञात कृति है, जिसका रचनाकाल सं० १७६६ है।

अब थोड़ा ठाकुर पर विचार करें। इस संग्रह में ठाकुर के कुल ११ छंद संकलित हैं, जिनके प्रतीक ये हैं —

१. उह कंज सौं कोमल अंग गुपाल कौ। २. येई हिय चारु के कदीम दरबान दोऊ। ३. एक ही सो चित चाहिए और लौं। ४. कहा कहिए कोऊ पीर कूं नाहिनै। ५. कहिए जु कहा कहिबे की नहीं। ६. केसरि सुगंधि ही के रंग सौं रँगैगे हम। ७. परभात भए सुधि आवै भट्ट। ८. बरुनीन में नैन झुकैं उझकैं। ९. लगी अंतर की करै जाहिर का। १०. सजि सूहे दुकूलन बिज्जुछटा। ११. सामिल मैं पीर मैं। शिवसिंहसरोज में ठाकुर के नौ छंद हैं, छः तो ऊपर के क्रमशः १, ३, ५, ८, १०, ११ संख्यक छंद हैं। शेष तीन के प्रतीक ये हैं —

१. कैसे सुन्चित भए निकसे। २. कोमलता कंज तें, सुगंध लै गुलाबम तैं। ३. बैर प्रीति करिबे की मन में न संक राखैं।

ठाकुर कवि के संबंध में शिवसिंहसरोज में जो कुछ लिखा गया है, आवश्यक समझकर वह यहाँ पूर्ण रूप से उद्धृत है —

'१ – **ठाकुर कवि प्राचीन सं० १७००**—ठाकुर कवि को किसी ने कहा है कि वह असनी ग्राम के बंदीजन थे, सं० १८०० के करीब मोहम्मदशाह बादशाह के जमाने में हुए हैं। और कोई कहता है कि नहीं, ठाकुर कवि कायस्थ बुंदेलखंड के वासी हैं। किसी बुंदेलखंडी कवि का बयान है कि छत्रपुर, बुंदेलखंड में बुंदेला लोग हिम्मतबहादुर गोसाईं के मारने को इकट्ठा हुए थे। ठाकुर कवि ने यह कवित्त 'समयो यह बीर बरावने हैं' लिख भेजा। सब बुंदेला चले गए और हिम्मतबहादुर ने ठाकुर को बहुत रुपये इनाम में दिए। हिम्मतबहादुर सं० १८०० में थे। कवि कालिदास ने हजारा सं० १७४५ के करीब बनाया है और उसमें ठाकुर के बहुत कवित्त और ऊपर लिखा हुआ कवित्त भी लिखा है। इससे हम अनुमान करते हैं कि ठाकुर कवि बुंदेलखंडी अथवा असनीवाले भाट या कायस्थ कुछ हों, पर अवश्य सं० १७०० में थे। इनका काव्य महा मधुर लोकोक्ति इत्यादि अलंकारों से भरापुरा सर्व प्रसन्नकारी है। सवैया इनके बहुत ही चुटीले हैं। इनके कवित्त तो हमारे पुस्तकालय में सैकड़ों हैं, पर ग्रंथ कोई नहीं। न हमने किसी ग्रंथ का नाम सुना।'

हिंदी में दो ठाकुर तो वस्तुतः हुए हैं। एक हैं बुंदेलखंडी कायस्थ ठाकुर, दूसरे हैं असनी के ठाकुर बंदीजन। बुंदेलखंडी ठाकुर सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। इनका जन्म सं० १८२३ में ओरछा में हुआ। इनका देहावसानकाल सं० १८८० है। इनके बाप का नाम गुलाबराय था। लाला भगवानदीन ने 'ठाकुरठसक' में इन्हीं ठाकुर की रचनाएँ संकलित करने का प्रयास किया है। यह ठाकुर रीतिमुक्त स्वच्छंदतावादी कवि थे।

असनीवाले ठाकुर बंदीजन ऋषिनाथ कवि के पुत्र थे। ये धनीराम कवि के पिता और प्रसिद्ध सेवक कवि के पितामह थे। ये काशीनरेश के भाई उन देवकीनंदन के यहाँ थे, जिनकी हवेली आज भी काशी में प्रसिद्ध है। उन्हीं के नाम पर इन्होंने सं० १८६१ में बिहारीसतसई की 'सतसईबरनार्थ टीका' लिखी थी। ये रीतिबद्ध कवि थे।

दोनो ठाकुर समकालीन हैं और दोनो का रचनाकाल सं० १८५० के आसपास प्रारंभ होता है। सरोजकार के अनुसार कालिदासहजारा का रचनाकाल सं० १७४५ के आसपास है और हजारा में ठाकुर की कविता है, अतः अन्य प्रमाण

न रहते हुए भी सरोजकार को सं० १७०० के आसपास एक ठाकुर की कल्पना करनी पड़ी है। पर हस्तलेख एवं सरोज में संकलित प्रायः सभी छंद ठाकुर बुंदेलखंडी की कृति समझे जाते हैं। हस्तलेख के ठाकुर का पाँचवाँ छंद 'समयो यह बीर अावनो है' से समाप्त होता है। इसके बुंदेलखंडी ठाकुर की रचना होने की अनुश्रुति का उल्लेख स्वयं सरोजकार ने किया है। बुंदेलखंडी ठाकुर के काव्य की जो भी विशेषताएँ — लोकोक्तिप्रधानता, बुंदेलखंडी शब्दबहुलता, चुटीलापन, स्वच्छंदता — समझी जाती हैं, वे सभी इन रचनाओं में पाई जाती हैं। ऐसी स्थिति में यदि दुस्साहस किया जाय तो कहना पड़ेगा — 'ठाकुर के नाम पर कालिदासहजारा में जो कविताएँ संकलित हैं, वे ठाकुर बुंदेलखंडी की हैं और सं० १७७० के आसपास ठाकुर नाम का कोई हिंदी कवि नहीं हुआ।

सोभ कवि के नाम पर सरोज में जो उदाहरण दिया गया है, वह कुमारमणि शास्त्री 'कुमार' के रसिकरसाल का एक छंद है। संग्रह में इनके ६ छंद हैं, सभी श्रृंगारी एवं सुंदर हैं। यह सोभ भरतपुराधीश जवाहिरसिंह (शासनकाल सं० १८२० - २५) के अनुज नवलसिंह के आश्रित थे। नवलसिंह के नाम पर सोभ ने १८१८ वि० में नवल रसचंद्रोदय नामक नायिकाभेद का सुंदर ग्रंथ रचा था। इस संग्रह में सोभ की रचना है, इससे स्पष्ट है कि यह ग्रंथ १८१८ के पश्चात् ही बना।

बेनी श्रृंगारी की कविताएँ हजारा में हैं (यद्यपि सरोज में ऐसा उल्लेख नहीं है), इसी लिये इनका समय सं० १७०० दिया गया है, जिसे इतिहासकारों ने आँख मूँदकर स्वीकार कर लिया है। पर असनीवाले श्रृंगारी बेनी ने 'रसमय' नामक नायिकाभेद का ग्रंथ सं० १८१७ में रचा था। इन बेनी के द्वारा भी यह सिद्ध होता है कि हजारा उतना पुराना नहीं है, जितना शिवसिंह ने समझ रखा है।

दत्त कवि के दो छंद संग्रह में हैं जो साढ़ जिला कानपुर के रहनेवाले देवदत्त ब्राह्मण हैं, जिनकी छाप 'दत्त कवि' और 'कवि दत्त' दोनों है, जिनका विवरण सरोज में ३४२ संख्या पर दिया गया है। ये देवदत्त चरखारीनरेश महाराज खुमानसिंह (शासनकाल सं० १८१२ - ३६) के दरबार में थे। इन्होंने सं० १७६१ में 'लालित्यलता' एवं १८०४ में 'सज्जनविलास' नामक ग्रंथ रचे थे। इनके रचनाकाल को खुमानसिंह के शासनकाल से मेल खाना चाहिए। सरोज में इनका समय सं० १८३६ दिया गया है। अतः उक्त संग्रह १८१८ के बाद ही बना होना चाहिए। दत्त कवि भी इस बात की गवाही में प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

बैताल का एक छप्पय – 'मरै बैल गरियार' इस संग्रह में है। बैताल चरखारीनरेश विक्रमाजीत के आश्रित थे। इन विक्रम का शासनकाल सं० १८३६-८६

है। अतः बैताल की कविता को संकलित करनेवाला संग्रह सं० १८४० के पहले का नहीं हो सकता।

जिन मान कवि के ६ छंद संग्रह में संकलित हैं, वे चरखारी के प्रसिद्ध कवि खुमान हैं। ये खुमान भी उक्त चरखारीनरेश विक्रमाजीत (शासनकाल १८३९ - ८६) के दरबारी थे। खुमान ने सं० १८३६ में अमरप्रकाश, १८३९ में नरसिंहचरित्र, १८५२ में अष्टयाम, १८५५ में लक्ष्मणशतक, १८७८ में समरसार नामक ग्रंथ रचे। संकलित छंदों में २ कृष्णसंबंधी शृंगारी छंद हैं, ३ हनुमानसंबंधी एवं ४ रामायणसंबंधी। खुमान के हनुमानसंबंधी ४ ग्रंथ हैं – हनुमतपचीसी, हनुमानपंचक, हनुमतविरुदावली और हनुमतनखशिख। रामचरितसंबंधी तीन ग्रंथ हैं – १. रामरासो (लंकाकांड की कथा), २. रामकूटविस्तार, ३. लक्ष्मणशतक (लक्ष्मण मेघनाद युद्ध)। संकलन में स्वीकृत ६ छंदों में से ७ इन्हीं ग्रंथों से होने चाहिए। अतः उक्त संग्रह १८५० के पहले का नहीं होना चाहिए।

सरोज में गोविंद कवि का समय सं० १७५७ दिया गया है और उल्लेख है कि इनके कवित्त हजारा में हैं। उपलब्ध संग्रह में इनकी कविता नहीं है। सरोज में इनका यह छंद उद्धृत है —

> **रँग भरि भरि भिजवत मोरि अँगिया**
> **दुइ कर लिहिसि कनक पिचकरवा।**
> **हमसन ठनगन करत डरत नहिं**
> **मुख सन लगवत अतर गुलबवा।**
> **अस कस बसियत सुनि ननदी हो**
> **फगुन के दिन इह गोकुल नगरवा।**
> **मुहि तन तकत बकत पुनि मुसिकत**
> **रसिक गोबिंद अभिराम लँगरवा॥**

छाप से स्पष्ट है कि उक्त गोविंद जी कवि वस्तुतः रसिक गोविंद हैं। हजारा में संभवतः गोविंद जी कवि के नाम पर यही छंद संकलित था। रसिक गोविंद जी जयपुर के रहनेवाले निंबार्क संप्रदाय के वैष्णव थे। इनका रचनाकाल सं १८५०-१९०० है। इनका श्रेष्ठतम ग्रंथ रसिक गोविंदानंदघन सं० १८५० में रचा गया। उक्त ग्रंथ रीतिसंबंधी है।

सरोज में दो हरिजन हैं। एक ९८६ संख्या पर हैं। इन्हें सं० १६६० में उपस्थित कहा गया है और कहा गया है कि 'इनके कवित्त हजारे में है।' चूँकि इनके कवित्त हजारे में हैं, इसी से इनका समय सं० १६६० स्वीकार किया गया है। दूसरे हरिजन (सरोज १००१) ललितपुरनिवासी हैं। इनका समय सं० १९११ दिया गया

है। इनके संबंध में यह भ्रामक उल्लेख है कि इन्होंने काशीनरेश महाराज ईश्वरीनारायणसिंह के नाम से रसिकप्रिया की टीका बनाई। वस्तुतः यह हरिजन प्रसिद्ध कवि सरदार बनारसी के पिता थे। उक्त टीका सरदार की बनाई हुई है, न कि सरदार के बाप हरिजन की। इन हरिजन ने सं० १६०३ में तुलसीचिंतामणि नामक ग्रंथ रचा था।

शशिशेखर का सवैया सरोज में उद्धृत है —

कुंजनिकेत पिया बिन चाहि कै अंग अनंग की आँच सी आई।
दूती को देत उराहनो ठाढ़ी महा कपटी किन बात चलाई।
हा हौं जरी हौं जरैं 'ससिसेखर' संभु सदासिव राखि सिधाई।
चैन नहीं मृगसावकनैनी को पंकजनैनी गई कुम्हिलाई॥

परिचय में कहा गया है कि 'इनके कवित्त हजारे में हैं।' ये शशिशेखर उन चंद्रशेखर वाजपेयी से अभिन्न हो सकते हैं, जिनका जन्म सं० १८५५ में मुअज्जमाबाद फतेहपुर में हुआ था और जो १६३२ वि० में दिवंगत हुए थे। इन्होंने १६०२ में हम्मीरहठ और १६०३ में 'रसिकविनोद' की रचना की थी।

सरोज में दो ग्वाल हैं। एक ग्वाल हजारा से लिए गए है और इन्हें ग्वाल प्राचीन कहा गया है। इनका केवल निम्नांकित छंद सरोज एवं संग्रह दोनो में है —

कारी घटा कामरूप काम को दमामो बाज्यो
गाज्यो कवि ग्वाल देखि दामिनि दफेर सी।
लपकि झपकि आयो दादुर सुनायो सुर
हमें हू बिरह सखि मदन की रेर सी।
बालम बिदेस बसे चातक के बोल कसे
ज्यौं ज्यौं तन दहै त्यौं त्यौं औरे हरि बेर सी।
बूँदन को दुंद सुनि आँखें मूँदि मूँदि लेत
आयो सखी सावन सँवारे समसेर सी॥

दूसरे ग्वाल प्रसिद्ध ग्वाल बंदीजन हैं, जिनका जन्म सं० १८४८ एवं देहांत सं० १६२८ में हुआ। इनका रचनाकाल १८७६ - १६१८ है। इन्होंने १८७६ में यमुनालहरी, १८८४ में नखशिख और १८६१ में कविदर्पण आदि ग्रंथ रचे। बहुत संभव है उक्त कवित्त इन्हीं ग्वाल का हो। यद्यपि नवीन के सुधासर से एक प्राचीन ग्वाल का अस्तित्व सिद्ध है, परंतु यह कोई आवश्यक नहीं कि उक्त छंद प्राचीन ग्वाल का ही हो।

इन संपूर्ण तथ्यों पर विचार करने से हम निम्नांकित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं —

प्राप्त हस्तलेख असंदिग्ध रूप से उस कालिदासहजारा का खंडित रूप है, जिसका उपयोग शिवसिंह ने सरोज के प्रणयन में किया था। कालिदास ने सं० १७५० और १८०० के बीच किसी समय कालिदासहजारा बनाया होगा, पर शिवसिंह जी ने जिस हजारा का उपयोग किया उसे वह रूप सं० १८५० के बाद किसी समय प्राप्त हुआ, जिसमें पर्याप्त जोड़तोड़ हुआ है। अथवा उन्होंने प्रमाद से किसी अन्य संग्रह को कालिदासहजारा समझ लिया। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि उन्होंने अनेक 'प्राचीन' कवियों की मिथ्या सृष्टि कर ली।

हजारा से संकलित सरोज के कुछ कवियों एवं उनके समय पर पुनर्विचार —

१. शिवसिंह ने यह स्वीकार करके कि हजारा की रचना सं० १७५० के आसपास हुई थी, अनेक कवियों का समय निर्धारित किया था। पर अब उक्त ग्रंथ का रचनाकाल सं० १८५० के आसपास सिद्ध हो जाता है, अतः इस नवीन शोध के आधार पर उन कवियों का समय भी १०० वर्ष इधर खिसक आना चाहिए, जिनके संबंध में अभी तक कोई सूचनाएँ सुलभ नहीं हो सकीं और जिनकी रचनाएँ हजारा में थीं। ऐसे कवियों के नाम जिनके समय मे संशोधन हो सकता है, निम्नांकित सूची में दिए जा रहे हैं —

क्रमसंख्या, सरोजसंख्या	कविनाम	सरोजदत्त समय
१।२४	अनंत	१६९२
२।२०	अभयराम वृंदावनी	१६०२
३।११	अमरेश	१६३५
४।२५	आदिल	१७६२
५।२८	ऊधोराम	१६१०
६।१६	औलीराम	१६२१
७।८४	कुंदन कवि बुंदेलखंडी	१७५२
८।१७५	गोपनाथ	१६७०
९।१७७	गोविंद अटल	१६७०
१०।२५०	छीत	१७०५
११।२४६	छैल	१७५५
१२।२९२	जगजीवन	१७०५
१३।२८९	जगनंद	१६५०
१४।२८७	जलालुद्दीन	१६१५
१५।२९०	जोइसी	१६५८
१६।३२६	तालिबशाह	१७६८

१७।३२४	तेगपाणि	१७०८
१८।३५२	दिलदार	१६५०
१९।४२३	नंदन	१६२५
२०।५२२,५६९	बलिजू	१७२२
२१।५६८	बुधराम	१७२२
२२।५३५	व्रजदास प्राचीन	१७५५
२३।५३०	व्रजचंद	१७६०
२४।६२३	भरमी	१७०८
२५।६१८	भूधर काशीवाले	१७००
२६।६७१	मधुसूदन	१६८१
२७।६५६	मनसुख	१७४०
२८।६५७	मिश्र कवि	१७४०
२९।६६०	मीर रुस्तम	१७३५
३०।६६२	मीरी माधव	१७३५
३१।६६१	महम्मद	१७३५
३२।६५५	मोतीराम	१७४०
३३।८१९	लोधे	१७७०
३४।९२०	सबल	१६९०
३५।९१९	सदानंद	१६८०
३६।९१८	सहीराम	१७०८
३७।९८०	हुसेन	१७०८

२. निम्नांकित कवियों का समय सरोज में नहीं दिया गया है, न सरोज में यही उल्लेख है कि इनकी कविता हजारे में है, पर अन्य सूत्रों से इनकी कविता के हजारा में होने का पता चलता है। अतः इनके समय की अधोरेखा सं० १८५० निर्धारित की जा सकती है —

१।१९८ गीध। २।२१४ घनराय। ३।३४७ दामोदर कवि २। ४।५७१ विश्वंभर कवि। ५।६०१ भगवान।

३. सरोजकार ने हजारा का रचनाकाल सं० १७५० समझा, अतः १७५० या उसके कुछ बाद होनेवाले कई कवियों को, हजारा में संकलित होने के कारण, उन्होंने उनकी वास्तविक सत्ता से भिन्न मानकर प्राचीन संज्ञा दी है। सरोज में कुल २७ कवियों के नामों के साथ 'प्राचीन' शब्द जुड़ा हुआ है, जिनमें से कुछ तो वस्तुतः प्राचीन हैं, कुछ भ्रांति के कारण प्राचीन बना दिए गए हैं —

(क) वस्तुतः प्राचीन कवि —

१. चंद प्राचीन – यह चंदबरदाई हैं और बाद में होनेवाले अनेक चंदों से प्राचीन हैं।

२. देव कवि प्राचीन – यह महाकवि देव हैं और काष्ठजिह्वा स्वामी देव से प्राचीन हैं।

३. निधान प्राचीन – इन्होंने सं० १६७४ में 'जसवंतविलास' नामक अलंकार एवं नायिकाभेद का संमिलित ग्रंथ रचा था और ये १८१२ में शालिहोत्र की रचना करनेवाले, मोहम्मदी (सीतापुर) के अली अकबर खाँ के दरबारी निधान से भिन्न हैं।

४. निहाल प्राचीन – निगोहाँ (लखनऊ) वाले निहाल से प्राचीन हैं।

५. परमेश प्राचीन – सुधासरवाली सूची से परमेश प्राचीन का अस्तित्व सिद्ध है। यह सतावाँ जिला रायबरेलीवाले परमेश बंदीजन से प्राचीन हैं।

६. पंचम कवि प्राचीन – ये छत्रसाल बुंदेला के आश्रित थे। बाद में होनेवाले पंचम बुंदेलखंडी एवं डलमऊवाले पंचम से ये प्राचीन हैं।

७. बेनी प्राचीन असनीवाले – ये वस्तुतः उतने पुराने नहीं हैं जितने समझे जाते हैं। सरोज में इनका समय सं० १६६० दिया गया है, पर इन्होंने सं० १८१७ में 'रसमय' नामक नायिकाभेद का ग्रंथ लिखा था। फिर भी यह बैंतीवाले बेनी से प्राचीन हैं।

८. मुकुंद कवि प्राचीन – ये खानखाना के प्रशस्तिगायक कवि हैं और अन्य मुकुंदों से प्राचीन हैं।

९. लाल प्राचीन – ये गोरे लाल हैं, जिन्होंने महाराज छत्रसाल बुंदेला के लिये छत्रप्रकाश रचा। ये महाकवि पद्माकर के नाना थे। अन्य लालों से ये बहुत पुराने हैं।

१०. शिवसिंह प्राचीन – ये शिवसिंह सेंगर से पुराने हैं।

(ख) व्यर्थ प्राचीन —

१. प्रसिद्ध कवि प्राचीन – सरोज में प्रसिद्ध नाम का और कोई दूसरा कवि नहीं है, अतः इनके नाम के साथ 'प्राचीन' व्यर्थ जुड़ गया है, यद्यपि ये अब्दुर्रहीम खानखाना के आश्रित होने के कारण प्राचीन हैं।

२. व्रजदास प्राचीन – व्रजदास नाम का एक ही कवि सरोज में है, अतः यह भेदक 'प्राचीन' व्यर्थ है।

(ग) वे प्राचीन जो सरोजसर्वेक्षण में किसी दूसरे कवि से अभिन्न सिद्ध किए जा चुके हैं —

१. अजबेस प्राचीन – अजबेस नवीन में विलीन।

२. गुरुदत प्राचीन – गुरुदत्त शुक्ल मकरंदपुरवाले में विलीन।

३. श्रीधर प्राचीन – श्रीधर मुरलीधर में विलीन।

४. दत्त प्राचीन देवदत्त ब्राह्मण कुसमड़ावाले – ये वस्तुतः महाकवि देव से अभिन्न हैं।

(घ) हजारासंबंधी नवीन खोज से अपने नाम के अन्य कवियों में विलीन हो जानेवाले प्राचीन कवि –

१. कलानिधि प्राचीन – हजारा में इनकी कविता भी थी, अतः ग्वाल प्राचीन के समान कलानिधि प्राचीन की भी कल्पना शिवसिंह ने कर ली। इनका समय सं० १६७२ कल्पित हुआ। वस्तुतः ये जयपुर के प्रसिद्ध कवि श्रीकृष्ण भट्ट 'लाल', कवि कलानिधि (जन्म सं १७२६, मृत्यु सं० १८०६) से अभिन्न हैं।

२. ग्वाल प्राचीन – यद्यपि नवीन के 'सुधासर' से एक ग्वाल प्राचीन का अस्तित्व सिद्ध है, पर जिन ग्वाल की कविता का उदाहरण सरोज में एवं हजारा में है, वे संभवतः मथुरावासी प्रसिद्ध ग्वाल बंदीजन से अभिन्न हैं।

३. ठाकुर प्राचीन – ठाकुर प्राचीन वस्तुतः बुंदेलखंडी ठाकुर हैं, यह सिद्ध किया जा चुका है।

४. बलदेव प्राचीन – इनका समय सं० १७०४ दिया गया है। हजारा में होने से इनकी कल्पना की गई है। ये वस्तुतः बलदेव बघेलखंडी हैं, जिन्होंने सं० १८०३ में सत्कवि गिराविलास नामक संग्रह रचा।

५. बिहारी प्राचीन – सरोज एवं हजारा में इस कवि का एक और एक ही कवित्त उद्धृत है। हजारा में होने के कारण इनकी कल्पना की गई है। ये वस्तुतः बुंदेलखंडी बिहारी हैं, सरोज में जिनका समय सं० १७८६ दिया गया है।

६. रघुनाथ प्राचीन – हजारे में इनकी कविता होने के कारण इनकी स्वतंत्र कल्पना की गई है। इनका यह छंद सरोज में है —

ग्वालसंग जैबो ब्रज गाइन चरैबो ऐबो
जब कहा दाहिने ये नैन फरकत हैं।
मोतिन की माल वारि डारौं गुंजमाल पर
कुंजन की सुधि आए हियो धरकत हैं।

गोबर को गारो 'रघुनाथ' कछू याते भारो
कहा भयो महलन मनि मरकत हैं।
मंदिर हैं मंदर तें ऊँचे मेरे द्वारका के
ब्रज के खरिक तऊ हिये खरकत हैं॥

यह छंद रघुनाथ बनारसी के छंदों जैसा है और मेरा विश्वास है कि ये रघुनाथ प्राचीन रघुनाथ बंदीजन बनारसी से अभिन्न हैं। इन्होंने सं० १७९६ में रसिकमोहन, १८०२ में काव्यकलाधर, १८०७ में जगतमोहन की रचना की थी।

७. शिव कवि प्राचीन – हजारे में होने से इनका समय सं० १६२१ कल्पित किया गया है। ये संभवतः शिव कवि १ देवनहा, जिला गोंडा के अरसेला बंदीजन हैं, जिनका रचनाकाल सं० १८२०-६० वि० है।

८. हरीराम प्राचीन – इन हरीराम के संबंध में यद्यपि सरोज में यह उल्लेख नहीं है कि इनके कवित्त हजारा में हैं, पर हजारा एवं सरोज में इनका एक एवं एक ही कवित्त है। हजारा के आधार पर ही इनका समय सं० १६८० दिया गया है। वस्तुतः ये वह हरीराम हैं, जिन्होंने सं० १७९५ में डीडवाना, जोधपुर में छंदरत्नावली की रचना की थी। इस ग्रंथ में छंद एवं अलंकार साथ साथ वर्णित हैं।

(ङ) संदिग्ध प्राचीन —

निम्नांकित तीन कवियों के संबंध में किसी भी सूत्र से कोई सूचना सुलभ नहीं होती। संभवतः ये सभी अपने सहनामी कवियों से भिन्न नहीं हैं। पर निश्चित रूप से इनके संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता —

१. विश्वनाथ कवि प्राचीन ५, सं० १६५५। २. भोज कवि प्राचीन १, सं० १८७२। ३. मौन कवि प्राचीन २, बुंदेलखंडी सं० १७६०।

कुछ और कवियों का अन्य सहनामी कवियों में विलीनीकरण

१. चंद ४ – हजारा में जिन शृंगारी चंद के कवित्त हैं, उन्हें सरोज में चंद ४ नाम से स्वतंत्र कवि के रूप में स्वीकार किया गया है और इनका समय नहीं दिया गया है। इनका समय सं० १९०० के पूर्व किसी समय होना चाहिए। सुलतान पठान के आश्रित एवं उन्हीं के नाम पर बिहारीसतसई के दोहों पर कुंडलिया लगानेवाले चंद से इन्हें अभिन्न होना चाहिए। उक्त चंद सं० १७४९ में उपस्थित थे। — सर्वेक्षण, २१८।

२. जसवंत – सरोज में दो जसवंत हैं। एक तो जसवंतसिंह बघेल, तिरवानरेश, जिनकी मृत्यु सं० १८०१ में हुई। — सरोज-सर्वेक्षण २६५।

दूसरे जसवंत २, जिनकी कल्पना हजारा के आधार पर की गई है और जिनका समय उसी आधार पर सं० १७९२ दिया गया है। — सरोजसर्वेक्षण २६६।

हजारावाले ये जसवंत उक्त तिरवानरेश जसवंतसिंह हो सकते हैं।

३. जीवन २ – जीवन की कविता हजारे में थी, अतः इनका समय सं० १७५० से पूर्व सं० १६०८ कल्पित किया गया और जीवन २ (सरोज २९१) की मिथ्या सृष्टि की गई। यह जीवन वस्तुतः चंदनराय के पुत्र जीवन (सरोज २८२) हैं, जो पुवायाँ जिला शाहजहाँपुर के रहनेवाले भाट थे और जिन्होंने संवत १८७२ में 'बरिबंडविनोद' नामक ग्रंथ लिखा था।

४. जयदेव – सरोज में दो जयदेव हैं। पहले जयदेव कंपिलावासी प्रसिद्ध सुखदेव मिश्र के शिष्य एवं फाजिल अली के आश्रित थे। इनका समय सं० १७७८ दिया गया है। उदाहरण में फाजिल अली संबंधी एक कवित्त है।

दूसरे जयदेव का समय सं० १८१५ है। इनके कवित्त चोखे कहे गए हैं। इनका नीतिसंबंधी एक कवित्त दिया गया है।

सरोज में इन दोनो कवियों में से किसी के भी संबंध में यह उल्लेख नहीं है कि इनके कवित्त हजारा में थे। हजारा में एक जयदेव हैं जिनके दो कवित्त दिए गए हैं। इनमें से एक नायिकाभेद संबंधी है, दूसरा भड़ौआ या नीतिसंबंधी। हजारा के ये दोनो उदाहरण सरोज के दोनो जयदेवों की एकता की ओर संकेत करते हैं।

५. पहलाद – सरोज में दो पहलाद हैं। पहले पहलाद (सरोज ४६८) की सृष्टि हजारा के आधार पर हुई है। इनका समय सं० १७०१ दिया गया है। दूसरे पहलाद (४८५) चरखारी के बंदीजन हैं। ये प्रसिद्ध कवि खुमान के पितामह के पितामह थे और प्रसिद्ध महाराज छत्रसाल बुंदेला के पुत्र जगतराज (शासनकाल सं १७८८ - १८१५) के आश्रित थे। अतः इनका समय

सं० १८०० के आसपास होना चाहिए। सरोज के पहले पहलाद या हजारा के पहलाद को चरखारीवाले इन पहलाद बंदीजन से भिन्न न होना चाहिए।

६. मोहन – सरोज में ३ मोहन हैं —

१. मोहनलाल भट्ट – पद्माकर के पिता, जीवनकाल सं० १७४३ से १८४० के आसपास तक। — सरोज-सर्वेक्षण ६३१।

२. मोहन २ – ये जयपुरनरेश सवाई जयसिंह तृतीय के आश्रित थे। इनका शासनकाल सं० १७५५-१८०० वि० है। यही इन मोहन २ का समय होना चाहिए। सरोज में दिया इनका समय सं० १८७५ अशुद्ध है। — सरोज-सर्वेक्षण ६२२।

३. मोहन ३ – हजारा में इनकी कविता होने के कारण, इनकी कल्पना की गई है और इनका समय सं० १७१५ दिया गया है। — सरोजसर्वेक्षण ६३३।

ये तीसरे मोहन पद्माकर के पिता मोहनलाल भट्ट से अभिन्न हो सकते हैं। मोहनलाल भट्ट का संबंध जयपुर दरबार से था। बाद में पद्माकर का भी हुआ। हो सकता है कि दूसरे मोहन भी पहले ही मोहन (पद्माकर के पिता) हों।

७. राजाराम – सरोज में दो राजाराम हैं। ७४४ संख्यक राजाराम १, की सृष्टि हजारा के आधार पर हुई है। इनका समय सं० १६८० दिया गया है। ७७५ संख्यक राजाराम २ का समय सं० १७८८ दिया गया है। खोज रिपोर्ट के अनुसार एक राजाराम कायस्थ बुंदेलखंडी हुए हैं, जिन्होंने १८०६ में 'यमद्वितीया की कथा' की रचना की थी। विनोद (६२२) में इनके एक शृंगारकाव्य का भी उल्लेख हुआ है। सरोज के दोनो राजाराम एक ही हैं और ये राजाराम कायस्थ बुंदेलखंडी से अभिन्न हैं।

कतिपय कवियों के संबंध में कुछ नवीन सामग्री

१. अभयराम – सरोजसर्वेक्षण (२०) में अनुमान किया गया है कि जिन अभयराम की कविता हजारे में संकलित थी, वे बीकानेरनरेश अनूपसिंह के नाम

पर सं० १७५४ में 'अनूपशृंगार' नामक ग्रंथ के बनानेवाले अभयराम सनाढ्य हो सकते हैं। पर इस ग्रंथ के मिलने से यह अनुमान मिथ्या सिद्ध हो जाता है। इस संग्रह में अभयराम के दो छंद हैं, जिनमें से दूसरा सरोज (२६) में उदाहृत है। अतः सरोज के अभयराम वृंदावनी अभयराम ठाकुर हैं, जिनका 'श्री वृंदावनरहस्य-विनोद' नामक ग्रंथ सं० २००६ में वृंदावन से प्रकाशित हुआ है। उक्त ग्रंथ सं० १८०० के आसपास लिखित नागरीदास के 'बनजनप्रशंसा' नामक ग्रंथ के पूर्ण मेल में है। दोनो ग्रंथों में वृंदावन में निवास करनेवाले विभिन्न लोगों की प्रशंसा है और पद 'धन धन' या 'धन्य धन्य' से प्रारंभ होते हैं। अतः ये अभयराम ठाकुर भी यदि १८०० के आसपास हुए हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

२. **कवि राम** – सरोज में एक कवि राम (६२) का समय सं० १८६८ दिया गया है। दूसरे कवि राम को रामनाथ कायस्थ (६३) कहा गया है और सुंदरी तिलक में इनकी कविताएँ होने से इन्हें (सं० १६३४ में) विद्यमान कहा गया है। कवि राम (६२) एवं कवि राम (६३) तथा प्राप्त हस्तलेख में संकलित कवि राम के छंद एक ही व्यक्ति के हैं। यह व्यक्ति सं० १६०० के आसपास उपस्थित रहा होगा।

३. **घनश्याम शुक्ल**—रीवाँनरेश के यहाँ रहनेवाले असनी के घनश्याम शुक्ल का समय सं० १७३७ से १८३५ तक है। हजारा के रचनाकाल पर ध्यान देते हुए सं० १६३५ में उपस्थित किसी अन्य घनश्याम शुक्ल की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं और सरोज में दिया सं० १६३५ अशुद्ध है।

४. **घासीराम** – हजारा में घासीराम के कवित्त थे, ऐसा उल्लेख सरोज में है। हजारा के रचनाकाल के संबंध में अपनी भ्रामक धारणा के अनुसार शिवसिंह ने इनका समय सं० १६८० दिया है। विनोद में सरोज के घासीराम को मलावाँ जिला हरदोईवाले एवं पक्षीविलास के रचयिता घासीराम से अभिन्न माना गया है जो ठीक प्रतीत होता है। अब १६८० में उपस्थित किसी घासीराम की अनावश्यक कल्पना ठीक नहीं।

५. **वंशीधर कवि** – यह कवि हजारा के आधार पर कल्पित है (५२८)। ये वस्तुतः दलपतराय वंशीधर (३३३) वाले वंशीधर हैं, जिन्होंने १७६८ में अलंकार-रत्नाकर नामक ग्रंथ रचा था। सरोज में यह उल्लेख नहीं है कि इस कवि की कविता हजारे में थी।

६. **ब्रजलाल (५३६)** – सरोज में यह उल्लेख है कि इनकी कविता हजारे में थी। इनका समय सं० १७०२ दिया गया है। ब्रजलाल वस्तुतः बहुत परवर्ती कवि हैं। ये बेतिया के बंदीजन थे और काशीनरेश महाराज उदितनारायण के

आश्रित थे। इन्होंने सं० १८८१ में छंदरत्नाकर नामक ग्रंथ रचा था। इन ज्ञात ब्रजलाल से भिन्न किसी अन्य अज्ञात ब्रजलाल की कल्पना करना अब अनावश्यक है।

७. **हरजू कवि** – सरोज के अनुसार इनका समय सं० १७०५ है और इनके कवित्त हजारा में थे। हरजू मिश्र आजमगढ़ के बसानेवाले आजम खाँ के वंशज इरादत खाँ के मंत्री, सहायक एवं शुभचिंतक थे। इन्होंने सं० १७६२ में अमरकोश की टीका लिखी थी। इन्हीं ने बिहारीसतसई का आजमशाही क्रम लगाया था। हजारा के रचनाकाल के संबंध में जो शोध की गई है, उसके आधार पर हजारा में इन्हीं हरजू की कविता थी। अतः सरोज में दिया इनका समय सं० १७०५ अशुद्ध है।

हजारा के कवियों की वर्णानुक्रम सूची

पहली संख्या क्रमसंख्या और दूसरी संख्या सरोज की है—

१ अज्ञात, २।२४ अनंत, ३।२० अभयराम वृंदावनी, ४।२३ अभिमंन्य, ५।११ अमरेश, ६।२१ अमृत, ७।२५ आविल, ८।२२ आनंदघन, ९।४६ ईश्वर कवि, १०।५८ ऊधोराम, ११।१६ औलीराम, १२ कविनाथ, १३।६२ कवि राम, १४।७४ कविंद, १५।६२ कबीर, १६।१०२ कमाल, १७।१०३ कलानिधि कवि १ प्राचीन, १८।१०१ कल्याण, १९।१०६ कारेबेग फकीर, २०।७३ कालिदास त्रिवेदी, २१।९६ कासीराम, २२।८४ कुंदन कवि बुंदेलखंडी, २३।१०५, कुलपति मिश्र, २४।६३ केशवदास, २५ केशवपुत्रवधू, २६।१४८ गंग, २७।१६८ गिद्ध, २८।१७१ गोप, २९।१७५ गोपनाथ, ३०।१७७ गोविंद अटल, ३१।१७८ गोविंद जी कवि, ३२।१७९ ग्वाल प्राचीन, ३३।२१४ घनराय, ३४।२११ घनश्याम शुक्ल, ३५।२१३ घासीराम, ३६।२२० चंद्र कवि, ३७।२५० छीत, ३८।२४९ छैल, ३९।२९२ जगजीवन, ४०।२६४ जगदीश, ४१।२७६ जगनंद, ४२।२९३ जदुनाथ, ४३।२८७ जलालुद्दीन, ४४।२६६ जसवंत, ४५।२६१ जीवन, ४६।२७१ जयदेव, ४७।२९० जोइसी, ४८।३०८ टोडर, ४९।३११ ठाकुर, ५०।३२३ तत्ववेत्ता, ५१।३२५ ताज, ५२।३२६ तालिबशाह, ५३।३१६ तुलसीदास, ५४।३१८ तुलसी २, ५५।३२४ तेगपाणि, ५६।३३० तोष, ५७।३४१ या ३४२ दत्त कवि, ५८।३३४ दयाराम, ५९।३४७ दामोदर, ६०।३५२ दिलदार, ६१।३६० देव, ६२।३६३ या ३६८ देवीदास, ६३।४२३ नंदन, ६४।४२५ नंदलाल, ६५।३८८ नरहरि, ६६।४१६ या ४१७ नरोत्तम, ६७।३९८ नागरीदास, ६८।४३० - ३६ नाथ, ६९।४१० निधान १ प्राचीन, ७०।४११ निधान, ७१।३८९ निपट, ७२।४७० पतिराम, ७३।४७२ परबत, ७४।४५१ परमेश प्राचीन, ७५।४६८ पहलाद, ७६।४७१ पृथ्वीराज, ७७।४६० प्रसिद्ध, ७८।४९२ फूल, ७९।५२८ बंसीधर, ८०।५७० बनवारी, ८१।५०२ बलदेव प्राचीन, ८२।५१३

बलभद्र, ८३।५६६ बलिजू, ८४।५१६ वल्लभ रसिक, ८५।५६७ आजीदा, ८६।५५२ बिहारी कवि प्राचीन, ८७।५७१ विश्वंभर, ८८।५११ या ५१२ वीर, ८९।५६८ बुधराम, ९०।५६६ बृंद, ९१।५०७ बेनी कवि, ९२।५७२, बैताल, ९३।५१४ व्यास जी कवि, ९४।५३५ बृजदास कवि प्राचीन, ९५।५३०, ब्रजचंद, ९६।५३६ ब्रजलाल, ९७।४९७ और ५७९ ब्रह्म, ९८।६०१ भगवान, ९९।६२३ भरमी, १००।६१२ भीषम, १०१।६१८ भूधर काशीवाले, १०२।५९७ भूषण, १०३।६९६ मंडन, १०४।६४३ या ६४४ मकरंद, १०५।६९५ मतिराम, १०६।६६३ मदनकिशोर, १०७।६७१ मधुसूदन, १०८।६५६ मनसुख, १०९।६८३ मनोहर, ११०।६५७ मिश्र कवि, १११।६६० मीर रुस्तम, ११२।६६२ मीरी माधव, ११३।६३६ मुकुंद प्राचीन, ११४।६५८ मुरलीधर, ११५।६६१ मुहम्मद, ११६।६५९ मलूक, ११७।६२९ और ७०२ मान कवि, ११८।६५५ मोतीराम, ११९।६३३ मोहन प्राचीन, १२०।७८१ रंगलाल, १२१।७४० रघुनाथ प्राचीन, १२२।७५० रसरास, १२३।७४९ रसिक शिरोमणि, १२४।७७४ राजाराम कवि, १२५ राम कवि, १२६।७१८ राम जी सुकवि, १२७।७७२ रूपनारायण, १२८।८०८ लालनदास डलमऊवाले, १२९।८१९ लोधे, १३०।८३७ शंभु कवि, १३१।९१५ शशिशेखर, १३२।८९९ शिरोमणि, १३३।९३४ शिव प्राचीन, १३४।८९८ श्याम, १३५।८६३ श्री गोविंद, १३६।८६६, श्रीधर (श्रीधर मुरलीधर), १३७।८६५ श्रीपति, १३८।९२० शकल, १३९।८७८ सखीसुख, १४०।९१९ सदानंद, १४१।९१८ सहीराम, १४२।९२० सामंत, १४३।८७६ सुंदर, १४४।९२४ सुकवि (निधान), १४५।९३१ सूरति कवि, १४६।८८२ शेख, १४७।९२२ सेन, १४८।९३० सेनापति, १४९।८९७ सोभ कवि, १५०।९८७ हरजू, १५१।९६८ हरिकेश, १५२।९८६ हरिजन, १५३।९५९ हरिनाथ, १५४।९६४ हरीराम, १५५।९८८ हीरामणि, १५६।९८० हुसेन ।

एक सार्वजनीन लिपि

वी॰ राघवन्

आरंभिक जैनशास्त्रीय सूत्र अठारह लिपियों के संबंध में कहते हैं और दो बुद्धवादी ग्रंथ **महावस्तु** तथा **ललितविस्तर** तीस एवं चौंसठ लिपियों का उल्लेख करते हैं, जिनमें कुछ स्पष्टतः पहचान योग्य नहीं हैं और जिनमें बहुतों के नाम भारतीय हैं। हमारे समक्ष जो प्राचीनतम लिखित संकेत हैं वे मोहनजोदारो और हड़प्पा की मुद्राएँ हैं। वेदों में किसी लिखित लिपि की अवस्थिति पर मतभेद है। द्वितीय सहस्राब्दी ईसापूर्व की अनिर्णीत मोहनजोदारो लिपि के बाद, हमारे समक्ष वह प्राचीनतम तथा पढ़ी गई लिपि है, जिसमें चतुर्थ शती ई॰ पू॰ के कुछ सिक्के तथा परवर्ती काल के अशोकीय अभिलेख लिखे गए हैं।

अशोकीय अभिलेखों की लिपियाँ दो हैं—पश्चिमोत्तर में कुछ की, दाहिने से बाएँ पढ़ी जानेवाली, खरोष्ठी और भारत के विभिन्न भागों में शेष सभी की, बाएँ से दाहिने पढ़ी जानेवाली ब्राह्मी। ब्राह्मी नाम भारतीय है परंतु अधिकांश विद्वानों ने इसे विदेशी व्यापारियों के माध्यम से उत्तर सामी लिपि से गृहीत माना है। अस्तु, जिस रूप में इसका प्रयोग अशोकीय अभिलेखों में मिलता है, उससे स्पष्टतः यह ऐसी लिपि है जिसके प्रयोग, संयोजन तथा विकास की सुदीर्घकालीन अवधि भारत में रही है और फिर जिनके हाथों इसका विकास हुआ वे संस्कृत में निपुण तथा ध्वनिविज्ञान के ज्ञाता थे। अतः अशोक के कालपर्यंत, यह 'विश्व की वैज्ञानिकतम लिपि' थी।

यह ब्राह्मी ही थी जो बाद में संपूर्ण देश में व्यवहृत होती रही और कालानुक्रम तथा लिपिकारों एवं उत्कीर्णकों की आमंडन अथवा यत्र तत्र घुमाव देने की सहज वृत्ति से ब्राह्मी के आंचलिक रूपों का विकास हुआ। सर्वाधिक द्रष्टव्य भिन्नता इसके लेखन के दक्षिणी प्रकार, द्राविड़ी में है। प्राचीनतम निर्णीत दक्षिण भारतीय प्रतिरूप २०० ई॰ पू॰ के भट्टिप्रोलु अभिलेख में है। ब्राह्मी के उत्तर भारतीय लेखनप्रकार से उसके गुप्त, शारदा, आदर्श बंगला आदि रूपों का विकास हुआ। प्रथम अभिलेख जिसे एक प्रकार से देवनागरी में तक्षित कहा जा सकता है, ७५४ ई॰ का है।

प्राचीन तमिल साहित्य में **कण्णेळुत्तु** का उल्लेख है जिसके रूप को जानना अब कठिन है। इसके अतिरिक्त, दक्षिण भारतीय शिलालेखों और हस्तलेखों के

शान में तीन लिपियाँ हैं — वट्टेळुत्तु, ग्रंथ एवं तमिल। प्राचीनतम वट्टेळुत्तु, अर्थात् वंकिमाक्षर लेख ७वीं शती ई० के हैं; अधिक प्राचीनतर, जैसा कहा जा चुका है, दक्षिणी ब्राह्मी में हैं। वट्टेळुत्तु भी जो दक्षिण में सर्पण करती रही, उत्तर भारतीय लिपि से उद्भूत हुई थी। ग्रंथ लिपि का प्रसारण जिसका उद्भव भी ब्राह्मी से ही हुआ पल्लवों ने किया था और इसका उपयोग संस्कृत के लिये अद्यापि तमिल क्षेत्रों में होता है। जिस तमिल का प्रसार चोलकाल में हुआ, वह भी उसी स्रोत से विकसित हुई और वर्णमाला के कुछ अक्षरों में तमिल एवं ग्रंथ के वही रूप हैं, जब कि कुछ में थोड़ा अंतर है। मलयालम की भी वही स्थिति है और हर प्रकार से ग्रंथ, तमिल तथा मलयालम एक सी दिखती हैं। तात्पर्य यह कि उनका एकीकरण सरल है। कन्नड तेलुगु, जो मिलती जुलती हैं, उनके एकीकरण का प्रयास अब साहित्यिकों द्वारा हो रहा है; भले ही ये दोनो - ग्रंथ तमिल, मलयालम वर्ग से भिन्न हैं। परंतु यदि कुछ शिरोचिह्न या खत हटा दिए जायँ तो उपर्युक्त लिपियों के साथ कन्नड तेलुगु की समानता या एकता स्पष्टतः प्रस्फुटित हो जायगी।

अब देखें, देवनागरी का इतिहास क्या है? एक ऐसी ही समान धारा ने उत्तर में विभिन्नता प्रदान की है परंतु यदि हम शिरोरेखाओं या अलंकरण और प्रकारात्मक चित्रण की उपस्थिति या अनुपस्थिति को दृष्टि से परे करके देखें तो संस्कृतप्रसूता भाषाओं की लिपियों में उनकी पारस्परिक एकता के दर्शन हो सकते हैं। दक्षिण में चोल राज्यकाल में संस्कृत के पंडित कदाचित् ही नागरीलेखन से परिचित थे, जैसा कि **रामायण** के प्राचीनतम ज्ञात टीकाकार उडालि वरदराज का रामायणहस्तलेखों के संबंध में कथन है। विजयनगरकाल के अभिलेखों में देवनागरी अधिक विस्तृत हुई, परंतु स्कूलों, कालेजों, मुद्रणालयों और समान मुद्रित संस्कृत पाठ्य पुस्तकों के उपयोग ने ही संस्कृत की लिपि के रूप में देवनागरी की प्रतिष्ठापना की। इस लेखक ने स्कूल के अतिरिक्त, घर पर पंडित से संस्कृत का जो विशेष अध्ययन किया, वह सब ग्रंथ लिपि में था और अभी भी तमिलनाड में संस्कृत का पठनपाठन या मुद्रण ग्रंथ लिपि में और मलयालम, कन्नड तथा तेलुगु लिपियों में क्षेत्रानुसार प्रचलित है।

जैसा कि हम अपने संस्कृत कमीशन के प्रतिवेदन में संकेत कर चुके हैं, संस्कृत के लिये क्षेत्रीय लिपियों का प्रयोग मातृभाषा और संस्कृत के बीच की दूरी को कम करता है एवं संस्कृत को हमारी शिक्षा का अभिन्न अंग रखने में इसका बड़ा मनोवैज्ञानिक प्रभाव है और इस उद्देश्य के लिये संस्कृतपुस्तकों के मुद्रण में स्थानीय लिपि को रखना चाहिए। ये सभी क्षेत्रीय भाषाएँ सरलतापूर्वक संस्कृतध्वनियों को व्यक्त कर सकती हैं। तीनो द्रविड भाषाओं तेलुगु, कन्नड तथा मलयालम के संबंध में भी ऐसी कोई कठिनाई नहीं है—जिन्होंने कतिपय विशिष्ट द्रविडध्वनियों

को सुरक्षित रखते हुए अपनी ध्वनिप्रणाली का संस्कृतीकरण किया है। केवल तमिल में क्षेत्रीय उपयोग के लिये संस्कृत के पाठ ग्रंथ लिपि में मुद्रित होते हैं। अभी हाल में, संस्कृतव्यंजनमाला की द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ ध्वनियों के प्रतिनिधित्व के लिये अरबी संख्या २, ३ और ४ का योग कर संस्कृतपुस्तकें तमिल अक्षरों में छप रही हैं। तमिलमुद्रण के आरंभ से ही तमिल ने संस्कृत क्ष, ज, स और ह के लिये ग्रंथ अक्षरों को अपना लिया था, यहाँ तक कि समाचारपत्रों, कथापुस्तकों, हस्तपत्रकों में इन ग्रंथ अक्षरों का व्यवहार होता था, जब कि यह प्रणाली अब पूर्णतः परित्यक्त हो गई है। कुछ शुद्धतावादी आंदोलन और झुकाव अब इन अतिरिक्त ग्रंथ अक्षरों के परिहार की ओर हैं। वर्तमान लेखक स्वयं ग्रंथ या तमिल में गृहीत चार ग्रंथ अक्षरों तथा व्यंजनमाला के लिये अंकों के सहयोग से संस्कृतसामग्री के मुद्रण में योग देता रहा है। परंतु यह कार्य निर्दिष्ट लक्ष्य के नितांत विरुद्ध था अर्थात् उन लोगों में संस्कृत का प्रचार, जो देवनागरी (या ग्रंथ लिपि भी) नहीं पढ़ सकते। इसका नवीनतम उदाहरण केंद्रीय नाटक अकादमी के निर्देशन में मद्रास संगीत अकादमी के निमित्त लेखक द्वारा प्रस्तुत 'संगीतसंप्रदायप्रदर्शिनी' का तमिलाक्षरी संस्करण है। क्योंकि आंचलिक लिपियों में संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथों का प्रथम मुद्रण, संपादन या नवीन टीका के साथ प्रकाशन इसलिये भी घाटे का है कि सर्वभारतीय जनता की पहुँच उन तक नहीं हो पाती। किसी अंचलविशेष के प्रख्यात संस्कृतग्रंथकार, काव्य, नाटक या दार्शनिक एवं धार्मिक ग्रंथ अपने क्षेत्र के बाहर अनजाने रह जाते हैं, इसलिये कि उनका मुद्रण केवल आंचलिक लिपि में ही होता है। केंद्रीय संस्कृत बोर्ड ने इस लेखक का एक यह प्रस्ताव स्वीकार किया है कि केवल ग्रंथ या तमिल जैसी स्थानीय लिपियों में ही मुद्रित अधिक महत्व की संस्कृतपुस्तकें देवनागरी में पुनर्मुद्रित की जायँ। दक्षिण भारतीय शैव और वैष्णव मतों का ज्ञान इस तथ्य के कारण अवरुद्ध है कि इन दोनो संप्रदायों के **आगम, निबंध** तथा शास्त्र-ग्रंथों का अधिकांश केवल ग्रंथ और तेलुगु में ही मुद्रित है।

उत्तर के कुछ भागों में एक समय के लिये फारसी अरबी लिपियों के चलन के कारण संस्कृत का उच्चारण शिथिल हो गया।

सद्भाव तथा एकता के किसी भी कार्यक्रम में संपर्क की समान भूमि या माध्यम के ग्रहण की कल्पना स्वतः निर्विवाद है। यदि दक्षिण भारतीय साहित्यों के बृहत्तर ज्ञान का प्रसार उत्तर के लोगों में अभीष्ट है तो इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है कि दक्षिण भारत के श्रेष्ठ ग्रंथों को उनके निकट एक ऐसी लिपि के माध्यम से लाया जाय, जो प्रथम बाधा को तोड़कर एक प्रभावकर सेतु का कार्य कर सके। मैं इस दिशा में एक महत् उपक्रम की चर्चा करूँगा, जिससे मेरा संबंध था। यह थी देवनागरी लिपि के सर्वभारतीय पाठकों को महान् कर्णाटक रचनाकार संत त्यागराज

की समस्त तेलुगु संगीतरचनाओं के विशाल संग्रह की देवनागराक्षरों में भेंट।[1] ऐसे प्रयासों को अधिकारियों द्वारा उदार सहायता मिलनी चाहिए। जब तक व्यावहारिक सहायता न दी जायगी, एकता की समस्याओं पर कोरे वादविवाद का कोई फल न होगा। ऐसा ही एक प्रयास मैंने अखिल भारतीय लेखकसंमेलन के मद्रास अधिवेशन के अवसर पर किया था, जब मैंने कुछ मित्रों के साथ संगमकाल से आधुनिक काल तक के तमिलकाव्य के एक संग्रह का देवनागरी लिप्यंतरण और अँगरेजी अनुवाद प्रकाशित कराया। यह भूलना नहीं चाहिए कि प्राचीन भारतीय मुद्राकालीन अभिलेखों में इस प्रकार की द्विलिप्यात्मकता और बहुलिप्यात्मकता ने पुरातत्वजगत् में प्राचीन लिखावटों की पहचान तथा ऐतिहासिक तथ्यों के पुनरुद्धार में प्रभूत योग दिया है।

क्षेत्रीय रचनाओं का देवनागरी लिपि में मुद्रण होने से न केवल पाठ के संबंध में ही प्रथम अवरोध का निवारण होगा बल्कि उनके अर्थ के समझने में भी इससे निश्चित सहायता मिलेगी। सभी लेखकों ने चाहे वे देश के किसी भी भाग के हों और चाहे किसी भी क्षेत्र की भाषा में रचना करते हों, पर्याप्त मात्रा में संस्कृत शब्दावली का व्यवहार किया है, जो सारे देश में समझी जाती है। रवींद्रनाथ ठाकुर की बँगला रचनाओं के संबंध में मेरा विचित्र अनुभव रहा है। अभी दो वर्ष पूर्व तक मैंने कवि के अँगरेजी भाषण या उनकी रचनाओं के अँगरेजी अनुवाद ही पढ़े थे। परंतु जब से साहित्य अकादमी ने कवि की रचनावली के देवनागरी संस्करण निकालने आरंभ किए हैं, मुझे कवि तथा उनकी अभिव्यंजना के मौलिक माध्यम तक सीधी पहुँच का लाभ हुआ है। संस्कृत तद्भवों और तत्समों के प्रचुर संपर्क, प्रत्ययों तथा वाक्यरचना पर थोड़ी ऊपरी कल्पना के सहारे मैं कवि की मूल रचनाओं के आस्वादन के साथ उनकी **वाल्मीकिप्रतिभा** और **नटीर पूजा** के अनुवाद मूल से कर सका।

अखिल भारतीय कार्यों के लिये समान लिपि के रूप में देवनागरी का समर्थन लगातार होता रहा है, यद्यपि हाल के मुख्य मंत्रियों के संमेलन में इस सिद्धांत के स्वीकृत होने से इस प्रश्न ने अब नई गति ले ली है। इस देश में हर अच्छी बात कुछ विशेष मनोवृत्तियों द्वारा अवरुद्ध हो जाती है। पहले तो जब समस्याओं का सामना करना हो तब वादविवाद के जोश के द्वारा और फिर बाद में आनेवाले दूसरे विचारों के कारण, जिनके सार्वजनिक रूप से सहमत होने की संभावना रहती है वही निजी क्षेत्र में निष्क्रिय रूप से उदासीन या कर्मठतापूर्वक उसके विरोध में रहते हैं। पूर्णता के हिमायती, ऐसे लोग भी हैं ही, जिनके सामने सदा एक तीसरा

१. द स्पिरिचुअल हेरिटेज आव् त्यागराज, रामकृष्ण मिशन स्टूडेंट्स होम, मैलापुर, मद्रास ४।

विकल्प रहता है जिसके कारण वह असंभव या दुःसाध्य सर्वोत्तम उसके पथ में अड़ता है जो उत्तम और व्यवहारिक हो। दूसरी श्रेणी में वे हैं जो भारतीय लिपियों के समस्त वैविध्य या मिश्रण को फेंककर रोमन लिपि को स्वीकार कर लेते हैं। अपने जोश में वे यहाँ तक कह डालते हैं 'एक विदेशीय लिपि क्यों नहीं ? आखिर ब्राह्मी भी तो मूलतः अभारतीय उत्पत्ति की ही लगती है।' उनके ऐसे साथी भी हैं जो किसी भारतीय वस्तु को मुख्यता न देकर पूर्णतः अपना मत विदेशी वस्तु के पक्ष में देंगे। वे ऐसे प्राचीन शासकों या उनके कूटमंत्रियों के समान हैं जो आपसी झगड़ों के कारण विदेशी शक्तियों को प्रवेश या अधिकार करने के लिये आमंत्रित कर देते थे।

इसके अतिरिक्त देवनागरी की तुलना में रोमन की असुविधाओं पर भी विचार किया जा सकता है—वैज्ञानिक दृष्टि से और बिना किसी भावावेश के। हमने रोमन अँगरेजी के द्वारा सीखी और भारत में अँगरेजी साक्षरता निम्नतम है। इसका अध्ययन अब जैसा क्षीण है, आगे और भी क्षीण होगा। जैसी रोमन अँगरेजी के द्वारा सीखी गई है वह ध्वनि का प्रतिनिधित्व नहीं करती और भारतीय भाषाओं की ध्वनियों से मेल नहीं खा सकती। अंतरराष्ट्रीय प्राच्य अध्ययन के लिये रोमन लिप्यंतरण की स्वीकृत प्रणाली है जिसमें अक्षरों पर ऐसे ध्वनिचिह्नों की भरमार है, जो इसकी कठिनाई को बढ़ानेवाली ही है। यदि ऐसी रोमन का प्रयोग करना है, जैसा कि अँगरेजी वर्तनीसुधार के समर्थकों का उपक्रम है, तो यह प्रायः एक नई लिपि ही होगी।

अस्तु, लिपि के प्रश्न पर यह लेखक प्रमादग्रस्त नहीं है। वह एक लिपि, देवनागरीप्रणाली का समर्थक है जिसके संबंध में बहुत पहले आधुनिक भाषाविज्ञान के जन्मदाता सर विलियम जोंस ने कहा था, 'यह दूसरी किसी की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक ढंग से क्रमित है।' परंतु इसे बलपूर्वक लादना नहीं है। साथ ही स्थानीय लिपियों से मोह रखनेवालों को देवनागरी के प्रति प्रतिक्रियात्मक (भयभावनाग्रस्त) होने की आवश्यकता नहीं और न यह सोचने की कि स्थानीय लिपियों के विनाश की आशंका है।

देवनागरी का प्रयोग उन लोगों के लिये होगा जो स्थानीय लिपि के बाहरी क्षेत्र के हैं। ऐसा न होने पर तो अनुवादों के अतिरिक्त किसी को आंचलिक साहित्य के पढ़ने का अवसर ही न रहेगा। अतः उस क्षेत्र के भीतर उपयोग में आनेवाला चाहे स्थानीय साहित्य हो चाहे संस्कृतसाहित्य, उसके लिये तो स्थानीय लिपि ही सर्वेसर्वा रहेगी। अखिल भारतीय उपयोग, बोध तथा मूल्यांकन में देवनागरी का प्रयोग होगा। साथ ही शास्त्रीय ज्ञान एवं शोध के निमित्त तथा अंतरराष्ट्रीय स्थितियों में रोमन लिपि (ध्वनिसंकेतात्मक) का व्यवहार हो सकता है।

*

अलंकारशास्त्र को पंडितराज जगन्नाथ की देन

राममूर्ति त्रिपाठी

पंडितराज की कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभाएँ असाधारण हैं। जहाँ वे एक ओर अपनी कारयित्री प्रतिभा पर गर्व करते हुए अपने लक्षणग्रंथ में परकीय काव्य का ग्रहण नहीं करते और उदाहरणानुरूप नूतन निर्माण ही पसंद करते हैं तथा साथ ही यह गर्वोक्ति भी करते हैं कि कहीं कस्तूरीमृग अन्य सुमनों की गंध को मनसा भी ग्रहण करना चाहता[1] है वहीं अपनी भावयित्री प्रतिभा के संबंध में वे कहते हैं कि भले अन्यान्य सहृदय धुरीण अर्थों का परिष्कार करते रहें, पर क्या उनके प्रयास से मेरा प्रयास गतार्थ हो सकता है ? तिमींद्रों के संक्षोभ से कहीं मंदराचल का आयास अपार्थ हो सकता[2] है ? ऐसा धुरीण मनीषी विभिन्न साहित्यिक सिद्धांतों में भी अपनी अनेकविध मौलिकता क्यों न प्रदर्शित करेगा ?

काव्यलक्षण और पंडितराज

संस्कृतलक्षणग्रंथों में काव्य के स्वरूप के संबंध में कुल तीन प्रकार की धारणाएँ मिलती हैं — १. शब्दवादी, २. अर्थवादी एवं ३. शब्दार्थवादी[3]। मध्यम धारा का नाममात्र ही उल्लेख है, शेष दो धाराएँ भी अपने दो दो अवांतर रूपों में मिलती हैं। वे दो अवांतर रूप हैं — सामान्य धारा एवं विशिष्ट धारा। सामान्य काव्य का लक्षण सामान्य धारा में और विशिष्ट या उत्कृष्ट काव्य का लक्षण विशिष्ट धारा में मिलता है। उदाहरणार्थ, शब्द को ही काव्य माननेवाली शब्दवादी धारा का सामान्य रूप 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'[4] में और विशिष्ट रूप चंद्रालोककार के काव्यलक्षण[5] में

१. रसगंगाधर, पृ० ५।

२. वही।

३. भारतीय साहित्यदर्शन।

४. साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद।

५. निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
सालंकाररसानेक वृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्॥ —चंद्रालोक

मिलेगा। इसी प्रकार शब्दार्थवादी धारा का सामान्य रूप भामह के 'शब्दार्थौसहितौ काव्यम्'[६] में और विशिष्ट रूप मम्मट की 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'[७] में मिलेगी। पंडितराज यद्यपि प्राक्तन प्रवाहित शब्दधारा में ही अपने काव्यलक्षण — 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'[७], को रखते हैं — पर अनेक ढंग से उसमें मौलिकता और नवीनता भी प्रदर्शित करते हैं। पहले तो वे शब्दार्थवादियों के सामान्य आधार का ही खंडन करते हैं और आगे चलकर सामान्य एवं विशिष्ट धाराओं के स्वरूपाधायक तथा उत्कर्षाधायक विशेषणों की आलोचना करते हुए अपने मत की श्रेष्ठता समर्थित करते हैं। जो लोग शब्दार्थयुगल में काव्य पद की शक्ति स्वीकार करते हैं — दोनो को काव्य कहते हैं। उनके विरोध में पंडितराज के तीन तर्क हैं — पहला यह है कि शक्तिग्राहक लोकप्रमाण विरोध में है। वह इस प्रकार कि 'काव्य सुनने लायक है' जब हम ऐसे लौकिक प्रयोग सुनते हैं, तो निश्चय काव्य को सुनने का विषय ही समझते हैं और सुनने का विषय शब्द ही हो सकता है, न कि शब्द और अर्थ, दोनो। दूसरा तर्क यह है कि आस्वादोद्बोधक होने के कारण शब्द एवं अर्थ दोनो को काव्य नहीं कहा जा सकता। कारण, इस तर्क की अमान्यता; अन्यथा राग भी रसव्यंजक होने से काव्य कहा जा सकता है। तीसरा तर्क यह है कि जो लोग शब्द अर्थ दोनो को काव्य मानते हैं, उन लोगों का मंतव्य क्या हो सकता है? क्या दोनो मिलकर काव्य हैं अथवा दोनो पृथक् पृथक् काव्य हैं? जहाँ तक पहला पक्ष है वह उतना ही असंगत है जैसे, दो को एक कहना। दूसरे पक्ष में सहृदय लोग विरुद्ध हैं, अन्यथा प्रत्येक काव्य में अर्थ एवं शब्द की सत्ता होने से दो दो काव्य का व्यवहार माना जाने लगेगा। इसलिये शब्दार्थवादियों का पक्ष अमान्य है। इसके अतिरिक्त चाहे शब्दवादी धारा हो या शब्दार्थवादी — विशेषण शास्त्रव्यावर्तक तथा काव्यसंग्राहक तत्व - अन्य कोई भी ठीक नहीं है, चाहे शब्दवादियों की रसात्मकता हो या विशिष्ट शब्दार्थवादियों की गुणवत्ता, अलंकारवत्ता एवं दोषाभाववत्ता जैसे उत्कर्षाधायक विशेषण हों। तर्क यह है कि विश्वनाथ काव्य के लिये वाक्य में जब रसात्मकता या रसव्यंजकता स्वीकार करते हैं, तो रससंस्पर्श किस रूप में मानते हैं? पूर्णतः विभावादि के साथ या जिस किसी भी रूप में। पहला पक्ष इसलिये असंगत है कि प्रकीर्णक वर्णनकाव्य अकाव्य हो जायँगे और इनके संग्रहार्थ 'यथाकथंचित' रससंस्पर्श ही माना जाय तो अकाव्यात्मक साधारण वाक्य - 'गो चर रही है' भी काव्य की कोटि में आ जायगा, क्योंकि

६. काव्यालंकार, प्र० प०।

७. रसगंगाधर, प्र० आ०।

इस वाक्य का अर्थ भी गौविषयिणी रति का विभाव हो ही जायगा। रहे उत्कर्षाधायक विशेषण, उन्हें काव्यलक्षण में तो कभी देना ही नहीं चाहिए। कारण यह कि लक्षण ऐसा होना चाहिए जिससे लक्ष्यमात्र का संग्रह हो सके, उत्कर्षाधायक विशेषण-संवलित लक्षण तो केवल उत्कृष्ट काव्यों का ही संग्रह कर सकते हैं। आगे तो गुणवत्ता, अलंकारवत्ता एवं दोषाभाववत्ता जैसे उत्कर्षाधायक विशेषणों का जमकर निराकरण है। इस प्रकार सभी पूर्ववर्ती मतों की आलोचना करते हुए अंत में अपना लक्षण निर्धारित किया है — रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला शब्द ही काव्य है। अर्थगत रमणीयता एक विशेष प्रकार का आह्लाद है, जिसमें सहृदयों का हृदय साक्षी है, जिसे चमत्कार के नाम से भी अभिहित किया जाता है। यही रमणीयता, चमत्कार या लोकोत्तर आह्लाद मुख्य तत्व है जिसके कारण काव्य अपने को अकाव्यात्मक वाङ्मय से पृथक् कर लेता है।[८]

काव्यहेतु : पंडितराज तथा अन्य आलंकारिक

पंडितराज ने काव्यहेतुओं का विचार भी प्राक्तन आलंकारिकों से पृथक् ही किया है। सबसे पहले और प्रमुख रूप में प्रकाशकार का खंडन करते हुए यह कहा है कि काव्य का कारण केवल प्रतिभा ही है। हाँ, यह दूसरी बात है कि वह प्रतिभा कभी शक्तिवश स्फुरित होती है और कभी व्युत्पत्ति तथा अभ्यासवश।[९] मम्मट ने शक्ति, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास तीनो को मिलित रूप में कारण माना है।[१०] वस्तुतः विचार किया जाय तो यही कहा जा सकता है कि प्रकाशकार उत्कृष्ट काव्य का हेतु बता रहे हैं और मम्मट सामान्य काव्य का। प्रकाशकार के 'इति हेतुस्तदुद्भवे' में 'उद्भवे' का अर्थ 'उत्कृष्ट उत्पाद' ही किया गया है, अर्थात् उत्कृष्ट काव्य की उत्पत्ति के लिये तीनो की मिलित रूप में हेतुता मानी जानी चाहिए। हाँ, सामान्य काव्य के लिये पंडितराज की बात ठीक है। अब, यह देखना है कि जिन लोगों ने सामान्य काव्य की हेतुता का विचार किया है, उनसे पंडितराज की क्या विशेषता है। भामह ने प्रतिभावानों से ही काव्य का निर्माण संभव माना है[१२], पर काव्यक्रिया के प्रति उनके उन्मुख होने के लिये यह आवश्यक बताया है कि वे व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के द्वारा[१३]

८. रसगंगाधर, प्रथम आनन।

९. वही, पृ० ६।

१०. काव्यप्रकाश, प्र० उ०।

११. वही।

१२. काव्यालंकार, प्र० प०।

१३. वही।

करें। पंडितराज इनसे इस माने में भिन्न हैं कि इन्होंने शक्ति की चर्चा का कोई संकेत नहीं किया। दंडी ने काव्यकारण की संपत्ति प्रतिभा, श्रुत तथा अभ्यास को कहा है।[१४] इस प्रकार जहाँ दंडी तीनो को मिलित रूप में कारण कहते हैं, वहाँ पंडितराज श्रुत तथा अभ्यास का फल प्रतिभा को मानते हैं और केवल प्रतिभा को ही काव्यहेतु कहते हैं। काव्यविलासकार चिरंजीव[१५] भी दंडी की ही भाँति काव्य-कारण की बात सोचते हैं। दंडी से पंडितराज इसलिये मिलते भी हैं कि दोनो ने श्रुत तथा यत्न को भी पृथक् से कारण कहा है, पर शक्ति और प्रतिभा के संबंध के बारे में दंडी मौन हैं। वामन ने कवित्व का बीज 'प्रतिभान'[१६] को कहा है पर पंडितराज से ये भी इसलिये भिन्न हैं कि पंडितराज ने प्रतिभा का स्वरूप 'काव्यानुकूलशब्दार्थोपस्थिति'[१७] बताया है, जब कि वामन ने उसे संस्काररूप[१८] माना है। रुद्रट ने काव्यकारण के रूप में तथाविध विस्फुरण को कारण अवश्य माना है, परंतु उसे वे 'शक्ति'[१९] के नाम से कहते हैं। प्रतिभा को संस्कारविशेषरूप माननेवाले आचार्य चिरंजीव[२०], प्रदीपकार गोविंद ठक्कुर[२१], म० म० गंगाधर शास्त्री[२२] आदि हैं। उनसे पंडितराज का मतभेद स्पष्ट है। श्रुताभ्याससहित प्रतिभा को कारण माननेवालों में चंद्रालोककार जयदेव[२३], विद्यानाथ[२४], दंडी[२५], नरेंद्रप्रभ सूरि[२६] आदि हैं जिनसे पंडितराज का विचार इसलिये नया हो जाता है कि इन लोगों ने तीनो को समस्तर का कारण कहा है, जब कि पंडितराज ने श्रुताभ्यास तथा प्रतिभा में कार्यकारणभाव - संबंध कहा

१४. काव्यादर्श, प्र० प० ।
१५. काव्यविलास ।
१६. कवित्वबीजं प्रतिभानम् १।३।१६, काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ।
१७. रसगंगाधर, प्र० आ० ।
१८. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ।
१९. काव्यालंकार ।
२०. काव्यविलास ।
२१. काव्यप्रदीप, प्र० उ० ।
२२. रसगंगाधर, टिप्पणी ।
२३. चंद्रालोक, प्रथम मयूख ।
२४. प्रतापरुद्र यशोभूषण ।
२५. काव्यादर्श, प्र० प० ।
२६. अलंकारमहोदधि ।

है। दो तीन आचार्य, जैसे मंखुक[२७] आदि ऐसे भी हैं जिन्होंने श्रुत, अभ्यास, शक्ति और प्रतिभा—चारों को कारण माना है। पंडितराज इन लोगों से भी प्रतिभा के साथ शेष तीन का अनियत रूप में कार्यकारणभाव - संबंध स्वीकार करने से भिन्न हो जाते हैं। इस प्रकार पंडितराज अपने इन विचारों में सर्वथा नवीन और स्पष्ट हैं। 'प्रतिभैव गरीयसी'[२८], एक भिन्न बात है और 'प्रतिभैव केवला कारणम्'[२९] भिन्न। पहली बात इसलिये भिन्न है कि कइयों में श्रेष्ठ कारण है और दूसरे का अर्थ यह है कि 'प्रतिभा' के विना काव्य हो ही नहीं सकता और केवल प्रतिभा से ही काव्य होता है। हाँ, वह प्रतिभा कभी शक्तिजनित हो सकती है और कभी व्युत्पत्ति तथा अभ्यासवश। पंडितराज का यही मत है।

काव्यप्रयोजन के संबंध में इनकी कोई नई देन नहीं है। अर्थ की दृष्टि से काव्यप्रभेद पर किए गए विचारों में अवश्य नवीनता है। आनंदवर्धन,[३०] एवं मम्मट[३१], विद्यानाथ[३२], हेमचंद्र[३३] ने अर्थयुक्त चमत्कारगत तारतम्य की दृष्टि से काव्य के तीन भेद माने – उत्तम, मध्यम एवं अधम और ऐसा करने का कारण यह बताया है कि प्रतीयमान अर्थ कभी स्फुट हो सकता है और कभी अस्फुट तथा अस्फुटतर। स्फुट में भी दो स्थितियाँ हैं – प्रधान और अप्रधान। प्रधान तथा स्फुट रूप में जहाँ प्रतीयमान की स्थिति रहती है वहाँ उत्तम काव्य या ध्वनिकाव्य, जहाँ स्फुट पर समप्रधान, अप्रधान या अस्फुट स्थितियाँ रहती हैं, वहाँ मध्यम या गुणीभूत व्यंग्य और जहाँ प्रतीयमान की स्थिति अस्फुटतर रहती है वहाँ अधम अथवा चित्रकाव्य कहा जाता है। महिमभट्ट का कहना है कि काव्य रसात्मक ही होता है और रसप्रधान ही होता है। इसलिये रसरूप अनुमेय अर्थ की दृष्टि से काव्य एक ही प्रकार का हो सकता है।[३४] साहित्यदर्पणकार ने काव्य की परिभाषा करते हुए कहा है कि रसात्मक वाक्य काव्य है। इनकी दृष्टि से रस कभी स्वयं प्रधान रहता है और कभी अतिरिक्त अर्थ का उपकारक भी। अतः इन दो स्थितियों की

२७. साहित्यमीमांसा।

२८. काव्यमीमांसा।

२९. रसगंगाधर, प्र० आ०।

३०. ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत।

३१. काव्यप्रकाश, प्र० उ०।

३२. साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद।

३३. काव्यानुशासन, प्र० प०।

३४. व्यक्तिविवेक, प्र० विमर्श।

दृष्टि से रसात्मक अर्थ को ध्यान में रखते हुए काव्य दो ही प्रकार का हो सकता है।[३५] पंडितराज ने इन सबसे मतभेद रखते हुए यह कहा कि काव्य चार प्रकार[३६] का होना चाहिए — उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम। ध्वन्यालोककार के नजदीक होते हुए भी जहाँ मम्मट अथवा आनंद चित्रकाव्य को एक ही प्रकार का मानते हैं, वहाँ पंडितराज अर्थचित्र तथा शब्दचित्र नाम के दो भेद मानते हैं और तर्क देते हैं कि अर्थचित्र एवं शब्दचित्र जनित चमत्कार में अंतर है। तो इस दशा में दोनो को एक श्रेणी की वस्तु मानना कहाँ तक समुचित होगा। मध्यम[३७] या गुणीभूत काव्य के संबंध में भी इनकी धारणा भिन्न है।

जहाँ मम्मट आदि **अप्रधान** व्यंग्य को गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं, वहाँ पंडितराज **अप्रधान** ही को गुणीभूत व्यंग्यकाव्य कहते हैं। दोनो के वक्तव्यों में अंतर यह है कि जहाँ प्रकाशकार पार्यंतिक अर्थ की अपेक्षा ही अप्रधान की शर्त रखते हैं, चाहे और किसी कोटि के अर्थ से वह प्रधान भी हो तो कोई हर्ज नहीं, वहाँ पंडितराज का कहना है वह गुणीभूत व्यंग्य तभी है जब सर्वथा अप्रधान ही हो – किसी भी स्फुट अर्थ की अपेक्षा उसे प्रधान नहीं होना चाहिए।

चौथी देन पंडितराज की रससंबंधी व्याख्या में है। इनसे पूर्व जो भी भरतसूत्र की व्याख्याएँ की गई थीं, उनमें प्रत्यभिज्ञादर्शन पर आश्रित अभिनवगुप्त की व्याख्या सुंदर मानी जाती थी। मम्मट आदि सहृदय शिरोमणियों ने उसी मत को महत्वपूर्ण माना। पंडितराज ने अद्वैतवेदांतदर्शन के आधार पर उसकी नई व्याख्या दी। उन्होंने कहा कि विभावादि की समुदित प्रतीति के फलस्वरूप एक अलौकिक व्यापार होता है, जिससे रसोपयोगी सामग्रीविषयक आत्मा पर पड़ा हुआ आवरण भंग होता है। फिर यह भग्नावरण चिद् अपने आनंदात्मक स्वरूप के साथ विभावादि प्रकाश्य स्थायी का ग्रहण करता है और इन्हीं की पानकरसन्यायेन एक रसप्रतीति ही रसास्वाद है। अभिनव तथा मम्मट आदि 'चिद्विशिष्टस्थायी' को रस कहते थे। जहाँ चिद् विशेषण था और स्थायी विशेष्य। पंडितराज को यह खटका कि जड़ स्थायी विशेष्य हो – प्रधान हो और 'चिद्' विशेषण अप्रधान ? नहीं, मानना यह चाहिए कि 'स्थायी विशिष्ट चिद्' रस[३८] है।

३५. साहित्यदर्पण, प्र० परि०।

३६. रसगंगाधर, प्र० आ०।

३७. वही।

३८. वही।

पाँचवीं क्रांतिकारी विचारसंतति का धारावाहिक उल्लेख इनके गुणसंबंधी विमर्श के प्रसंग में मिलता है। वहाँ इन्होंने समस्त पूर्ववर्ती गुणसंबंधी विचारधाराओं का उल्लेख किया है और उसे तीन मार्गों में विभक्त किया है — चिरंतन, नव्य एवं नव्यतर। नव्यतर में पंडितराज की स्वयं अपनी गणना है। चिरंतनों के बीस गुणों को तो नव्यों (प्रकाशकार, आनंदवर्धन आदि ध्वनिवादी) ने ही निर्मूल कर दिया और कहा कि गुण शब्द अर्थ के नहीं बल्कि शब्दार्थात्मक काव्य की आत्मा रस के धर्म हैं और इन्हें तीन इसलिये मानना चाहिए कि रसों के अनुभव से चित्त की तीन ही दशाएँ होती हैं — द्रुति, दीप्ति और विकास। एक एक रसवर्ती गुण के एक एक कार्य हैं। पंडितराज का तर्क है कि ध्वनिवादी गुण का जो रूप मानते हैं, जो आधार मानते हैं और उनका जो कार्य मानते हैं, वह सब गलत है। वस्तु वही मानी जाती है, जो सप्रमाण हो। 'गुण' की तथाकथित सत्ता में कोई प्रमाण नहीं। जिस प्रकार अग्निगत दाहजनक 'उष्णता' गुण प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध है, उसी प्रकार यदि द्रुत्यादिजनक रसगत रस से कोई भिन्न वस्तु प्रत्यक्ष सिद्ध होती तो उसे माना जाता। अनुमान इसलिये असमर्थ है कि गुण जैसी चीज का कोई अनुमापक कार्य ही नहीं है। द्रुति आदि वस्तुतः गुण के नहीं रस के ही कार्य हैं। रसों के तरतम से द्रुति आदि में भी तरतम भाव होता ही है। तीसरी बात यह कि अद्वैत मत से आत्मा निर्गुण होता है, उसमें गुण कहाँ। ऐसे ही अनेक तर्कों से गुणों का तथाविध रूप निरस्त किया गया है। मधुरादि व्यवहार की सिद्धि की दृष्टि से यदि सोचा जाय तो यह कहा जा सकता है कि चित्त को द्रुत करने में जिन जिन को प्रयोजकता प्राप्त है, वे सब माधुर्यवान् कहे जायँ – शब्द, अर्थ, रचना, रस, सब कुछ। इस प्रकार गुणों के स्वरूप के संबंध में इनकी यह विचित्र धारणा है।[३९]

छठी देन है — भावोदय, भावसंधि, भावशबलता एवं भावशांति की संज्ञा के विषय में। पंडितराज की स्थापना है कि जिस प्रकार 'स्थिति' दशा की चमत्कारकारिता के अनुभवसिद्ध होने पर भी उसे 'भावस्थिति' नाम न देकर 'भाव' ही नाम देते हैं, उसी प्रकार भावों की अन्य स्थितियों (संधि, शबलता, शांति) की भी मुख्यता इन संज्ञाओं में नहीं होनी चाहिए। दूसरी बात यह भी है कि यदि भावशांति नाम रखा जाय और संज्ञा द्वारा 'भाव' की अपेक्षा 'शांति' को ही प्रधान माना जाय तो उस उदाहरण में जहाँ प्रधान (शांति) व्यंग्य है और 'भाव' अप्रधान वाच्य है, वहाँ प्रधानानुरोधवश भावशांति का व्यवहार होना चाहिए, जब कि यह बात आलंकारिकों को संमत नहीं है। इसी प्रकार जहाँ भाव व्यंग्य है और

३९. वही।

शांत्यादि वाच्य हैं, वहाँ सहृदयसंमत ध्वनिव्यपदेश भी न हो पायगा। इसलिये सबको 'भाव' संज्ञा ही देनी चाहिए। रही अंतर की बात, वह भिन्न भिन्न अवस्थाओं से हो जायगी।[४०]

रस को असंलक्ष्यक्रम ही माना जाता है, पर जगन्नाथ पंडित ने उसे संलक्ष्य-क्रम भी कहा है।[४१] वस्तुतः यह कोई इनकी नई बात नहीं है। इसे तो आनंदवर्धन ने पहले ही कह दिया था।[४२] हाँ उस विषय में एक नया प्रश्न अवश्य रखा कि यदि रस को संलक्ष्यक्रम माना जायगा तो संलक्ष्यक्रम के भेदों की गणना कराते समय जो अर्थशक्तिमूलध्वनि के बारह प्रभेद अभिनव गुप्त तथा मम्मट ने कहे हैं उनकी संगति किस प्रकार होगी। समाधान देते हुए यह कहा कि संलक्ष्यक्रम 'रस' की गणना 'वस्तु' के भीतर ही की जानी चाहिए। 'वस्तु' के भीतर क्यों गणना करनी चाहिए, इस विषय में उन्होंने कोई उपपत्ति नहीं दी और बुभुक्षुओं को ललकारा कि वे सोचें। 'प्रथम आनन' के उनके ये ही अपने विचार प्रमुख हैं। वैसे तो प्रतिभावान् व्यक्ति हर पद पर अपनी छाप रखता है।

द्वितीय आनन का आरंभ संलक्ष्यक्रमध्वनि से करते हुए उसके 'अर्थ-शक्तिमूल' वाले प्रभेद के विषय में भी इनके क्रांतिकारी विचार हैं। जहाँ सारी परंपरा 'अर्थशक्तिमूल' के बारह भेद मानती थी, वहाँ इन्होंने आठ ही कहे।

अन्य लोग प्रत्येक व्यंजक के 'कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध' नामक चार भेद और बढ़ा देते हैं। पंडितराज का यह कहना है कि भले ही कविनिबद्ध पात्र की प्रौढोक्ति से वस्तु या अलंकार व्यंजकरूप में उपनिबद्ध हो, अंततः है तो वह कवि की ही प्रौढोक्ति। इसलिये उसको कविप्रौढोक्ति ही में अंतर्भूत कर लेना चाहिए।[४३]

४०. वही।
४१. वही।
४२. ध्वन्यालोक, द्वि० उ०।
४३. रसगंगाधर, द्वि० आ०।

शाब्दी व्यंजना के संबंध में कोई नई उपस्थापना तो नहीं है, परंतु पूर्ववर्ती व्याख्याओं और विचारों को अप्रौढ़ सिद्ध करके अपनी सर्वथा नूतन उपपत्ति दी है। उपपत्तियों और विचारों के इस दौरान में उन्होंने काव्यप्रकाशकार की कारिका —

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियंत्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थे व्यापारो व्यंजनैव सा ॥[४४]

की अनेकविध व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं और इस कारिका को अपनी स्थापना से अशक्त सिद्ध करते हुए अंततः कहा है कि उसे यों होना चाहिए —

योगरूढस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियंत्रिते।
धियं योगस्पृशोऽर्थस्य या सूते व्यंजनैव सा ॥

योगरूढ़ शब्द की अभिधा का नियंत्रण हो जाने पर यौगिक अर्थ का भान करानेवाली शक्ति शाब्दी व्यंजना ही है। उदाहरणार्थ अधोलिखित पद्य को लीजिए —

चाञ्चल्ययोगिनयनं तव जलजानां श्रियं हरतु।
विपिनेऽविचञ्चलानामपि च मृगाणां कथं हरति ॥

[यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि चांचल्यगुण से रहित कमलों की शोभा का तिरस्कार चंचल नेत्र करें, आश्चर्य की बात यह है कि चांचल्यगुणयुक्त हरिणों की शोभा का भी वे तिरस्कार करते हैं।

दूसरा (यौगिक) अर्थ — मूर्खों के प्रमत्त पुत्रों की संपत्ति का हरण यदि चोर करें — तो यह हो सकता है, पर अप्रमत्त गवेषकों की भी संपत्ति छीन लें — यह नहीं।] दूसरा अर्थ अप्राकरणिक है और तदर्थ व्यंजना अपेक्षित है।

इसी प्रकार प्राचीनों ने अनेकार्थक शब्दप्रयोग के स्थलों में, जहाँ प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक उभयविध अर्थ प्रतीत होते हैं, अभिधा के नियामक संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता आदि अनेक साधन माने हैं, वहाँ भी पंडितराज की यह स्थापना है कि जिस प्रकार संयोग, विभाग आदि के वाचक शब्द या उनके अर्थ अभिधानियामक होते हैं, वैसी स्थिति अर्थ, सामर्थ्य तथा औचिती की नहीं हो सकती। इनको पृथक् पृथक् अभिधानियामक न मानकर उचित यही है कि चतुर्थी, तृतीया आदि तथा अर्थसामर्थ्य से बोधित कार्यकारणभाव को ही एकमात्र नियामक

४४. वही।

मानें, अन्य कुछ नहीं। इसी प्रकार सूक्ष्म विचार किया जाय, तो संयोग, विप्रयोग आदि को भी 'लिंग' का ही एक भेद मानना पड़ेगा – स्वतंत्र तत्व नहीं।[४५]

ध्वनि के उदाहरणों की विवेचना करते हुए उन्होंने कई नए प्रश्न उठाए हैं, जो उनके अपने मौलिक जान पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, शब्दशक्ति मूल ध्वनि का एक उदाहरण —

भद्रात्म है अतिविशाल सुवंश उच्च हैं पास में बहु शिलीमुख भी सपक्ष।
जो हैं सदैव परवारणशोभनीय, दानांबुसेचनमयी कर है तदीय॥

इस पद्य में किसी राजा की प्रशस्ति है, पर इसमें कुछ ऐसे अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग है जिनके बल पर एक अप्राकरणिक अर्थ भी निकलता है जो हाथीपरक है। पंडितराज ने यहाँ परंपरागत विचारों के विरुद्ध तीन प्रश्न उठाए हैं—
१. उपर्युक्त स्थलों में जो उपमा व्यंग्य होती है, उसे ध्वनि का विषय क्यों माना जाय;
२. जो अप्राकरणिक अर्थ व्यंग्य है, उसे लेकर ध्वनि का व्यवहार क्यों किया जाय;
३. जिस प्रकार समासोक्ति में एक शब्द से बोध्य होने के कारण प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक अर्थों में अभेद व्यंग्य माना जाता है, न कि सादृश्य उसी प्रकार प्रस्तुत स्थान में उभयविध अर्थों में एकशब्दबोध्यता होने के कारण अभेद क्यों न माना जाय — क्यों सादृश्य की व्यंजना स्वीकार की जाय? इसी प्रकार जब अप्राकरणिक अर्थ और उपमा प्रकृत अर्थ के उपस्कारक हैं, तब उस व्यंग्य को प्रधान कहकर गुणीभूत ही कहना चाहिए और गुणीभूत होने पर वहाँ गुणीभूत व्यंग्य का ही व्यपदेश सयुक्तिक ठहरता है। फिर अंधी परंपरा का क्या महत्व है?[४६]

ध्वनिप्रभेदों का विचार तथा अभिधा एवं लक्षणा शक्ति का विमर्श कर लेने के पश्चात् उन्होंने अलंकारों का विवेचन आरंभ किया है। इसमें स्थान स्थान पर मुख्य रूप से पारस्परिक विद्वेषवश अप्पय दीक्षित का खंडन अधिक किया है, यों संरंभ में अन्य प्राक्तन आलंकारिकों का भी खंडन किया है। प्रतीप एवं उपमानोपमेय का पृथक् निरूपण करते हुए भी उपमाविमर्श के प्रसंग में पंडितराज ने परंपराविरुद्ध यह स्वीकार किया है कि प्रतीप एवं उपमानोपमेय का 'उपमा' में ही संग्रह कर लिया जाना चाहिए। प्रत्ययनिमित्तक जो विभिन्न भेद पुरातन आलंकारिकों ने कहे हैं, उसपर भी पंडितराज की आस्था नहीं है। अलंकारप्रकरण में सर्वत्र उनकी विवेचक प्रतिभा का चमत्कार उपलब्ध होता है, पर प्रमुख रूप से दो तीन उपस्थापनाओं का

४५. वही।
४६. वही।

उल्लेख नीचे किया जा रहा है, जिनमें उन्होंने न केवल प्राक्तन साहित्यिकों का ही, बल्कि नैयायिकों एवं वैयाकरणों के भी मान्य सिद्धांतों का खंडन किया है और आलंकारिकों का स्वतंत्र 'तंत्र' स्थापित किया है। उदाहरण के लिये उत्प्रेक्षा अलंकार को ही लें। आचार्यों के विवाद का विषय अधोलिखित है :—

'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः' — अर्थात् लगता है मानो तम अंग अंग पर लेपन कर रहे हों, आकाश अंजन की वर्षा कर रहा हो। दंडी[४७], अप्पय दीक्षित[४८], काव्यप्रकाशकार[४९] ने इसी स्थल को लेकर अनेकविध विचार किए हैं। प्रकाशकार ने और लोगों के मतों का समीक्षण वैयाकरणों के 'भावप्रधान-माख्यातम्' के सिद्धांत को लेकर किया है। पंडितराज ने वैयाकरणों के इस सिद्धांत का ही खंडन किया और कहा कि **'स्वतंत्रत्वेनालंकारिकतंत्रस्य तद्विरोधस्यादूषण-त्वात्'**[५०] — अर्थात् आलंकारिकों का अपना स्वतंत्र सिद्धांत है अतः वैयाकरण से विरोध होना कोई तर्क नहीं है।

इसी प्रकार 'सहोक्ति' अलंकार में 'सहभाव' शाब्द होता है या आर्थ — इस पर भी आपके विचार मौलिक हैं। उस प्रसंग में अपने इस पक्ष को — 'सहोक्ति' में सहभाव शाब्दप्रतीति का विषय है — सिद्ध करते हुए मनोरमाकार का खंडन किया है।[५१]

इस प्रकार अलंकारसंबंधी विवेचन अत्यंत सूक्ष्म है, जहाँ पग पग पर पंडितराज की मौलिकता प्रतिफलित होती दिखाई पड़ती है।

ऊपर इनकी प्रमुख स्थापनाओं की चर्चा की गई है। उनमें से कतिपय मान्य हुई और कतिपय अमान्य भी। जहाँ तक काव्यलक्षण का प्रश्न है, नागेश जी ने रसगंगाधर की टीका करते हुए कहा है कि काव्य को विशिष्टशब्दात्मा नहीं, प्रत्युत विशिष्ट 'शब्दार्थोभयात्मा' ही मानना ठीक है। कारण, जिस प्रकार लोक काव्य 'सुनता है' उसी प्रकार 'समझता' भी है। अर्थात् काव्य वह वस्तु है जो न केवल सुने जाने का विषय होने के कारण 'शब्द' रूप ही है बल्कि समझे जाने के कारण 'अर्थ' रूप भी है। काव्य के 'शब्दार्थरूप' होने में पाणिनि का 'तदधीतेतद्वेद' सूत्र भी कारण है। इस सूत्र में वाङ्मय की कोई भी शाखा अध्ययन तथा वेदन दोनों का विषय बताई गई है। अध्ययन शब्द पाठ है और वेदन अर्थज्ञान।[५२]

४७. काव्यादर्श।
४८. कुवलयानंद।
४९. काव्यप्रकाश, दशम उल्लास।
५०. रसगंगाधर, पृ० ३३६।
५१. वही, द्वितीय आनन।
५२. रसगंगाधर पर नागेश जी की टीका, प्र० आ०।

काव्यहेतु एवं प्रभेदविमर्शसंबंधी स्थापनाओं पर तो इनका खंडन करनेवाले तर्क नहीं मिलते, पर 'गुण' संबंधी जिस मत का उल्लेख उन्होंने 'मादशाः' नाम से किया है, उसको आगे चलकर मान्यता नहीं मिली। साहित्यसारप्रणेता अच्युतराय ने पंडितराज के प्रकाशकारविरोधी तर्कों का खंडन एक एक करके किया है। उदाहरण के लिये पंडितराज का वह तर्क लिया जा सकता है जहाँ उन्होंने यह कहा है कि आत्मा जब निर्गुण होता है, तो काव्य की आत्मा 'रस' गुणवती कैसे हो सकती है ? अच्युतराय ने कहा कि जिस प्रकार सोपधिक आत्मा गुणवती हो सकती है, उसी प्रकार यहाँ (रत्युपहितचित्) भी रस सगुण हो सकता है।[५३] इस प्रकार पंडितराज के इस मत का सूक्ष्म खंडन हुआ है।

भावसंधि आदि को 'भाव' संज्ञा ही दी जाय और अंतर करने के लिये उन्हें तथाकथित भेदक तत्वों को ध्यान में रखकर अवांतर प्रभेद के रूप में रख लिया जाय — इस स्थापना का विरोध नहीं हुआ। पर मान्यता न मिली और प्रचलन न हुआ।

अर्थशक्तिमूलध्वनि के दो भेदों को जो इन्होंने निकाल दिया; उसका विरोध भी हुआ। विरोध में यह कहा गया है कि यह ठीक है कि कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्ति' को कवि की प्रौढोक्ति से भिन्न नहीं कहना चाहिए, पर यदि कवि जिस पात्र के द्वारा प्रौढोक्ति कराना चाहता है, वह पात्र स्वाभाविक विशेषताओं और चारित्रिक विशेषताओं के कारण अपनी उक्ति से व्यंग्यार्थ में एक अपूर्वता ला देता है — कारण यह है कि व्यक्तिवैशिष्ट्य या वक्तृवैशिष्ट्य भी तो व्यंजकता में एक साधन है; यदि कवि स्वनिबद्ध पात्र से न कहलाकर स्वयं कहता तो यह अपूर्वता न आती — तो क्यों न कविप्रौढोक्ति से कविनिबद्धप्रौढोक्ति को भिन्न माना जाय ?

शब्दशक्तिमूलध्वनि के उदाहरणों में जो रूपक या अभेद के व्यंग्य होने की तथा गुणीभूतव्यंग्य के व्यपदेश की स्थापना की है, वह अवश्य परंपरा के विरोध में एक विचारणीय बात है। इस स्थापना में पर्याप्त पुष्ट तर्क हैं।

अलंकारों के विवेचन द्वारा उनका स्वरूप एवं पारस्परिक वैषम्य पर्याप्त स्पष्ट होकर आया है, इसमें कोई संदेह नहीं। अलंकारों का इतना सूक्ष्म, सविस्तर तथा स्पष्ट विमर्शन इनसे पूर्व किसी भी आलंकारिक ने नहीं किया था।

*

५३. साहित्यसार।

संगीतज्ञ और भक्तकवि राजा आसकरन

प्रभुदयाल मीतल

•

शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ जी अपने समय के विख्यात धर्माचार्य थे। उन्होंने अपने प्रयास से पुष्टिमार्ग को व्यवस्थित रूप प्रदान कर उसे अत्यंत प्रभावशाली और व्यापक धर्म बना दिया था। उनका प्रभाव राजा और प्रजा पर समान रूप से था। उस समय के सुप्रसिद्ध मुगल सम्राट् अकबर और अनेक हिंदू राजा महाराजा उनसे प्रभावित थे। ऐसे ही हिंदू राजाओं में नरवरगढ़नरेश आसकरन भी थे। वे शूरवीर होने के अतिरिक्त परम भक्त, संगीतानुरागी और सुकवि थे। नाभा जी कृत 'भक्तमाल' में उनके संबंध में कहा गया है—

धर्मसील गुनसीव महाभागौत राजरिषि।
पृथीराज - कुल - दीप भीमसुत बिदित कील्ह - सिषि।
सदाचार अति चतुर बिमल बानी रचना - पद।
सूर धीर उदार बिनै भलपन भक्तनि - हद।
सीतापति राधा - सुबर, भजननेम कूरम धर्यौ।
(श्री) मोहन मिश्रित पदकमल 'आसकरन' जस बिस्तर्यौ॥

उक्त कथन से ज्ञात होता है कि राजा आसकरन कछवाहा राजा पृथ्वीराज के वंश में राजा भीमसिंह के पुत्र थे। वे धर्मात्मा, सद्गुणी, परमभागवत, राजर्षि, सदाचारी, चतुर, उदार और भक्तजन थे। पदरचना के रूप में उनकी विमल वाणी भक्तिभाव से ओतप्रोत है। नाभा जी ने जिन शब्दों में आसकरन की प्रशंसा की है, उनसे उनका महत्व स्वयंसिद्ध है।

'भक्तमाल' में आसकरन को कछवाहा राजा भीमसिंह का पुत्र और रामानंदी संत कील्हदेव का शिष्य बतलाया गया है। 'शिवसिंहसरोज' में आसकरन का जन्म संवत् १६१५ और 'मिश्रबंधुविनोद' में उनका रचनाकाल सं० १६०६ लिखा गया है।[1] ये सभी कथन अशुद्ध हैं, अतः इनमें संशोधन की आवश्यकता है।

1. शिवसिंहसरोज, पृ० ३८२ और मिश्रबंधुविनोद, प्रथम भाग, पृ० ३५६।

आसकरन का संबंध मूलतः आमेर की गद्दी से था; नरवरगढ़ में तो वे गोद गए थे। राजस्थान के इतिहास से ज्ञात होता है कि सं० १६०४ में आसकरन कुछ दिनों तक आमेर की गद्दी पर बैठे भी थे; किंतु भीमसिंह के अनुज बिहारीमल (भारमल्ल) ने उन्हें गद्दी से हटाकर स्वयं को राजा घोषित किया था। उसके बाद आसकरन नरवरगढ़नरेश के दत्तकपुत्र के रूप में नरवर के राजा हुए थे। उक्त इतिहास से यह भी ज्ञात होता है कि आसकरन भीमसिंह के पुत्र नहीं, पौत्र थे। उनके पिता का नाम रत्नसिंह था, जो भीमसिंह का ज्येष्ठ पुत्र था।[२] जब आसकरन सं० १६०४ में आमेर की गद्दी पर अस्थायी रूप से आसीन थे, तब उनका जन्मसंवत् १६१५ न होकर उसे बहुत पहले का होना चाहिए। हमारे अनुमान से उनका जन्म १५८० वि० के लगभग हुआ होगा। उनका रचनाकाल सं० १६०६ भी हो सकता है, किंतु अधिक संभावना उसके कुछ बाद की है।

नाभा जी ने आसकरन को महात्मा कील्हदेव का शिष्य बतलाया है; किंतु 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में उन्हें गोसाईं विट्ठलनाथ जी का सेवक और पुष्टिमार्गीय भक्त लिखा गया है।[3] आसकरन के रचे हुए पद पुष्टिसंप्रदाय की भक्ति-भावना से संबंधित हैं, जो उक्त संप्रदाय के मंदिरों में गाए भी जाते हैं। उनके पदों का संकलन पुष्टिसंप्रदाय की कीर्तनपोथियों में मिलता है। एक पद में तो उन्होंने स्पष्ट रूप से अपने को विट्ठलनाथ जी का सेवक बतलाया है—

जै श्री बिट्ठलनाथ कृपाल।
कलि के महा पतित अघरासी अपुने करिकै किये निहाल।
पुरुषोत्तम निज कर लै दीने ऐसे दानी महा दयाल।
'आसकरन' कों अपुनौ करिकै पुष्टि प्रमेय बचन प्रतिपाल॥

'इसके अतिरिक्त राजा आसकरन के सेव्यस्वरूप मोहननागर, जिनका उल्लेख उनके प्रत्येक पद में प्राप्त होता है, वल्लभसंप्रदायी गोस्वामियों के ठाकुर हैं। उनके मोहन ठाकुर गुजरात के धोलका ग्राम में, और उनके नागर ठाकुर बंबई में वल्लभ-संप्रदाय के मंदिर में विराजमान हैं। राजा आसकरन के भानजे के वंश में आज तक जितने राजा किशनगढ़ की गद्दी पर हुए हैं, वे सबके सब वल्लभसंप्रदाय के अनुयायी होते रहे हैं'।[४]

२. इतिहास राजस्थान, पृ० ३६–३३।
३. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (शुद्धाद्वैत अकादमी, काँकरौली), द्वितीय भाग, पृ० १३१–३४।
४. सूरनिर्णय, पृ० २७।

ऐसी दशा में नाभा जी द्वारा आसकरन को कील्हदेव का शिष्य बतलाना असंगत मालूम होता है। यह संभव है, अपने आरंभिक जीवन में जब वे आमेर में थे, तब कील्हदेव के संपर्क में आकर रामभक्त हो गए हों; किंतु उनकी रचनाओं में न तो कील्हदेव का कहीं नामोल्लेख मिलता है और न उनके रामभक्ति के पद ही उपलब्ध होते हैं। उनके पदों में केवल एक पद ऐसा मिला है, जिसे प्रकारांतर से रामभक्ति का समझा जा सकता है। वह पद इस प्रकार है—

करत फिरत मीत मेरी तेरी, करता है राम गरीबनिवाज।
सप्तदीप तिहुँ लोक सकल मध, तिनकौ ही एकौ छत्र राज।
लख चौरासी जीव जौन जेते, चराचर सबन कौ काज।
दास 'आसकरन' सरन आयौ, राखी सबन की लाज'[1]॥

अपने उत्तर जीवन में वे निश्चयपूर्वक गोसाईं विठ्ठलनाथ जी के सेवक बनकर कृष्ण भक्त हो गए थे। नाभा जी ने उन्हें राम और कृष्ण दोनों के भजन में रत बतलाया है; किंतु उनके उत्तर जीवन में रामभक्ति का आभास नहीं मिलता है। तानसेन से गोविंदस्वामी का एक पद सुनकर वे पुष्टिमार्ग की ओर आकर्षित हुए थे। उस प्रसंग का कलात्मक वर्णन 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में हुआ है। उसमें लिखा है कि राजा आसकरन संगीतकला के बड़े प्रेमी और मर्मज्ञ थे। उनके दरबार में सदैव संगीतज्ञों की मंडली जमी रहती थी। वे उदारतापूर्वक उनका आदरसत्कार भी करते थे। संगीतकलाविषयक उनकी गुणग्राहकता की इतनी ख्याति हो गई थी कि दूर दूर से बड़े बड़े गायक उनके दरबार में अपनी कला के प्रदर्शनार्थ आया करते थे। एक बार अकबर बादशाह के दरबारी गायक संगीतसम्राट् तानसेन भी राजा आसकरन की गुणग्राहकता की ख्याति सुनकर उनके दरबार में उपस्थित हुए। उन्होंने 'सारंगराग' में अष्टछापी संगीताचार्य गोविंदस्वामी का निम्नलिखित पद राजा आसकरन के समक्ष गाया—

कुँवर बैठे प्यारी संग, अंग अंग भरे रंग,
बलि बलि बलि बलि त्रिभंगी, जुवतिन सुखदाई।
ललित गति, बिलास हास, दंपति मन अति हुलास,
बिगलित कच-सुमन बास, स्फुटित कुसुमनिकर, तैसिये सरदरैनि जुन्हाई॥
नव निकुंज, मधुपगुंज, कोकिल कल कूजत पुंज,
सीतल सुगंध मंद पवन अति सुहाई।
गोविंद प्रभु सरस जोरी, नव किसोर नव किसोरी,
निरख मदन फौज मोरी, छैल छबीले नवल कुँवर ब्रजकुल मनिराई॥

१. संगीत रागकल्पद्रुम, भाग १, पृ० १५१।

'वार्ता' में लिखा गया है कि उक्त भक्तिभावपूर्ण पद का गायन सुनकर राजा आसकरन परम आनंदित हुए। उन्होंने इससे पूर्व ऐसा सुंदर गायन नहीं सुना था। उन्होंने इसके लिये तानसेन की भूरि भूरि प्रशंसा की। तानसेन ने कहा कि इस प्रशंसा का श्रेय उक्त पद के रचयिता गोविंदस्वामी को है, जिनसे उन्होंने वह पद सीखा है। इस पर राजा आसकरन तानसेन के साथ गोकुल आकर गोविंदस्वामी से मिले और उन्हीं के प्रभाव से वे गोसाईं विट्ठलनाथ जी के सेवक हो गए।

अष्टछाप के संगीताचार्य भक्तवर गोविंदस्वामी ने आसकरन को 'विष्णुपद' गायन की शिक्षा दी और वल्लभसंप्रदाय की पुष्टिभक्ति तथा नित्य और वर्ष के उत्सवों की विधि भी बतलाई। अंत में वल्लभसंप्रदाय के आस्थावान् सेवक होकर वे गोसाईं जी और गोविंदस्वामी के आज्ञानुसार अपने राज्य नरवरगढ़ को वापस जाने लगे। आसकरन की प्रार्थना के अनुसार गोसाईं जी ने उन्हें सेवा के लिये 'मोहननागर' की प्रतिमा भी प्रदान की थी। इसका उल्लेख 'संप्रदायकल्पद्रुम' में इस प्रकार हुआ है—

आसकरन नृप बिनय सुनि, बिट्ठलनाथ प्रबीन।
प्रेमभक्ति लखि सिष्य करि, मोहननागर दीन॥

नरवरगढ़ वापस आने पर वे अनासक्त भाव से राज्यकार्य करने लगे। राजकीय कार्यों को करते हुए भी उनका अधिकांश समय सेवापूजा और पदरचना में लगता था। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' और भक्तमाल की टीका में उनकी भक्तिविषयक कई अलौकिक और चमत्कारपूर्ण घटनाओं का उल्लेख हुआ है।

'आईने अकबरी' में अबुलफजल ने अकबर के प्रभावशाली सामंतों की सूची में राजा आसकरन का नाम दिया है।[६] उससे यह भी ज्ञात होता है उन्होंने अकबर के पक्ष में अनेक युद्ध किए थे और उनमें विजय प्राप्त की थी। इससे बादशाह का उनपर पूरा विश्वास था। सं० १६४३ से सम्राट् की आज्ञा से प्रत्येक सूबा में दो उच्च पदाधिकारी नियुक्त किए जाने लगे थे। उस समय राजा आसकरन शेख इब्राहीम के साथ आगरा सूबा के प्रशासक बनाए गए थे। 'आईने अकबरी' में सम्राट् अकबर के मनसबदारों की सूची दी गई है। आश्चर्य की बात है कि उसमें राजा आसकरन का नाम नहीं है; किंतु 'तबकात' में उनका मनसब तीन हजारी लिखा गया है।[७]

६. आईने अकबरी (ब्लोचमैन), भाग १, पृ० ५३१।
७. आईने अकबरी (जरेट), भाग १, पृ० ५०६।

राजा आसकरन किस संवत् में गोविंदस्वामी और गो० विट्ठलनाथ जी के संपर्क में आए तथा किस संवत् में उनका देहांत हुआ, इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। तानसेन सं० १६१९-२० में अकबरी दरबार में संमिलित हुए थे और गोसाईं जी का निधन सं० १६४० में हुआ था। इससे अनुमान हो सकता है कि आसकरन सं० १६३० के लगभग पुष्टिसंप्रदाय के सेवक हुए होंगे। 'आईने अकबरी' से ज्ञात होता है कि उन्होंने सम्राट् अकबर के पक्ष में अपना अंतिम युद्ध ओड़छा के राजा मधुकर शाह के विरुद्ध सं० १६४५ में किया था। उसके कुछ समय बाद ही उनका देहावसान हो गया था।[८] इससे समझा जा सकता है कि उनका देहांत सं० १६४६ में हुआ होगा। उसी संवत् मे तानसेन का भी देहांत हुआ था। आसकरन के पुत्र का नाम राजसिंह था। उसे सम्राट् अकबर ने उनके बाद राजा की पदवी प्रदान की थी।

आसकरन के जीवनवृत्तांत और उनकी उपलब्ध रचनाओं से ज्ञात होता है कि वे विख्यात वीर, भावुक भक्तकवि और सुप्रसिद्ध संगतिज्ञ थे। उनके रचे हुए कीर्तन के पदों में से कुछ यहाँ उद्धृत किए जाते हैं,—

उठो मेरे लाल लाड़िले ! रजनी बीती, तिमिर गयो, भयो भोर।
घर घर दधि की मथनियाँ घूमैं, अरु द्विज करत बेद की घोर।
करौ कलेऊ दधि औ ओदन, मिश्री बाँटि परोसौ ओर।
'आसकरन' प्रभु मोहननागर, वारों तुम पर प्रान अँकोर ॥१॥

कीजै पान लाला रे ! औंट्यौ दूध लाई जसोदा मैया।
कनक कटोरा भर पीजै ब्रजपाल लाड़िले, तेरी बैनी बढ़ैगी भैया।
औंट्यौ नीकौ मधुरौ अछूतौ, रुचि सों कर लीजै कन्हैया।
'आसकरन' प्रभु मोहननागर पय पीजै सुख दीजै प्रात करौंगी चैया ॥२॥

प्रात समय घर घर तें आई, देखन गोकुल की नारी।
अपनौ क्रिसन जगाय जसोदा, आनँद मंगलकारी।
सब गोकुल कौ प्रान जीवनधन, या सुत की बलिहारी।
'आसकरन' प्रभु मोहननागर, गिरि गोबर्धन - धारी ॥३॥

यह नित्य नेम जसोदाजू नेरें, विहारोई लाल लड़ावन कूँ।
प्रात समय उठि पलना झूलाऊँ, सकट - भंजन - जस गावन कूँ।
नाँचत क्रिस्न, नँचावत गोपी, कर करताल बजावन कूँ।
'आसकरन' प्रभु मोहननागर, निरखि बदन सचु पावन कूँ ॥४॥

८. आईने अकबरी (जैरेट), भाग १, पृ० ५०१।

मोप दधि मथन दै बलि गई।
आऊँ बलि बलि बदन ऊपर, छाँडि मथनी दई।
लाल! देहुँ नवनीत - लोंदा, आर तुम कित ठई।
सुतहित जानि बिलोकि जसोमति, प्रेमपुलकित भई।
लै उछंग लगाइ उर सों, प्रानजीवन जई।
बालकेलि गुपाल की, ब्रज, 'आसकरन' नित नई ॥५॥

मोहन देखि सिराने नैना।
रजनीमुख आवत गायन संग, मधुर बजावत बैना।
ग्वालमंडली मध्य बिराजत, सुंदरता कौ ऐना।
'आसकरन' प्रभु मोहननागर, वारौं कोटिक मैना ॥६॥

कदमतर ठाढ़े मदनगुपाल।
आसपास सब ग्वालमंडली, बाजत बैनु रसाल।
मोरमुकट कुंडल की झलकन, मृगमद तिलक लिलार।
'आसकरन' प्रभु मोहननागर, प्रेममगन ब्रजबाल ॥७॥

गोपमंडली मध्य मनोहर, अति राजत नंद कौ नंदा।
सोभित अधिक सरद की रजनी, उड़गन में मानौ पूरन चंदा।
ब्रजजुवती निरखति मुख ठाढ़ी, मानत सुंदर आनंदकंदा।
'आसकरन' प्रभु मोहननागर, गिरिधर नव रस रसिक गोबिंदा ॥८॥

कब को भयौ ढोटा दधिदानी।
मटुकी फोरत, बाँह मोररत, यहै बान कित ठानी।
नंदराय की कानि करत हौं, सुनि हो जसोदा रानी।
'आसकरन' प्रभु मोहननागर, गुनसागर अभिमानी ॥९॥

नंदकिसोर! यह बोहनी करन न पाई।
गोरस के मिस रहहिं ढँढोरत, मोहन मीठी तानन गाई।
गोरस मेरे घरहिं बिकैहै, क्यों बृंदाबन जाई।
'आसकरन' प्रभु मोहननागर, जसुमति जाय सुनाई ॥१०॥

मोहनलाल बियारू कीजै।
व्यंजन मीठे खाटे खारे, रुचि यों मागि जननि पै लीजै।
मधु मेवा पकवान मिठाई, ता ऊपर तातौ पय पीजै।
सखासहित मिलि जेमौ रुचि सों, जूठन 'आसकरन' कों दीजै ॥११॥

बियारू करत हैं घनस्याम ।
खुरमा खाजा गूँझा मठरी, पिस्ता दाख बदाम ।
दूधभात घ्रित खाँड़ि धार भरि, लै आई ब्रजबाम ।
'आसकरन' प्रभु मोहननागर, अंग अंग अभिराम ॥१२॥

पौढ़िये पिय कुँवर कन्हाई ।
जुवती नवल, बिबिध कुसुमावलि, मैं अपने कर सेज बनाई ।
नाहिंन सखी समय काहू कौ, ग्वालमंडली सब बौराई ।
'आसकरन' प्रभु मोहननागर, राधा कों ललिता लै आई ॥१३॥

तुम पौढ़ो हौं सेज बनाऊँ ।
चाँपौं चरन, रहौं पाटी तर, मधुरे सुर केदारी गाऊँ ।
सहचरि चतुर सबै जुरि आईं, दंपतिसुख नैनन दरसाऊँ ।
'आसकरन' प्रभु मोहननागर, यह सुख स्याम सदा हौं पाऊँ ॥१४॥

बलैया लैहूँ पौढ़ि रहो घनस्याम ।
स्रमित भए हो आज गो चारत, घोष परत है घाम ॥
सीरी बयार झरोखन के मग, आवत अति सीतल सुखधाम ।
'आसकरन' प्रभु मोहननागर, अंग अंग अभिराम ॥

या गोकुल के चौहटे, रंगराँची ग्वालि ।
मोहन खेलै, फाग नैन सलोने री, रंगराँची ग्वालि ।
नर नारिन आनंद भयौ, साँवरे के अनुराग ॥
दुंदुभी बाजे गहगहे, नगर कुलाहल होय ।
उमड्यौ मानस घोष कौ, भवन रह्यौ नहिं कोय ॥
डफ बाँसुरी सुहावनी, ताल मृदंग उपंग ।
झाँझ झालरी किन्नरी, आवज कार मुखचंग ॥
उतहिं समाज गोपाल कौ, बलजुत नंदकुमार ।
इत गोपी नवजोबना, अंबुजलोचन चार ॥
गारी देत सुहावनी, प्रमुदित गोप कदंब ।
जुवतिजूथ एकत्र भए, गावत मदन बिडंब ॥

रतनजटित पिचकाइयाँ, कर लिये गोकुलनाथ।
तकि छिरकें बनितान कों, जे राधा के साथ॥
केसु कुसुम निचोइ कै, भरत परस्पर आनि।
मृगमद चोवा कुंकुमा, चारु चतुर सब सानि॥
सुरंग गुलाल उड़ावहीं, बूका बंदन धूलि।
चढ़ि बिमान सुर देखहीं, देह दसा गए भूलि॥
खेल मच्यौ अति गहगह्यौ, चितवत ब्रजबधू धाय।
राधारसिक गोपाल की, 'आसकरन' बलि जाय॥१६॥

*

स्वामी अग्रदास और उनकी अप्रकाशित पदावली

भगवतीप्रसाद सिंह

रसिक रामभक्तों के आद्याचार्य अग्रदास[1] का आविर्भाव स्वामी रामानंद की चौथी पीढ़ी में हुआ था। ये राजस्थान में वैष्णवों के प्रथम पीठ, गलता के संस्थापक श्रीकृष्णदास पयहारी के शिष्य थे। इनके आरंभिक जीवन के विषय में कोई सूचना उपलब्ध नहीं है। सांप्रदायिक मान्यता के अनुसार इनका जन्म जयपुर राज्य के किसी गाँव में १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ था। पयहारी जी के संपर्क में ये बाल्यकाल में ही आ गए थे। बड़े गुरुभाई कील्हदास के साथ गलता में बहुत दिनों तक निवास करके गुरु के परलोकवास के अनंतर ये अपने प्रिय शिष्य नाभादास के साथ रैवासा चले गए और वहीं अपनी गद्दी स्थापित की।[2] नाभादास ने गुरुसेवा

१. रसबोध विपुल आनंदघन अग्रस्वामि बानी बिसद।
  अच्छर पद अनुप्रास मधुरता बाल्मीकि सम।
  आसय गूढ़ उपाय प्राप्ति रसिकन की संगम।
  रैवासे जानकीवल्लभी रहसि उपासी।
  ललितरसाश्रय रंगमहल कलकुंज खवासी।
 आचारज रसरास पथ रसिकबर्ज रसिकन सुखद।
 रसबोध बिपुल आनंदघन अग्रस्वामि बानी बिसद॥
 — रसिकप्रकाश भक्तमाल, पृ० १५।

२. कोई देसकाल जानि कील जू की आज्ञा मानि,
  सिष्यन समेत श्री रैवासे स्वामी आए हैं।
 तहाँ रमनीय जल भूमि द्रुम लता देखि,
  मंदिर बनाय लली लाल पधराए हैं।
 बिनय बिबेक सुभ सील दया नेह गेह,
  नाभा जी को देखि संत सेवा में लगाए हैं।
 आपु सो कियो उपाय काल मृषा न बिताय,
  अष्टयाम सेवा की रहस्य मन लाए हैं॥
 — वही, पृ० १६।

करते हुए अपना सारा जीवन यहीं व्यतीत किया। इसी स्थान पर आचार्यचरणों से प्रेरणा प्राप्त कर उन्होंने अपने लोकप्रसिद्ध ग्रंथ 'भक्तमाल' की रचना की थी।

नाभादास ने अन्य संतों की भाँति अपने गुरु अग्रदास के भी लौकिक जीवन पर कोई प्रकाश नहीं डाला है। 'भक्तमाल' से इतना ही विदित होता है कि वे एक उच्चकोटि के आचारनिष्ठ संत थे और अहर्निश इष्टदेव सीताराम की आराधना में लीन रहते थे। वाटिका से उन्हें बड़ा प्रेम था। अपने रैवासा स्थित आश्रम से संलग्न भूमि में उन्होंने 'प्रसिद्ध बाग' नाम की एक फुलवारी लगा रखी थी, जिसका सारा कार्य वे अपने ही हाथों से करते थे। वाटिका में काम करते समय भी उनका नामजप अखंड रूप से चलता रहता था। आचार्य श्रीकृष्णदास पयहारी की कृपा से उन्हें अविरल रामभक्ति का वरदान मिला था। इस प्रकार अपने जीवन का एक भी क्षण अग्रदास जी ने आराध्य युगल के ध्यान तथा उपासना बिना नष्ट नहीं होने दिया।[3]

प्रियादास ने 'भक्तमाल' की टीका में अग्रदास के जीवन से संबद्ध कुछ नए तथ्य प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने आमेरनरेश मानसिंह के स्वामी जी के दर्शनार्थ (रैवासा) जाने की चर्चा करते हुए लिखा है कि जिस समय महाराज आश्रम पर पहुँचे स्वामी जी वाटिका में थे। यह समाचार पाकर मानसिंह अपने सेवकों तथा साथियों को बाहर ठहरने की आज्ञा देकर स्वयं बाग के भीतर चले गए। इसके थोड़ी ही देर बाद स्वामी जी वाटिका में पड़े हुए सूखे पत्तों को फेंकने के लिये बाहर निकले। द्वार पर अपरिचित लोगों की भीड़ देखकर वे वहीं एक आम के पेड़ के नीचे बैठ गए। उधर वाटिका में बहुत देर तक अग्रदास जी के लौटने की प्रतीक्षा करने के बाद मानसिंह भी बाहर चले आए। द्वार पर आचार्यचरणों का साक्षात्कार कर वे कृतकृत्य हो गए।[4] रीवाँनरेश रघुराजसिंह ने अग्रदास और मानसिंह में गुरुशिष्य का संबंध बताया है और मानसिंह की गणना अग्रदास के अत्यंत प्रिय शिष्यों में की है।[5] संभवतः यह सूचना उन्हें जयपुर दरबार से अपने निजी स्रोतों द्वारा प्राप्त

३. भक्तमाल (टी० रूपकला), पृ० ११८।

४. श्री भक्तमाल सटीक (रूपकला), पृ० ३२०।

५. मानसिंह जैपुर को राजा। सो अपनी लै सकल समाजा।
अग्रदास गुरु आज्ञाकारी। रहै समीप चरनरज धारी॥
एक समय दस सहस सवारा। मानसिंह नृप लै पगु धारा।
अग्रदास दरसन के हेतू। गुरु दरसन किये मोदनिकेतू॥
इस कदली फल गुरु तेहि दीन्हो। सादर पदबंदन करि लीन्हो॥

हुई होगी। इसके अतिरिक्त अग्रदास के सांसारिक जीवन के संबंध में कोई वृत्त उपलब्ध नहीं है।

सांप्रदायिक साहित्य में इनके द्वारा प्रवर्तित रसिकसाधना का विशद विवरण मिलता है।[६] नाभादास ने अपनी शृंगारी रामभक्ति को इन्हीं का प्रसाद माना है[७] और सखीभावना में इनकी लोकोत्तर तन्मयता की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।[८] इसी भावसिद्धि के कारण परवर्ती रसिक रामभक्तिसाहित्य में इन्हें चंद्रकला सखी के अवतार की प्रतिष्ठा प्रदान की गई है। रसिकप्रकाश भक्तमाल के रचयिता युगलप्रिया जी ने 'मानस' के पुष्पवाटिकाप्रसंग में निर्दिष्ट सीता जी की पथप्रदर्शिका सखी से इनका तादात्म्य स्थापित किया है।[९] अग्रदास ने स्वयं अपनी कृतियों में 'अग्र अली' तथा

नाभा के पुनि अग्र के यहि विधि चरित अपार।
मान महीपति के तथा, को कहि पावै पार॥
— रामरसिकावली (रघुराजसिंह), पृ० ५७५-८०।

महाराज रघुराजसिंह ने स्वामी अग्रदास को गलता की गद्दी का आचार्य बताया है। किंतु सांप्रदायिक परंपरा के अनुसार गलतागद्दी पर श्रीकृष्णदासजी पैहारी के बाद कील्हदास जी बैठे थे। ये अग्रदास के बड़े गुरुभाई थे। अग्रदास की गद्दी जयपुर के समीप ही रेवासा में स्थापित हुई थी।

६. आचारज रसरासपथ, रसिकवर्ज रसिकन सुखद।
रसबोध बिपुल आनंदघन अग्रस्वामि बानी बिसद॥
— रसिकप्रकाश भक्तमाल, पृ० १५।

७. श्री अग्रदेव करुना करी सियपद नेह बढ़ाय।
'नाभा' मन आनंद भो महल टहल नित पाय॥
— अष्टयामचरित (नाभादास, पत्र ४२)।

८. श्री कृष्णदास गुरुकृपा ते नित नव नेह नवीन।
अग्र सुमति सियसहचरी जुगल रूप रस लीन॥
वही।

९. अग्रस्वामि श्री अग्रसहचरी जनकलली की।
पुष्पवाटिका मिलन हेतु प्रिय भाँति भली की॥
चंद्रकला प्रिय नाम स्याम सिय बस करि राखी।
प्रगटि स्वामिपद लही ध्यान रस मन मन चाखी॥
— रसिकप्रकाश भक्तमाल, पृ० १५।

'अग्रसहचरी' छाप देकर प्रकारांतर से इस तथ्य की पुष्टि की है कि वे सीताराम की माधुर्यलीलाओं के उपासक थे और व्यावहारिक रूप में राम के प्रति दास्यनिष्ठा रखते हुए भी उनकी अंतरंग साधना शृंगारी भाव की थी। इनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना 'ध्यानमंजरी' शताब्दियों से रसिकसाधकों की गीता मानी जाती है।

अग्रदास जैसे उच्चकोटि के साधक थे वैसे ही असाधारण प्रतिभासंपन्न सांप्रदायिक संगठनकर्ता भी। उत्तरी भारत में रामोपासकों की अधिकांश गद्दियाँ उन्हीं के शिष्य प्रशिष्यों द्वारा स्थापित की गई हैं। अयोध्या, चित्रकूट और मिथिला के अनेक प्रमुख पीठ इन्हीं की परंपरा से संबद्ध हैं। इनके संतपरिवार के विस्तार का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि वैष्णवों के ५२ द्वारों में ११ द्वारे अकेले इन्हीं के हैं। इनकी शाखा नाभादास, बाल अली, देवमुरारि, पूर्ण वैराठी, दिवाकर, हनुमान हठीले, भगवन्नारायण, प्रयागदास जंगी, विंदुकाचार्य रामप्रसाद, रसिकाचार्य रामचरणदास, रसिक अली तथा रघुनाथदास जैसे तपस्वी एवं लोकसंग्रही महात्माओं से विभूषित है।[१०]

अग्रदास की महत्ता का सबसे बड़ा कारण है उपासना में शृंगारिता को प्रश्रय देते हुए भी आदि से अंत तक सदाचारनिष्ठा के सम्यक् निर्वाह की व्यवस्था करना। क्रियाप्रधान बहिरंग पूजा की अपेक्षा ध्यानप्रधान अंतरंग अथवा मानसी सेवा को महत्व देकर उन्होंने उसे कालांतर में दूषित प्रवृत्तियों का शिकार होने से बचा लिया। शृंगारी रामभक्ति के लोकप्रचार का निषेध तथा विशिष्ट भावसंपन्न सात्विक साधकों को ही उसका अधिकारी घोषित करते समय उनके मन में यही भावना काम कर रही थी—

रस शृंगार अनूप है तुलबे को कोउ नाहिं।
तुलबे को कोउ नाहिं सोई अधिकारी जग में।
कंचन कामिनि देखि हलाहल लागत तन में॥
जावत जग के भोग रोग सम त्यागेउ द्वंदा।
पिय प्यारी रससिंधु मगन नित रहत अनंदा॥
नहीं 'अग्र' अस संत के सरि लायक जग माहिं।
रस सिंगार अनूप है तुलबे को कोउ नाहिं॥

१०. विशेष विवरण के लिये देखिए 'रामभक्ति में रसिकसंप्रदाय' के अंतर्गत 'रामभक्ति में रसिकसाधना का विकास' तथा 'परंपरा और तिलक' शीर्षक अध्याय।

अब तक खोज में इनके द्वारा विरचित केवल चार ग्रंथ उपलब्ध हो सके हैं—ध्यानमंजरी अथवा रामध्यानमंजरी, कुंडलिया अथवा हितोपदेश उपखाणबावनी, रामाष्टयाम और रामज्योनार। इनके अतिरिक्त सांप्रदायिक ग्रंथों में अग्रदास की दो अन्य कृतियों का भी उल्लेख मिलता है। ये हैं—अग्रसागर अथवा शृंगार-सागर तथा पदावली। इनमें से प्रथम तो अब केवल नामशेष रह गई है। बहुत खोज करने पर भी उसकी किसी प्रति का पता नहीं लग सका। किंतु दूसरी रचना का एक हस्तलेख इन पंक्तियों के लेखक को प्राप्त हुआ है।

तुलसी के पूर्ववर्ती रामभक्तिसाहित्य में अग्रदास की इस 'पदावली' का विशेष महत्व है। इसमें कुल ५१ पद संकलित हैं जिनमें एक (पद सं० १०) नाभादास का है।[11] इनके अतिरिक्त लेखक के निजी संग्रह में अग्रदासविरचित सात पद अन्य स्रोतों से संगृहीत हैं। उन्हें लेकर अग्रदास के पदों की संपूर्ण संख्या ५७ हो जाती है। ये सभी 'अग्र' छाप से युक्त हैं। यह दूसरी बात है कि अपनी भावनानुसार उन्होंने किसी में दास्यनिष्ठापरक 'अग्रस्वामि' अथवा 'अग्रदास' छाप रखी है और किसी में माधुर्यनिष्ठाव्यंजक 'अग्र अली' अथवा 'अग्रसहचरी'। यह उल्लेखनीय है कि 'अग्रदास' छाप 'अग्र अली' की भाँति दास्य तथा शृंगारी दोनो भावों की रचनाओं में पाई जाती है। इससे 'अग्रदास' और 'अग्र अली' की अभिन्नता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

शृंगारी रामोपासकों की परंपरागत आस्था के अनुकूल इन पदों में केवल आराध्य युगल की कैशोर लीलाओं का ही वर्णन हुआ है। कवि की वृत्ति दंपति की माधुर्यक्रीड़ा तथा शृंगारी चेष्टाओं के अंकन में ही विशेष रमी है। ये प्रसंग हैं—धनुषभंग के पूर्व सीता की उद्विग्नता, सीता का अलौकिक रूपमाधुर्य, सीतासौभाग्य, मिथिला में प्रियाप्रियतम की हिंडोललीला, अयोध्या में होलीलीला, प्रमोदवनविहार, सरयू में दंपति का जलविहार, राम का एक पत्नीव्रत एवं प्रियापराधीनता, सुरतांत वर्णन, चंद्रकला, विमलादि सखियों द्वारा युगलविहारदर्शन, सत्संग एवं रामभजन महिमा, अनन्यशरणागति का महत्व आदि। रचयिता ने दो तीन को छोड़ कर शेष सभी पदों के साथ रागों का स्पष्ट निर्देश कर दिया है। पदावली में

११. 'पदावली' में संकलित नाभादास के इस पद से यह विदित होता है कि अग्रदास की परंपरा के किसी संत ने उसको वर्तमान रूप रचयिता के दिवंगत होने के बाद दिया। संभवतः आचार्यनिष्ठा से ही उसने उनके पट्टशिष्य नाभादास की रचना को भी उसमें स्थान दे दिया।

उल्लिखित इन रागों की संख्या १३ है मारू, कान्हरा, टोड़ी, केदारा, जैतिश्री, ललित, देवगंधार, बिलावल, धनाश्री, कल्यान, सारंग, मलार, और वसंत। इनके अतिरिक्त 'संगीतरागकल्पद्रुम' में संगृहीत अग्रदास के पदों में ख्याल[१२], विभास[13], विहाग[१४], सिंधु[१५] तथा होली[१६] — पाँच अन्य रागों का भी प्रयोग हुआ है। ये रचनाएँ पदावली' में नहीं मिलतीं। इससे यह विदित होता है कि अग्रदास के पदों का बहुत पहले से संगीतज्ञों के बीच व्यापक प्रचार था। कृष्णानंद रागसागर ने संभवत: इसी लोकप्रियता से आकृष्ट होकर उन्हें 'संगीतकल्पद्रुम' में स्थान दिया था। हो सकता है ये पद संगीतज्ञों के माध्यम से ही संकलित किए गए हों।

अथ श्री अग्रस्वामीकृत पदावली प्रारंभः

राग मारू

अरी हो रामा रंग रची।
तात हमारे पन कियो तोरन धनुष कठोर।
कोमल करतल साँवरो सखी मूरति मधुर किसोर॥
राजसभा ऐसी भई ज्यों उडगन में चंद्र।
बिधिना बिधि सो निर्मियो अली मोहन मन को फंद॥
लोक वेद की लाज सखीरी जद्यपि दुस्तर आहि।
रूपनिधान देखि रघुनंदन धीरज धीरज नाहि॥
ऐसी मो जिय ऊपजी चाप चढ़ावो कोइ।
'अग्रस्वामि' के हाथ बिकानी होनी होइ सो होइ॥ १॥

सखी मोहिं राम भावै।
नरपतिनिकर निरस सब लागे कोऊ दिष्टि न आवै॥
उडगन उदय होत ज्यों आली चकोरी चैन न पावै।
एकै है अमृत को श्रावक चंदा तपनि बुझावै॥

१२. संगीतरागकल्पद्रुम, प्रथम भाग, पृ० १४।
१३. वही, पृ० २३८।
१४. वही, पृ० ५३१।
१५. वही, द्वितीय भाग, पृ० १७४।
१६. वही, पृ० २३६।

राजा बनराजी सै लागत पौरुष नहिं दरसावै।
रघुनंदन चंदन द्रुम मानो अंतर जरनि जुड़ावै॥
भावै नहीं पिताप्रन सजनी सारँगपानि सोहावै।
'अग्रस्वामि' मोहनी मंत्र लिये चितवन चितहि चोरावै ॥२॥

राग कान्हरा

तात प्रन काहे को कियौ।
कठिन पिनाक राम कर कोमल धीर न धरत हियो॥
मधुर मुरति आनंदकंद सम नाहिन और बियो।
बंक चितवनी साँवरे सखी चित बित चोरि लियो॥
रघुपति तजि जे रति करैं धृग धृग जिवनहि जियो।
'अग्रस्वामि' रस बस भई मैं मन मोह लियो ॥३॥

राग टोड़ी

देखु री नीकै रघुनंदन।
सीता कहति सखी अपनी सो रसिकराय सिरमौर स्याम तन॥
चितवत दृष्टि चलत नहिं इत उत रूपरासि मो मो मन फंदन।
'अग्रस्वामि' सो मोह बढ़्यो अति ज्यों चकोर चंदहि अभिनंदन ॥४॥

देहरी धँसत जब जे हरी देखि मन गहि गयो उठे उर लाई।
अति आदर सौ भरि अँकवारी प्राननाथ पलका पधराई॥
आगत स्वागत बारि बारि तन बीरी सुहाथ बनाइ खवाई।
बार बार आलिंगन चुंबन मनहुँ रंक निधि पारस पाई॥
बचनामृत सों सींचि बिबिध भाँति जनककुँवरि रघुनाथ लड़ाई।
जालरंध्र कै निरखि 'अग्र' अति कामकेलि सुख बरन्यो न जाई ॥५॥

राग केदारा

लाल भयो रोमांच प्रिय कौ आगम जान्यौ।
अनंग रौर गए दौरि अजिर में अति आतुर ह्वै अंग राम पहिचान्यौ॥
मेघागम ज्यों नृत्य कपाली नुपूरधुनि मन मान्यौ।
सुख समाज सो मिली 'अग्र' प्रभु तन मन एकता सान्यौ ॥६॥

सुख सेज पौढ़िये राम सीतारवन।
राग रंग रुचिर सौरभ सौंज बीटिका चित्र चँदवा विविध सुंदर भवन॥
रूपलावन्य गुन कोकबिद्या कुसल बचन रचना बिदुष पिया पारस गवन।
जानकीजी राजीवनयनकी मैनछबि 'अग्रसहचरी' सुगम और जाने कवन ॥७॥

राग जयतिश्री

सुरतांत प्रिया पति दोऊ अतिसय करि निद्रा आधीना।
अस्न कर्दम कंचुकी सियाउर तामें भँवर भयो यक लीना॥
बासलुब्ध को सब्द श्रवन सुनि संभ्रम राम बिलोकत बाम।
रही पुष्प अवसेस हृदय मो साखि कसदि मारि गयो काम॥
प्रेमबिकल परतीति न मानत बैदेही हित पावत खेद।
'अग्रस्वामि' आधीन तिया के मिथ्या दुख आयो तन सेद॥८॥

राग ललित

रजनी अल्प राम उठि बैठे सोय गई सीता आयो भोर।
बार बार बिधुबदन बिलोकत मानो पीवत सुधा चकोर॥
हरे हरे चुंबन चमकन उर कर सौं चिबुक चारु टकटोर।
जागि परी जानकी तेहि छन आलसपगे नयन की कोर॥
बहुरि अंक आरोपि पिया को गौर स्याम सोभित एक जोर।
'अग्र अली' ऐसी छबि छाँड़े धिग जाको आवै उर और॥६॥

जालरंध्र निरख न मुख कुँवरि की
नकबेसरि अटकी लट श्रीकर आप सँवारी।
सुंदर सुहागनिधि जस पूरि रह्यो बिस्वमध्य
स्वबस किये रामचंद्र नहिं त्रिभुवन ऐसी नारी॥
गौर स्याम मनभिराम वारि फेरि कोटि काम
जीवनफल देखि देखि 'नाभो' बलिहारी॥१०॥

राजकुँवरि पूजति मंजारी।
कहा न कीजै अपने काजे गूढ़ भाव एक बात बिचारी॥
निसा घटत सुख हानि होत है बाल बैर कीनो तमचारी।
याही दोष बिलारी पाली पय प्यावत राघव के प्यारी॥
जो चुप किये रहे वह कुक्कुट तौ कत भोर होय हिय हारी।
निद्रा भंग समर रस समित 'अग्र' अदूषित जनकदुलारी॥११॥

राग देवगंधार

रजनी जागे भामिनी आवत संग मधुर उचरत जय गान।
डगमगात पग धरत धरनि पर राम अधररस कीनो पान॥

आलस परे अँडात जानकी मुदित मगन राखो पिय मान ।
अंग अंग ऊँघाहि देत सब सर्बसु अर्पि लिये रतिदान ॥
सुबस किये सुंदर बर रघुपति त्रिभुवन जुवती नहिन समान ।
सहचरि सबै बिलोकि बिबस भई 'अग्र अली' बलि वारति प्रान ॥१२॥

राग बिलावल

जीति आई कामकली रागरंग राती ।
जागी निसि चारि याम बार बार जँभाती ॥
पलटे पग धरनि धरत अधर सुधा माती ।
मंडल भुज जोरि मोरि अंग अंग अँगराती ॥
टूटेउ उरहार चिकुर कंचुकी उलटाती ।
अधरनि छबि कल कपोल बनी पीक पाँती ॥
नख सिख हरषात गात बानी तुतराती ।
सीताछबि निरखि सखो 'अग्र अली' जुड़ाती ॥१३॥

कीर निसा की कहति केलि ।
गुरजन सुनत संकुचित सीता भूषन चापि चून दई मेलि ॥
हार्यो व्याज बीज कह्यो भुज्यौ तौ बदि लानो ज्यों स्वाद ।
सुक संभ्रम मै परयो बिभाषनि भूलि गयो पूरब अनुवाद ॥
नागरि उक्ति यह उपजी सखी रीझि रही बदन निहारि ।
'अग्र अली' कहे अचरज नाहीं बैदेही राजा कुँमारि ॥१४॥

राग बिलावल

एक नारि व्रत न्याय धरयो ।
अखिल भुवन अचुत नहि हरि को निरलै यह रघुनाथ करयो ॥
बनिता रतन सिरोमनि सीता सील सुजस सबही प्रचरयो ।
ता तन मगन भये तन मयना पैसि राम नहिं निकरयो ॥
कहा भयो जो कोटिक पत्नी सुख स्वारथ एकौ न सरयो ।
रूप उदार बिनय लावन्य गुन 'अग्रस्वामि' मन रह्यो भरयो ॥१५॥

जुवती गुन जानकी पतिव्रत भाग सुहाग सुभगता सागर ।
सत्य सौच जित क्रोध दया जुत कीरति बिसद लाज मृदु आगर ॥

एक नारी व्रत न्याइ अमित गुन रिझय राम नयना वर नागर ।
त्रिया तिलक बिदूषन भूषन 'अग्र' स्वामिनी जगत उजागर ॥१६॥

राग धनाश्री

रामरवनि गजगवनि अवनिजा चंपकबरनि मीन मृग नयनी ।
बदन इंदु अरबिंदु कुंद द्विज अधर बिंब बिद्रुम पिकबैनी ॥
सीता के सौंदर्ज सील धृत उपमा सकल सकुचि भई गैनी ।
बनिता बर त्रैलोक उजागर 'अग्रस्वामि' आनँद दैनी ॥१७॥

राग टोडी

राम सो राम सीता सो सीता ।
सिव बिरंचि सारदा सेस सुक पटतर खोजत कलप बितीता ॥
सुंदर सील सुहाग अमित गुन अखिल लोक नर नारी जीता ।
श्री 'अग्रस्वामि' स्वामिनी उजागर नेति नेति श्रुति गावत गीता ॥१८॥

राग कान्हरा

सिया अस्नान उबटि नाते आज कीन्ही केतिक उत्तम नारी ।
तेई सील सुंदर सौभागिन बहुत गुनन के भारी ॥
जानकी अंग तीरथ में न्हाई बाम भई जग उजियारी ।
बनिता श्री रघुबीरबल्लभा 'अग्र' स्वामिनी नहि कोउ सारी ॥१९॥

जगत जपत रघुनाथ नाम सब राम करत सीता को सुमिरन ।
रामचंद्र को ध्यान धरत मुनि बसति जानकी रामचंद्र मन ॥
सिव बिरंचि के धनुपधरन धन रघुबर कै मैथिली महाधन ।
परमहंस कुल राम भजन भर 'अग्रस्वामि' एक पत्नी को पन ॥२०॥

साँचो सोहाग जानकी तेरो रघुपति रसबस कीन्हो री ।
तोसी नारी नहिं त्रिभुभवन में पिया प्रेमरस भीनो री ॥
'अग्रस्वामि' मन बचन कर्म तोको रीझ आलिंगन दीन्हो री ॥२१॥

मेरी स्वामिनी सुहाग भाग अद्वितीय पटरानी ।
रघुपति को और नारि सपने नहीं सोहानी ॥
जाकी लावन्य गुन रूप सील सबही लोक तानी ।
'अग्रस्वामि' सीताराम बिदित जग कहानी ॥२२॥

मेरी रानी को अविचल सुहाग।
जाके परसि और नहिं परसी रघुपति दिन दिन बाढ़यो राग।
सीता सी सिरजी न सुपवनी केलि अकंटक लग्यो न दाग।
'अग्रस्वामि' स्वामिनी अहनिस सुख बिलसत दोउ भूरि भाग ॥२३॥

सर्वोपरि मेरी स्वामिनी राघौ की प्यारी।
जाको परसि और नहिं परसी ब्रतलोना एक नारी ॥
स्वबस किये दसरथ नृपनंदन नाहिन कोऊ सारी।
बैदेही के बदन कमल पर श्री 'अग्र अली' बलिहारी ॥ २४ ॥

राग कल्यान

बदनारबिंद पर बलि बलि कियो प्यारी।
इंदु कुंद बिद्रुम जपा बिंब मिलि मीन मृग लीन खंजन छबि हारी ॥
नासिका कीर तिल पुष्प दाड़िम दसन हँसनि बिगसनि कमल कहा करै सारी।
भाल दीपति मुकुर भौंह राजी भँवर भृकुटी सरचाप मनमथ सत हारी ॥
चिबुक त्रिभुवन चारु सुभग सुकपोल तर आनँद कंद बिधिना सँवारी।
राम सुखदैन मधुबैन स्वामिनी 'अग्र' जानकी नारी बर नृप दुलारी ॥२५॥

राग सारंग

बलिहारी सीताबदन की।
उज्वल अरुन परस्पर दीपति अधर बिंबफल रदन की ॥
बेसरि मुकुता चपल होत अति सोभा बीरी अदन की।
लोचन चारु चितै मधु बरसत राम काम दुख कदन की ॥
सचीसहित सोभा त्रिभुवन की वारौं मानिनी मदन की।
'अग्र' स्वामिनी बिसद चंद्रमुख सौभग हृद् सुखसदन की ॥२६॥

सभ की सोभा सिमिटि लई।
बैदेही को बदन बिलोकत अंतरभत भई ॥
सीताराम गजगति हंस जंघ कदली कटि केहरि दसन अनारु।
कुच नारंगी कांत कलधौतहि मुख बिधु अंबुज चारु ॥
ग्रीवा कंबु कपोत अधर बिद्रुम द्युति नासा कीर।
नैनन मीन मृग बेनी अहि कोकिल गिरा गंभीर ॥
श्रीहत भए सकुचि सब जित तित पर्वत जाय लियो।
कोई अरन्य अकास अगिन जल कोउ पताल दियो ॥
बलि अरु बरुन वन्हि वासव मिलि बदत भये यह बात।
सीतासरन गहो सब तजि कै श्री 'अग्र अली' बलि जात ॥२७॥

राग धनाश्री

भूषन मनिमय नाहिन भावत ।
सीता भीत पीय अंग परसत ऋषिपतनी की सुधि जब आवत ॥
जंबू नद गुहि असित पाट सों नाना भाँति बनावत ।
कुसुम कटाव कंचुकी सारी कुमकुम कुचन सु दोय जनावत ॥
पद्मपानि पद चित्र महावर पाँति तंबोल कज्जल छबि पावत ।
सहज सुभग बैदेही अंग अंग 'अग्रस्वामि' येहि भाँति रिझावत ॥२८॥

राग कान्हरो

नमो जानकी जगतमनि रुपकमनी ।
बदन बिधु रुचिर रद हास ईषद सुखदाम हृद काम की ताप समनी ।
नमो सुक नासिका नैन मृग मीन छबि भाल बर भाग सौ भाग दरसै ॥
प्रेमपूरित बैन अलक इक उर औन सहज अलबेलि पिय मनहि करसै ।
नमो कंठ कपोतिनी उर जडत गिनी सिंह मधि देस श्रोनि सोहै ॥
जंघ कदली कर्म गर्व गति हरति इभु सुदुति नख चंद्र उपमान को है ॥
नमो बिसद सत कुंभ सम भाँति आभा बपुष मनि खचित बिबिध भूषनिधारी ।
व्यालि बेनीदंड अंग दीपति चंड सुभगता सनि रही रामप्यारी ॥
नमो भरत संगीत गंध्रबकला कोकनिधि सुघर बर नारि सब सीस नावै ।
रुद्र ब्रह्मादि कबि और केते कहौं स्वामिनी 'अग्र' नहिं पार पावै ॥२९॥

नरबर राम त्रियाबर सीता ।
या जोरी की उपमा नाहीं धाता निरखि रह्यो भयभीता ॥
सोच संदेह करत चतुरानन दूजे काहू सृष्टि चलाई ।
उभय लोक परयंत फिरयो पै येहि मूरति गति कहूँ न पाई ॥
बेद बिचार कियो जब ब्रह्मा नेति नेति इनही को गावत ।
राम इष्ट जगतिपति नियता सोई 'अग्र अली' जिय भावत ॥३०॥

राग मलार (झूलन के पद)

तरुन तमाल बरन रघुबीर जानकी कंचन की लता ।
सौदामिनि नव संग मानहु पुलकि प्रेममता ॥
निरखि रेखि जंबू नद जैसे दोऊ संग रता ।
श्री 'अग्र अली' सीतापति सोभा को करि सकै अता ॥३१॥

राग कान्हरो

जनकपुर लागती जु सुहाई
रंग रंगीली अतिहि छबीली सब मिलि झूलन आई ॥
सावन मनभावन पियप्यारी अवनी सहज सुहाई।
पावन कुंज पुंज सुख बरसत करषत मन बरषाई ॥
कंचन खंभ जड़ित डाँडी नग बिबिधि बिचित्र बनाई।
रेसम डोरि कोरि बनि आई चहुँ दिसि जलज जराई ॥
लाली बाल लाल रंग झीमी लालन लाल लड़ाई।
झोंका देत लेत सुख पिय को मंद मंद मुसुक्याई ॥
उमगेउ रंग अनंग परस्पर मैन मल्हार जमाई।
गावहिं समर रंग भरि भामिनि कोकिल कंठ लजाई ॥
ठाकुर हमरे राम मनमोहन अंगन रूप लोनाई।
ठकुराइनि मिथिलेस लाडिलो सील सनेह भलाई ॥
होड़ाहोड़ी मच्यो है हिंडोरा सोभा कहि न सिराई।
श्री 'अग्र अली' प्रिय दंपति झूलत जनकलली रघुराई ॥३२॥

राग बसंत

मूँदत नैन राम सीता के चंदा तन चितवन नहिं देत।
माँगो जो बल्लभा मृगन को सारंगधर सकुचात यहि हेत ॥
प्रिया बचन उलँघन सक नाहीं उत्पति हते प्रलय ह्वै जाई।
दोऊ कठिन जानि रघुनंदन हाँसी मिस यहि रच्यो उपाई ॥
जाँचै जानकी कदाचि इंद्र कुरंग बेगि देउ आनी।
अति आधीन जनावत तिय के 'अग्र स्वामि' एते यह मानी ॥३३॥

रघुकुलबधू झरोखे झाँकै राघौ खेलैं होरी।
भरत परस्पर सुधि नहि पैयत को प्रीतम को गोरी ॥
जहँ तहँ राम जानकी सनमुख लाघव कहि न जाई हो।
केसर कुमकुम कीच मची है बरसत घन पिचकाई हो ॥
नभ बिमान गन थकित रहे हैं सुरबनिता सब गावैं हो।
पुष्प बृष्टि करि जय जय उचरैं प्रमुदित दंद मचाई हो ॥
केलि कुलाहल कौतुक देखैं पुरबासी बड़ भागी हो।
सीताराम स्वरूप हृदय धरि 'अग्र अली' अनुरागी हो ॥३४॥

राग जैतश्री

अबके बसंत अधिक बनि आयो।
खेलत हुते सदैव अवधपुर यहि सुख कबहुँ न पाई हो ॥
और बेर ये सब हुत सखि मिलि मारति भरि पिचकारी हो।
अबके खेल सरोतर सनमुख कहि न जाइ छबि न्यारी हो ॥
चोवा चंदन अगर अरगजा नाना रंग अबीर हो।
केसर कुमकुम कीच मची मनो बरसत भादो नीर हो ॥
चंग मृदंग उपंग खंजरी मधुरे स्वर सहनाई हो।
जीतत जबहिं नायका नायक सहचरि उठति बजाई हो ॥
कोऊ सखी स्लाघि राम को कोऊ सीता गुन गावै हो।
श्री दसरथ जनक दुहुँ पोढ़ी दासी गारी देहिं दिवावैं हो ॥
यह छबि निरखि सुमन सुर बरसत उचरत जै रघुराई हो।
सीताराम फागुरंगराते श्री 'अग्र अली' बलिहारी हो ॥३५॥

खेलत राम रघुपुरी रुचि सौं बहु भाँतिन सुखदाई हो।
इत जानकी जुवतिमंडल में उत सोभित संग भाई हो ॥
चमर छत्र लिये ध्वजा पताका रचना रुचिर बनाई हो।
सबै खेल का सौंज सजी है जैसे निघटन जाई हो ॥
बाजे बाजन लगे दुहुँ दिसि ते गावति गारि सुहाई हो।
मनहुँ दुरि दुरि छुटे मदमाते भिरत परस्पर धाई हो ॥
केसरि बारि कुमकुमा भरि भरि छुटत छिंछि पिचकाई हो।
प्रेरित्त पवन मनहुँ पावस रितु छिन बरसत इकवाई हो ॥
चोवा चंदन छलबल करि कै प्रीतम मुख लपटाई हो।
राजिवनैन लेत जब बदलो तब प्रिय देत दुहाई हो।
हा हा किये तबहिं भलि छुटिहौ कै सीता सिरनाई हो।
मृगमद मलय अबीर सुख सुखो अजिरन कीच मचाई हो ॥
उमरि चल्यो अरगजा पनारनि बीथिनि नदी बहाई हो।
कृस्नागर सो भरे चहबचा धूप धूम नभ छाई हो ॥
सोधों लहरि महोदधि मानो पुरजन प्रीति कराई हो।
भरति भरावत कुँवरि कुँवर रस होरी कहि किलकाई हो ॥
मनो मघवाधुनि व्यापि रही सब उठत महल में छाई हो।
पखरोटा बीरीनि में पंछी मिसु कै हाथ दिवाई हो ॥
खान लगे उड़ि गई चिरौंजी हँसि करवाल बजाई हो।

खंभ खंभ प्रतिबिंब स्याम के जहँ तहँ देत देखाई हो ॥
कुसध्वज कुँवरि भरति भ्रम सो जब तब हँसि करत खेलाई हो ।
पलटे पकरे जाइ सत्रुघन कज्जल आँखि अँचाई हो ॥
करत सबै भामिनि मन भायो बदौ तौ लेहु छुड़ाई हो ।
रंग रँगे खेलत अँग अँगन जनकसुता रघुराई हो ॥
रीझ सुमन बरसत सुर संघट देव दुंदुमी बजाई हो ।
जालरंध्र निरखत सुख जननी आनँदसिंधु बढ़ाई हो ॥
तन धन प्रान करत न्योछावरि बाजत बहुत बधाई हो ।
बीच कियो कौसल्या रानी फगुवा गोद भराई हो ॥
सीताराम बिनोद फाग पर 'अग्र अली' बलि जाई हो ॥३६॥

राग मारू

सीताराम की बलिहारी ।
जगभूषन निरदूषन जोरी राजत अवधबिहारी ॥
सुंदर बर रघुबीर धीर अति सोभानिधि सुकुमारी ।
श्री 'अग्र अली' उरबसो अहर्निस सील सरासनधारी ॥३७॥

हिंडोरने झूलत जनकदुलारी ।
सखि इक जोर किसोर रूपनिधि बिबिधि भाँति तन सारी ॥
कंचन खंभ पाटि पटुली डाँडी बिद्रुमद्युति न्यारी ।
पद्मराग मरुवा बेलन पन्ना आउ इंद्रमनि भारी ॥
धाम निकट आराम हरित द्रुम क्रीड़त तहँ सुकुमारी ।
गावति हैं मिलि हरषि हिंडोरा कलकंठित उनहारी ॥
करत अँदोल लोल चंचल चल जनु दामिनि छबि हारी ।
साट लिये सजनी डरपावत नाम लेउ पिय प्यारी ॥ ॥
नाम लियो स्वरूप सुचि कर देसी ईषु धनुधारी ।
श्रम स्वेदबिंदु निरखि बदन पर श्री 'अग्र अली' बलिहारी ॥३८॥

देखो झूलत राघो डोल ।
जनकसुता लीने सँग सोभित गौर स्याम तन लोल ॥
हीरा पन्ना लाल पिरोजा रतनखचित बेमोल ।
क्रीड़त राम जानकी दोऊ बजै दुंदुभी ढोल ॥
हँसत परसपर प्रीतम प्यारी आनँद बढ़यो सचोल ।
श्री 'अग्र अली' सुनि सुनि सुख पावति बोलहिं मीठे बोल ॥३९॥

झूलत सिया राजिवनैन।
रजतजड़ित हिंडोलना सखि राम सुख के अैन॥
स्याम अंग पर गौर झलकत दामिनी घन गैन।
मैथिली रघुबीर सोभा निरखि लज्जित मैन॥
नाम पिय को लेहु नागरि जो सखिन मन चैन।
जानकी नहिं लेत मुख सों देत लोचन सैन॥
परस्पर झूलत झुलावत बदत मधुरे बैन।
अवधपुर नित केलि दंपति 'अग्र' आनँद दैन॥४०॥

राग जैतश्री

झूलत राम राजिवनैन।
जनकजा सनमुख बिराजति तड़ित ज्यों घन गैन॥
अतिहि झूलत मनहिं फूलत रसहिं तोषत मैन।
लाल के उर लागि सोभा सुख की रेखै अैन॥
परस्पर अनुराग दोउ बदत मधु रे बैन।
जालरंध्र सों निरखि बनिता 'अग्र' उर सुख दैन॥४१॥

जलबिहार बिहरत सीता संग सुंदर बर रघुराई हो।
ग्रीषम काल तुसार सरद सुख सरजू सुभग सुहाई हो॥
न्यारी न्यारी नाव सबनि की सीतल सौंज भराई हो।
लेह्ज चोह्ज बिबिध भाँति फल सुगँध बरन्यो नहिं जाई हो॥
एकै कोट कुँवरि रचो भई राम लछमन भरत भाई।
परत परस्पर कर अंजुली जल मनो सीकर बरखाई हो॥
बिमला कमला कर्कटिका मेलता लाघव लेत बचाई हो।
लोचन लाल भए पयपूरित बसन अंग लपटाई हो॥
निरखत नीरकेलि नर नारी, 'अग्र अली' मनभाई हो॥४२॥

उठे दोउ अलसाने परभात।
दसरथसुत श्री जनकनंदनी सौंधे भीने गात॥
बिमलादिक सखि चँवर दुरावहिं हरषि निरखि मृदु गात।
श्री 'अग्र अली' को श्रीरज दीजै सकल भुवन के तात॥४३॥

चहियत कृपा लली सीता की ।
नवधा भक्ति ज्ञान का करनो मिटि गई संक बेद गीता की ॥
षटमत बेद पुरान पुकारत करत बाद नर बपु बीता की ।
झगरौ करैं अरुझै सुरझै ना मिटी न एक द्वैत भीता की ॥
जाकी ओर तनक हँसि हेरत करत सहाय राम जू ताकी ।
श्री 'अग्र अली' भजु जनकनंदनी पापभँडार ताप रीता की ॥४४॥

जै जै श्री बनप्रमोद रसिकन सुखदाई ।
सरजू तीर दिव्य भूमि बेलि लता रही झूमि
फूलन प्रति भँवरा अति गुंजत मनभाई ॥
कुंज कुंज प्रति अनूप बिलसत तहाँ जुगलरूप
जनकलली रघुनंदन मधुर मधुरताई ।
चंद्रकला बिमलादिक नागरि नवीनी अति
मधुर जंत्र लीन्हे कोई सप्त स्वर जमाई ॥
गावहिं सब दिव्य तान सुनहिं लाल अति सुजान
रामरस भीजि मंद मंद मुसक्याई ।
श्री 'अग्र अली' बिपिन राज यहि सुख तहँ नित समाज
जानत कोउ रसिक भेद जिन यह रस पाई ॥४५॥

आगे सखि पाछे सखि सखिन के मध्य आवैं
अचरानि ओट राजैं राजदुलारी ।
अकनि अकनि पग धरत धरनि पर होत ललित नुपुर झनकारी ॥
कर प्रवेस महल में सजनी अरसपरस सुख उपजत भारी ।
दंपति छबि मोपै कहि न परतु है श्री 'अग्र अली' तापर बलिहारी ॥४६॥

अथ भोजन पद

छबीले दोऊ आवत भोजनसाल ।
झूमत झुकत चलत मतवारे रसिक रंगीले लाल ॥
करत कटाक्ष परस्पर लपटत दीन्हे गलभुज माल ।
हँसत हँसावत रस उपजावत संग सहचरी जाल ॥
प्रानप्रिया कछु कहत नवेली हरषित होत निहाल ।
श्री 'अग्र अली' बैठे दोउ प्यारे निरखत भोग बिसाल ॥४७॥

जेंवत श्री रघुबीर बने सखि संग लिये मिथिलेस लली।
भुज अंस दिये बहियाँ जु लसैं बिहँसैं मृदु मंजु अनंग रली॥
करि कौर लिया मुख देत पिया कहि स्वाद सराहत भाँति भली।
रस के निधि दंपति रंग भरे निरखैं चहुँ ओर किसोर अली॥
मनिमंदिर में झलकैं प्रतिबिंब मनोज के मानो बिहारथली।
अवधपुर नित्य बिहार करें लखि 'अग्र अली' जी की आस फली॥ ४८॥

भले रूठो जी राम गोसाँई।
पायो राजपाट दसरथ के गहि लीन्हों ठकुराई॥
जाय कहाँ मिथिलेस लली से निसरि जाइ गुमराई।
श्री 'अग्र अली' के सिर पर चहिये सीरध्वज की बाई॥४६॥

यह मोहिं दीजै राघव राम।
दासनिदास दास के अनुचर कथा श्रवन मुख नाम॥
मोक्ष आदि दै चारि पदारथ मेरो कछु नहिं काम।
चरनरेनु साधुन की सिर पर कृपा करो सुखधाम॥
संतन सों अनुराग निरंतर येहि बिधि बीते जाम।
श्री 'अग्रदास' चाहत हरि चरचा सुधासिंधु बिश्राम॥५०॥

हम चाकर रघुनाथ कुँमर के।
द्वादस तिलक मनोहर बाना कंठी कंठ देखि जम टरके॥
तुमहिं जाँचि जाँचौ नहिं औरहिं नाहिं भरोसो कह नारी नर के।
द्वालीबंद सदा प्रभु तेरो भयो गुलाम रावरे घर के।
'अग्रदास' यह पटा लिखायो दसखत दसरथसुत निज करके॥५१॥

लल्लूजी 'लाल कवि'

कृष्णाचार्य

नाम का स्वरूप

प्रेमसागर तथा अन्य ग्रंथों के प्रथम संस्करणों को देखने पर पता लगता है कि फोर्ट विलियम कालेज, कलकत्ता के भाखा मुंशी का नाम लल्लूजी 'लाल कवि' था, 'लल्लूलाल, लल्लूजीलाल' या 'लल्लूलालजी' नहीं। यह गलती स्वयं लल्लूजी के समय हो गई थी, अतः बाद में इसकी पुनरावृत्ति हुई तो आश्चर्य नहीं। मेरा ध्यान कैटलाग में पुस्तकों की प्रविष्टि करते समय इस तथ्य की ओर गया कि नाम के किस रूप को प्रामाणिक मानकर चला जाय? किशोरीलाल गोस्वामी ने सरस्वती, फरवरी १९०१ में प्रकाशित अपने 'पंडित लल्लूलाल कवि' लेख में लल्लूलालजी रूप का प्रयोग किया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने संभवतः इसी लेख के आधार पर लल्लूलालजी ही लिखा। अँगरेज लेखकों में किसी ने लल्लूलाल या किसी ने लल्लूजीलाल लिखा। कालेज के विवरणों में और १८०५ में हिंदुस्तानी प्रेस से मुद्रित (सिंहासनबत्तीसी, बैतालपचीसी) लेखक की कृतियों में लल्लूलाल कवि नाम के दर्शन हुए। कालेज के विवरणों में 'लाल कवि' नाम भी मिलता है। १९५२ में प्रकाशित प्रबंधग्रंथ 'आधुनिक हिंदीसाहित्य की भूमिका (१७५७-१८५७)' में डा॰ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने लल्लूलाल रूप अपनाया और सन् १९६१ में डा॰ आशा गुप्ता के प्रबंधग्रंथ 'खड़ी बोली की अभिव्यंजना' में लल्लूजीलाल, किंतु अनुक्रमणिका में लल्लूलाल छपा है।

लेखक के ग्रंथों के प्रथम संस्करणों को ही उलटने पलटने के अनंतर नाम के ठीक रूप का समाधान हुआ, मुख्यतः उसके अपने संस्कृत यंत्र (प्रेस) में प्रकाशित ग्रंथों के प्रथम संस्करणों द्वारा। नीचे लिखे ये विवरण द्रष्टव्य हैं—

१. १८०३ में 'हिंदुस्तानी प्रेस' से अपूर्ण प्रकाशित प्रेमसागर के शीर्षक पृष्ठ पर 'लल्लूजी लाल कवि' छपा है।

२. १८०५ में 'हिंदुस्तानी प्रेस', कलकत्ता से प्रकाशित बैतालपचीसी की भूमिका में—'ब्रजभाषा की बोली अकसर उसमें रहे, श्री लल्लूजी लालकवि की मदद से......'

३. १८१० में 'इंडिया गजट प्रेस', कलकत्ता से प्रकाशित लताइफी हिंदी में शब्दसूची के अनंतर—'लाकट साहिब के हुक्म से श्री लल्लूजी लाल कवि ब्राह्मण गुजराती······'

४. १८१७ में 'संस्कृत प्रेस', कलकत्ता से प्रकाशित 'माधव विलास' के अंतिम पृष्ठ ७० पर—'इति श्री लालकवि विरचिते माधव विलास संपूर्ण समाप्त।'

५. १८१६ में 'संस्कृत प्रेस', कलकत्ता से प्रकाशित लेखक कृत 'लाल चंद्रिका' की भूमिका में 'अथ कवि परिचय' नाम से छपे आत्मचरित में—'श्री लल्लूजी लालकवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र अवदीच······'

६. माधव विलास, लाल चंद्रिका, आदि के अंत में 'संस्कृत प्रेस' से प्रकाशित ग्रंथों की सूची लगी हुई है। इनमें प्रायः लिखा है 'लल्लूजी के यहाँ मलेगी।'

७. लेखक के छोटे भाई दयाशंकर कृत, दायभाग (सन् १८३२ में एजूकेशन प्रेस, कलकता से प्रकाशित) के पृष्ठ ३६ में—'डाकतर डंकीन साहिब की आज्ञा से श्रीलल्लूजी लालकवि के भाई दयाशंकर ने मिताक्षरा के दायभाग को संस्कृत वाणी से दिल्ली आगरे की खड़ी बोली में बनाया।'

८. तासी के इतिहास में (लल्लूजी लालकवि) दे० पृ० २५६।[1]

इन विवरणों की प्रामाणिकता निर्विवाद है। ये सब ग्रंथ (प्रेमसागर को छोड़कर) लल्लूजी के अपने प्रेस में छपे थे या प्रथम संस्करण हैं। लेखक ने स्वयं अपना नाम 'लल्लूजी लालकवि' शीर्षक पृष्ठ के साथ और आत्मकथा में लिखा है। अन्यत्र अपना निजी नाम 'लल्लूजी' या उपनाम 'लाल कवि' लिखा है। इन तथ्यों के आधार पर अब यह मान लिया जाना उचित होगा कि प्रेमसागर के लेखक का नाम 'लल्लूजी' था और उपनाम 'लाल कवि'।

अब संक्षेप में यह भी विचार कर लेना अनुचित न होगा कि यह गड़बड़ी क्यों हुई? ऊपर बतलाया जा चुका है कि नाम के अशुद्ध रूप का श्रीगणेश गिलक्राइस्ट के हिंदुस्तानी प्रेस से सन् १८०५ में प्रकाशित लल्लूजी के ग्रंथों पर छपे नामों से हुई। इन पुस्तकों पर लल्लूलाल लिखा है। दूसरा कारण यह माना जा सकता है कि अँगरेजों की दृष्टि में भारतीय नामों के अंत में (विशेषकर हिंदू नामों के अंत में) 'दास, प्रसाद, नाथ या लाल' आदि होना ही चाहिए। अतः उनके लिये 'लल्लूजी लाल कवि' में कवि शब्द तो 'पोयट' का पर्याय होने के कारण निरर्थक था।

१. डा० वार्ष्णेय कृत अनुवाद।

कवि शब्द हटा देने से नाम 'लल्लू लाल' रह गया। पुनः 'जी' शब्द आदरसूचक है। तो बीच में से किसी ने जी निकाल कर 'लल्लूलाल' बना दिया। ऐसा करते समय यह विचार नहीं किया गया कि गुजरातियों में लल्लूजी नाम बहुत प्रचलित है तथा यह स्वतः संपूर्ण माना जाता है। अँगरेजों की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया की कौन कहे, अनुसंधानकार्य करनेवाले विद्वानों का ध्यान भी नहीं गया। एक और कारण भी समझ में आता है। उस समय नागरी टाइप के साथ उपनाम के आगे पीछे 'इनवर्टेड कामा' के प्रयोग की बात दूर पूर्ण विराम, अर्ध विराम भी नहीं बन पाए थे। अँगरेजी की पुस्तकों में भी उस समय आजकल की तरह इनवर्टेड कामा का उपयोग नहीं होता था। अतः लल्लूजी अपना नाम लल्लूजी 'लालकवि' के रूप में नहीं लिख पाए। परिणामस्वरूप लल्लूजी के नाम के तीन अशुद्ध रूप चल पड़े।

प्रेमसागर के १८०३ और १८०५ के संस्करणों पर विचार

प्रेमसागर का प्रथम अधूरा संस्करण हिंदुस्तानी प्रेस से छपा। इस अधूरे संस्करण में १७६ पृष्ठ हैं। इस संस्करण की एक प्रति 'बंगीय साहित्यपरिषद्', कलकत्ता के ग्रंथालय में सुरक्षित है। यह प्रति मैंने देखी है। इंडिया ऑफिस के हिंदी के कैटलॉग में १८०५ के उस संस्करण की प्रविष्टि है, उसमें भी १७६ पृष्ठ हैं। श्री वार्ष्णेय ने अपने प्रबंध (पृ० ४०१) में इतना ही लिखा है कि १८०३ के संस्करण का शीर्षक हिंदी में है और इसके अँगरेजी शीर्षक में १८०५ छपा है। यह कैसे संभव है कि प्रेमसागर के अधूरे संस्करण १८०३ और १८०५ में छपें, दोनो १७६ वें पृष्ठ पर ही अधूरे रह जाँय, और दोनो का आकार भी एक ही हो! आकार की एकरूपता ब्रिटिश म्यूजियम कैटलॉग और इंडिया ऑफिस कैटलॉग से स्पष्ट है। इस ओर किसी का ध्यान अभी तक नहीं गया। सन् १८६७ में फ्रेडरिक पिंकाट ने ईस्टविक कृत प्रेमसागर का अँगरेजी अनुवाद संशोधित कर छपवाया था। इसकी भूमिका में इन महाशय ने भी प्रेमसागर के १८०५ के संस्करण को – संभवतः अँगरेजी शीर्षक के आधार पर – प्रथम संस्करण माना है और १८०३ के संस्करण का उल्लेख नहीं किया है। इधर १९६१ में डा० आशा गुप्ता ने भी अपने प्रबंध में १८०५ के संस्करण को प्रथम संस्करण की संज्ञा दी है। तथ्य यह है कि १८०५ में कोई संस्करण नहीं छपा। पूरा ग्रंथ न छप सका, परिणामतः १८०५ में अँगरेजी टाइटिल लगाकर १८०३ का संस्करण ही बाजार की शरण में भेज दिया गया। अतः प्रथम अधूरे संस्करण के लिये १८०३ ई० का उल्लेख ही उचित ठहरता है, १८०५ ई० का उल्लेख प्रथम संस्करण के संदर्भ में ऐतिहासिक और तकनीकी दृष्टि से भी गलत है।

हिंदी (खड़ी बोली) का जन्म प्रेमसागर से क्यों माना गया ?

हिंदी (खड़ी बोली) की प्रकाशित पुस्तकों में प्रेमसागर का प्रभाव बहुत व्यापक रूप में फैला। संभवतः पहली बार 'खड़ी बोली' शब्द प्रेमसागर के शीर्षक पृष्ठ पर मुद्रित हुआ और इसी स्थान पर बतलाया गया कि यह बोली दिल्ली आगरे की है। इस घोषणा से स्पष्ट है कि लल्लूजी खड़ी बोली की प्रकृति से, उसकी व्यवहारभूमि से परिचित थे। संभवतः वह यह भी जानते थे कि रेख्तः के समक्ष ब्रजभाषा नहीं, खड़ी बोली ही चल सकती है। लल्लूजी के भाषासंबंधी विचारों का पता इंडिया गजट प्रेस, कलकत्ता से प्रकाशित अँगरेजी में लिखी ब्रजभाषा व्याकरण की भूमिका से लगता है और इससे ब्रजभाषा और खड़ी बोली का अंतर और महत्व भी उस समय की दृष्टि से स्पष्ट है —

'द एंश्यंट लैंग्वेज स्पोकन इन द सिटीज आव् डेलही ऐंड आगरा, ऐंड स्टिल इन जनरल यूस एमंग द हिंदूज आव् दीज सिटीज, इज डिस्टिंग्विश्ड बाइ द इन्है-बिटैंट्स आव् ब्रज, बाइ द नेम आव् खड़ी बोली, ऐंड बाइ द मुसलमान्स इंडिस्क्रि-मिनेट्ली बाइ लूच् हिंदी, नीच, हुच्छ हिंदी ऑर इन द ठेठ हिंदी, ऐंड ह्वेन मिक्स्ड विद् अरेबिक ऐंड पर्शियन फ्रॉम ह्वाट इज काल्ड द रेख्तू आर उर्दू।'

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि लल्लूजी ने गिलक्राइस्ट के आदर्श के अनुरूप नहीं, वरन् दिल्ली आगरे की उस बोली में प्रेमसागर लिखा जो बहुत समय से प्रचलित चली आ रही थी। लल्लूजी से पूर्व अँगरेजों को सामान्य रूप से 'हिंदुस्तानी' नाम से 'उर्दू' या 'रेख्ता' शैली का ही पता था; हिंदी के उस रूप से वे परिचित न थे जिसमें अमीर खुसरो ने अपनी मुकरियाँ लिखी थीं। गिलक्राइस्ट, संस्कृत की बात तो दूर, प्रेमसागर छपने से पूर्व खड़ी बोली के स्वरूप से भी परिचित न थे। संभवतः इसी लिये अपनी हिंदुस्तानी ग्रामर (१७९६) में मुद्रित एक मुकरी को उन्होंने ब्रजभाषा कहा था। ग्राहम बेली के मत से भी 'खड़ी बोली' का परिचय लल्लूजी से गिलक्राइस्ट को मिला।[१]

खड़ी बोली के स्वरूप का अनुशीलन करनेवाले इने गिने अँगरेज ही थे। गिलक्राइस्ट से पूर्व १७८५ में विलियम किर्कपेट्रिक ने अरबी फारसी के उन शब्दों का कोश छपाया था जो उसके समय तक हिंदवी में संमिलित हो चुके थे। इस पुस्तक की भूमिका १७९६ में कलकत्ता से छपी। इसमें उसने हिंदवी पर सात जिल्दों में पुस्तक लिखने की घोषणा की थी और लिखा था कि नागरी टाइप के अभाव में छपाई का

१. अँगरेज लेखकों की दृष्टि में हिंदी, शिक्षा, अप्रैल, १९३१।

काम रुका है।[3] १८११ - १४ ई० के बीच बेप्टिस्ट मिशनरी चेंबरलेन कलकत्ता से आगरा-हरद्वार तक घूमा फिरा तथा सरधना रियासत में बेगम समरू के यहाँ कुछ मास रुका। यहाँ उसने ब्रजभाषा और हिंदी (खड़ी बोली) में बाइबिल लिखने का संकल्प किया और अपने मेमायर (श्री येट्स द्वारा संपादित, सन् १८२४ में बैप्टिस्ट मिशन प्रेस, कलकत्ता से मुद्रित) में कई जगह बीमारी की हालत में दोनो बाइबिलों को पूरा करने की चिंता प्रकट की तथा एक स्थान पर लिखा कि मेरे जीवन का एक बड़ा उद्देश्य यह भी है कि मैं हिंदी का एक व्याकरण, एक कोश बनाऊँ और संपूर्ण बाइबिल को हिंदी में रूपांतरित करूँ।[4] चैंबरलेन ने ही विलियम कैरे को लिखा कि हंटर कृत उर्दू की नागरी में छपी बाइबिल (१८०५ में मुद्रित) हिंदीक्षेत्रों में नहीं चलने की। उसी ने कैरे को सुझाव दिया कि राजस्थनी, ब्रज, कनौजी, अवधी आदि में भी बाइबिल का अनुवाद छापा जाय। चेंबरलेन ने अपने मेमायर में कई जगह लिखा है कि मुझे अनुवादकार्य में सहायता देनेवाला कोई अच्छा व्यक्ति नहीं मिल रहा है। वस्तुतः उस समय की दृष्टि से साधु हिंदी लिखनेवाले इने गिने लेखक थे, और उनकी रचनाएँ भी अमुद्रित ही रह गई। स्वयं गिलक्राइस्ट भी प्रेमसागर की भाषा देखकर प्रभावित हुए थे और १८०३ में प्रकाशित ओरियंटल फैबूलिस्ट (रोमन लिपि) में संस्कृत, अरबी, फारसी, ब्रजभाषा आदि आठ भाषाओं में ईसप की कहानियों के साथ शुद्ध हिंदी में कहानियाँ न दे सकने पर खेद प्रकट किया था और केवल एक कहानी ही ब्रजभाषा रूपांतर के साथ खड़ी बोली में (भूमिका भाग में नमूने के तौर पर) छापी। १८०३ के बाद तो गिलक्राइस्ट भारत से चले ही गए।

किंतु प्रेमसागर के प्रकाशित होने के अनंतर (विशेषकर १८१० के संपूर्ण बृहदाकार संस्करण के प्रकाशित होने के बाद, जिसका मूल्य २० रु० था) हिंदी का जादू फैला और इस पुस्तक के रूप में पहली बार अँगरेजों ने समझा कि उत्तरी भारत में बहुत बड़े समुदाय की भाषा हिंदुस्तानी के नाम पर उर्दू या रेख्ता नहीं हिंदवी, या हिंदी है। गिलक्राइस्ट के बाद 'एनल्स आव् फोर्टविलियम' के लेखक महाशय रोयबक और हिंदी के प्रोफेसर विलियम प्राइस ने हिंदुस्तानी के स्थान पर हिंदी को जो अधिक महत्व दिया, उसका मुख्य कारण प्रेमसागर ही है। प्राइस ने १८१४ में प्रेमसागर के कठिन शब्दों को इकट्ठा कर हिंदी अँगरेजी कोश सुलभ किया। उसने १८२५ में संपादित और प्रकाशित 'हिंदी हिंदुस्तानी सेलेक्शन' की दो जिल्दों में से एक जिल्द को केवल प्रेमसागर और उसकी शब्दावली से पूरा किया। यह पूरा भाग

३. वही।

४. वही।

२० रु० में बिकता था। अलग अलग रूप में प्रेमसागर १२ रु० में और शब्दावली ८ रु० में। यह कीमती संस्करण भी इतनी जल्दी बिका कि प्राइस को १८३० में दूसरा संस्करण छपाना पड़ा।

१८४८ में बंगाल नेटिव इंफेंट्री की ४७वीं रेजीमेंट में मिलिटरी के एक अधिकारी कैप्टन डब्ल्यू० होलिंग्स ने अँगरेजी अनुवाद छपाया। दूसरा अनुवाद इंगलैंड में ई० बी० ईस्टविक ने पृथक् जिल्द में नागरी लिपि के साथ मूल प्रेमसागर देकर और प्राइस के शब्दकोश में अपनी ओर से २००० शब्द और जोड़कर १८५१ में प्रकाशित किया। फ्रेडरिक पिंकाट ने १८९७ में ईस्टविक के अनुवाद को पुनः टीककर छपवाया और इन दोनो अनुवादों के संबंध में लिखा, 'दुर्भाग्यवश कैप्टन बहुत व्यस्त आदमी था, पंडित से अधिक सैनिक था, अतः यह इस काम को पर्याप्त समय और ध्यान देकर (सस्टेन्ड एफर्ट) न कर सका।' ईस्टविक ने 'जहाँ तक संभव है शब्दानुवाद' का दावा किया किंतु पिंकाट ने इस दावे को अस्वीकार किया और अंत में लिखा कि 'यह भारत का दुर्भाग्य है कि अपने महत्व के अनुरूप हिंदी को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता, केवल व्यापारी, अध्यापक और मिशनरी ही आवश्यकता के दबाव में इसके अध्ययन पर ध्यान देते हैं।'

इस तरह यदि प्रेमसागर के मुद्रण की प्रतिक्रिया, उसके एक के बाद एक संस्करणों के प्रकाशन, उसपर बने कोश और अँगरेजी अनुवादों की पृष्ठभूमि में देखा जाय तो यह तथ्य समझने में देर नहीं लगती कि अँगरेजों ने लल्लूजी और उनके प्रेमसागर को क्यों महत्व दिया? १८१० में संपूर्ण प्रथम संस्करण के छपने के बाद यह बीस रुपये की पुस्तक धड़ाधड़ कैसे बिकी और छपी? 'स्पष्ट है कि हिंदी या हिंदवी का मुद्रित नमूना उस समय मात्र प्रेमसागर द्वारा ही प्रगट हुआ।' यह भारी दुर्भाग्य की बात थी कि उस समय लल्लूजी के साथी सदल मिश्र की प्रसिद्ध कहानी 'नासिकेतोपाख्यान' मुद्रित नहीं हुई। उनकी दूसरी कृति अध्यात्मरामायण (रामचरित) भी नहीं छपी थी। पहली पुस्तक पहली बार नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा छपी १९०१ में, और रामचरित छपा बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् द्वारा १९६१ में। ऐसी स्थिति में मुंशी सदासुखलाल और लल्लूजी से ६२ वर्ष पहले के रामप्रसाद निरंजनी के योगवासिष्ठ और पं० दौलतराम कृत पद्मपुराण (१७६१) को स्वयं लल्लूजी भी न जानते रहे हों, तो क्या आश्चर्य? इस तथ्य से कैसे इनकार किया जा सकता है कि उस समय खड़ी बोली हिंदी का कोई साहित्य, विशेषकर मुद्रित साहित्य उपलब्ध न था। उस समय ऐसा कोई पंडित चेंबरलेन को आसानी से नहीं मिला जो बाइबिल के टकसाली ब्रजभाषा या खड़ीबोली के अनुवाद में पथप्रदर्शन कर सकता था। प्रायः यह कहा जाता है कि हिंदी को विलियम कैरे जैसा मनुष्य नहीं मिला जिसने बँगला को व्याकरण, बाइबिल, कोश आदि दिए। आधुनिक हिंदी का

स्वरूप उस समय स्पष्ट न था, भले ही यह भाषा बोली के रूप में समृद्ध थी और अनजाने में निरंजनी और दौलतराम जैसे अनुवादक खड़ी बोली में लिख रहे थे। चैंबरलेन ने ही अपने मेमायर (पृ० ३२७) में एक जगह लिखा था कि व्रजभाषा बँगला जैसी श्रेष्ठ भाषा है। इस समय से लेकर भारतेंदु तक और काफी बाद तक व्रजभाषा की ही तूती बोलती रही। पद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली का समर्थन करनेवालों में अयोध्याप्रसाद खत्री जैसे इने गिने व्यक्ति ही थे। किसी भी भाषा का उत्कर्ष उस भाषा के बोलनेवालों की उस चेतना से होता है जो यह भाव उत्पन्न करती है कि 'यह है हमारी भाषा'। मुगल साम्राज्य के अवसान पर फारसी पर ही गर्व किया जा सकता था, या व्रजभाषा पर, जिसमें विपुल पद्यसाहित्य था। अमीर खुसरो को छोड़कर हरिश्चंद्र से पहले तक कोई ऐसा पंडित नहीं हुआ जिसने आगरा-दिल्ली की भाषा के गीत गाए हों। हाँ, उस समय दक्खिनी का विकास अवश्य हो रहा था और जुनूनी जैसे लेखक ने प्रसन्न होकर कहा —

मैं इसको दर हिंदी जबां इस वास्ते कहने लगा।
जो फारसी समझे नहीं, समझे इसे खुशदिल होकर॥

स्वयं लल्लूजी को खड़ी बोली की ऐसी रचनाओं का पता न था, अन्यथा वे खुशदिल होकर अपने संस्कृत यंत्र से रामचरितमानस, बिहारी के दोहे, नरोत्तम के कवित्त, व्रजवासीदास के बृहदाकार व्रजविलास आदि के साथ उन्हें अवश्य छापते। ऐसी स्थिति में अँगरेजों ने प्रेमसागर को ही शुद्ध हिंदी का प्रतिनिधि ग्रंथ मानकर कोई गुनाह नहीं किया। गलती इतनी ही थी कि खड़ी बोली को उन्होंने फोर्ट विलियम कालेज का आविष्कार मान लिया। सदल मिश्र कृत रामचरित पर पता नहीं क्यों, लल्लूजी की दृष्टि नहीं गई? एक कारण यह हो सकता है कि बड़े ग्रंथ छापने के लिये कालेज के अधिकारियों की तरफ से संभवतः कोई आश्वासन न मिला हो।

प्रेमसागर को महत्व मिलने का एक कारण और भी था। शासकजाति को अपनी भाषा की श्रेष्ठता के साथ साथ अपने ईसाई धर्म की श्रेष्ठता का भी भान था। ईसाई धर्मप्रचारक बंगाल से लेकर बंबई तक प्रतिमापूजा के रूप में शैतान को आरूढ़ पाते थे। चैंबरलेन ने बनारस में शैतान को पूर्ण वैभव में देखकर खेद प्रकट किया। इस दृष्टि का मुख्य प्रतीक वैष्णव धर्म में आरूढ़ कृष्ण और उनकी प्रतिमा ही था। प्रेमसागर श्रीमद्भागवत के बारहवें स्कंध का अनुवाद होने के कारण अँगरेजों की दृष्टि में, विशेषकर धर्मप्रचारकों की दृष्टि में बहुत बड़े हिंदूसमाज का प्रतिनिधि ग्रंथ था। कई स्थानों पर मुझे प्रेमसागर के अन्य पक्षों को छोड़कर इस धार्मिक दृष्टि से आकृष्ट अँगरेज लेखकों के विचार पढ़ने को मिले हैं। फ्रेडरिक पिंकाट जैसे हिंदीप्रेमी ने भी अपने १८६७ के अँगरेजी प्रेमसागर की भूमिका में लिखा —

'आव् द पायोनियर्स इन द माडर्न लिटरेचर आव् दिस वेस्टर्न हिंदी वाज श्री लल्लूलाल कवि······वाज द आथर आव् सेवेरल वाल्यूम्स, द मोस्ट फेम्ड आव् ह्विच आर द राजनीति (इन ब्रजभाषा), ऐंड द प्रेमसागर, कंपोज्ड इन ह्वाट इज नाउ टर्मड् द क्लासिकल फार्म आव् हिंदी। दिस लैटर बुक हैज आलवेज बीन ट्रीटेड ऐज द फर्स्ट रीडिंग बुक प्लेस्ड इन द हैंड्स आव् हिंदी स्टूडेंट्स। इट इज ए बुक फर्फेक्ट फैमिलियरिटी विद् द कंटेंट्स आव् ह्विच इज एब्सोल्यूट्ली एसेंशल टु द मिशनरी; फार इट कंटेंस द लाइफ वर्क आव् दैट रिवेलेशन आव् डीटी ह्विच कमांड्स द मोस्ट एब्सोर्बिंग इंटरेस्ट एमंग द पीपुल आव् इंडिया।' और होलिंग्स ने अपने अँगरेजी अनुवाद (प्रेमसागर) की भूमिका में हिंदी के संबंध में लिखा— 'द हिंदी लैंग्वेज···इज मोस्ट कामन्ली स्पोकन बाइ इन्हैबिटैंट्स आव् आल्मोस्ट एव्री पार्ट आव् द कंट्री। द हिंदी आव् प्रेमसागर इज रिमार्केब्ली प्योर।' तासी ने अपने 'हिंदुई साहित्य के इतिहास' में प्रेमसागर पर विचार करते हुए पर्याप्त विस्तार से कृष्णधर्म और ईसाई धर्म की तुलना की है और प्रेमसागर के महत्व पर बल दिया है।

मुद्रक और संपादक लल्लूजी

संपादक लल्लूजी पर श्री वार्ष्णेय ने अपने प्रबंध में संकेत मात्र किया है। मुद्रक लल्लूजी पर आज तक कोई काम नहीं हुआ। यहाँ मुद्रक लल्लूजी पर विचार करना आवश्यक है। लल्लूजी की कई पुस्तकों के अंत में संस्कृत प्रेस से छपी पुस्तकों की सूचियाँ मिलती हैं। उदाहरणार्थ लाल चंद्रिका (१८१९) के भूमिकाभाग के अंत में लिखा है—

'ग्रंथ छपा संस्कृत प्रेस में। छापा गुरुदासपाल ने। जिस किसी को छापे की पोथी लेने की अभिलाषा हो। लाल चंद्रिका। माधव विलास। ब्रज विलास। सभा विलास। सिंहासन बत्तीसी। बृंद सतसई। तुलसीकृत रामायण। विनय पत्रिका। गीतावली। राम सतसई। प्रेमसागर। राजनीति। नजीर के शेर। भाषा कायदा। लतायफ हिंदी। सर्फ उर्दू। तिसे कलकत्ते में दो ठौर मिलेगी। एक पटलडाँगे में श्री लल्लूजी के छापखाने में ओ दूजे बड़े बाजार में श्री मोतीचंद्र गोपालदास की कोठी में श्री हरिदेव सेठ के यहां। इति।'

अतः 'निज यंत्र', 'निज छापखाने' या 'लल्लूजी के छापखाने' उद्धरणों से स्पष्ट है कि लल्लूजी का अपना प्रेस था और उसका नाम 'संस्कृत प्रेस' या 'संस्कृत यंत्र' था। यह प्रेस किसने और कब स्थापित किया? विलियम कैरे के जीवनीलेखक जार्ज स्मिथ (१८३३-१९१९) से केवल इतना ही पता लगता है कि उत्तरी भारत के किसी बाबूराम ने कलकत्ता में एक प्रेस खड़ा किया और संस्कृत के पंडित कोलब्रुक

के प्रभाव से संस्कृतपुस्तकें छापने को तत्पर हुआ।[४] यह प्रेस संभवतः १८०६ या ७ में ही खिदिरपुर में स्थापित हुआ था। इस प्रेस के स्थापित होने के स्वागत का विवरण फोर्ट विलियम कालेज के सातवें वार्षिक विवरण (१८०८) से प्राप्त है — 'एक छापाखाना एक विद्वान हिंदू द्वारा अच्छे सुधारे हुए कई आकार के नागरी टाइपों से सुसज्जित रूप में संस्कृत की पुस्तकें छापने के लिये स्थापित हुआ है···कालेज ने इस प्रेस को सर्वोत्तम संस्कृत कोश और संस्कृत व्याकरण छापने के लिये प्रोत्साहित किया है। आशा की जाती है कि हिंदुओं में संस्कृत प्रेस द्वारा मुद्रणकला के समारंभ से बहुसंख्यक और पुरानी सभ्यता की जाति में शिक्षा की वृद्धि होगी, इससे बचे हुए साहित्य और विज्ञान का रक्षण भी होगा'।[५] नवें वार्षिक विवरण में पुनः प्रविष्टि की गई कि 'संस्कृत प्रेस ने कई सुप्रसिद्ध ग्रंथ छापे हैं। इन ग्रंथों की प्रशंसा उन लोगों ने की है जो भारतीय साहित्य का अनुशीलन (कल्टीवेट) करते हैं···प्रशासन ने इन प्रकाशनों को प्रोत्साहन दिया है। ये पुस्तकें उचित दाम में प्राप्त हैं। इससे देशी लोगों में शिक्षा प्रसार की पूरी आशा की जा सकती है। इस प्रेस ने इस समय भगवतगीता, गीतगोविंद आदि छापे हैं। संस्कृत प्रेस से १८०७ में हिंदी की छपनेवाली पहली पुस्तकें हैं तुलसीकृत 'गीतावली' और 'सगुनावली'। नवीं रिपोर्ट में ही कालेज द्वारा रामचरितमानस और बिहारीलाल की सतसई छापने की स्वीकृति का भी जिक्र है। ये पुस्तकें संस्कृत प्रेस से ही छपीं। बहुत संभव है कि ब्रजभाषा के ग्रंथों का संपादन लल्लूजी और अवधी ग्रंथों का संपादन सदल मिश्र करते थे। ब्रजभाषा काव्यों का संग्रह और संपादन लल्लूजी ने किया, मानस का संपादन सदल मिश्र ने किया था। सरसरस १८१७ में छपा। यह पुस्तक राष्ट्रीय ग्रंथालय में है तथा इसमें लल्लूजी का नाम संग्रहकर्ता के रूप में स्पष्ट रूप से दिया गया है। रामचरित के लेखनकार्य पर सदल मिश्र को कालेज से पुरस्कार मिलने की बात की पुष्टि कालेज के विवरणों के आधार पर श्री वार्ष्णेय ने और सदल मिश्र ग्रंथावली की भूमिका में श्री नलिनविलोचन शर्मा ने की है।

संभवतः संपूर्ण उत्तर भारत में सन् १८०२ - २२ तक लल्लूजी पहले भारतीय थे जिनका अपना प्रेस था, जिसमें नागरी के कई आकारवाले टाइप थे, जिसमें छपे संस्कृतग्रंथों का स्वागत अँगरेजों ने भी किया, और जिसमें पहली बार हिंदी क्लासिक्स – नरोत्तम, तुलसी, बिहारी, ब्रजवासीदास के ग्रंथ छपे; जिसमें खड़ी बोली,

५. द लाइफ आव् विलियम कैरे (१८८५), पृ० २०१।

६. ऐनल्स आव् द कालेज आव् फोर्ट विलियम (१८१९), पृ० १५५।

आधुनिक हिंदी का ग्रंथ प्रेमसागर अपने संपूर्ण रूप में (बड़े टाइप और आकार में, मूल्य २० रु०) पहली बार छपा। इस प्रेस से लल्लूजी ने बँगला पुस्तकें भी छापीं। यह उल्लेखनीय है कि लल्लूजी संस्कृत नहीं जानते थे और संस्कृतग्रंथ छापने और उनके संपादन का श्रेय प्रेस के मूल स्वामी पं० बाबूराम को है।

१८२० के बाद संस्कृत प्रेस से मुद्रित किसी भी पुस्तक का पता नहीं लगा है। फोर्ट विलियम कालेज में भी १८२३ - २४ के बाद लल्लूजी का पता नहीं लगता। यह ज्ञात नहीं है कि पं० बाबूराम के खिदिरपुर स्थित संस्कृत प्रेस के स्वामी लल्लूजी कब हो गए और यह प्रेस कब पटलडाँगे (कलकत्ते का एक मुहल्ला) स्थानांतरित हो गया? आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल ने संभवतः अंबिकादत्त व्यास के लेख के आधार पर लिखा है कि सन् १८२४ ई० में ये फोर्ट विलियम कालेज से पेंशन लेकर अपने छापेखाने को नाव पर लाद आगरे आए और वृद्धावस्था के दिन सुख से काटने लगे।

जीवनी लिखने में स्वयं किशोरीलाल जी ने पं० अंबिकादत्त व्यास की पुस्तक का सहारा लिया है। जीवन - मरण - संबंधी ये ही विवरण अब आधार रूप में रह गए हैं। जीवनीसंबंधी और कोई आधार प्राप्त नहीं है। प्रेस संबंधी उपर्युक्त विवरण के आधार पर किशोरीलाल जी की यह सूचना निःसंदेह गलत है कि लल्लूजी अच्छे तैराक थे और डूबते हुए एक अँगरेज को दो ही गोते में बाहर निकाल लिया, उसी अँगरेज ने प्राणरक्षक लल्लूजी को एक सहस्र रुपए नकद देकर एक छापखाना करा दिया और कंपनी से अनुरोध करके कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज में ५० रु० महीने की नौकरी भी दिलवाई। लाल चंद्रिका में उपलब्ध लल्लूजी कृत 'अथ कवि परिचय' से स्पष्ट है कि कालेज में नौकरी बहुत दौड़धूप के अनंतर अन्य आधार से मिली थी, गोताखोरी के गुण से नहीं। किशोरीलाल जी की पुस्तक - मुद्रण - संबंधी तिथियाँ भी लाल चंद्रिका को छोड़कर गलत हैं; ये दो चार वर्ष आगे पीछे हैं।

किशोरीलालजी के अनुसार लल्लूजी निःसंतान ही रहे। इनके चार भाई थे। इनसे छोटे दयाशंकर आगरा कालेज में हिंदी के अध्यापक थे। इन्होंने मिताक्षरा के दायभाग अंश का हिंदी अनुवाद किया था जो १८३२ में कलकत्ता से छपा। तीसरे भाई शिवशंकर थे।

यह आश्चर्य की बात है कि गिलक्राइस्ट, विलियम प्राइस या अन्य किसी भी व्यक्ति ने लल्लूजी के संबंध में कुछ नहीं लिखा, या इनके लिखे विवरण जो आकस्मिक और संक्षिप्त ही रहे होंगे, नहीं मिलते। संस्कृत प्रेस और पं० बाबूराम के संबंध में भी उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण ही मिले हैं।

लल्लूजी कृत, संपादित और मुद्रित साहित्य

शकुंतला नाटक (१८०२ और १८०४)

नेवाज कवि कृत 'सकुंतला नाटक' काव्य पुस्तक का कहानीकरण काजिम अली 'जवाँ' के साथ 'कलकत्ता गजट प्रेस' से प्रथम बार १८०२ में ३० पृष्ठ में अधूरा छपा। यह गिलक्राइट्स के हिंदी मैनुअल (१८०२) में संमिलित। ५०० प्रतियाँ मुद्रित। १९२ पृ० छपने का अनुमान था। १८०४ में हिंदुस्तानी प्रेस कलकत्ता से 'हिंदी रोमन आर्थोएपीग्राफिकल अल्टीमेटम' के २४–८४ पृष्ठ तक रोमन लिपि में। १८२६ में लंदन से विशेष ढंग से बने रोमन टाइप में।

माधोनल (१८०२)

मजहर अली खाँ विला के साथ। अधूरा, 'हरकारू प्रेस' से १८०२ में। हिंदी मैनुअल (गिलक्राइस्ट द्वारा संपादित) में संमिलित। लल्लूजी ने अपनी पुस्तकों की सूची में उल्लेख नहीं किया है। १८०५ में यह पुनः हिंदुस्तानी प्रेस से छपा। इसकी एक प्रति एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता में है, उसमें अंतिम कुछ पृष्ठ नहीं हैं।

बैतालपचीसी (१८०२ और १८०५)

सूरत कवि कृत ब्रजभाषा रचना का मजहर अली विला के साथ अनुवाद। 'मिरर प्रेस', कलकत्ता से अधूरे रूप में प्रथम बार १८०२ में छपा। हिंदी मैनुअल में संमिलित २३२ पृ० बड़े आकार में छपने का अनुमान था। प्रथम संपूर्ण संस्करण १८०५ में 'हिंदुस्तानी प्रेस' से। पुनः १८०९ में। १८३० में 'विलियम प्राइस' ने अपने 'हिंदी हिंदुस्तानी सेलेक्शंस' में संमिलित किया। १८५५ में मि० बार्कर द्वारा हर्टफोर्ड से, १८५७ में डंकन फोर्ब्स द्वारा नोट और शब्दकोश सहित लंदन से। १८५७ में बंबई से। १८६० ई० में विद्यासागर ने। जे० एफ० बनेस ने प्रथम दस कहानी लेकर फोर्ब्स के संस्करण के आधार पर अँगरेजी अनुवाद कलकत्ता से छपाया। यह फोर्ट विलियम कालेज में पाठ्य पुस्तक।

सिंहासनबत्तीसी (१८०२–१८०५)

सुंदर कवीश्वर कृत ब्रजभाषा रचना का काजिम अली 'जवाँ' के साथ, अनुवाद 'हरकारू प्रेस' कलकत्ता से ३६ पृ० में १८०२ मे पहली बार अधूरा संस्करण। हिंदी मैनुअल में संमिलित। ५०० प्रतियाँ छपीं। १८०५ में 'हिंदुस्तानी' प्रेस से २५२ पृ० में मुद्रित। बाद में कलकत्ता से ही १८१५, १८३९ और १८४७ में। बंबई से १८५४, इंदौर से १८४९ और १८५५ में। लखनऊ से १८६२। बनारस से १८५०, १८६५ में। १८६९ में सैयद अब्दुल्ला कृत संस्करण इंगलैंड से अँगरेजी अनुवादसहित। रा० ग्रं० कलकत्ता में प्राप्त।

प्रेमसागर (१८०३ और १८१०)

श्रीमद्भागवत का बारहवाँ स्कंध – चतुर्भुज मिश्र कृत ब्रजभाषा अनुवाद का खड़ी बोली में रूपांतर। प्रथम अधूरा १७६ पृ० 'हिंदुस्तानी प्रेस', कलकत्ता से। यह बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता में प्राप्त। १८०५ में केवल इसी संस्करण पर अँगरेजी में शीर्षक छपा, अतः यह स्वतंत्र संस्करण नहीं। १८१० में 'संस्कृत प्रेस' से बड़े टाइप और बड़े आकार में छपा। विलियम प्राइस के १८२५ और १८३० में फोर्ट विलियम कालेज के तत्वावधान में 'हिंदी हिंदुस्तानी सेलेक्शंस' के अंतर्गत दूसरी जिल्द में मुद्रित। साथ में हिंदी - अंगरेजी कोश भी लगाया। कोश का प्रथम स्वतंत्र संस्करण १८१४ में।

फोर्ट विलियम कालेज के अंतर्गत आर्थिक सहायता से १८४२ में योगध्यान मिश्र ने संशोधित रूप में मुद्रित कराया। १८५४ में बंबई से गुजराती लिपि में, मेरठ से १८६४ ?, कलकत्ता – दिल्ली से १८६७ में। लखनऊ से १८६६ और पटना से १८६८ में।

राजनीति (१८०६)

नारायण पंडित कृत संस्कृत रचना का ब्रजभाषा अनुवाद। १८०६ में 'हिंदुस्तानी प्रेस' से। १८२७ में विलियम प्राइस द्वारा 'हिं० हिं० सेलेक्शंस' में। १८५४ में एफ० ई० हाल ने भूमिका, टिप्पणी और कोश सहित, मिशन प्रेस, इलाहाबाद से। १८६९ में सी० डब्ल्यू० बोडलर बेल ने अँगरेजी अनुवाद कलकत्ता से छपाया।

लताइफो हिंदी (१८१०)

लताइफी हिंदी आर द न्यू साइक्लोपीडिया हिंदुस्तानीका आव् विट...... इन पर्शियन एंड नागरी कैरेक्टर्स, इंटर स्पर्संड विद् एप्रोप्रिएट प्रोवर्ब्स......इन रेख्तू ऐंड ब्रजभाषा डायलैक्ट्स, टू हिच एडेड ए वोकेबुलरी आव् द प्रिंसिपल वर्ड्स, इन हिंदुस्तानी ऐंड इंगलिश, बाइ लल्लूलाल कवि। कलकत्ता, 'इंडियन गजट प्रेस', १८१०। १२४, १५८, ६ पृ० २१ सेंटी०।

१८२१ में फारसी और रोमन लिपि में डब्ल्यू० सी० स्मिथ ने लंदन से।
जेनरल प्रिंसिपुल्स आव् इनफ्लेक्शंस ऐंड कन्जुगेशन इन द ब्रज भाखा... १८११. कलकत्ता, 'इंडिया गजट प्रेस', १६, ३८ पृ० २६ सेंटी०।

सभा विलास (१८१५ ?)

काव्यसंग्रह (रहीम, तुलसी, वृंद, खुसरो आदि की रचनाएँ)। पहली बार 'संस्कृत प्रेस', कलकत्ता से १८१५ में, ३८ पृ० ; ब्रि० म्यू० कैटलाग के अनुसार १८२०

में। ७३ पृ० विलियम प्राइस के 'हिंदी हिंदुस्तानी सेलेक्शंस' में (१८२७); इंडिया आफिस कैटलाग में १८१५ से १८७७ तक २० संस्करणों का उल्लेख है।

माधव विलास (१८१७)

'गद्य - पद्य ब्रजभाषा में ग्रंथ बनाय माधव सुलोचना की कथा यामें है' और अंत में 'इति श्री लालकवि विरचिते माधव विलास संपूर्ण समाप्तं।' 'संस्कृत प्रेस', कलकत्ता से १८१७ में। १८४६ में आगरा से और १८६८ में कलकत्ता से।

लाल चंद्रिका (१८१९)

सतसइया आव् बिहारी विद् ए कमेंट्री ऐंटाइटिल्ड लाल चंद्रिका, संपा० जा० अ० ग्रियर्सन। कलकत्ता, गवर्नमेंट प्रेस, १८९७ – दूसरा सं०। प्रथम संस्करण लल्लूजी के 'संस्कृत प्रेस' से १८१९ में। भूमिका के दो पृष्ठों में 'अथ कवि परिचय' नाम से आत्मकथा।

सरसरस (१८२०)

अंतिम पृष्ठ पर 'श्री लल्लूजी लालकवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र उदीच आगरे वारे ने सूरत कवि के सरसरस को प्राचीन कवियों के कवित मिलाय बढ़ाय, शोधकर छपायों निज छापा घर में'''संवत् १८७७।' राष्ट्रीय ग्रंथालय में उपलब्ध। इस ग्रंथ का उल्लेख स्वयं लल्लूजी के बाद यहाँ संभवतः पहली बार किया जा रहा है।

अप्राप्त साहित्य

भाषा कायदा

इस पुस्तक की प्रति कहीं नहीं मिली। ब्रिटिश म्यूजियम या इंडिया आफिस कैटलाग में प्रविष्टि नहीं है। किशोरीलाल गोस्वामी ने उल्लेख किया है कि इसकी एक प्रति बंगाल ए० सो० में रक्षित है। सन् १८१७ में मुद्रित माधव विलास, १८२० में मुद्रित सरसरस और १८१९ में मुद्रित लाल चंद्रिका के अंत में प्रेस से मुद्रित पुस्तकों की सूची में उल्लिखित है।

अँगरेजी बोली

माधव विलास (१८१७) के अंत में इस पुस्तक का उल्लेख है।

अन्य संपादित ग्रंथ

लाल चंद्रिका (१८१९) की भूमिका के अंत में भी लल्लूजी ने ब्रजविलास, तुलसी रामायण, विनयपत्रिका, गीतावली, रामसतसई, नजीर के शेर का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त सरसरस (१८२०) के अंत की सूची में सुदामाचरित्र और वृंदसतसई का उल्लेख है।

इनमें से नजीर के शेर और ब्रजविलास राष्ट्रीय ग्रंथालय में उपलब्ध हैं किंतु दुर्भाग्य से आरंभ और अंत के पृष्ठ नहीं हैं। टाइप, कागज और आकार से ये पुस्तकें संस्कृत प्रेस से मुद्रित सिद्ध हैं। ब्रजभाषा की ये कृतियाँ उस समय संस्कृत प्रेस से कौन संपादन करके छाप सकता था? वृंदसतसई के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। माधवविलास में ब्रजविलास आदि का उल्लेख है अतः यह पुस्तक १८१७ में या इससे पहले छपी। अन्य पुस्तकें भी १८२० से पूर्व या एक आध वर्ष बाद छपी होंगी।

रामायण का संपादन सदल मिश्र ने किया था। ब्रि० म्यू० से पत्र व्यवहार कर पता लगा है कि 'श्री सद···' का उल्लेख पुस्तक में है।' 'नजीर के शेर' के संबंध में भी यह कहना कठिन है कि किसने संपादन किया। 'सर्फ उर्दू' के लेखक अमानत-उल्ला थे। यह 'हिंदुस्तानी प्रेस' से १८१० में छपी थी। फोटोकापी राष्ट्रीय ग्रंथालय में उपलब्ध है। मात्र यही पुस्तक लल्लूजी के प्रेस से छपी पुस्तकों के साथ बिक्री के लिये रखी हुई मिली है।

इस प्रकार लल्लूजी ने कुछ ग्रंथ लिखने के अतिरिक्त कुछ ग्रंथ संपादित किए कुछ का अनुवाद और कुछ का मुद्रण किया। उस समय ब्रजभाषा और अवधी के क्लासिक्स का छापना ही बड़ी बात थी। लल्लूजी ने पुस्तकचुनाव में अपनी परिमार्जित और उच्च साहित्यिक रुचि का परिचय दिया है। पैसा कमाने की दृष्टि से वे बाजारू चीजें भी छाप सकते थे। किंतु उन्होंने वैसा न किया। अब आवश्यकता इस बात की है कि लल्लूजी के सब ग्रंथों के प्रथम संस्करणों की फोटो कापी मुद्रित की जाय जिससे उनके संबंध में प्रामाणिक विवरण उपस्थित हो सके।

सदल मिश्र के संबंध में उनके नाम से प्रकाशित (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् द्वारा) ग्रंथावली में कहा गया है कि वे अपने देश (बिहार) लखपती बनकर लौटे थे और मार्ग में लुट जाने के डर से ईस्ट इंडिया कंपनी के सिपाही उन्हें घर तक पहुँचा गए। घर आकर उन्होंने जमींदारी आदि भी खरीदी थी। लल्लूजी के संबंध में ऐसा नहीं कहा जा सकता है। उस समय प्रेस चलाना लोहे के चने चबाना था। भले ही लल्लूजी खाते पीते तो अच्छे रहे होंगे, किंतु हिंदी प्रेस की सेवा से वे लखपती होने का सौभाग्य प्राप्त न कर सके होंगे। कहा गया है कि वे प्रेस नाव पर लादकर आगरा ले गए और वहाँ उसे खड़ाकर कलकत्ता पुनः लौटे। इस विवरण से उनके अर्थसंघर्ष की ही झाँकी मिल सकती है।

अँगरेजी अनुवाद

प्रेमसागर—अनुवाद कैप्टेन डब्ल्यू० होलिंग्स द्वारा कलकत्ता, १८४८, आर द ओशन आव् लव, अनुवाद बी० ईस्टविक हर्टफोर्ड द्वारा १८५१।

सेलेक्शंस फ्राम प्रेमसागर, अनुवाद जे० एफ० बनेस द्वारा, कलकत्ता, १८७७। २२१ पृ० २३ सेंटी०। एक संक्षिप्त संस्करण, प्रत्येक पृष्ठ पर हिंदी और अँगरेजी दो कालम में मुद्रित है।

सेलेक्शंस फ्राम प्रेमसागर ऐंड बाग-ओ-बहार, सटिप्पण अनुवाद अदालत खाँ द्वारा। कलकत्ता, बैप्टिस्ट मिशन प्रेस, १८३१। प्रेमसागर १८६ पृष्ठों में मुद्रित है। एक संक्षिप्त संस्करण, प्रथम संस्करण १८७७ में।

ले प्रेमसागर; ओशन द-ऐमर। त्रादुई पार ई० लामेरेसे आदि, पेरिस, १८९३, २५ सेंटी० फ्रेंच में, द प्रेम सागर, आर ओशन आव् लव, ई० बी० इस्ट्विक पर फ्रेडरिक पिंकाट द्वारा संशोधित संस्करण। वेस्ट मिंस्टर, १३९७।२३ सेंटी०।

राजनीति, अनुवाद सी० डब्लू बोल्डर बेल द्वारा। कलकत्ता १८६९।

सिंहासन बत्तीसी, द्रष्टव्य-बिब्लियोग्राफी आव् हिंदी वर्क्स आव् द आथर।

अथ कवि-परिचय*

'श्री-लल्लूजी-लाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र अवदीच आगरे-वासी, संवत १८४३ में अपना नगर छोड़, अन्न जल के आधीन हो, मकसूदाबाद में आया, औ कृपा सखी के चेले गोस्वामी गोपाल दास के सतसंग से नव्वाब मुबारकदौला से भेट कर सात बरष वहाँ रहा। गोस्वामी गोपाल दास के बैकुंठ-वास पाने से, औ उनके भाई गोस्वामी रामरंग कौशल्या दास के बरधवान जाने से उदास हो, नव्वाब से बिदा हो, नगर कलकत्ते में आया, औ बावन लक्खी रानी भवानी के पुत्र राजा रामकृष्ण से परिचय कर, उनके पास रहा। जब उनकी जमीदारी का बंदोबस्त हुआ, और उन्होंने अपना राज पाया, तब उनके साथ-ही कलकत्ते से नाटौर को गया। कई बरष पीछे उनके राज में उपद्रव हुआ, और वे कैद हो मकसूदाबाद में आये। तब उनसे बिदा हो, फिर कलकत्ते में आया। यहाँ के बड़े आदमियों से भेट की, पर कुछ प्राप्त न हुआ। उन्हीं के थोथे शिष्टाचार में जो कुछ वहाँ से लाया था, सो बैठ कर खाया। निदान कई बरष के बैठे बैठे घबरा के जी में आया कि, दक्षिण को चला चाहिये। यह मनोरथ कर यहाँ से जगन्नाथपुरी तक गया, औ महाप्रभु के दर्शन किये। संयोग से नागपुर के राजा मनियाँ बाबू भी उसी बरष श्री क्षेत्र में आये थे। उनसे भेट कर उनके साथ जाने का विचार बीसों बिस्वे पक्का हो चुका था। पर अन्न जल प्रबल है। उसने न आने दिया, और उलटा खैंच कर कलकत्ते में ले आया। कुछ दिन पीछे सुना कि एक पाठशाला कंपनी से साहिबों के पढ़ने को ऐसी बनेगी

* लल्लूजी कृत लालचंद्रिका (१८१८) से उद्धृत आत्मचरित।

कि जिसमें सब भाषा जाननेवाले लोक रहेंगे। ये समाचार पाय, चित को अति आनंद हुआ, औ सुना कि पाठशाला के लिये कई एक साहिब मुकर्रर हुए। यह बात सुन, मैंने जाय, गोपीमोहन ठाकुर से कहा कि, आप कुछ सही करें तो मेरी आजीविका कंपनी में हो जाती है। उन्होंने सुन कर दूसरे दिन अपने छोटे भाई श्री हरीमोहन ठाकुर के साथ कर दिया। उन्होंने ले जाय पादरी बुरन साहिब से मिलाया, और साहिब ने कहा, तू हमारे पास हाजिर रह। मैं नित उनके पास जाया करूँ। एक महीने तक मैं उनके पास गया। इसमें मेरे जी में आया कि, न मैं इनकी बात समझता हूँ, न ये मेरी समझें। इससे कुछ और उपाय किया चाहिये। यह विचार दीवान काशीनाथ के छोटे पुत्र श्यामचरण बाबू के वसीले से डाक्तर रसल साहिब की चिठ्ठी ले, डाक्तर गिलकिरिस्त साहिब से भेंट की। उन्होंने मुझे देख अति प्रसन्न हो कहा, एक भाषा जाननेवाला हमें चाहिता था। तुमने अच्छा किया जो हमसे मुलाकात की। तुम्हारी चाकरी निःसंदेह पाठशाला में होगी। तुम हमारे पास नित आया करो। उस दिन से मैं उनके पास जाने लगा, औ जो वे पूछते सो बताने। एक दिन साहिब ने कहा कि, 'व्रजभाषा में कोई अच्छी कहानी हो, उसे रेखते की बोली में कहो'। मैंने कहा, बहुत अच्छा, पर इसके लिये कोई पारसी लिखनेवाला दीजे, तो भली भाँति लिखी जाय। उन्होंने दो शाइर मेरे तैनात किये, मजहर अली खान विला औ मिरजा काजम अली जवाँ। एक बरष में चार पोथी का तरजुमा व्रजभाषा से रेखते की बोली में किया। सिंहासन बत्तीसी। बैताल पचीसी। संकुतला नाटक औ माधोनल। संवत १८५७ में आजीविका कंपनी के कालेज में स्थित हुई। इसे उन्नीस बरष हुए। इसमें जो पोथियाँ व्रजभाषा औ खड़ी बोली औ रेखते की बनाई सो सब प्रसिद्ध हैं। अब संवत १८७५ में अमर-चंद्रिका, अनवर-चंद्रिका, हरिप्रकाश टीका, कृष्ण कवि की टीका कवित्त-वाली, कृष्ण-लाल की टीका, पठान की टीका कुंडलियों-वाली, संस्कृत टीका, ये सात बिहारी सतसई की टीका देख विचार, शब्दार्थ औ भावार्थ औ नायका-भेद औ अलंकार उदाहरण समेत उक्ति युक्ति से प्रकाश करि, लाल-चंद्रिका टीका बनाई, औ छपवाई निज छापेखाने में श्री - मान - धी मान पंडित कवि - रसिक हरि - भक्तों के आनंदार्थ। इति ॥'

अथ ग्रंथ का वर्णन

'बिहारी सतसई की जितनी पोथी देखियेगा तितनी पोथियों में दोहों का क्रम जुदा ही पाइयेगा। एक पोथी के क्रम से दूसरी पोथी के दोहों का क्रम न मिलेगा। इसका कारण यह है कि, एक समय आमेर के धनी महाराज सवाई जय शाह किसी राजा की बेटी व्याह लाये। वह अति सुंदरी औ चतुर थी। उसके रूप औ गुण से आसक्त हो, राजकाज भुलाय मंदिर के भीतर ही रहने लगे, औ कहा कि, जो कोई

राजकाज के समाचार बाहर से लाय मुझ से कहेगा, तिसे तोप के मुँह उड़वा दूँगा। यह बात सुन, डर के मारे कोई राजा से राजकाज की बात न कहे, औ राजा आठों पहर आनंद में रहे। इसमें एक बरष बीत गया, औ राजधानी में राजा की उपद्रव होने लगा। तब सब दीवान मुत्सद्दियों ने इकट्ठे हो, विचार करि ठहराया कि, कोई कवीश्वर आवे, तो राजा को चितावे। यह बात सुन, प्रधान ने बिहारीलाल कवि को बुलाय समझाय के कहा, महाराज कुछ ऐसा उपाय कीजै, जो राजा अपने राज-काज को सुरत करे। कवि ने बात के सुनते ही यह दोहा (६३१) लिख कर दिया।

नहि पराग नहि मधुर मधु नहि बिकास इहिं काल।
अली कली ही तें बँध्यौ आगे कौन हवाल॥

औ कहा, इस दोहे को, जैसे बने, तैसे राजा के पास भेज दो। प्रधान ने लिखा हुआ दोहा ले, फूलों की चद्दर, जो सेज पर बिछने को बनी थी, उस में बंधवाय दिया। जब राजा ने पलंग पर आराम किया, औ फूल कुम्हिला, वह कागद शरीर में चुभा, तो उठ कर देखा, औ कागद निकाल, दोहा पढा। पढते ही समझ कर, बाहर आय, दरबार किया, औ सब से पूछा कि, सच कहो। यह दोहा किस कवि ने बनाया। मैं उससे बहुत प्रसन्न हूँ। उसे बुलवाओ। इतनी बात के सुनते ही, प्रधान ने कवि को बुला भेजा। वह राज - सभा में आया। कवि को ब्राह्मण देख, राजा ने दंडवत की। उसने असीस दी। राजा ने अति मान सनमान करि, बैठाय के कहा कि, महाराज तुम्हारे दोहे से मेरा चित अति प्रसन्न हुआ। अधिक क्या कहूँ, जितने दोहे बना लाओगे, तितनी मुहर पाओगे। राजा की आज्ञा पा, कवि ने पाँच पाँच सात सात कर सात सै दोहे बना दिये, औ सात सै मुहर लीं। इससे इसका नाम सतसई हुआ। और कवि ने नायका - भेद के क्रम से ग्रंथ नहीं बनाया। जिसके हाथ जिस भाँति दोहे आये, उसने उस भांति लिखे। इस कारण इस ग्रंथ के दोहों का क्रम बराबर नहीं मिलता। टीकाकारों ने अपनी अपनी बुद्धि-प्रमाण दोहों की मिसल लगा ली। आजमशाही सतसई की मिसलबंदी के क्रम पर दोहों का क्रम रक्खा है। क्योंकि आजमशाह ने, बहुत कवियों को बुलवाया, बिहारी सतसई को शृंगार के और ग्रंथों के क्रम से, क्रम मिलाय लिखवाया। इसीसे आजमशाही सतसई नाम हुआ। और सतसई में, नृप - स्तुति के दोहे छोड़, जो दोहे सात सौ से अधिक और कवियों के बनाये, जो मिले हैं, तिन में से जिसका प्रमाण कहीं न पाया, तिसे निकाल बाहर किया। औ अधिक दोहे और कवियों के रहने दिये, इस लिये कि, वे ऐसे मिल गये हैं कि, हर किसी को मालूम नही सिवाय प्राचीन सतसई देखनेवालों के। और जो अधिक दोहे इस ग्रंथ में न रखते, तौ लोक

कहते कि, सतसई में से दोहे निकाल डाले, औ यह कोई न समझता कि वे सतसई के दोहे न थे। इस लिये दो टीकाकारों का प्रमान ले, अधिक दोहे रहने दिये।

ग्रंथ छपा संस्कृत प्रेस में। छापा श्री गुरूदास पाल ने। जिस किसी को छापे की पोथी लेने की अभिलाषा हो। लाल - चंद्रिका। माधव - विलास। ब्रज - विलास। सभा - विलास। सिंहासन बत्तीसी। बृंद - सतसई। तुलसीकृत - रामायण। विनय - पत्रिका। गीतावली। राम - सतसई। प्रेम - सागर। राजनीति। नजीर के शेर। भाषा - कायदा। लतायफ हिंदी। सर्फ उर्दू। तिसे कलकत्ते में दो ठौर मिलेगी। एक पटलडांगे में श्री लल्लूजी के छापखाने में, औ दूजे बडे बाजार में श्री बाबू मोतीचंद्र गोपालदास की कोठी में, श्री हरिदेव सेठ के यहाँ।

*

रसरतन : मध्ययुगीन हिंदीकाव्य की एक विस्मृत कड़ी

शिवप्रसाद सिंह

हिंदी का प्रेमाख्यानकसाहित्य समूचे काव्येतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इस साहित्य में हमारे प्राचीन लोकजीवन के अनेक उपादान अपनी संपूर्ण भावभंगी और सहज रंगीनी के साथ सुरक्षित हैं। हिंदी प्रेमाख्यानकसाहित्य मूलतः मुसलमान सूफी कवियों की देन है जिन्होंने अपनी आध्यात्मिक मान्यताओं को भारतीय लोकजीवनोद्भूत कहानियों के कलेवर में बड़ी सफाई के साथ अनुस्यूत कर दिया। हिंदीसाहित्य का प्रत्येक पाठक सूफी कवियों की कविता के अटूट रागात्मक बंधन में बँधा है। 'हिंदूहृदय' और 'मुसलमानहृदय' के अजनबीपन को मिटानेवाले इस काव्य के प्रति हमारे हृदय की अशेष श्रद्धा का निवेदन स्वाभाविक ही था। पर सूफी प्रेमाख्यानक के ऐंद्रजालिक संमोहन में फँसकर हमने हिंदू प्रेमाख्यानकों के प्रति प्रायः उदासीनता बरती है, यह मैं न चाहते हुए भी कह देना आवश्यक मानता हूँ, क्योंकि इस औदास्य के कारण भारतीय प्रेमाख्यानकों का अध्ययन पूर्णतया एकांगी रहा है अथच इसके पूरे भावपरिवेश और काव्यरूप आदि का विश्लेषण अद्यावधि अपूर्ण ही माना जायगा। रसरतन सिर्फ इसी लिये महत्वपूर्ण नहीं है कि वह एक हिंदू प्रेमाख्यानक है बल्कि उसके वस्तुतत्व और काव्यरूप का अध्ययन मध्ययुगीन हिंदीकाव्य की अनेक समस्याओं को सुलझाने में सहायक होगा। रसरतन वस्तुतः इस युग के काव्य की एक ऐसी प्रतिनिधि रचना है जिसकी काया में न केवल भक्तिरीति और रीतिकाव्य के बीच के संक्रमणयुग के अनेक तत्व विद्यमान हैं बल्कि रचनाकार की अद्भुत ग्रहणशीलता और परिपाटी-प्रियता के कारण इस ग्रंथ में काव्यरूढ़ियों का अद्भुत संचयन और परंपरा का यथेष्ट निर्वाह सर्वत्र दिखाई पड़ता है। यह ग्रंथ जहाँ एक ओर सूफी प्रेमाख्यानक के स्पष्ट प्रभाव की घोषणा करता है, वहीं भारतीय (हिंदू) प्रेमाख्यानकों के वस्तु-गठन और रचनाकौशल पर नया प्रकाश भी डालता है। यदि वह मध्ययुग की शृंगारिक प्रेमसाधना के स्वच्छंद रूप का हिमायती है तो उसकी अभिव्यक्ति में कामशास्त्र और परवर्ती संस्कृत आलंकारिकों के निर्मित नियमों का पूर्णतः पालन भी किया गया है। मुसलमान कवियों की रचनाओं में अभिव्यक्ति की सहजता और आध्यात्मिक मतवाद का अभिनिवेश है तो रसरतन में बाणभट्ट की कादंबरी से लेकर चंदबरदाई के पृथ्वीराजरासो तक में परिगृहीत अलंकरण मणिकुट्टिमता और काव्य-

रूढ़ियों का पुरस्सर निर्वाह दिखाई पड़ता है। रसरतन एक ओर कथा के गठन में तथा छप्पय छंद की विशिष्ट पदावली के निर्वाचन में रासो का अनुयायी है तो दूसरी ओर वह चिंतामणि, भिखारीदास, मतिराम और पद्माकर जैसे रीति के आचार्यों की परंपरा का पुरस्कर्ता भी है। केशव किंचित् पूर्ववर्ती हैं और कृपाराम का रचनाकाल यदि असंदिग्ध रूप से संवत् १५५२ है तो उन्हें भी पूर्ववर्ती कह सकते हैं, अन्यथा शेष सभी रीति - आचार्य रसरतन के परवर्ती ही ठहरते हैं। यह सच है कि उसमें जायसी की सहजता नहीं है, न तो उसके सवैये और कवित्तों में देव जैसी सूक्ष्मता है किंतु कथा के निर्वाह और संयोजन की शक्ति न तो देव में आई और न तो प्रांजल भाषा में अलंकार की रमणीयता और भाव की लुनाई को मुक्तकों में समेट पाने की शक्ति जायसी को मिल पाई। इन दोनो शक्तियों को एक साथ पाकर रसरतन का कवि यदि अपने को इन दोनो की प्रतिद्वंद्विता में खड़ा करना चाहे तो किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

कविपरिचय

रसरतन कवि पुहुकर की गौरवास्पद कृति है। इस कवि की एकमेव उपलब्ध कृति का उल्लेख हिंदीशोध की प्रस्थानत्रयी में यथाप्रकार किया गया है। मैं शिवसिंहसरोज, ग्रियर्सन के 'द माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आव् हिंदुस्तान' और शुक्ल जी के इतिहास को हिंदीशोध की प्रस्थानत्रयी मानता हूँ। और जो स्थान प्रस्थानत्रयी में गीता का है, वही इसमें शुक्ल जी के इतिहास का है। अतः सरोज और वर्नाक्यूलर लिटरेचर में तो इस ग्रंथ और कवि का साधारण उल्लेख ही है[1]; पर शुक्ल जी ने थोड़े शब्दों में इसके तत्व और महत्व पर काफी सटीक टिप्पणी दे दी है। वे लिखते हैं—'कल्पित कथा लेकर प्रबंधकाव्य रचने की प्रथा पुराने हिंदीकवियों में बहुत कम पाई जाती है। जायसी आदि सूफी शाखा के कवियों ने ही इस प्रकार की पुस्तकें लिखी हैं। पर उनकी परिपाटी बिलकुल भारतीय नहीं थी, इस दृष्टि से रसरतन को हिंदीसाहित्य में एक विशेष स्थान देना चाहिए। इसमें संयोग और वियोग की विविध दशाओं का साहित्य की रीति पर वर्णन है। वर्णन उसी ढंग के हैं जिस ढंग के शृंगार के मुक्तक कवियों ने किए हैं। पूर्वराग, सखी, मंडन, नखशिख, ऋतुवर्णन आदि शृंगार की सब सामग्री एकत्र की गई है। कविता सरस और भाषा प्रौढ़ है।'[2] पता नहीं शुक्ल जी के इन उत्साहवर्धक शब्दों के बावजूद

१. सरोज, संख्या ४८३ और ग्रियर्सन, संख्या ८५७।

२. हिंदीसाहित्य का इतिहास, छठा संस्करण, पृ० २२८।

रसरतन के संपादन और अध्ययन का प्रयत्न अब तक क्यों नहीं हुआ। इसे उदासीनता नहीं तो और क्या कहेंगे। रसरतन के विषय में स्फुट विचार और भी कतिपय स्थानों में किया गया है[3] किंतु उसे सूचनामात्र ही कहा जा सकता है। कारण स्पष्ट रूप से इस ग्रंथ के संपादित - प्रकाशित रूप का अभाव ही कहा जायगा।

पुहुकर ने रसरतन में अपने बारे में काफी विस्तार से सूचनाएँ दे दी हैं। शुक्ल जी ने लिखा है कि 'ये परतापपुर (जिला मैनपुरी) के रहनेवाले थे, पर गुजरात में सोमनाथ जी के पास भूमिगाँव में रहते थे।'[4] किंतु रसरतन के वर्णन से पता लगता है कवि सुप्रसिद्ध सोमनाथ (गुजरात) के विषय में नहीं, किसी अन्य सोम नामक तीर्थ के विषय में कह रहा है, जो गंगा यमुना के बीच पंचाल देश में स्थित था।

गंग जमुन अंतर उभै रम्य देस पंचाल।
सोम नाम तीरथ तहाँ, ता मधि अमर मराल॥
तीरथ गुप्त न जाने कोई। तिहि संयोग कथा कर होई।

—रसरतन आदि खंड, ५६–५७।

पश्चिम दिशा के राजा भुवपाल का शरीर रोग से विकृत हो गया और उन्होंने अपने पुत्र को कार्यभार सौंपकर काशी जाने का निश्चय किया। उक्त सोम नामक तीर्थ में आने पर सरोवर का जल स्पर्श करते ही तन का रोग दूर हो गया। राजा ने यहीं भूमिगाँव नामक नगर बसाया। साकंभरिनरेश प्रतापरुद्र ने इस देश को जीत लिया और प्रतापपुर नामक नगर बसाया। इसी प्रतापपुर में श्रीनिवास कायस्थ ने अपना घर बनाया। उनके दो पुत्र थे धर्मदास और निर्मल। ये खरे वंश के थे। धर्मदास के कई पुत्र हुए। निर्भयचंद्र उनमें से एक थे, जिनके पुत्र वनसिंह हुए। वनसिंह के चार पुत्र थे जिनमें एक दुर्गदास थे जिनके पुत्र बेनीदास और हरिवंश हुए। बेनीदास अकबर के दरबार में प्रसिद्ध थे। हरिवंश के एक पुत्र मोहनदास हुए जिनके ज्येष्ठ पुत्र पुहुकर थे। पुहुकर ने अपने बचपन और शिक्षादीक्षा आदि के बारे में इस प्रकार लिखा है —

बालकेलि रसखेल माँझ बसु बरस बितीती।
पितु प्रताप बहु लाड कोड आँनद मह बीती।
नवम बरस जतनाथ थापि पूजा करवाई।
राखि द्वार आपून पिता पारसी पढ़ाई॥

३. डा० हरिकांत श्रीवास्तव, भारतीय प्रेमाख्यानक काव्य, काशी १९५५।
४. हिंदीसाहित्य का इतिहास, पृ० २२७–२८।

पायौ प्रसाद सरस्वति बचन बहु बिलास कंठह धरिय।
भाषा प्रबंध उत्ताल गति सो बहु बिधान गुन बिस्तरिय॥
प्रथम बृत्ति काइस्थ लिखन लेखन अवगाहन।
विषम करम नृप सेव तुरतु आयसु निरवाहन।
द्वादस बिधि अवदान सुनत नवगुन अवराधन।
छंद बंद पिंगल प्रबंध बहु रूप बिचारन॥
पारसीय काव्य पुनि सैर बिधिन जमन सर अवियात कहिय।
परतिच्छ देवि सारदा भई बरनि बास मुख बसि रहिय॥
— आदि खंड ८२-८३

रचनाकाल

पुहुकर ने यह काव्य संवत् १६७३ में लिखा। छत्रसिंहासन का वर्णन करते हुए उन्होंने जहाँगीर का स्तवन किया है —

छत्र सिंहासन पौहुमपति धर्म धुरंधर धीर।
नूरदीन आदिल बली, सबल साहि जँहगीर॥

नूरदीन गाजी सकबंदी। जिहि के राज कथा रस छंदी॥
जुग जुग तास बरस धर राजू। तिहि सन कियौ कथा कर साजू॥
एक सहस ऊपर पैंतीसा। सन रसूल सो तुरकन दीसा॥
अग्नि[3] सिंधु[7] रस[6] इंदु[1] प्रमाना। सो बिक्रम संबत ठहराना॥

कवि ने जहाँगीर के वंश, रूप, शौर्य और औदार्य का बड़ा विशद वर्णन किया है। उत्तर के अठारह स्थानों के नरेशों ने उसके सामने मस्तक झुका दिया। दक्षिण में करनाट, केरल सिंहल तक के देश उससे भयभीत रहा करते थे। हिंदूनरेश रमणियाँ देकर उसे प्रसन्न कर रहे थे। जब जहाँगीर की सेनाएँ दिग्विजय के लिये चलती थीं तो पाताल काँप उठता था, दिशाएँ धूलि से ढँक जाती थीं। जहाँगीर की यह विजय १६०६ ईस्वी से १६२२ तक लगातार चलती रही और उसने बंगाल का विद्रोह दबाया, मेवाड़विजय की, अहमद नगर पर हमला किया, कांगड़ा जीता, कंदहार पर विजय प्राप्त की। इतिहासकारों द्वारा निर्धारित उक्त समय को देखते हुए लगता है कि जिस समय पुहुकर ने रसरतन लिखा उस समय तक जहाँगीर की दिग्विजययात्रा निरंतर जारी थी। इसी लिये पुहुकर ने छत्रसिंहासन का वर्णन करते हुए जहाँगीर की फौजों का विस्तृत विवरण दिया है। जिस प्रकार सूफी कवि शाहेवक्त का वर्णन करते थे, उसी प्रकार रसरतन में 'छत्रसिंहासन' के अंतर्गत तात्कालिक नरेश का स्तवन किया गया है।

विषयवस्तु

रसरतन करीब २८०० संख्या के विभिन्न छंदों में लिखे हुए पदों (श्लोकों) का बृहत् काव्य है। नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित खोज रिपोर्टों में इसकी पाँच पांडुलिपियों की सूचना मिलती है। हनुमद मिरदहा, चरखारी के पास सुरक्षित १८०८ ई० में लिखी गई प्रति को छोड़कर शेष प्रतियाँ उपलब्ध हैं। इनमें तीन त्रुटित हैं और एक पूर्ण। पूर्ण प्रति कतिपय स्थानों को छोड़कर प्रायः स्पष्ट और शुद्ध है। यहाँ पांडुलिपियों की अनुलेखनपद्धति (आर्थोग्राफी) आदि के बारे में अनावश्यक विस्तार से बचने के लिये विचार नहीं किया जा रहा है।

रसरतन की कथा पूर्णतया काल्पनिक या उत्पाद्य है। वैरागर में सोमवंशी राजा सोमेश्वर राज्य करते थे जो सुत के अभाव में परम दुखी रहा करते थे। काशी में आकर उन्होंने परम आंतर्भाव से शंभु की उपासना की जिससे पटरानी कमलावती के गर्भ से सूरसेन नामक कुमार का जन्म हुआ। ज्योतिषियों ने बताया कि ग्रहयोग से कुमार १३ वर्ष ११ महीने बीतने पर किसी त्रिया के विरह से दुखी होगा और भयंकर दुःखों के आवर्त में फँस जायगा। तीन वर्ष तक वियोगावस्था के कष्टों से पीड़ित रहेगा, कोई औषध कार्य न करेगी। पुनः योगी होकर भभूत रमायगा और चौथे वर्ष संजीवनी प्राप्त करेगा। राजा ने सब प्रकार से पुत्र का पालन पोषण किया और इस बात का ध्यान रखा कि कुमार कभी किसी रमणी से आकृष्ट न हो, और तज्जन्य विरह से पीड़ित न हो पाए।

उधर चंपावती नगर के राजा विजयपाल भी सुतहीन थे। एक दिन राज - दरबार में एक सिद्ध आया और उसने राजा को चंडीपूजा का आदेश दिया जिसके फलस्वरूप उन्हें एक कन्यारत्न की प्राप्ति हुई। पंडितों ने जन्मकुंडली देखकर भविष्यवाणी की कि ग्यारहवें वर्ष में प्रवेश करने पर कन्या के तन में पीड़ा और मन में मूढ़ता व्याप्त होगी। तीन वर्ष तक इस विषम पीड़ा के सहने के बाद चौदहवें वर्ष में शांति का योग है।

एक समय रति ने कामदेव से विश्व की सर्वश्रेष्ठ सुंदरी और सर्वोत्तम युवक के बारे में जिज्ञासा की। कामदेव ने बताया कि वैरागर का राजकुमार सूर और चंपावती की राजकुमारी रंभा जगत् के सर्वसुंदर तरुण तरुणी हैं। रति ने दोनो के विवाह का प्रस्ताव किया। अनंग ने काफी सोचकर यह निश्चय किया कि रति रंभा के वेश में सूरसेन को तथा काम सूरसेन के रूप में रंभा को स्वप्न दें और दोनो के हृदय में प्रेम का अंकुरोद्भव करें। दोनो ने वैसा ही किया। रंभा स्वप्न में भुवनमोहन तरुण रूप देखकर मूर्च्छित हो गई। उसके शरीर में विरह की आठो अवस्थाएँ एक एक करके प्रकट होने लगीं। उपचार व्यर्थ गए। मदनमुदिता नामक सखी ने छलपूर्वक असली भेद का पता लगाया। रानी के समझाने पर राजा विजयपाल ने चित्रकारों

को देशदेशांतर के राजकुमारों के चित्र बनाकर लाने की आज्ञा दी। बुद्धिविचित्र नामक चित्रकार घूमता घूमता वैरागर पहुँचा, वहाँ उसने पुरोहित से राजकुमार सूरसेन के अद्‌भुत रहस्यात्मक रोग का समाचार सुना। बुद्धिविचित्र ने राजकुमार को रंभा का चित्र बनाकर दिखाया। रोग जाता रहा। राजकुमार का चित्र लेकर चित्रकार चंपावती लौट गया। सूरसेन पिता की आज्ञा से चतुरंगिणी सेना लेकर चंपावती की ओर रवाना हुआ। कई महीनों के बाद वे मानसरोवर पहुँचे। वहाँ रात में अप्सराएँ स्नान करने आईं। जिज्ञासावश वे राजकुमार के पटमंडप में चली गईं। पलंग पर सोए अनंगवत कुमार को देखकर उन्हें अपनी शापित सखी कल्पलता की याद आई, जो इंद्र के शाप से मानवी होकर ब्रह्मकुंड पर निवास करती थी। अप्सराएँ पलंगसहित राजकुमार को उठा ले गईं। कल्पलता से कुमार का गांधर्व विवाह हुआ। राजकुमार रंभा के प्रेम को भूला न था, वह साधुओं से चंपावती का रास्ता मालूम कर योगी के वेश में बियाबान जंगलों, नदियों और ऊँचे पहाड़ों को लाँघता-फाँदता चंपावती पहुँचा। उसकी बीन की आवाज से उच्चाट होकर पशु पक्षी उसके साथ चलने लगते। चंपावती की तरुणियाँ कामिनीमोहन राग से वशीभूत होकर मर्यादा की सीमा लाँघ गईं। बात राजमहल तक पहुँची। गुनमंजरी नामक दासी कुमार को देखकर विह्वल हो गई। उसने सारी बातें मदनमुदिता से कहीं। उधर रंभा के स्वयंवर में शामिल होने के लिये देशदेशांतर से राजे महाराजे नित्यप्रति आते जा रहे थे। सूरसेन का कोई समाचार न पाकर रंभा बहुत दुखी थी। मदनमुदिता योगी से मिलने आई और वाक्‌चातुरी से उसने यह पता लगा लिया कि योगी और कोई नहीं, कुमार सूरसेन ही है। सूरसेन ने रंभा से मिलने की इच्छा व्यक्त की। रंभा शिवपूजन के बहाने कुमार से मिलने आई। उधर मानसरोवर से कुमार के लुप्त हो जाने पर मंत्री रघुवीर की आज्ञा से सेना चंपावती की ओर चल चुकी थी। कुमार अपनी सेना से मिले। स्वयंवर हुआ। रंभा ने कुमार का वरण किया। विजयपाल की आज्ञा से कुमार प्रथम पुत्र होने तक ससुराल में ही रहा। एक दिन विद्यापति नामक सर्वगुणसंपन्न शुक ने विरहिणी कल्पलता का संदेश रंभा को पहुँचाया। रंभा के कहने पर राजकुमार राजा की आज्ञा से शिकार खेलने के बहाने ब्रह्मकुंड को रवाना हुआ। रास्ते में मायानगर के राजा मदन से युद्ध हुआ। माया-नगर को जीतकर कुमार कल्पलता से मिला और रंभा तथा कल्पलता के साथ फिर चंपावती लौट आया। रंभा इस बीच चंद्रसेन नामक कुमार की माँ बन चुकी थी। वैरागर से सोमेश्वर और रानी कमलावती का संदेश पाकर कुमार वहाँ लौट आया। सोमेश्वर और विजयपाल की मृत्यु के पश्चात् वह चक्रवर्ती राजा बना। बाद में गुरु चिंतामणि के उपदेशों को सुनकर वह विरक्त हो गया और उसने अपने चारो पुत्रों को पृथ्वी का राज्य सौंपकर हरि-आराधना का निश्चय किया।

रसरतन का साहित्यिक महत्व

यह नौ खंडों में विभक्त महाकाव्य है। कवि ने इसके नामकरण के विषय में लिखा है कि महासमुद्र को मथकर असुर और सुरों ने चौदह रत्न निकाले थे। साहित्य के समुद्र को मथकर नौ रसरत्न निकाले गए हैं, इसी लिये कवि ने इस ग्रंथ का नाम रसरतन रखा—

वहि समुद्र चौदा रतन मथे असुर सुर सैन।
इहि समुद्र नव रस रतन नाम धरौ कबि तैन॥

इस ग्रंथ में यों तो सभी रसों का यथाक्रम और यथावसर विवेचन है किंतु इन सभी रसों में निश्चय ही शृंगार रसराज है इसलिये कवि पुहुकर ने शृंगार के माध्यम से जीवन को प्रकाशित करने के लिये मदन अग्नि उद्दीप्त करके यह दीप जलाया है—

बानी बाति सनेह दै गुनगाहकन समीप।
मदन अग्नि उद्दीप करि किय कबि पुहुकर दीप॥

— आदि खंड १६

पुहुकर के चित्त में यह विचार आया कि कोई प्रेमकथा का वर्णन करूँ। इसमें नव रसभेद है, यह एक गंभीर समुद्र है जिसके पास जितना बड़ा पात्र होगा, उतना ही नीर ग्रहण कर सकेगा।

नव रसभेद आहिं इहि माँही। बहुत अर्थ कछु थोरौ नाहीं॥
यह तो समुद गहिर गंभीरू। लेहु बुद्धि भाजन भरि नीरू॥८७॥

इसमें कहीं वीर है, कहीं बीभत्स। कहीं रौद्र है, कहीं भयानक है, कहीं अद्भुत। नायक नायिका की उभय पक्षवाली प्रीति है, संयोग और विरह की सकल रीतियाँ हैं। इस प्रकार के कथासूत्र से संयुक्त यह नव रसरत्न का हार गुनीजन के हृदय को आनंदित करेगा। नवखंड की कथा की संक्षिप्त सूचना इस प्रकार है—

आदि स्वप्न अरु चित्र बिजै अच्छरि चंपावति।
बहुरि स्वयंबरखंड सूर बरनौं रंभावति।
जुद्धखंड बिस्तरौं जहाँ दुहु दिसि दल सज्जिय।
भरौ पात्र जोगिनी सारु छत्री कर बज्जिय।
आनंदकंद बैरागरहँ तात मात बहु मोद मन।
नवखंड प्रगट नवखंड महँ सु यह प्रसिद्ध नवरस रतन॥ १६॥

कवि पुहुकर एक सुरुचिसंपन्न कवि थे। उन्होंने प्राचीन शास्त्र और साहित्य पर पुष्कल अध्यवसाय किया था। फलतः उनके काव्य में अध्ययन परिष्कृत वैदुष्य और काव्योत्तेजित सौंदर्यबोध दोनों ही दिखाई पड़ते हैं। कवि पुहुकर के कुछ प्रिय कवि हैं। इनकी सूची देखने से भली भाँति पता चल जाता है कि कवि का आदर्श और उद्देश्य क्या था। रसरतन के आरंभ में कवि ने अपने पूर्वज कवियों की वंदना करते हुए लिखा है—

प्रथम सेष अरु व्यासदेव सुखदेवहँ पायौ।
बालमीकि श्रीहर्ष कालिदासहँ गुन गायौ।
माघ माघ दिन जैमि बांन जयदेव सुदंडिय।
भानुदत्त उदयेन चंदबरदाइक चंडिय।
ये काव्य सरस विद्यानिपुन वाक बानि कँठह धरन।
कबिराज सकल गुनगनतिलक सुकवि पौहकर बंदत चरन॥ १२॥

शेष, व्यास और शुकदेव और वाल्मीकि ऋषि हैं, कवि उनकी वंदना करता है। श्रीहर्ष, कालिदास के गुन गाता है। माघ माघ दिन की तरह हैं 'जिमि गरीब के देह पर माघ पूस को घाम'। इसके बाद आते हैं कादंबरीकार बाण, गीतिगोविंद के रचयिता जयदेव, दशकुमारचरित के दंडी, रसमंजरीकार भानुदत्त, दार्शनिक[५] उदयनाचार्य और चंडीवाले चंदबरदाई, ये सभी सरस काव्यविद्या के निपुण हैं, इन्होंने वाणी को कंठ में धारण किया। ये सभी कविराज गुणगण-तिलक हैं, सुकवि पुहुकर इनके चरणों की वंदना करता है।

पुहुकर श्रीहर्ष की तरह गूढ़ अर्थव्यंजना के पक्षपाती हैं। कालिदास से उन्होंने सौंदर्यचित्रण सीखा है, माघ से अर्थगौरव, बाण से कथासंयोजन, जयदेव से शृंगार और रति का चित्रण, दंडी से आलंकारिकता, भानुदत्त से नायिकाभेद,

५. उदयन मूलतया दार्शनिक थे पर इन्होंने न्यायकुसुमांजलि में कविताएँ भी लिखी हैं। फिर पथविपथ कहीं भी चलते हुए अपने रास्ते को ही पथ माननेवाले कवि की गर्वोक्ति क्या भूलने की वस्तु है—

वयमिह पदविद्यां तर्कमान्वीक्षिकीं वा सुपथि च विपथे वा वर्तयामः स पन्थाः।
उदयति दिशि यस्यां भानुमान् सैव पूर्वा नहि तरणिरुदीते दिक्पराधीनवृत्तिः॥
—न्यायकुसुमांजलि।

उदयन से सृष्टि की उत्पत्ति के सिद्धांत और ईश्वरप्राप्ति के साधनों का निरूपण और महाकवि चंदबरदाई से पिंगल की अनोखी अभिव्यक्ति—छप्पय, पद्धरी और त्रोटक की अद्भुत भंगिमा। इस कथन की सत्यता को वही समझ सकता है जो इस काव्य का आद्योपांत पारायण करे।

इन कवियों की सूची में दो नाम बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। एक भानुदत्त का और दूसरा चंदबरदाई का। भानुदत्त रीतिकालीन हिंदी आचार्यों के प्रमुख प्रेरणा-स्रोत रहे हैं। भानुदत्त का संभवतः यह पहला स्पष्ट उल्लेख है जो उस काल में व्याप्त उनके महत्व की पूरी अभ्यर्थना करता है। कहा जाता है कि नंददास ने 'रसमंजरी' का उल्लेख किया है किंतु यह रसमंजरी भानुदत्त की है, इसे प्रमाणित करने का कोई आधार नहीं है। नंददास ने लिखा है—

रसमंजरि अनुसारि कै, नंद सुमति अनुसार।
बर्नन बनिताभेद कहुँ, प्रेमसार बिस्तार॥

इस 'रसमंजरी' को नंददासग्रंथावली के संपादक पं० उमाशंकर शुक्ल भानुदत्त की रसमंजरी ही मानते हैं और उन्होंने दोनो के उदाहरणों में साम्य दिखाने का बहुत प्रयत्न किया है।[१] जो भी हो भानुदत्त के स्पष्ट उल्लेख का श्रेय पुहुकर को ही देना पड़ेगा।

चंदबरदाई का नाम आना भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। रासो जैसे महान् ग्रंथ के रचनाकार का यह कम दुर्भाग्य नहीं रहा है कि उसके अस्तित्व को नकारनेवाले अनेक निबंध समय समय पर अनवरत निकलते रहे। मोतीलाल मेनारिया ने रासो को १७०० के बाद का जाली ग्रंथ बताने का न जाने कितना प्रयास किया। ऐसी स्थिति में विक्रमी संवत् १६७३ के एक कवि द्वारा चंदबरदाई का उल्लेख मामूली बात नहीं है। उल्लेख ही नहीं उसे महान् कवियों की चमचमाती हुई पंक्ति में रखकर वंदनीय मानना उसके अक्षुण्ण यश का अकाट्य प्रमाण है। उसे 'चंदवरदाइक चंडिय' कहना तो मानो चंडी के वरदान की निजंधरी कथा की भी पुष्टि है। चंडी के इस वरदपुत्र की पुहुकर ने सिर्फ वंदना ही नहीं की, उसकी शैली का पुरस्सर अनुसरण भी किया। छप्पयों के नमूने ऊपर दिए जा चुके हैं। तद्भव शब्दों पर अनुस्वार लगाकर उन्हें संस्कृत का जामा पहनाने के लिये चंदबरदाई बदनाम हैं। 'कुरानं च पुरानं' लिखनेवाले चंदबरदाई की शैली में पुहुकर द्वारा लिखी हुई यह सूर्यवंदना देखिए—

१. नंददासग्रंथावली, प्रथम भाग, पृ० ११।

नमो देव देवं दिवानाथ सूरं।
महातेजसोभं तिहूँ लोक रूपं।
उदै जासु दीसं प्रद्योसं प्रकासं।
हियौ कोक सोकं तमं जासु नासं॥

—आदि खंड २४४

अथवा शिवस्तुति की ये पंक्तियाँ—

कपाल माल व्यालग्रीव चंद्रभाल सोहनं।
त्रिलोकनाथ कालनाथ विश्वनाथ मोहनं।
अनंग भंग राग रंग संग जासु सुंदरी।
मसानभूमि सैनि साज गूढ़ कंदरा दरी॥

—चंपावती खंड

इतना ही नहीं शब्दों को तोड़ने मरोड़ने में भी पुहुकर के रूप में चंद का एक प्रतिद्वंद्वी सामने आ गया है। द्वितीयावस्था के लिये दुतियविवस्त (स्वप्न० १७३), दाड़िम>दारौं (आदि० २०५), विहंगवर के लिये विगवर (युद्ध० १३५) उद्वेलित के लिये उडलित (युद्ध० ३५४), वर्ष एक के लिये बरसक (वैरा० २८), तिमिंगल के लिये लिमगन (स्वयं० १२४), इरावती के लिये यौरावत आदि। शब्दों के अंगभंग और खींचतान का नमूना युद्धखंड के इस पद्य में देखिए —

जबै राग बंधी बजौ राग मारू।
कियौ अच्छरी अच्छ मंगल्ल चारू।
दुहूँ ओर निस्सान सो बज्जै जुझाऊ।
उठै जीय जोधान जूझंत चाऊ॥२४३॥

परै एक घाइल्ल घूमंत धाई।
तिनै देखि सूरान के चित्त चाई॥
फटौ खोपरी गुंद फेलंत पिंडी।
मनौ माथ मारग्ग फूटी दहिंडी॥२४६॥

चंद से पुहुकर की शैली का साम्य दिखाने के लिये इन प्रसंगों को उद्धृत किया गया। इनके आधार पर सोचना कि पुहुकर की भाषा भी चंद की तरह ही ऊबड़खाबड़ है, कवि के साथ घोर अन्याय होगा। क्योंकि पुहुकर ने एक ओर यदि पिंगल की चारणशैली को अपनाया है तो दूसरी ओर ब्रजभाषा की मँजी हुई सवैये कवित्त की मनोरम शैली को भी। वस्तुतः पुहुकर समय और अवसर के अनुसार भाषा के प्रयोग में पूरे माहिर थे। उन्होंने भाषा को भाव की अनुगामिनी

बनाया है, अनुशासिनी नहीं। उदाहरण के लिये उनके वस्तु और भाव निरूपण के दो एक प्रसंग यहाँ उपस्थित किए जा रहे हैं।

रंभा ने स्वप्न में सूरसेन के रूप में कामदेव को देखा। उस त्रिभुवनमोहन रूप को देखने के बाद उसकी तनमन की सुधि जाती रही। राजकुमारी की वह अवस्था देखकर सखियों में अजीब तरह की घबराहट छा गई। उसका चित्रण पुहुकर के ही शब्दों में देखिए —

एक चलै धाइ एक परै मुरझाइ धर,
एकै कहै हाइ हाइ कौन यहाँ आई है।
एकै गहै पाइ एकै बदन बलाई लेइ,
हा हा इत हेरि नैक कौने डरवाई है।
उठि अकुलाइ एकै बैठहि अरस्याइ फेरि,
कछू ना बसाइ बिधि कैसी धौं बनाई है।
रंभा रंभा नाम एकै रसना लगाइ रही,
एक सखी नैन के प्रवाह जल न्हाई है॥

इस पद में न सिर्फ घबराहट का सूक्ष्म चित्रण है, बल्कि एक गत्वर क्रिया-व्यापार का बहुत ही बिंबात्मक रूप उपस्थित कर दिया गया है। यह चित्रात्मकता बहुत थोड़े कवियों को प्राप्त हो पाती है। इधर सखियों की इस प्रकार की किंकर्तव्य-विमूढ़ कर देनेवाली अवस्था थी, उधर रंभा के मन में तीव्र वेदना ने अद्भुत मूढ़ता उत्पन्न कर दी।

कामरस माती उन्माती सी बिहाल बाल,
प्रेम के समुद्र माँझ मगन परी है जू।
भूली सी फिरति ज्यों कुरंगिनी कुरंगनैनी,
मानो सरपंचनैनी जीवनि हरी है जू।
अंजनु बनायौ भाल चंदन सौं आँजे दृग,
सकल सिंगार बिपरीत सों करी है जू।
बीरी लावै कान नहिं ग्यान न सयान कहू,
बारुनी के पान ज्यों बिधान बिसरी है जू॥

विरह की उन्मादावस्था को प्राप्त रंभा का यह चित्र पुहुकर की सूक्ष्म कलाकारिता का प्रमाण है। इधर रंभा सूरसेन के वियोग में विह्वल थी, उधर सूरसेन को सर्वत्र रंभा की मूर्ति के ही दर्शन होते थे—

जित देखौं तित मूरति सोई। नैननि और न देखौं कोई॥
रहै प्रानमधि प्रानपियारी। सोवत जागत होइ न न्यारी॥

सूरसेन इस मूर्ति के चरणों में ही अपना सब कुछ खो चुका था। उसका यह अहंविसर्जन उस प्रीति की पराकाष्ठा का एक रूप है, जिसका चित्रण पुहुकर ने इन शब्दों में उपस्थित किया है—

तुही मेरो धन ध्यान तेरोई करत दिन,
तूही मेरै प्रान प्रान तू ही में बसतु हैं।
तुही मेरौ चैनु चैनु चरचा चलावै कौन
तुही मेरौ नैन नैन तूही को चहतु हैं।
पुहुकर कहै तुही तुही दिन रैन कहौं,
तेरी धुनि सुनिबे को स्रवन दहतु हैं।
तुही मेरी प्यारी जु होति न हृदै तैं न्यारी,
परम अयानै लोग बिछुरौ कहतु हैं॥

बुद्धिविचित्र चित्रकार सूरसेन को रंभा की अनुकृति खींचकर दिखाता है। कवि ने यहाँ थोड़े में उसके नखशिखसौंदर्य का चित्रण किया है। यद्यपि इस चित्रण में अलंकारों के प्रयोग में रूढ़ियों का पूरा उपयोग किया गया है किंतु ये अलंकरण उस रूप में किसी प्रकार की असंवादिता नहीं उत्पन्न करते, इनमें एक रुचिर संतुलन दिखाई पड़ता है। गीतमालती छंद का प्रयोग जैसे चित्र की सारी भावभंगी को समेटने के लिये ही किया गया है—

चित्र बुद्धिविचित्र चित्रै रूप रंभा आगरी।
अति गौर चंपकबरन कनकहिं दीपदुति की नागरी।
सुकुवाँरि कुँवरि किसोर कोंवलि नागबल्ली सी लिखी।
तहँ ललित लटकवि चारु चोटी देखि तिहि धावति सिखी॥

परवीन पूरन चंदबदनी बंक जुग भृकुटी लसैं।
छुटि अलक लटकि कपोल पर जनु कमल अलि अवली बसैं।
मृग मीन खंजन नैन अंजन चित्त रंजन सोहई।
विषधार बान बिलोल बरुनी देखि मनमथ मोहई॥

अति कठिन उठत उरोज उन्नत मनहु संभु स्वयंभु हैं।
कटि छीन केहरि भृंग लज्जित जंघ रंभा खंभु हैं॥
पद पदम पदमिनि रूप सेवित कुनित नूपुर सज्जियौ।
जहँ जटित मरकत नील मनि कर भँवर बासक लज्जियौ॥

इधर सूरसेन वैरागर से रंभा के स्वयंवर के लिये प्रस्थान करता है, उधर चंपावती में सखियाँ रंभा को कोककला का सारा ज्ञान सिखा सिखा पक्का बनाती हैं। ऐसे अवसरों पर पुहुकर को कुछ विशेष रस मिलता है, और वे बड़ी सूक्ष्मता और विस्तृति के साथ कामशास्त्र का सारा ज्ञान उड़ेलने लगते हैं। यह वर्णन कहीं कहीं अतिरंजित अवश्य हो गया है, पर इसके बीच भी पुहुकर की सुरुचिपूर्ण कलाकारिता ने उनका साथ नहीं छोड़ा, यही बहुत है। क्योंकि इस तरह के वर्णन युग और परिस्थितियों की दुर्निवार माँग के परिणाम थे। रंभा की एक सखी की यह सीख प्रीतिमार्ग के पथिकों के लिये अवश्य ही सविशेष संबल प्रतीत होगी —

अप्रिय बचन प्रियतम करि मान लीजै
निरा ही नवीनौ नेह नेह पै निबाहनौ।
कहैं कबि पुहुकर औगुन गुननि गारे
प्यारे को छबीलो मुख चौप करि चाहनौ।
रसहू तैं रोस भारी गारी सो परम प्यारी
कलह कठोर काम अगिनि कै दाहनौ।
लीजिये दुराइ संग भींजिये अमृतरस
कीजिये जौ प्रीति तौ न दीजिये उराहनौ॥

पुहुकर का असली कामशास्त्र तो अप्सरि खंड में व्यक्त हुआ है। जहाँ क्रम से मंडन, शय्या के निर्माण से लेकर सुरतिव्यापार के एक एक प्रसंग बड़ी चतुराई के साथ व्यक्त किए गए हैं। रीतिकाल के कवियों के लिये भी ईर्ष्योत्पादक ये प्रसंग तत्कालीन साहित्य में प्रयुक्त होनेवाले सभी मसालों से परिपूर्ण हैं। एक उदाहरण—

सखि आदर कारन उठि नारी। डोलति चली मनौ मतवारी॥
खंडित अधर बदन कुम्हिलानी। बिहँसति नैन कहति मुख बानी॥
कंचुकि दरकि करकि कर चूरी। अधर लाग भयौ कज्जल दूरी॥
पीक की लीक कपोलनि पेखी। उपमा बरनि न जाइ बिसेषी॥
अलक झलक मुख पावति सोभा। भ्रमरपंक्ति जनु पंकज लोभा॥
नखछतरेख उरज पर लागी। चंद्रचूड़ सोभित बड़भागी॥

कल्पलता के प्रेम के ऐंद्रजालिक आकर्षण से बचकर सूरसेन चंपावती की यात्रा करता है। रास्ते में बन, पहाड़, नदी, झरने, सरोवर आदि को पार करता हुआ वह चंपावती के राज उद्यान में पहुँचता है। उद्यान, पुष्करिणी, रहँट, विभिन्न प्रकार के फलफूल आदि का वर्णन चित्ताकर्षक रूप से किया गया है यह याद रखना चाहिए कि वस्तुवर्णन की प्रणाली भी पूर्णतया रूढ़ हो चुकी थी।

नगर, हाट, महल, धवलगृह, पुर, पोखर, चहारदिवारी, देवालय आदि के वर्णनों में एक निश्चित परिपाटी का अनुसरण किया जाता था। कादंबरी और हर्षचरित से इस प्रकार के वर्णनों की एक अटूट परंपरा परवर्ती हिंदी के चरितकाव्यों तक चली आई है। सामान्यालंकार के अंतर्गत वर्ण्य, वर्ण्य, भूमिश्री और राज्यश्री का वर्णन होता आया है। इसे ही केशव ने कविप्रिया के पाँचवें, छठे, सातवें और आठवें प्रभावों में संकलित किया है। काव्यकल्पलतावृत्ति और अलंकार-शेखर में इनका विशद वर्णन है। हिंदी में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिंदीसाहित्य की भूमिका के परिशिष्ट में इस तरह की कविसमयसंबंधी रूढ़ियों का विशद विश्लेषण किया है। नीचे पुहुकर के नगरवर्णन का एक अंश उद्धृत है—

पटंबरमंडित सोभित हाट। रच्यौ जनु देव सुरप्पति बाट॥
कहूँ नग मोतिय बेचत लाल। करैं तहँ लच्छिन मोल दलाल॥१४८॥

कहूँ गढ़ैं कंचन चारु सुनार। कहूँ नट नाटिक कौतुक हार॥
कहूँ पट पाट बनैं जरतार। कहूँ हय फेरत हैं असवार॥१४९॥

कहूँ गुहैं मालिन चौसर हार। कहूँ तिसवारत हैं हथियार॥
कहूँ बरई बर फेरत पान। कहूँ गुनी गाइनि साजत गान॥१५०॥

चल्यो नगरी सब देखत सूर। कहूँ मृगमद सुगंध कपूर॥
रहै इक नागरि नैन निहार। चलै इक पाट गवाख उघार॥१५२॥

योगी के वेश में सूरसेन की वीणा सुनकर नगर की नागरिकाएँ मंत्रमुग्ध मृगी की तरह उनके पीछे पीछे चलने लगीं। इस तरह की रूढ़ि प्रायः सभी प्रेमाख्यानकों में पाई जाती है जिसकी पराकाष्ठा संभवतः माधवानलकामकंदला में हुई जब राजा ने संमोहनशक्ति को अपराध मानकर माधव को नगरनिकाला दे दिया। यहाँ पुहुकर ने नारियों की विवशता का वर्णन भी कामिनीमोहन छंद में किया है—

देखि सोभा रही रीझि प्यारी प्रिया।
मग्ग भूलैं चलैं चित्त हारे त्रिया।
संग छाड़ैं मृगी जेमि भूली फिरैं।
हार टूटै हियें भूमि मोती गिरैं॥१२५॥

छूटि बेनी गई बार बंधे नहीं।
नेह लाग्यौ नयौ मैन अग्गी दहीं।
मानु दीनै जहाँ बीनबानी सुनी।
पान कीनै मनौ माधुरी बारुनी॥१२६॥

उसी समय शिवपूजा के बहाने चंद्र की धवल रात्रि में रंभा अपने प्रिय से मिलने आई। रंभा का रूप देखकर सूरसेन विजड़ित नेत्रों से ताकता रह गया। यह रूप कवि पुहुकर के शब्दों में सौंदर्य और लुनाई की पराकाष्ठा है, जिसे न तो छोड़ा जा सकता है, न देखते ही बनता है—

चंद उजियारी प्यारी नैकु न निहारी परै,
चंद की कला तें दुति दूनी दरसाति है।
ललित लतानि मैं लता सी लगै सुकुवाँरि,
मालती सी फूलै जब मृदु मुसकाति है।
पुहुकर कहै जित देखिये बिराजै तित,
परम बिचित्र चारु चित्र मिलि जाति है।
आवै मन माहिं तब रहै मन ही मैं गड़ि,
नैननि बिलोके बाल नैननि समाति है॥

—चंपावती खंड

इसी कवित्त को पुहुकर के प्रसंग में शुक्ल जी ने भी उद्धृत किया है, किंतु यहाँ पाठ की दृष्टि से इस छंद में अजीब सौंदर्य आ गया है, जो पाठ भ्रष्ट होने के कारण वहाँ नहीं दिखाई पड़ता। सवैयों की झड़ी तो स्वयंवर खंड में लगती है, जब कवि पुहुकर को रंभा के नखशिखसौंदर्य के वर्णन का पूरा अवसर मिल जाता है। नवल दुलहिन के रूप में सखियों ने रंभा को सजाकर ऐपन की पुतरी बना दिया। यहाँ स्थानाभाव के कारण उस वर्णन की झलक दिखाना संभव नहीं जान पड़ता।

रसरतन का एक मार्मिक काव्यप्रसंग है कल्पलता का विरहवर्णन, जो बारहमासे की बहुप्रचलित पद्धति में उपस्थित किया गया है। बारहमासे का वर्णन भी काव्यों में रूढ़ हो गया था। षट् ऋतुओं का वर्णन संयोगशृंगार में और बारहमासे का वियोग में होता था। किंतु इस नियम में प्रत्यवाय भी दिखाई पड़ता है। बारहमासा प्रायः आसाढ़ से आरंभ होता है। काव्यपद्धति बहुत ही रूढ़ अथवा मौलिक उद्भावना से वंचित हो गई थी।[७] पुहुकर में भी रूढ़ि का निर्वाह दिखाई पड़ता है, किंतु उनमें विरह की स्वाभाविक विवृति भी कम नहीं है।

सहचरि सावन आइ तुलानौ। मुहिं मनोज अबला करि जानौ॥
बरन बरन तन कीन सिंगारा। मेदिनि मेघ मिलौं इक बारा॥१७॥

७. विस्तार के लिये देखिए सूरपूर्व ब्रजभाषा, पृ० ११६–१८।

पहिरै नारि अरुन तन चीरु। मानौ इंद्रबधू पसिरीरु ॥
गावहिं गीत मुदित ढिग ठाढ़ी। हमहिं बिरहबेदन अति बाढ़ी ॥१८॥

बर कामिनि झूलहिं इक डोरै। हौं झूलति सखि बिरहहिंडोरै ॥
दिन जामिनि दोउ खंभ सँवारी। मदन बयार लगी अति भारी ॥१९॥

सुनु सखि कहौं कहाँ लगि केती। होइ परी मुहिं सावन सेती ॥
मरुवा मेघन और हिंडोरा। रितु बिरहिन मैं भयौ मिलि डोरा ॥२१॥

— स्वयंवर खंड

वस्तुतः कल्पलता का विरह चित्त की एकाग्रता और सहज आत्मनिवेदन के कारण अद्भुत पीड़ासमन्वित हो उठा है।

रजनी भई चरन लिपटाती। सेवा करत संग लगि जाती ॥
जानी मैं न कपट की प्रीती। भई पतंग दीप की रीती ॥३३॥

अति हिय कठिन कंत बिसवासी। हौं तो हती चरन तुव दासी ॥
किहि कारन मन कियौ उदासी। मरति प्यास दरसन की प्यासी ॥३५॥

पुहुकर अस्विन मेंह, परछाहीं की छाँह री।
निरमोही को नेह, तीनौ तुरत पलट्टियौ ॥३७॥

—चंपावती खंड

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि पुहुकर ने सूफी कवियों से शैली आदि में कितना प्रभाव ग्रहण किया। मेरी दृष्टि से यह प्रभाव प्रकारांतर ही है। कहीं कहीं लगता है कि पुहुकर ने पद्मावत देखा था। जैसे सूरसेन जब चंपावती से वैरागर जाना चाहते हैं तो वे मंत्री सुमति से एक मार्गदर्शक चाहते हैं जो वैरागर का सरल मार्ग बता सके। अगुआ आता है और मार्गदर्शन के विषय में ये बातें कहता है। निम्न उद्धरण 'सुआ गुरू जेहि पंथ दिखावा' से मिलता जुलता है —

ऐसो पंथ बतावे सोई। जो अगुवा सो सतगुरु होई ॥

अथवा—

पंच चोर बर ये अति आहीं। सोवत सौज मूसि लै जाहीं
तिहि संग चोर आहिं बहु ठाटा। पाथक सब मिलि बाँधत घाटा ॥६४॥

आगै पंथ सकल निसि माहीं। तिहिं कहँ कछू चोर भय नाहीं ॥
जो सोवै सो आपन बूसा। तिहिं को सर्बसु चोरन मूसा ॥६५॥

—वैरागर खंड

यहाँ पर अगुआ, मार्ग और पथिक में प्रतीकात्मक अर्थ भी व्यंजित हो रहा है। प्रतीकात्मक अर्थ सूरसेन और मायामदन के युद्ध में भी दिखाई पड़ता है। इसे मैं प्रकारांतर

अन्याय ही कहूँगा, क्योंकि शैली और अभिव्यक्ति में पुहुकर निश्चय ही भारतीय प्रेमाख्यानकों की रूढ़ परंपरा में आते हैं। भले इसे दोष ही मानें। जैसा कि ग्रियर्सन ने लिखा है 'सोलहवीं शताब्दी के मध्य से आज तक जितने भी हिंदुस्तानी साहित्य के बड़े और अच्छे ग्रंथ लिखे गए वे सभी प्रथा की शृंखला भावोच्छ्वास, अथवा दोनो से आबद्ध हैं, जायसी इसके अपवाद हैं।' (हिंदीसाहित्य का प्रथम इतिहास, पृ० ८५) वस्तुतः पुहुकर ने नलदमयंती, उषाअनिरुद्ध, मधुमालती, कामकंदला, अग्निमित्र इरावती आदि अनेक प्रेमकथाओं का नाम लिया है; पर उन्होंने कहीं भी सूफी प्रेमकाव्यों का जिक्र नहीं किया है।

पुहुकर आचार्य के रूप में

हम संक्षेप में यहाँ पुहुकर के आचार्यत्व पर भी कुछ कह देना चाहते हैं। पुहुकर केशव को छोड़कर बाकी सभी रीतिकालीन आचार्यों के पूर्ववर्ती हैं। इसी लिये उनके इस पक्ष का महत्व भी बढ़ जाता है। पुहुकर ने रसवर्णन भी किया है और नायिकाभेद का निरूपण भी। ग्रंथ में सखी, दूती, मंडन, सहेट आदि की भी पुरस्सर चर्चा है। सोलह शृंगारों का भी निरूपण है। उन्होंने इस दिशा में संस्कृत आचार्यों से कोई भिन्न बात नहीं कही है और यह दोष सिर्फ उन्हीं को नहीं, रीतिकाल के अधिकांश आचार्यों को लगाया जा सकता है। पुहुकर शृंगार को रसराज मानते हैं।

> गननायक गतपति गुरू, ससिनायक उजियार।
> दिननायक रवि जानिये, रसनाइक सिंगार ॥१०॥
>
> —आदि खंड

इस शृंगार रस के दो पक्ष हैं—संयोग और वियोग। नायक नायिका एक दूसरे के दर्शन से आकृष्ट होते हैं। दर्शन तीन प्रकार के होते हैं—

> काम कहै सुनु सुंदरी दरसन तीन प्रकार।
> स्वप्न चित्र परितिच्छ प्रिय प्रगट प्रेमविस्तार ॥१५॥
>
> —स्वप्न खंड

विरह की दस अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—

> प्रथम उपजि अभिलाष बहुरि चिंता सुमिरन गनि।
> गुनत गुनिय गुनकथन दुसह उद्वेग जासु भनि।
> तापर प्रगटि प्रलाप और उन्माद बखानहिं।
> विषम व्याधि बपु बढ़ै जगत जड़ता जिय आनहिं।
> कवि कहत निधन दसमी दसा अबहिं होत मन आनि बस।
> पुहुकर प्रकास मनमथ के सु विप्रलंभ सिंगार रस ॥

इसके बाद क्रम से सभी अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। यही स्वप्न खंड के अंतर्गत 'नव अवस्य वर्ननो नाम' आठवाँ अध्याय है।

नायिकाभेद का वर्णन पूर्णतया रसमंजरी के अनुसरण पर किया गया है। वैरागर खंड में सूरसेन और उनकी दोनो पत्नियों के स्वागत के अवसर पर जो नागरिकाओं की भीड़ आई, उसमें पुहुकर को ११५२ प्रकार की नायिकाएँ दिखलाई पड़ गईं।

> आई नगर नारि सब नागरि। रूप सरूप गरुव गुन आगरि।
> चित्रिन हस्थिन संखिनि धाई। पदमिनि अंग विलोकनि आई ॥१६६॥
> मुग्ध मध्य प्रौढ़ा वर नारी। रूप रासि जोवन उजियारी।
> अष्ट नारि रसभेद बखानी। तें आई देखन रतिरानी ॥१६७॥
> पतिस्वाधीन कहीं त्रिय सोई। पति जिहि प्रेम सदावस होई।
> सुख संयोग परस्पर प्रीती। मदन मनोहर आनंद रीती ॥

पुहुकर ने स्वीया, परकीया, सामान्या के लक्षण बताए हैं। स्वीया त्रिविध—मुग्धा, मध्या प्रगल्भा। मुग्धा द्विविध–अज्ञातयौवना, ज्ञातयौवना। मानी त्रिविध–धीरा, अधीरा, धीराधीरा। मान के लघु, मध्यम, गुरु तीन भेद हैं। ये सोलह प्रकार की नायिकाओं में प्रत्येक अष्टविध—प्रोषितपतिका, खंडिता, कलहांतरिता, विप्रलब्धा, उत्कंठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका और अभिसारिका। ये उत्तमा, मध्यमा और अधमा भेद से कुल ३८४ प्रकार की हो जाती हैं। पुनः दिव्या, अदिव्या और दिव्यादिव्या भेद से कुल ११५२ प्रकार की नायिकाएँ बताई जाती हैं।

अंत में कवि कहता है—

> बहु विध अंतर भाय वहि, मो मुख बरनि न जाय।
> अष्ट नारि बरनन कियौ, सूक्षम सुगम सुभाय ॥१८४॥

पुहुकर ने सोलह शृंगार का वर्णन इस प्रकार किया है—

> प्रथम सुमज्जन चारु चीर कंचुकि हिय सोहै।
> अंजनु तिलकन भाल, करन कुंडल मन मोहै।
> बनि बेसरि बेनी रसाल मनि कंठ बिराजै।
> छुद्रघंटिका बनी हार मोतिन के छाजै।
> नुपूर नवीन पुहुकर सुकवि मुख तमोल चातुरिय भनि।
> कवि कहत ग्रंथमति जानि कै सु ये षोडस सिंगार गनि ॥

—अप्सरि खंड ७६

१५वीं शताब्दी के वल्लभदेव की सुभाषितावली में (कीथ के मतानुसार) षोडश शृंगार की चर्चा की गई है —

> आदौ मज्जन चीर हार तिलकं नेत्राञ्जनं कुंडले।
> नासामौक्तिक केशपाशरचनासत्कंचुकं नूपुरौ।
> सौगंध्यं करकङ्कणं चरणयोः रागोरणन्मेखला।
> ताम्बूलं करदर्पणं चतुरता शृंगारकाः षोडशाः ॥[८]

सोलह शृंगार के साथ ही साथ पुहुकर ने द्वादश आभरण की भी चर्चा की है —

> सीसफूल तार्टक कंठभूषन मनिमंडित।
> पहुपहार उर मुक्तमाल अप्छरि छबि खंडित।
> कर कंगन अगमूद केस कय्यूर बाहु बनि।
> छुद्रघंटि कटि डोर चरन नूपुर अप्पय धुनि।
> सिंगार सरस सोरह सहज सुख सुहाग पिय मनहरन।
> नवरंग संग पुहुकर सुकवि सोभित द्वादस आभरन॥
>
> — अप्सरि खंड ७७

यह है संक्षेप में कवि पुहुकर के रसरतन का परिचय। मुझे यह कहते हुए रंचमात्र भी संकोच नहीं है कि कवि पुहुकर व्रजभाषा काव्य का प्रथम श्रेणी का रससिद्ध कवि है। उसकी रचना हमारे साहित्य का गौरव है। यह ग्रंथ हमारे साहित्य की अनेकानेक समस्याओं को सुलझाने में न केवल पुष्कल सहायक होगा बल्कि इसके काव्यतत्व और रूपशिल्प के अध्ययन से मध्यकालीन साहित्य को समझने की नई दिशाएँ भी मिलेंगी। भाषा की दृष्टि से भी इस काव्य का अपूर्व महत्व है। क्योंकि इसकी भाषा सूर से प्राचीन व्रजभाषा है—कवि सूर के बाद का है, पर भाषा प्राचीन है, वह इसलिये कि इसमें कंठप्रयोगों के कारण परिवर्तन कम से कम हुआ है। मैं इन शब्दों के साथ पुहुकर के रसरतन के प्रति साहित्य के सुधी पाठकों और शोधप्रेमियों का ध्यान आकृष्ट करता हूँ।

*

८. विस्तार के लिये देखिए रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना, षोडश शृंगार प्रकरण, पृ० १०१–१५।

हिंदी भाषा में कुछ पुर्तगाली शब्द

शिवनाथ

हिंदी भाषा में गृहीत पुर्तगाली शब्दों का उल्लेख डा० धीरेंद्र वर्मा ने 'हिंदी भाषा का इतिहास'[1] में किया है। 'संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर'[2] में भी इनका उल्लेख यथास्थान मिलता है। नीचे जिन शब्दों की विवेचना की जा रही है वे डा० धीरेंद्र वर्मा के ग्रंथ में नहीं हैं। 'संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर' में इनमें से किसी को अरबी, किसी को अँगरेजी, किसी को संस्कृत मूल से आया माना गया है। इसमें एक शब्द के मूल के संबंध में प्रश्नवाचक चिह्न भी लगाया गया है।

आदेश—प्राचीन हिंदी में इसका 'आदेस' रूप भी मिलता है। 'संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर' में 'आदेश' को संस्कृत लिखा गया है। 'आदेस' को 'आदेश' का तद्भव माना गया है और इसके अर्थ भी 'आदेश' के अर्थ के समान कहे गए हैं। 'संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर' में इसका एक अर्थ है 'प्रणाम, नमस्कार' (साधु)। प्राचीन हिंदी में निश्चय ही इसका यह अर्थ मिलता है; और 'साधु' के प्रसंग के अतिरिक्त भी यह अर्थ प्राप्त है। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा संस्कृत, मध्य भारतीय आर्यभाषा पालि - प्राकृत, नव्य भारतीय आर्यभाषा बँगला, ओड़िया में इसका 'प्रणाम, नमस्कार' अर्थ अप्राप्त है।[3]

१. हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, सन् १९५३ ई०।

२. नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं० २०१४ वि०।

३. (क) मोनियर मोनियर विलियम्स, ए संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, ऑक्सफोर्ड ऐट क्लैरेंडन प्रेस, सन् १८९९ ई०।

(ख) आर० सी० चाइल्डर्स, ए डिक्शनरी आव् पालि लैंग्वेज, लंदन, सन् १८७५ ई०।

(ग) रीज डेविड्स, पालि इंग्लिश डिक्शनरी, दि पालि टेक्स्ट सोसायटी, चिप्स्टेड, सरे, सन् १९२१ ई०।

(घ) हरगोविंददास टी० सेठ, पाइअ सद्द महण्णवो, कलकत्ता, सन् १९२३ ई०।

पुर्तगाली भाषा में एक संज्ञा पुंलिंग शब्द 'आदेउस्' है। इसका अँगरेजी अर्थ है 'एड्यू' अर्थात् 'एक दूसरे व्यक्ति से अलग होते समय का नमस्कार-प्रणाम' (गुडबाइ)। कोंकणी भाषा में यह 'आदेस' के रूप में इसी अर्थ में चलता है।[४] ऐसा जान पड़ता है कि पुर्तगाली 'आदेउस्' शब्द ही हिंदी में तत्सम 'आदेश' मान लिया गया और उसका अर्थ किया गया 'नमस्कार - प्रणाम'। पुर्तगाली में इसका यही अर्थ है भी। हमने उल्लेख किया है कि इसका 'नमस्कार - प्रणाम' अर्थ किसी भी अवस्था की भारतीय आर्यभाषा में नहीं मिलता। कोंकणी में इस शब्द के पुर्तगाली भाषा से ग्रहण का उल्लेख हमने किया है; उसमें भी यह 'नमस्कार - प्रणाम' के अर्थ में ही चलित है। हमने यह भी देखा है कि प्राचीन हिंदी में यह 'आदेस' के रूप में प्राप्त है। इस प्रकार हमारी दृष्टि से यह हिंदी में गृहीत पुर्तगाली शब्द है।

किरंटा, किरानी—'संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर' में 'किरंटा' का मूल अँगरेजी 'क्रिश्चियन' कहकर प्रश्नवाचक चिह्न लगाया गया है। इसका अर्थ लिखा है—'छोटे दर्जे का क्रिस्तान, किरानी (तुच्छ)'। उक्त अभिधान में 'किरानी' का मूल 'क्रिश्चियन' बतलाकर इसके अर्थ दिए गए हैं—'१ - वह जिसके माता पिता में से कोई एक यूरोपियन और दूसरा हिंदुस्तानी हो। किरंटा। यूरेशियन। २ - अँगरेजी दफ्तर में लिखने पढ़ने का काम करनेवाला। मुंशी। क्लर्क'।

बँगला में 'किरानी' के 'केराणि, केराणी' रूप मिलते हैं और इसका 'क्लर्क' अर्थ खूब प्रचलित है। 'यूरेशियन', 'फिरंगी' अर्थ में भी यह प्राप्त है[५]। संभवतः इसी 'किरानी, केराणि, केराणी' शब्द के आधार पर ही 'क्रैनी' शब्द बना, जो डोयले के 'अर्ली यूरोपियन्स' ग्रंथ में 'क्लर्क' के अर्थ में व्यवहृत है। 'दि आक्सफोर्ड डिक्शनरी' (सन् १९३३ ई०), 'दि कानसाइज आक्सफोर्ड डिक्शनरी' (सन् १९३४ ई०) में 'क्रैनी' का 'क्लर्क' अर्थ नहीं मिलता। 'दि लिटिल आक्सफोर्ड डिक्शनरी' (सन् १९३० ई०) में इसके अर्थ हैं—'वंग प्रदेश में अँगरेजी लिखनेवाला क्लर्क। सामान्यतः 'ईस्ट इंडियन्स' अथवा दोगला (हाफ कास्ट) वर्ग।

(क) ज्ञानेंद्रमोहनदास, बाँगला भाषार अभिधान, दि इंडियन पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता, सन् १९३७ ई०।

(ख) गोपालचंद्र प्रहराज, पूर्णचंद्र ओड़िया भाषा कोश, दि उत्कल साहित्य प्रेस, कटक, सन् १९३१ ई०।

४. एस्० रोदोल्फो दालगादो, पोर्चुगीज वौकेबुल्स इन एशियाटिक लैंग्वेजेज, ओरियंटल इंस्टिट्यूट, बड़ौदा, सन् १९३६ ई०।

५. ज्ञानेंद्रमोहनदास, बाँगला भाषार अभिधान, दि इंडियन पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता, सन् १९३७ ई०

पुर्तगाली भाषा में एक शब्द है 'एस्क्रेवेन्ते' (Escrevente)। यह स्त्रीलिंग और पुंलिंग संज्ञा दोनो में व्यवहृत होता है।[५] इसका मूल वस्तुतः 'एस्क्रिवाँवो' (Escrivão) शब्द है, जिसमें 'एन्ते' (ente) प्रत्यय लगाया गया है, जो लघुताबोधक होता है। जैसे 'लेट' (-let) प्रत्यय अँगरेजी में लघुताबोधक है। अँगरेजी 'बुक' में 'लेट' प्रत्यय लगा और उसे 'बुकलेट' बनाकर 'पुस्तिका' का अर्थ लेते हैं। उक्त दोनो पुर्तगाली शब्दों का अर्थ है 'क्लर्क'। 'एस्क्रेवेन्ते' के ही घिसेघिसाए रूप हिंदी 'किरंटा, किरानी' बँगला 'केराणि, केराणी' हैं। हिंदी और बँगला में भी इसका पुर्तगाली अर्थ 'क्लर्क' चलता ही है। इस अर्थ के अतिरिक्त इसका एक और अर्थ इन दोनो भाषाओं में बाद में किया गया है। इस अर्थ का उल्लेख हम देख चुके हैं।

पगार—'संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर' में इस शब्द का अर्थ जहाँ 'वेतन, तनख्वाह' दिया गया है वहाँ इसके मूल के संबंध में प्रश्नवाचक चिह्न लगा है। हिंदी में यह पुंलिंग संज्ञा है।

हिंदी में उक्त अर्थवाला 'पगार' शब्द भी पुर्तगाली भाषा से गृहीत है। पुर्तगाली में 'पगार' (Pagar) सकर्मक क्रिया है हिंदी में पुंलिंग संज्ञा, यही भेद है। पुर्तगाली में इसके अर्थ हैं—'वेतन देना, (वेतन) तै करना। दोबारा वेतन देना। बदला लेना। पारिश्रमिक देना।'[६]

पुर्तगाली 'पगार' शब्द आधुनिक भारत की अन्य भाषाओं में भी तत्सम, तद्भव तथा विकसित रूपों में गृहीत है। कोंकणी में 'पाग' (= वेतन), मराठी में 'पाग' (= वेतन), 'पगार' (= वेतन), 'पगारी' (= वेतनभोक्ता), गुजराती में 'पगार' (= वेतन) के रूपों तथा अर्थों में यह चलित है। कहा गया है कि हिंदी में 'पगार' (= वेतन) मात्र 'बंबई 'प्रेसिडेंसी' में व्यवहृत होता है। कन्नड में 'पगडी' का अर्थ 'टैक्स' है। तुलु में 'पगरु' 'वेतन' और 'भाड़ा' के अर्थ में भी प्रयोग में आता है।[७]

बेहला—यह एक प्रकार का विदेशी बाजा है, जिसमें चार तार होते हैं और जो लंबे बालों से बँधी धनुष के आकार की सी अथवा सीधी छड़ी (गज) से बजाया

६. जेम्स एल० टेलर, ए पोर्चुगीज – इंग्लिश डिक्शनरी, स्टानफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, स्टानफोर्ड, कैलिफोर्निया, सन् १९५८ ई० ।

७. एस्० रोडोल्फो डालगादो, पोर्चुगीज वोकेबुल्स इन एशियाटिक लैंग्वेजेज ओरियंटल इंस्टिट्यूट, बड़ौदा, सन् १९३६ ई० ।

जाता है। बँगला में यह शब्द 'बेहाला' के रूप में प्रचलित है। हिंदी में इस शब्द को अँगरेजी 'वायोलिन' के मूल से आया माना गया है। किंतु इसका मूल भी पुर्तगाली स्त्रीलिंग संज्ञा शब्द 'विओला' है।

साबुन—हिंदीमें इसका 'साबन' रूप भी मिलता है। उर्दू में 'साबुन, साबून' रूप प्राप्त हैं। बँगला में यह 'साबान' रूप में प्रचलित है। हिंदी,[८] उर्दू[९] अभिधानों में यह पुंलिंग संज्ञा है और इसे अरबी मूल से गृहीत माना गया है। किंतु यह शब्द भी लिया गया है पुर्तगाली भाषा से। अरबी में भी यह इसी भाषा से गया है। आधुनिक भारतीय अन्य भाषाओं में भी कुछ भिन्न रूपों में यह पुर्तगाली से ही गृहीत हुआ है।[१०]

पुर्तगाली में एक पुंलिंग संज्ञा शब्द 'सबावों' (sabao) है। इसके अर्थ हैं—'रसोईघर में व्यवहृत साबुन। कपड़ा धोने का साबुन'। इस शब्द में 'एते' प्रत्यय लगाने से पुंलिंग संज्ञा शब्द 'साबोनेते' बना, जिसका अर्थ है 'नहाने का साबुन'। साबोनेते में 'ईरा' प्रत्यय जब लगा तब यह स्त्रीलिंग संज्ञा शब्द हुआ 'साबोनेतेईरा' (saboneteira) और इसका अर्थ किया गया 'साबुनदानी'[११]। पुर्तगाली भाषा में 'ईरा' प्रत्यय आधारबोधक होता है।

'साबावों' अथवा 'साबोनेते' शब्दों के आधार पर ही, विशेषतः 'साबावों' शब्द के आधार पर, हिंदी, उर्दू, बँगला आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं में 'साबुन' अथवा इससे कुछ भिन्न रूप बनकर प्रचलित है।

*

८. संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं० २०१७वि०।

९. मुहम्मद मुस्तफा खाँ 'मद्दाह', प्रकाशनशाखा, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, सन् १९५९ ई०।

१०. एस० रोदोल्फो दालगादो, पोर्चुगीज वोकेबुल्स इन एशियाटिक लैंग्वेजेज, ओरियंटल इंस्टिट्यूट, बड़ौदा, सन् १९३६ ई०।

११. जेम्स एल० टेलर, ए पोर्चुगीज-इंग्लिश डिक्शनरी, स्टानफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, स्टानफोर्ड, कैलिफोर्निया, सन् १९५८ ई०।

अशोक के समकालिक राज्य

देवसहाय त्रिवेद

अशोक के शिलाभिलेखों में विभिन्न देशों एवं राज्यों का उल्लेख है।[1] चतुर्दश शिलालेखों के द्वितीय अभिलेख में वह कहता है — 'देवप्रिय प्रियदर्शी राजा के राज्य में तथा राज्यांतों में यथा – चोल, पांड्य, सतियपुत्र, केरलपुत्र, ताम्रपर्णी, अतियवक यवनराज्य तथा उसके समीप अतियवक राज्यों में सर्वत्र देवप्रिय राजा ने दो प्रकार की चिकित्सा का प्रबंध किया है।' पंचम अभिलेख में अशोक कहता है कि 'ये धर्ममहामात्र धर्म की रक्षा, कर्मवृद्धि, हितकारी सुख के लिये धार्मिक देश यवन कंबोज, गांधार, राष्ट्रिक, प्रतिष्ठान तथा अपरांत सीमा पर सभी संप्रदायों में व्यापृत हैं।'

त्रयोदश अभिलेख में लिखा है — 'देवप्रिय का धर्मानुशासन सर्वत्र चलता है यथा – यहाँ, सीमांत तथा असुर देशों में जो सैकड़ों योजन दूर हैं, अंतियक यवनराज्य, तुरगमय, अंतकिन्नर, मग, अलीकसिंधुर, चोड, पांड्य, ताम्रपर्णी, सिद्धराज, गणराज्य, यवन - कांबोज, नाभक, नाभपंक्ति, भोज, पैठनक, आंध्र और पुलिंद देश।

इनके सिवाय उसके दो कलिंग अभिलेख भी प्राप्त हैं। हमें देखना है कि ये राज्य कौन और कहाँ हैं। सभी अभिलेखों के समवेत अध्ययन से इन राज्यों का पता चलता है — चोल, पांड्य, सतियपुत्र, केरलपुत्र, ताम्रपर्णी, यवन - कांबोज, गांधार, राष्ट्रिक, प्रतिष्ठान, अपरांत या अपरीता, असुरदेश, अंतयिक यवनराज्य, तुरगमय, अंतकिन्नर, मग, अलीकसिंधुर, सिद्धराज, गणराज्य, नाभक, नाभपंक्ति, भोज, आंध्र, पुलिंददेश तथा कलिंग।

चोडा

गिरनार, कालसी, जौगढ़ का पाठ है – चोडा तथा शाहबाजगढ़ी और मानसेहरा का पाठ है चोड। प्राचीन चोड राज्य भारत के दक्षिण पूर्व में था। वर्तमान नीलोर और पद्दुकोटा के बीच का प्रदेश चोलमंडल या कोरोमंडल के नाम से ख्यात है। स्यात् चोलमंडल की उत्तरी सीमा अशोक के साम्राज्य की दक्षिणी सीमा थी।

१. भारतीय अभिलेखसूची, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वाराणसी, भाग ६५ पृ० ६,१० तथा १४।

पांड्य

विभिन्न पाठ हैं — पाडा (गिरनार), पंडिया (कालसी तथा जौगढ़), पडिय (शाहबाजगढ़ी तथा मानसेहरा) । यह भारत का सबसे दक्षिण का प्रदेश था । वर्तमान मदुरा और तिनीवल्ली जिलों को पांड्य नाम से संबोधित करते थे । ताम्रपर्णी नदी के तट पर कोरकई नगर इसकी प्राचीन राजधानी था । कालांतर में मदुरा राजधानी हुई ।

सत्यपुत्र

विभिन्न पाठ हैं – सतियपुतो (गिरनार), सातियपुतों (कालसी), सतियपुते (जौगढ) तथा सतियपुत्र (शाहबाजगढ़ी तथा मानसेहरा) । स्मिथ के अनुसार सत्यपुत्र कोंकण का वह भाग है जहाँ तुलु भाषा बोली जाती है । उस क्षेत्र का केंद्र आधुनिक बंगलौर है सत्यपुत्र का नाम कहीं अन्यत्र नहीं मिलता । जायसवाल[2] के अनुसार यह केरल और पांड्य राज्यों के मध्य था । तिन्नेवल्ली जिले का सातूर (सतियूर – प्राचीन रूप) स्यात् उसकी राजधानी प्राचीन काल में था । इसी जिले में कोरकई या कोलकई का बंदरगाह ताम्रपर्णी नदी के मुहाने पर था जहाँ से सिंहल को जहाज जाते थे ।

केरलपुत्र

इसके विभिन्न पाठ हैं – केरलपुतो (गिरनार), केललपुतो (कालसी), केरलपुत्र (शाहबाजगढ़ी) तथा केरलपुत्रे (मानसेहरा) । मालाबार से कन्याकुमारी अंतरीप तक का सारा प्रदेश केरलपुत्र राज्य के अंतर्गत था । वञ्जि इसकी राजधानी थी । सत्यपुत्र और केरलपुत्र के मध्य चंद्रगिरि नदी थी ।

ताम्रपर्णी

आधुनिक श्रीलंका का नाम ताम्रवर्णी था । स्मिथ[3] के मत से ताम्रपर्णी वह नदी है जो आजकल तिनीवल्ली जिले में बहती है । ताम्रपर्णी का उल्लेख त्रयोदश अभिलेख में है । स्मिथ के मतानुसार उस समय अशोक का संबंध लंका से स्थापित नहीं हुआ था ।

टैप्रोबेन इसे ही कहते थे जो ताम्रवर्णी का रूप ज्ञात होता है । अभिलेखों में इसके पाठभेद हैं — आतंबपंणी (गिरिनार), तंबपंनि (कालसी), तंबपंनि (शाहबाज-

२. इंडियन ऐंटिक्वेरी, १६०५ पृ० २७८ ।

३. वही, १६१८ पृ० ४८ ।

गढ़ी), बपणि (मानसेहरा)। ताम्रपर्ण (ताम्रवर्ण) भारत से बाहर[४] एक द्वीप था। ताम्रवर्णी नदी पांड्य देश में है और पांड्य राज्य का अभिलेख में स्पष्ट उल्लेख है।

अंतियक

अनेक आधुनिक विद्वानों ने प्रायेण मान लिया है कि अंतियक एक यवनराज का वैयक्तिक नाम है जिसने खीष्ट पूर्व २६१ से खी० पू० २४६ तक राज्य किया। इसे लोग सिरिया तथा पश्चिमी एशिया का राजा अंतियोकस द्वितीय मानते हैं। वह सेल्यूकस का पोता था। किंतु यह विषय विचारणीय है। अंतियक नाम का प्रदेश अब भी वर्तमान है।

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका[५] के अनुसार अंतियक नाम के १६ नगर थे। इन सबमें प्रमुख था वह अंतियक नगर जो ओरंटस नदी के वाम भाग पर स्थित और समुद्र से ५० मील की दूरी पर था। कालांतर में यह अंतियक नगर सेल्युकस के पश्चिमी साम्राज्य की राजधानी बना। आजकल का अंतकिय नगर भी यथेष्ठ प्रसिद्ध है। इसकी जनसंख्या ४०,००० (१९५१) है। इस नगर में ईसाइयों के अनेक धर्मसंमेलन हो चुके हैं। अंतियोकस सेल्युकस के वंश के १३ राजाओं की उपाधि थी। यदि अशोक किसी विशेष राजा के पास अपना दूत भेजता तो उसका पूरा नाम देता जैसे हमें उसके अभिलेखों में अन्य देशों के नाम मिलते हैं। अतः सबको एक ही दृष्टि से देखना समीचीन होगा। अंतियक नाम का एक यूनानी इतिहासकार भी हो गया है (४२० खी० पू०)।

इसके पाठभेद हैं — अंतियको योन राजा (गिरनार), अंतियोगे नाम योनलाजा (कालसी), (अं) तियोके नाम योनलाजा (धौली तथा जौगढ़), अंतियोको नम योनरज (शाहबाजगढ़ी), तथा - तियो के नम योन (मानसेहरा)। प्रायः लोग इसका अर्थ करते हैं – अंतियोकस नामक यवनराज। किंतु 'अंतियक में नाममात्र के यवनराज' ही अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इसका संस्कृत रूपांतर होगा— अंतियके नाम यवनराजाः। इस प्रदेश में अनेक यवन राजा थे।

यवन कंबोज गंधार

पंचम अभिलेख में यवन कंबोज गंधार का उल्लेख एक साथ होने से प्रतीत होता है कि ये सभी पड़ोसी थे और ये इसी क्रम से बसे थे। यह गणना वैज्ञानिक ढंग पर है और भौगोलिक आधार पर पश्चिम से पूर्व की ओर दिखाई गई

४. मत्स्यपुराण, अध्याय ११३; वायुपुराण ४५-७०-७८।

५. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (त्रयोदश संस्करण), भाग २५, १२०-१२२।

है। एरियन के लेखों से भी इसकी पुष्टि होती है। वह कहता है – 'सिंधुनद के पार पश्चिम में कोफेन नदी तक दो भारतीय जातियाँ बसती हैं – अस्टकेनोई और अस्सकेनोई जो सिंधु नद के वाम भाग पर बसनेवाले भारतीयों के समान न तो बहादुर हैं और न उनके समान श्यामवर्ण हैं। न्यसोई भारतीय नहीं हैं, जो डायनीसस के साथ भारत आए उन्हीं के वंशज हैं। जिस प्रदेश में ये बसे उस प्रदेश का नाम पड़ा – न्यसिया। पतंजलि[6] इसे नैश्य जनपद के नाम से पुकारते हैं। नगर का नाम न्यस पड़ा। किंतु नगर के समीप का पर्वत मेरु कहलाता है। अस्सकेनोई प्रदेश में मस्सक नामक महानगर है जो राजधानी है और सारे साम्राज्य की बागडोर थामे है। दूसरा नगर है पेकुलतीस (= पुष्कलावती) जो विशाल है और सिंधु नदी से दूर नहीं है। ये प्रदेश सिंधुनद के पश्चिम में कोफेन तक विस्तीर्ण हैं।

एरियन के कथन से स्पष्ट है कि पुष्कलावती नगरी सबसे पूर्व में थी। अस्सकेनोई या अश्वक काबुल नदी के तट पर तथा यवन और पुष्कलावती के मध्यभाग में थे।

कंबोज शब्द की उत्पत्ति कंबु से हुई। कंबुज या कांबोज (कंबु से उत्पन्न) और क (म्) बु - ल (= काबुल) की उत्पत्ति कंबु से ही है। जिस स्थान पर काबुल स्थित है वह ठीक शंख या घड़े की गर्दन की समान है। अतः काबुल और कंबोज एक ही प्रतीत होते हैं। इसकी राजधानी द्वारका थी। कंबु का अर्थ शंख है। यवन-कंबोजों का स्थान अशोक के यवन और गांधारों के मध्य था। रामायण[7] तथा मज्झिमनिकाय[8] में यवन - कंबोजों का वर्णन एक साथ है। पालिग्रंथ के अनुसार योनकंबोजों में केवल दो ही श्रेणियाँ थीं – आर्य और दास। ये बदल भी जाती थीं।

इससे प्रतीत होता है कि प्रियदर्शीप्रशस्ति, संस्कृत तथा पालिग्रंथों के कंबोज स्यात् वे ही हैं जो एरियन के अस्सकेनोई (= अश्वक) हैं। ये कंबोज अपने घोड़ों के लिये प्रसिद्ध थे[9] जिस प्रकार आजकल भी काबुली घोड़े ख्यात हैं। स्यात् उनके लिये अश्वक शब्द का प्रयोग होता था। कुछ लोग हिमाचल पर रहनेवाली एक जाति विशेष को कांबोज नाम से संबोधित करते हैं तथा अन्य तिब्बतवासियों को ही कांबोज कहते हैं। इसके पाठ हैं – योनकंबो (गिरनार), योनकंबोज (कालसी, मानसेहरा) योनकंबोय (शाहबाजगढ़ी), कंबोच (धौली)। अर्थशास्त्र में इसे कांभोज कहा गया

६. नैश्यो नाम जनपदः। पाणिनि ४।१।१७० पर महाभाष्य (४-१-४)।

७. कंबोज - यवनांश्चैव...। किष्किंधा ४३-११।

८. मज्झिमनिकाय २-१४९ : योन कंबोजेसु।

९. अश्वयुद्धकुशलाः...। महाभारत शांतिपर्व १०५-५ (कुंभकोणसंस्करण)।

है। यास्क के निरुक्त तथा रामायण में देश के अर्थ में कंबोज तथा वहाँ के निवासियों के अर्थ में कांबोज शब्द का प्रयोग है।

गंधार

एरियन सिंधुनद के पश्चिम की जातियों में अष्टकेनोई का उल्लेख सर्वप्रथम करता है इससे प्रतीत होता है कि ये अष्टकेनोई गंधार देश में थे। ये अष्टक स्यात् अष्टकराज्य – आठ राजाओं का संघ है। आजकल स्यात् ये पुष्कलावती (चारसद्दा) के आसपास स्वात नदी के निम्न तट पर हष्टनगर आठ नगरों की भूमि है। अशोक का गंधार दो भागों में विभक्त था – (क) सिंधुनद के पूर्व का भाग जिसकी राजधानी तक्षशिला थी। (ख) बजौर और स्वात के प्रदेश जिनमें नगर राज्य थे जिनके नगरों में पुष्कलावती प्रमुख थी। यहाँ आठ नगर राज्यों का संघ था।

कुछ लोग कंधार को भूल से गंधार समझ लेते हैं। किसी समय सिंधुनद के पश्चिम तट से काबुल तक का सारा प्रदेश गंधार राज्य में था। इसके पाठ हैं – गंधाराजं, (गिरनार), गंधालाजं (कालसी), गंधालेस (धौली) तथा गंधरनं (शाहबाजगढ़ी व मानसेहरा)।

असुरदेश

पाठ है – अ ष धु पि (कालसी, शाहबाजगढ़ी, मानसेहरा)। बुहलर और हुल्श इसका अर्थ लगाते हैं – आषटुसऽपि। छ तक। अर्थात् ६ सौ योजन दूर तक। जायसवाल[10] के अनुसार यह अर्थ समीचीन नहीं हो सकता क्योंकि 'पि' अषधु के बाद है न कि योजन शतेषु के बाद। अपितु यहाँ ६ की क्या महत्ता है? इस पर क्यों बल दिया गया। अतः अ पाठ है न कि आ। दूरी के लिये आ का प्रयोग होता है जैसे आ ताम्रपर्णी (द्वितीय अभिलेख गिरनार); खरोष्ठी अभिलेखों को छोड़कर कहीं भी अन्यत्र आ के स्थान पर अ का प्रयोग नहीं हुआ है। अपितु अशोक के अभिलेखों में सर्वत्र छ के लिये सड प्रयुक्त होता है। अभिलेखों के चित्रावलोकन से ज्ञात होता है कि पूर्ण शब्द है 'अ शु धु' और मूल शब्द है 'असुर'। असुरदेश सीरिया या एशियामाइनर प्रतीत होता है। हेरोडोटस भी इसे असुर कहता है।[11]

कलिंग

पाठ है – कलिंगा (गिरनार), कलिग्या (कालसी), कलिग (शाहबाजगढ़ी तथा मानसेहरा)। वंगोपसागर के किनारे महानदी और गोदावरी के मध्य के प्रदेश

१०. इंडियन ऐंटिक्वेरी, १६१८ पृ० ३७।

११. वही, १६३३ पृ० १२१-१३३।

को कलिंग या त्रिकलिंग कहते हैं। रोमन इतिहासकार और भूगोलज्ञ प्लीनी ने कलिंग राज्य को तीन भागों में विभाजित किया — कलिंग, मध्य कलिंग और महाकलिंग। राजेंद्रलाल मित्र ने त्रिकलिंग का अर्थ तीन कलिंग किया है, यथा — कलिंग, मध्य कलिंग और उत्कलिंग। उत्कल शब्द उत्कलिंग का अपभ्रंश है।

तुरगमय

पाठ हैं – तुरमायो (गिरनार), तुलमये (कालसी), तुरमये (शाहबाजगढ़ी)। इसे प्रायः सभी विद्वानों ने मिश्र का बादशाह टालमी फिलाडेल्फस मान लिया है जिसने खी० पू० २८५ से २४७ खी० पू० तक राज्य किया। किंतु मिश्र में टालमी नाम के अनेक राजा हुए हैं। अशोक इनमें किसका उल्लेख करता है, कहना कठिन है।

इस पाठ ने लोगों को प्रायः भ्रम में डाल दिया है—'इह च सर्वेषु च अन्तेषु असुरेषु अपि योजन शतेषु यत्र अंतियक नाम यवन राजाः परं च तेन अंतियकेन चत्वारो राज्ये तुरगमये नाम···'। जिस देश में तुरग (घोड़े) अधिक हों उसे ही तुरगमय कह सकते हैं। यह शब्द अरब के लिये अधिक उपयुक्त हो सकता है।

अंतकिन्नर

पाठ हैं – अंतेकिना (गिरनार), अंतेकिने (कालसी) तथा अंतकिनि (शाहबाजगढ़ी)। इसे विद्वानों ने प्रायः मकदूनिया का राजा ऐंटिगोनस गोंटस मान लिया है जिसने खी० पू० २७७ से २३९ खी० पू० तक राज्य किया। इसका शुद्ध रूप 'अंत किन्नरे' प्रतीत होता है। किन्नरदेश कहाँ है, इसके विषय में मतभेद है।

मग

पाठ हैं – मगा (गिरनार), मका (कालसी), मक (शाहबाजगढ़ी तथा मानसेहरा)। आधुनिक विद्वानों ने इसे मिश्र के राजा टालमी फिलाडेल्फस का सौतेला भाई मागस मान लिया है जो साइरीनि का राजा था। इसने खी० पू० ३०० से २५० खी० पू० तक राज्य किया। यहाँ मग शब्द बहुवचन में है अतः यह किसी राजा का विशेष नाम नहीं हो सकता। साइरीनि न तो प्राचीन काल में और न अद्यतन काल में ही कोई प्रमुख राज्य है अतः इस छोटे स्थान के लिये राजा का नामोल्लेख करना अशोक को शोभा नहीं देता। मग का नाम इतिहास में प्रसिद्ध है जहाँ से शाकद्वीपीय ब्राह्मण भारतवर्ष में आए। शाकद्वीपीय ब्राह्मणों को मग भी कहते हैं। मक स्यात् मकदूनिया, मैसेडोनिया का रूप है। मकदूनिया प्राचीन ग्रीस या यूनान देश के लिये प्रयुक्त होता था। मग शब्द का प्रयोग केवल एक ही बार हुआ है किंतु

मक शब्द तीन बार मिलता है। अतः मक शब्द से मकदूनिया (मक या मगों की दुनिया) ही अधिक समता रखता है।

अलिकसुंदर

पाठ हैं – अलिक्यषुदले (कालसी), अलिकसुदरो (शाहबाजगढ़ी) तथा अलिकसुदरे (मानसेहरा)। इस अलिकसुंदर की तुलना आधुनिक विद्वानों ने अलेकजेंडर से की है। स्मिथ के अनुसार यह एपिरस का राजा था जिसने खी० पू० २७२ से २५८ खी० पू० तक राज्य किया किंतु हुल्श के अनुसार यह कोरिंथ का राजा था और २५२ से २४४ खी० पू० तक राज्य किया।

सिद्धराज

पाठ हैं – इधराज (गिरनार), हिदलाजा (कालसी), हिदरज (शाहबाज गढ़ी) तथा ×रज (मानसेहरा)। इसे कुछ विद्वान् इहराज, हिंदराज समझते हैं किंतु महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा के मत में यह सिद्धराज का अपभ्रंश है। इस सिद्धराज का उल्लेख कालिदास के रघुवंश में भी मिलता है। गिरनार में हिदा किंतु कालसी में हिदा और हिद दोनो पाठ हैं जो जायसवाल के मत से इह का रूप है। अतः जायसवाल के मतानुसार पाठ है हिदाराज हिद - अराज अर्थात् अराज-विषय। यह अशोक के साम्राज्य का अंश था जहाँ अनेक छोटे छोटे अराजविषय थे और उनका एक संघ था जैसा कि कुछ दिन पूर्व सेंट्रल इंडियन स्टेट्स एजेंसी थी?

बुहलर का पाठ है 'हिदराजा निशवजि' और सेनार्ट का पाठ है 'इहराजविषये।'

विषवज्र

पाठ हैं – विसयम्हि (गिरनार), विशवषि (कालसी), विषवज्रि (ज शाहब गढ़ी) तथा विषवज्रि (मानसेहरा)। बुहलर के मत में विष स्यात् आजकल के वैश्य राजपूतों के लिये और वज्रि वैशाली के प्राचीन 'वृजि' के लिये उपयुक्त है। जायसवाल के अनुसार राजविसयम्हि ही पाठ शुद्ध है। कालसी में बुहलर ने भूल से 'षि' के बदले 'जि' पढ़ लिया है। यह 'विषये' का अपभ्रंश है और गिरनार का पाठ ही शुद्ध है।

नाभक

नाभक स्यात् गांधार देश में थे। पंचम अभिलेख में गंधार और त्रयोदश में गंधार के बदले नाभक नाभपंक्ति है। बजौर स्वात की घाटियों में अब भी नाहक जाति रहती है और वहाँ नाह की घाटी है। नाहक नाभक का अपभ्रंश रूप है। पंक्ति का अर्थ श्रेणी है जिसमें कई कबीले शामिल होते थे। नाभक और नाभपंक्तियों के भी आठ गणराज्य थे। पंक्ति का अर्थ होगा नाभों की श्रेणी में। पंक्ति स्यात्

हेरोडोटस के पक्तिय या पकिक थे। ये दर्दिस्तान के दक्षिण भाग में रहते थे जहाँ सोने का व्यापार होता था। ऋग्वेद में नभाक या नाभाक शब्द मिलता है। नाभानेदिष्ट मानव को पिता मनु ने संपत्ति में भाग न दिया। अवेस्ता में नाभनेदिष्ट शब्द मिलता है। नाभ स्यात् वैदिक जाति थी। ये नाभ स्वातघाटी के पाठान हैं। उनका स्थान (थान = मार्ग, पाठ या वाट) अथवा पाठथान या वाटथान या पाठान केवल उपाधि थी। वाराहमिहिर नाभ या नाभकों को वाटधानों का ग्राम राष्ट्रगण के नाम से जानता है जो यौधेय और त्रिगर्तों की श्रेणी में थे। कुछ लोग आधुनिक नामा को नाभक कहते हैं।

भोज

महाभारत भीष्मपर्व के अनुसार ये कच्छ की खाड़ी के समीप रहते थे। अब भी इस प्रदेश का नाम कच्छभुज या कच्छभोज मिलता है। भोजक जाति अब भी कच्छ और काठियावाड़ में मिलती है। शाकद्वीपीय ब्राह्मणों को भी भोजक कहा जाता है। ये सूर्य के उपासक थे और हैं।

राष्ट्रिक

टालमी के अनुसार लटिके माही नदी के मुहाने और काठियावाड़ प्रायद्वीप के बीच था। यह सिंध के पूर्व कच्छ की खाड़ी तक विस्तीर्ण था। स्यात् यह सरस्वती नदी तक फैला था। यह सरस्वती नदी अर्बुद पर्वत से निकलकर कच्छ की खाड़ी में गिरती थी। लटिके संस्कृत साहित्य का लाट देश प्रतीत होता है। काठियावाड़ में लाठी नाम की एक छोटी रियासत भी थी। मारवाड़ी (माल्ववार) वैश्यों में राठी जाति राठिक या राष्ट्रिक की याद दिलाती है।

पिटनिक

यह माही और सरस्वती नदियों के मध्य था। अहमदाबाद से ४० मील अग्निकोण पर पेटलाद नाम का एक छोटा नगर है। यह पहले बरोदरा राज्य में था। इस स्थान का प्राचीन नाम पेटिल था अतः पेटिल = पेतिन में साम्य हो सकता है। स्यात् यह पितनिक का स्मरण दिला सकता है। कुछ लोग गोदावरी नदी के तट पर पैठनक को पितिनिक नाम से पुकारते हैं। श्री चंद्रबली पांडेय का मत है कि पैठनक उस प्रदेश में था जहाँ पश्तो भाषा बोली जाती है और जहाँ पठान रहते हैं।

इसके पाठ हैं — पितिनिक्येषु (कालसी), पितिनिकेषु (शाहबाजगढ़ी) तथा पितिनिषु (मानसेहरा)।

आंध्र

गोदावरी और कृष्णा नदी के बीच का भाग प्रायः आंध्रप्रदेश कहलाता है। किंतु जायसवाल के मत में ये आंध्र दक्षिणापथ के नहीं किंतु पश्चिमोत्तर के हैं। दक्षिणापथ का आंध्रप्रदेश अशोक के साम्राज्य में था यह अशोक के स्तूपों से, अभिलेखों के प्राप्तिस्थान से तथा चीनी यात्रियों के वर्णन से प्रतीत होता है।

अशोक का आंध्र, अफगान (अवगान) तुर्किस्तान में अंधखुई है।

पाठ हैं – ध (गिरनार), अध (कालसी), अंध्र (शाहबाजगढ़ी), अंध (मानसेहरा)।

पुलिंद

कुछ लोगों का मत है कि ये पुलिंद मध्यभारत के पर्वतों पर रहनेवाली पहाड़ी जातियाँ हैं। इसके पाठ हैं — पिरिंदेसु (गिरनार), पलदेषु (कालसी), पुलिंदेषु (शाहबाजगढ़ी) तथा पं – – (मानसेहरा)। जायसवाल के अनुसार पाठ है — प (ा) लद (कालसी), पलिद (शाहबाजगढ़ी) तथा पारिंद (गिरनार)। यह पालद पारद का अपभ्रंश है। यह पारद परिताः या अपरीता नाम से भी ख्यात है। अपरीता और अफरीदी या अपरिती एक ही हैं और वे उस स्थान या प्रदेश में रहते थे जहाँ अफरीदी रहते हैं।

आपरांत

पंचम शिलाभिलेख में अपरांत शब्द का विद्वानों ने अपर + अंत = पश्चिमी पड़ोसी अर्थ लगाया है। इसका अर्थ अ + पर + अंत = गृह या पड़ोसियों के मध्य हो सकता है। अन्यथा अवर + अंत = तुच्छ पड़ोसी भी हो सकता है। पाठ है – आपराता, या अपराता (गिरनार), अपलंता (कालसी), आपलंत (धौली), अपरंत (शाहबाजगढ़ी), अपरत (मानसेहरा)। जायसवाल के मतानुसार इसका शुद्ध रूप आपरांता (अपरांत के लोग) है। अपरांत की राजधानी सूपिरका (सोपरा) थी।

पुराणों में सीमांत देश

औदीच्य देश—

गांधारा यवनाश्चैव सिंधुसौवीरमद्रकाः।
शका द्रुह्याः पुलिंदाश्च पारदाहारमूर्तिका॥ मत्स्य० ११३।४१

वायुपुराण का पाठ है —

गांधारा यवनाश्चैव सिंधुसौवीरभद्रकाः।
शका ह्रदाः कुलिंदाश्च परिताहारपूरिकाः॥ ४५।११६

वायुपुराण, आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज का पाठ है —

> बाह्लीका वाटधानाश्च आभीरा कालतोयकाः ।
> अपरीताश्च[12] शूद्राश्च पह्लवाश्चर्म खण्डिकाः ॥ वायु० पृ० १३८

इसी प्रकार अन्यत्र ये पाठ मिलते हैं —

> कांबोज यवनांश्चैव शकानां पत्तनानि च ।
> अन्वीक्ष्य वरदांश्चैव हिमवन्तं विचिन्वथः ॥ रामा० ४।४३।४

> पौण्ड्रकाश्चौड्र (चान्ध्र) द्रविडाः कांबोजा यवनाः शकाः ।
> पारदा (:) पन्ह्वाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥
> मनु० १०।४४

> किरात हूणान् यवनानन्ध्रान् कङ्कान् खशान् शकान् ।
> भाग० ६।२०।३०

> मेरुमन्दरयोर्मध्ये शैलोदामभितो नदीम् ।
> ये ते कीचकवेणूनां छायां रम्यामुपासते ॥
> खषा एका सनाद्यर्हाः प्रदराः दीर्घवेणवः ।
> पारदाश्च पुलिन्दाश्च तङ्गणाः परतङ्गणाः ॥
> महा० सभा० ५२।२–३

हिमवर्ष की तीन नदियाँ बिंदुसर से निकलकर पश्चिम की ओर बहती हैं[13] —

> सीता चक्षुश्च सिन्धुश्च तिस्रस्ता वै प्रतीच्यगाः ॥

चक्षु नदी जिन प्रदेशों को सींचती है उनके नाम हैं —

> अथ वीरमरुश्चैव कालिकांश्चैव मूलिकान् ।
> तुषारान् बर्बराऽनङ्गान् य गृह्या (न्) पारदान् शकान् ॥
> मत्स्य० १२०।४५

> एतान् जनपदांश्चक्षुः सावयित्वोदधिङ्गता ॥ मत्स्य० १२०।४६

> अथ चीनमरूंश्चैवऽ नङ्गणान् सर्वमूलिकान् ।
> सांध्रांस्तुषारांस्तंपकान् पह्लवान् दरदान् शकान् ।
> एतान् जनपदान् चक्षुः सावयन्ती गतोदधिम् । वायु० १।४७।४४

१२. मत्स्यपुराण का पाठ है—पुरुन्ध्राश्चैव···

१३. मत्स्यपुराण १२०।४०; वायुपुराण १।४७।३९; रामायण १।४३।११; ब्रह्माण्डपुराण २।१८।४१-४२ ।

अथ चीनमरूंश्चैव तालांश्च मसमूलिकान् ।
मद्रांस्तुषारां ल्लम्याकान् वाह्लवान् पारटान् खशान् ॥

ब्रह्मा० २।१८।४६

जयमंगल ने वात्स्यायन के कामसूत्र पर भाष्य में लिखा है — **पश्चिम-समुद्रसमीपेऽपरान्तदेशः**। अपरांत देशों का वर्णन इस प्रकार है —

कुलियाश्च सिरालाश्च रूपसास्तापसैः सह ।
तथा तैत्तिरिकाश्चैव सर्वे (पा) कारस्करास्तथा ॥
नासिकाश्चैव ये चान्ये ये चैवान्तर नर्मदाः ।
भारुकच्छाः स माहेयाः सह सारस्वतैस्तथा ॥
काच्छीकाश्चैव सौराष्ट्रा आनर्त्ता अर्बुदैः सह ।
इत्येतेऽपरान्तास्तु । मत्स्य० ११३।४६–५१

सूपिरकाः कलिवना दुर्गलाः कुन्तलैः सह ।
पौलेयाश्च किराताश्च रूपकांस्तापकैः सह ॥
तथा करीतवश्चैव सर्वे चैव करंधराः ।
नासिकाश्चैव ये चान्ये ये चैवान्तर नर्मदाः ॥
सहकच्छाः समाहेयाः सह सारस्वतैरपि ।
कच्छीयाश्च सुराष्ट्राश्च आनर्त्ताश्चार्बुदैः सह ॥

ब्रह्मा० २।१६।६०-२

सूर्पकाराः कलिवना दुर्गाः कालीतकैः सह ॥
पुलेयाश्च सुरालाश्च रूपसास्तापसैः सह ।
तथा तुरसिताश्चैव सर्वेचैव परस्कराः ॥
नासिकाद्याश्च ये चान्ये ये चैवान्तर नर्मदाः ॥
भारुकच्छाः समाहेयाः सहसा शाश्वतैरपि ।
कच्छीयाश्च सुराष्ट्राश्च अनर्त्ताश्चार्बुदैः सह
इत्येते सम्परीताश्च (=अपरान्ताश्च) ॥ वायु० ४५।१२८-३१

वाराहमिहिर कहते हैं—

आनर्त्तार्बुदपुष्कर सौराष्ट्राभीर शूद्र रैवतकाः ।
नष्टा यस्मिन्देशे सरस्वती पश्चिमोदेशः ॥ ३१

इन सभी पाठों का ध्यान रखते हुए हम नीचे लिखे स्थानों की समता इस प्रकार कर सकते हैं —

मद्रकाः = भद्रकाः ।

शका ह्रदाः (ह्रदाः) = झील के किनारे के निवासी = सिस्तान - ड्रंगियाना ।

पुलिंद = कुलिंद = पोविंड (अफगानों की एक जाति) ।

द्वारपूरिका = द्वारमूर्तिका = द्वारहूरिक = आरकोसिया ।

बरदा = परिता = पारदा = पलिद = बारदजाई दुर्रानी कबीला महमंद क्षेत्र ।

मेरु = मर्व = हिंदुकुश पर्वतश्रेणी ।

मंदर = पश्चिमी तिब्बत ।

शैलोदा = कुनार नदी ।

अपरीता = अपरांता = अफरीदी ।

तंगन = तंगनपुर (बदरीनाथ के समीप) ।

बाह्लीका = बल्ख ।

वाटधान = पाटधान = पाठान ।

पुर्+अंध्रा = अंधखुई = अंध्री, गिलजाई कबीला अफगानिस्तान में ।

चक्षु = वंक्षु = आक्सस नदी = वखान ।

चीनमरु = वीरमरु = मर्व ।

कालिक = ताल = केटकी ।

सर्वमूलिक = मसमूलिक ।

तुषार = तुखार = आंध्र = तोखरिस्तान तथा बदख्शाँ ।

तंपाक = लंपाक ।

वर्वर = अंग

वह्लव = पह्लव = यग्ह ।

पारद = पारट = बदख्शाँ ।

दर्द = दर्दिस्तान ।

शक = शीधनान् वाखन ।

खश = षस = पामीर ।

अशोक का काल कुछ आधुनिक विद्वान् खी० पू० २७४ से २३२ खी० पू० तक मानते हैं किंतु यह ऐतिहासिक तथ्य के प्रतिकूल है। अशोक की तिथि उसके समकालिक पाश्चात्य नरेशों की तिथि के ही आधार पर ली गई है न कि स्वतंत्र या भारतीय आधारों पर। लेखक ने भारतीय आधार पर निर्णय करने का यत्न किया है कि अशोक मौर्य का काल १४७४ से १४३२ खी० पू० तक है। मेरे अध्ययन के फलस्वरूप कहा जा सकता है कि प्रियदर्शी राजा के अभिलेखों में

किसी भी देशी या विदेशी राजा का वैयक्तिक नाम नहीं है। यह संभव नहीं प्रतीत होता कि अशोक अपने समकालिक राजाओं की नामगणना में दो मापदंड से काम लेता। क्या अशोक ने अपने काल के भारतीय राजाओं को केवल देश के नाम से संबोधित किया और विदेशी तुच्छ राजाओं को उनके वैयक्तिक नाम से लिखा। इस विषय पर गहन विचार की आवश्यकता है।

*

ध्रुवपद का विकास

जयदेवसिंह

भारतीय संगीत में ध्रुवपद का विशिष्ट स्थान है। लगभग १४वीं शती ईसवी से इसका संगीत में आदरणीय स्थान रहा है।

ध्रुवपद के पहले इस देश में प्रबंधगान का उत्कृष्ट विकास हो चुका था। मतंग ने अपने 'बृहद्देशी' में प्रबंध पर पूरा एक अध्याय ही लिखा है। मतंग का काल आठवीं शती ईसवी माना जाता है। मतंग ने प्रबंध पर पूरा एक अध्याय लिखना आवश्यक समझा। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उस समय तक प्रबंध-गान ने अपने लिये पर्याप्त संमानित स्थान बना लिया होगा। यह स्थान पाने में प्रबंधगान को कम से कम डेढ़ या दो सौ वर्ष लगे होंगे। अतः यह विना किसी विप्रतिपत्ति के कहा जा सकता है कि प्रबंधगान देश में कम से कम छठी शती से रहा होगा। इसका कब प्रादुर्भाव हुआ यह पता लगाना कठिन है, किंतु साधारण रूप से यह कहा जा सकता है कि यह लगभग छठी शती से संगीतज्ञों द्वारा समादृत था। यही अपने देश का उच्च कोटि का शास्त्रीय संगीत था। जयदेव ने अष्टपदी की रचना प्रबंधशैली में ही की है। इसके गान संस्कृत और देशी भाषा दोनो में मिलते थे।

प्रबंध की दो विशेषताएँ थीं, धातु और अंग। 'प्रबंधावयवो धातुः', प्रबंध के अवयव – टुकड़ों, चरणों को 'धातु' कहते थे। स्वर, विरुद, पद, तेनक, पाट और ताल इन छहो को प्रबंध का अंग कहते थे। प्रबंध की धातुएँ चार थीं – उद्ग्राह, मेलापक, ध्रुव और आभोग। कभी कभी ध्रुव और आभोग के बीच में एक और धातु होती थी जिसे 'अंतरा' कहते थे। यह धातु प्रायः सालगसूड प्रकार के प्रबंध में ही मिलती थी। 'उद्गृह्यते प्रारभ्यते येन गीतं स उद्ग्राहः' — जिससे गीत का अनुग्रहण या प्रारंभ होता था उसे 'उद्ग्राह' कहते थे। यह प्रबंधगीत का प्रथम अवयव था। दूसरे अवयव को मेलापक कहते थे। यह उद्ग्राह और ध्रुव का मेलन कराता था। इसलिये इसे 'मेलापक' कहते थे। 'उद्ग्राहध्रुवयोर्मेलनकारकत्वान्मेलापक इति'। तीसरी धातु या अवयव का नाम 'ध्रुव' था। 'ध्रुव' का अर्थ होता है 'नित्य, निश्चित'। सभी प्रबंधों में चारो धातुएँ नहीं होती थीं। किसी किसी प्रबंध में

मेलापक और आभोग का परित्याग हो जाता था। इसे द्विधातुक प्रबंध कहते थे। इसमें उद्ग्राह और ध्रुव, ये दो ही धातुएँ होती थीं। किसी प्रबंध में मेलापक का परित्याग हो जाता था। इसमें उद्ग्राह, ध्रुव और आभोग — केवल ये तीन ही धातुएँ होती थीं। सालगसूड प्रबंध में तो ध्रुव और आभोग के बीच में एक और धातु आ जाती थी जिसे 'अंतरा' कहते थे। इसमें भी 'ध्रुव' अवयव रहता ही था। 'ध्रुव' का कभी परित्याग नहीं होता था। यह भी एक कारण है जिससे उसे 'ध्रुव' कहते थे। दूसरा कारण यह है कि प्रत्येक धातु के गान के अनंतर 'ध्रुव' धातु को पुनः दुहराते थे। जिसे हम 'टेक' कहते हैं, जो बार बार गान में दुहराया जाता है उसे 'ध्रुव' कहते थे।

अब देखना यह है कि 'ध्रुवपद' शब्द का क्या अर्थ है। क्या प्रबंधों में जो 'ध्रुव' शब्द मिलता है उसी के कारण इसका नाम 'ध्रुवपद' पड़ा अथवा अन्य कोई कारण है। 'ध्रुव' शब्द का तो निश्चित अर्थ दोनो में समान रूप से है, किंतु प्रबंध में 'ध्रुव' शब्द एक अवयव के अर्थ में व्यवहृत हुआ है और दूसरी विशेषता यह है कि उस अवयव का परित्याग नहीं होता था, उसे टेक की भाँति बार बार दुहराते थे। 'ध्रुवपद' में 'ध्रुव' शब्द न तो निश्चित अथवा निश्चल अवयव के अर्थ में है, न 'टेक' के अर्थ में। अतः 'ध्रुवपद' शब्द का मूल कहीं अन्यत्र ढूँढ़ना होगा।

पहले हम 'पद' शब्द को समझ लें। साधारणतः विभक्तियुक्त शब्द को 'पद' कहते हैं — 'विभक्त्यन्तं पदं ज्ञेयम्।'[1] व्यापक अर्थ में प्रत्येक शब्द को 'पद' कहते हैं — यत्स्यादक्षरसंबद्धं तत्सर्वं पदसंज्ञितम्।[2] तो क्या 'ध्रुवपद' में जो 'पद' है वह साधारण 'शब्द' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है? संगीत में 'पद' का एक विशिष्ट अर्थ है —

गान्धर्वे यत्स्मृतं पूर्वस्वरतालपदात्मकम्।
पदं तस्य भवेद्वस्तु स्वरतालानुभावितम्॥[3]

गांधर्व में प्रयोज्य स्वरताल से अनुभावित वस्तु को 'पद' कहते हैं। संगीत में पद इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

अब 'ध्रुव' शब्द को देखना चाहिए। ऊपर हम देख चुके हैं कि 'ध्रुव' शब्द का एक अर्थ है 'टेक' अर्थात् किसी प्रबंध का वह अवयव जो गाने में बार बार

१. नाट्यशास्त्र (गा० सं०) अ० २४, पृ० २१४।
२. वही (चं० सं०), पृ० ५३५।
३. वही, पृ० ५३५।

दुँहराया जाता हो। 'ध्रुवपद' का 'ध्रुव' इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं है। अभिनवगुप्त ने भरत के नाट्यशास्त्र पर अपने भाष्य अभिनवभारती में 'ध्रुवा' शब्द पर यह मत प्रदर्शित किया है — 'ध्रुवा गीत्याधारो नियतः पदसमूहः' अर्थात् गीति के आधारभूत नियत पदसमूह को 'ध्रुवा' कहते हैं। 'ध्रुवपद' में 'ध्रुव' इसी नियत पदसमूह के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अंतर यही है कि स्त्रीलिंग 'गीति' का विशेषण होने से एक का रूप 'ध्रुवा' है और पुंलिंग 'पद' के विशेषण होने से दूसरे का रूप 'ध्रुव' है।

ध्रुवागीति का नाटक में प्रयोग होता था इसमें संदेह नहीं, किंतु 'ध्रुवा' शब्द केवल नाटक की गीति के लिये परिसीमित नहीं था। सभी नियत पदसमूह को 'ध्रुवागीति' कहते थे। भरत ने स्वयं इस बात को स्पष्ट कर दिया है—

या ऋचः पाणिका गाथास्सप्तरूपांगमेव च।
सप्तरूपप्रमाणं च तद् ध्रुवेत्यभिसंज्ञितम्॥[४]

ऋचाएँ, पाणिकाएँ, गाथाएँ आदि सभी की संज्ञा 'ध्रुवा' थी। इन्हें ध्रुवा क्यों कहते थे? भरत के ही शब्दों में इसका कारण निम्नलिखित है —

वाक्यवर्णा ह्यलंकारा यतयः पाणयो लयाः।
ध्रुवमन्योन्यसंबद्धा यस्मात्तस्माद् ध्रुवा स्मृताः॥[५]

वाक्य, वर्ण, यति, पाणि, लय के अविचल रूप से संबंध रहने के कारण इन सबको 'ध्रुव' कहते थे। स्पष्ट है कि नियत पदसमूह के अर्थ में 'ध्रुव' एक बहुत प्राचीन शब्द है और 'ध्रुवपद' भी इसी अर्थ में व्यवहृत होता है।

अब ध्रुवपद की गानशैली पर विचार करना है। भरतोक्त ध्रुवगीति का नाटक में प्रयोग होता था। उसका गान किस प्रकार होता था, उसमें कितने अवयव होते थे इत्यादि का कोई उदाहरण हमारे संमुख नहीं है। अतः यह कहना कठिन है कि भरत के समय में जो ध्रुवागीति थी उसका आधुनिक ध्रुवपद से कुछ साम्य है या नहीं। परंतु प्रबंधगान का विस्तृत वर्णन 'संगीतरत्नाकर' में मिलता है। कुछ प्राचीन मंदिरों में प्रबंधगान सुनने को भी मिल जाते हैं।

आधुनिक ध्रुवपद की प्रबंध से तुलना करने से ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार के ध्रुवपद का विकास प्रबंध से हुआ है।

४. वही (नि० सं०), पृ० ३३२।
५. वही, पृ० ५३३।

ऊपर कह चुके हैं कि प्रबंध में जिससे गीत का प्रारंभ होता था उसे 'उद्ग्राह' कहते थे। यह राग का साधारण प्रारंभिक अथवा परिचायक था। 'ध्रुव' टेक को कहते थे। 'आभोग' परिपूर्णता को कहते हैं। जिस अवयव में राग की परिसमाप्ति या पूर्णता होती थी उसे आभोग कहते थे। पार्श्वदेव ने कहा ही है —

स्वयं यत्र प्रबन्धे स्यादनेनैव च पूरणम्।
आभोगः कथितस्तेन गीतविद्याविशारदैः॥

प्रबंध में जिससे 'पूरण' हो उसे संगीतज्ञ 'आभोग' कहते हैं। प्रबंध की यही तीन मुख्य धातुएँ हैं। मेलापक तो 'उद्ग्राह' और 'ध्रुव' को मिलाने या जोड़ने मात्र के लिये है।

'अंतरा' प्रबंध की आवश्यक धातु नहीं थी। वह केवल सालगसूड प्रबंध में ध्रुव और आभोग के बीच में आ जाती थी। १३वीं शती तक 'प्रबंध' का गान पर्याप्त रूप में प्रचलित था। अब भी कहीं कहीं मंदिरों में जो प्रबंध सुनने को मिल जाते हैं उनमें उपर्युक्त सब धातुएँ मिलती हैं। केवल उद्ग्राह को 'प्रथम' कहते हैं और मेलापक को 'जोड़नी'। केवल शब्द का भेद है, अर्थ दोनो का एक ही है। कुछ प्रबंध एक ही राग और ताल में होते थे, और कुछ भिन्न भिन्न अवयव भिन्न भिन्न राग और ताल में होते थे।

प्रबंध के समान ध्रुवपद में भी प्रायः चार अवयव हैं। किंतु ध्रुवपद ने उद्ग्राह और ध्रुव के अभिप्राय को एक में समाहृत कर लिया। प्रबंध में उद्ग्राह प्रारंभक अवयव होता था और ध्रुव टेक के लिये होता था। इन दोनो के भाव को ध्रुवपद ने 'स्थायी' में समेट लिया। यह ध्रुवपद का प्रथम अवयव होता है जो उद्ग्राह का कार्य करता है और इस स्थायी का मुखड़ा या पूर्वावयव बार बार दुहराया जाता है जो प्रबंध के ध्रुव का कार्य करता है। उद्ग्राह के समान स्थायी भी राग का एक स्थूल परिचयात्मक रेखाचित्र उपस्थित करता है। गीत के भाव की दृष्टि से वह उसकी प्रस्तावना मात्र होता है। वह साधारणतः मध्यसप्तक के किसी स्वर से उठता है और तारषड्ज या ऋषभ तक जाता है इसे राग का प्रथम चरण कह सकते हैं।

प्रबंध के ध्रुव का भाव ध्रुवपद के स्थायी में ही अंतर्भूत हो जाता है। अतः मेलापक का, जो केवल उद्ग्राह और ध्रुव के मिलाने के लिये था, ध्रुवपद परित्याग कर देता है। उसके स्थान पर ध्रुवपद 'अंतरा' रखता है जो स्थायी और संचारी अथवा स्थायी और आभोग के बीच में आता है। गीत के साहित्य की दृष्टि से अंतरा उस भाव को पल्लवित करता है जिसका स्थायी में बीजारोपण होता है। राग की गति की दृष्टि से अंतरा मध्यसप्तक के गांधार, मध्यम या पंचम से प्रारंभ होता है

और प्रायः तारसप्तक के गांधार तक जाता है। यह ऊँचे स्वर से आरंभ भी होता है और ऊँचे स्वर में ही समाप्त होता है।

ध्रुवपद का जो तीसरा अवयव है, उसे संचारी कहते हैं। यह ध्रुवपद की अपनी विशेषता है। इसका समकक्षी कोई अवयव प्रबंध में नहीं है। गीत के साहित्य की दृष्टि से यह उसके भाव का अधिक विस्तार करता है और राग की दृष्टि से यह उसका संचरण या चलन बतलाता है। यह प्रायः तारस्थान में षड्ज या ऋषभ से ऊपर नहीं जाता और मंद्रस्थान में धैवत से नीचे कम आता है, किंतु इसकी गति कुछ द्रुत होती है।

ध्रुवपद का चतुर्थ अवयव, प्रबंध के चतुर्थ अवयव आभोग के समान है। गीत के भाव और राग की गति दोनों की परिपूर्णता इसमें होती है। राग की दृष्टि से इसमें तारमर्यादा और मंद्रमर्यादा दोनों अभिव्यक्त होती हैं, अर्थात् यह बतलाता है कि तारस्थान में किस स्वर तक और मंद्रस्थान में किस स्वर तक कोई राग खिलता है। इसमें राग के आरोही और अवरोही दोनों वर्णों का समाहार हो जाता है।

ध्रुवपद प्रबंध का विकास है। उसने प्रबंध की विशेषताओं का ग्रहण करके उसमें अपनी कुछ नवीनता ला दी है। पंडित भातखंडे जी ने अनूपसंगीतरत्नाकर के रचयिता श्री भावभट्ट के निम्नलिखित श्लोकों का अपनी एक पुस्तक में उद्धरण दिया है—

> गीर्वाणमध्यदेशीयभाषासाहित्यराजितम्।
> द्विचतुर्वाक्यसम्पन्नं नरनारीकथाश्रयम्॥
> शृंगाररसभावाढ्यं रागालापपदात्मकम्।
> पादांतानुप्रासयुक्तं पादांतयुगकं च वा॥
> प्रतिपादं यत्र बद्धमेवं पादचतुष्टयम्।
> उद्ग्राह ध्रुवकाभोगान्तरं ध्रुवपदं स्मृतम्॥

श्री भावभट्ट बीकानेर के महाराज अनूपसिंह के दरबार में संगीत के विद्वान् थे। महाराज अनूपसिंह का काल १६७४ से १७०९ ईसवी है। ध्रुवपद का पर्याप्त विकास १५वीं शती तक हो चुका था। किंतु भावभट्ट का १७वीं शती में भी ध्रुवपद का प्रबंध के उद्ग्राह इत्यादि शब्दों में वर्णन करना यह सिद्ध करता है कि ध्रुवपद का विकास प्रबंध से ही हुआ है।

यद्यपि ध्रुवपद के प्रायः स्थायी, अंतरा, संचारी और आभोग ये चार अवयव होते थे, तथापि जैसे प्रबंध कभी कभी त्रिधातुक और द्विधातुक होते थे वैसे ही ध्रुवपद भी कभी कभी द्विधातुक मिलता है जिसमें केवल स्थायी और अंतरा होते हैं और कभी कभी त्रिधातुक होता है जिसमें स्थायी, अंतरा और आभोग होते हैं। बीजापुर

के सुलतान इब्राहीम आदिलशाह (१५८० – १६२७ ई०) ने लगभग पचास ऐसे ध्रुवपदों की रचना की थी जिनमें केवल स्थायी, अंतरा और आभोग, ये तीन ही धातुएँ हैं। कुछ ध्रुवपद केवल स्थायी और अंतरा, दो ही धातुओं के मिलते हैं। किंतु प्रायः ध्रुवपद चारो धातुओं के होते हैं।

ध्रुवपद गान के पूर्व जो आलाप किया जाता था उसमें भी चारो धातुओं में राग की गति का प्रदर्शन होता था। आजकल के लोगों ने इन चारो में आलापन करना छोड़ दिया है।

उपसंहार में यह कहा जा सकता है कि ध्रुवपद का प्रबंध से ही विकास हुआ है जिसमें स्थायी में राग का बीजारोपण, होता है अंतरा में उसका विस्तार होता है, संचारी में वह उछलता हुआ चलता है और आभोग में उसकी परिपूर्णता होती है।

*

राष्ट्र की उत्पत्ति और भारतीय राष्ट्रीयता

नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

▪

संसार के पराधीन तथा अर्धविकसित राज्यों द्वारा स्वतंत्र राष्ट्र बनने का आंदोलन दिनोदिन जोर पकड़ता जा रहा है। साम्राज्यवादी अथवा प्रसारवादी राष्ट्र सिद्धांतरूप में उसके इस नैसर्गिक अधिकार को स्वीकार करने लगे हैं अवश्य, किंतु स्वार्थभाव से अपने आधिपत्य को बनाए रखने अथवा प्रभावक्षेत्र को बढ़ाने के लिये उन्हें बाध्य होना पड़ रहा है। इन पर दुखःकातर राजनीतिज्ञों के आचारविचार का चाहे जो भी परिणाम हो, एक बात स्पष्ट है कि पीड़ित, पददलित एवं पिछड़े राज्यों के मुक्ति-अभियान को इस खींचतान द्वारा बढ़ावा ही मिला है। इनकी पारस्परिक स्पर्धा के फलस्वरूप लोकचेतना अधिकाधिक प्रबुद्ध होती जा रही है। कुल मिलाकर ऐसा लगने लगा है कि वह दिन अधिक दूर नहीं जब कि सभी ऐसे राज्य अपने को स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में अनुभव कर सकेंगे।

राष्ट्र के लिये एक निश्चित भूखंड का होना अनिवार्य है जिसके आधार पर वह अपने राजनीतिक अस्तित्व का बोध करता है। उससे अपने आंतरिक लगाव का अनुभव करता है। इसी को केंद्र मानकर भाषा, धर्म, संस्कृति तथा आर्थिक, सामाजिक और शासकीय व्यवस्था का राष्ट्रीय स्तर पर निर्माण होता है। इन सबके मूल में एकीकरण की भावना प्रधान होती है। इस प्रकार प्राकृतिक भूगोल, एक इतिहास, एक भाषा, समान साहित्य और संस्कृति एवं समान मैत्री अथवा शत्रुता इन पाँच सिद्धांतों पर एकमत रहने की इच्छा से संगठित जनसमूह को राष्ट्र कह सकते हैं। परंतु यह सब एक ही दिन में संभव नहीं हो जाता है। सर्वप्रथम उस भूभाग से भावनामूलक संबंध स्थापित होता है, उसका मानवीकरण हृदयंगम किया जाता है। इस प्रकार की स्वीकृति वैदिक मंत्रों में सुरक्षित है। कालांतर में सीमाविस्तार के साथ हमें नए वातावरण का परिचय नए मंत्रों द्वारा पौराणिक युग में मिलने लगता है जिसके मूल में जन्मभूमि के प्रति अटूट अनुराग लक्षित होता है। इस प्रकार भौतिक आधार के साथ साथ राष्ट्र की मनोवैज्ञानिक भावभूमि भी होती है। कदाचित् इसी लिये 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' कहा गया है। इससे प्रकट होता है कि राष्ट्र की कल्पना भावगत तथा वस्तुगत दोनो ही है। यह सामाजिक प्रक्रिया का ऐतिहासिक विकासक्रम है। इस स्थिति से पूर्व यह विभिन्न वर्गों तथा समुदायों में बिखरा दिखाई

देता है, जहाँ जनजातियाँ अपने अपने गिरोहों में निवास किया करती हैं। गाँव प्रायः आत्मनिर्भर हुआ करते हैं। बुद्धोत्तर काल में राष्ट्र के अंतर्गत राजा और प्रजा दोनो का ही समावेश रहा करता है। कभी कभी राष्ट्र में कई देश अथवा जनपद या विषय हुआ करते हैं।

परंतु राष्ट्र की जिस परिभाषा से आज हम परिचित हैं वह सदा से ऐसी ही नहीं रही है। कुछ लोगों की यह धारणा कि राष्ट्र की कल्पना मध्यकालीन अथवा आधुनिक है, तथ्य से दूर की जान पड़ती है। कम से कम भारतवर्ष में ऋग्वेद की कई ऋचाओं में गृह अथवा कुल के बाद ग्राम, फिर विश (कबीला), उसके बाद जन और राष्ट्र क्रमशः आते हैं। फिर भी राष्ट्र के उद्भव का उद्देश्य हमें अथर्ववेद से प्रकट होता है—

> भद्रं इच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः तपोदीक्षा उपसेदुरग्रे।
> ततो राष्ट्रं बलं ओजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥[1]

अर्थात् संसार का कल्याण करने की इच्छा से आत्मज्ञानी ऋषियों ने आरंभ में दीक्षा प्राप्त कर जो तप किया उससे राष्ट्र की उत्पत्ति हुई और राष्ट्र के सामर्थ्य तथा प्रभाव का निर्माण हुआ। पृथ्वीसूक्त से हमें सद्भाव एवं सहयोग के द्वारा ऐसे उद्देश्य की पूर्ति की कामना का भी परिचय मिलता है।

'राष्ट्र' शब्द का प्रचुर प्रयोग संहिता और सूत्रग्रंथों में भी मिलता है। परंतु मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने राष्ट्र के जिस स्वरूप की परिकल्पना की थी उसका सार्थक प्रयोग हमें आगे चलकर नहीं मिलता। महाभारत के आदि पर्व में हमें किसी पांडवराष्ट्र का उल्लेख उपलब्ध होता है जिससे यह अनुमान करने का अवसर मिल जाता है कि उस समय संसार का कल्याण करने की इच्छा किसी राजवंशविशेष के राज्याधिकार तक सीमित रहने लगी थी। इस प्रकार राष्ट्र की भावना नाना कारणों से राज्य की परिधि में सिमट आई थी।

इसका एक स्पष्ट कारण यह भी था कि भावनात्मक एकता वास्तविक जीवन में चरितार्थ नहीं हो रही थी। वर्णभेद तथा वर्गभेद परस्पर दीवाल बनकर खड़े थे। धरती माता अधिकांश जनसमुदाय के लिये सौतेली माँ की भाँति थी। उसकी छाती पर एकाधिपत्य था, शेष संतान बिलखा करती थी। इस प्रकार राष्ट्ररूप में समुदायों की एकता स्थापित होने में लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया घटित हुई। नवांकुरित राष्ट्र को विकसित होने में कठिन संघर्ष करना पड़ा। आर्थिक क्षेत्र से लेकर धार्मिक तथा

१. अथर्व १९।४१।१

सामाजिक क्षेत्र तक में पुरानी व्यवस्था को नए ढाँचे में ढालना पड़ा। इस अवस्था तक पहुँचने में न जाने कितनी विघ्नबाधाओं का सामना करना पड़ा, कितने संघर्षों से टकराना पड़ा, तब कहीं जाकर स्वतंत्र राष्ट्र अस्तित्व में आ सका। नए राष्ट्र का अभ्युदय सामंती व्यवस्था के अंत के साथ आरंभ होता है।

उद्योगधंधों के विकास के साथ साथ व्यापारवृद्धि के कारण राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था गठित हुई। कृषिकर्मी से लेकर व्यापारी वर्ग तक परस्पर एक दूसरे के निकट संपर्क में आए। भावना के क्षेत्र में जो कार्य धर्म के माध्यम से होता था वह कर्मक्षेत्र में दैनिक जीवन का अंग बन गया। स्वार्थ की एकता ने सहचिंतन की प्रेरणा प्रदान की। राष्ट्ररक्षा का प्रश्न राजा अथवा राज्याधिकारीवर्ग का न होकर जनता के जीवन-मरण का प्रश्न बन गया। प्रजातंत्र की भावना बलवती होने से राष्ट्रीय चेतना प्रबल हो उठी। परंतु सभी राष्ट्रों का विकास ठीक एक ही क्रम में नहीं हुआ और न उनका स्वरूप ठीक एक ही साँचे में ढल सका। इसलिये सबकी अपनी अपनी पृथक् कहानी बन गई। मनु ने कहा है कि जैसे प्राणियों के प्राण शरीर के दुर्बल होने से क्षीण हो जाते हैं, उसी प्रकार राष्ट्र के दुर्बल होने से राजाओं के प्राण क्षीण हो जाते हैं।[1] यहाँ पर राष्ट्र की महत्ता सर्वोपरि मानी गई है।

राष्ट्रों के आधुनिक स्वरूप का विकास विश्व भर में सोलहवीं शताब्दी के बाद का है। उस समय से लेकर अब तक नए नए राष्ट्रों का निर्माण होता ही जा रहा है। छोटे मोटे, पीड़ित तथा पददलित सभी प्रकार के देश स्वतंत्र राष्ट्र बनने को सतत यत्नशील दिखाई देते हैं। इसके लिये उन्हें आंतरिक तथा बाह्य दोनों ही विरोधी तत्वों से लोहा लेना पड़ रहा है। जो देश अपने को असमर्थ पाते हैं वे सहारे के लिये अपने हाथ फैलाते हैं, किंतु परमुखापेक्षिता से आत्मनिर्भरता को आघात पहुँचता है। एशिया और अफ्रीका के पिछड़े अथवा पराधीन देशों का प्रवाह राष्ट्रनिर्माण की दिशा में ही है।

आज की दुनिया विभिन्न राष्ट्रों के तानेबाने से निर्मित है। प्रथम महायुद्ध के बाद राष्ट्रसंघ की स्थापना राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा के लिये ही की गई थी। गत विश्वयुद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ का अस्तित्व में आना भी राष्ट्रों के हित को ही लेकर है। वर्तमान युग का प्रधान स्वर राष्ट्र के अस्तित्व की स्वीकृति का है। मानवसमुदाय की सर्जनात्मक शक्ति की समवेत अभिव्यक्ति राष्ट्र के रूप में फलीभूत हुई है। समाजवादी विचारधारा के लोग भी ऐसे किसी भावी राष्ट्रसंघ की कल्पना करते हैं जो समाजवादी राष्ट्रों की सुव्यवस्थित इकाई होगा।

१. मनु०, ७।१११।

आधुनिक भारत की राष्ट्रीयता का क्रमिक विकास हम सात मोड़ों में पाते हैं। एक मोड़ से दूसरे मोड़ तक पहुँचने में उसे सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक शृंखलाओं से जूझना पड़ा है। अपनी दृष्टि को उन्मुक्त और आचार विचार को लचीला करना पड़ा है, तदनुसार हमारी धारणा और उसकी अभिव्यक्ति में विकास हुआ है।

उन्नीसवीं शताब्दी भारत के लिये नवचेतना का युग रहा है। इसे राष्ट्रीयता का पहला मोड़ समझना चाहिए, जब नई शिक्षा दीक्षा ने हमारी सुप्त चेतना को झकझोर कर नई चुनौती दी। इस युग ने हमें आत्मविश्लेषण करने का अवसर दिया। इसकी एक झलक हम उस समय के धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों की चहल पहल में देख सकते हैं, जहाँ सुधारवादी स्वर मुखरित हैं। यह युग विचारों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति की लालसा का रहा है। यहाँ पर कुलाभिमान का स्थान राष्ट्रीय गौरव ग्रहण कर लेता है।

सन् १८८५ में कांग्रेस की स्थापना से दूसरे मोड़ का आरंभ होता है जो सन् १९०५ ई० तक विस्तृत है। यहाँ पर शिक्षा दीक्षा के प्रभाव के अतिरिक्त एक अन्य प्रेरणा व्यापारिक क्षेत्र की दिखाई देती है जब अंतरराष्ट्रीय व्यापार का स्रोत खुल जाता है और उसमें हिस्सा बँटाने के लिये राजनीतिक सुविधाओं तक की माँग विनयपूर्वक की जाने लगती है। यह उदार मतावलंबी बुद्धिजीवियों का युग रहा है। नए उद्योगधंधों की स्थापना के साथ साथ १९०५ ई० में स्वदेशी आंदोलन का सूत्रपात हुआ। नवशिक्षित समुदाय की नौकरियों का प्रश्न उठाया गया। यहीं से वैधानिक संघर्ष का श्रीगणेश है। आगे चलकर इसी में से विद्रोह की ज्वाला भड़क उठी। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि एक ओर जहाँ उदार मतावलंबी पश्चिमी चकाचौंध के चक्कर में पड़ गए थे, वहाँ दूसरी ओर विद्रोही समुदाय अपने अतीत गौरव के प्रति आस्थावान् बना रहा।

तीसरा मोड़ सन् १९०५ से १९१८ ई० तक का है। यह युग विद्रोहियों के लिये उर्वर रहा और उनके प्रभाव में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। होमरूल की माँग इस युग की प्रमुख विशेषता रही। परंतु विद्रोहियों के हिंदूसंस्कार का आग्रह मुसलमानों को ग्राह्य न हो सका और १९०६ ई० में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। इसी कारण लीग की नींव राजनीतिक से अधिक सांप्रदायिक बन गई।

सन् १९१८ से १९३० ई० तक का चौथा मोड़ जनजागृति की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, जिसका एक परिणाम सन् १९३० के सविनय अवज्ञा आंदोलन में लक्षित हुआ। युद्धोत्तरकालीन परिस्थितियाँ किसानों और मजदूरों को भी उभाड़ने में सहायक सिद्ध हुई। अंतरराष्ट्रीय घटनाओं ने भी इसे पर्याप्त बल तथा उत्तेजना प्रदान की।

इसी प्रवाह में एक बार हिंदूमुस्लिम एकता राष्ट्रहित में संभव होती दिखाई देने लगी। भारतीय पूँजीपतियों ने भी गत महायुद्ध के समय अपने स्वार्थसाधन की पूर्ति आंदोलन की सफलता में आँकी। इसलिये उनका सक्रिय समर्थन सुलभ होते देर न लगी। इस युग की एक अन्य विशेषता समाजवादी विचारधारा के प्रवेश में पाई जा सकती है, जब सन् १९२६ के लगभग मजदूरसंगठनों का आरंभ हुआ। इसी युग में स्वतंत्रता की भावना ने स्वराज्य की कल्पना को अपदस्थ कर अपने को स्थानापन्न कर लिया था। क्रांतिकारी आंदोलन सदा पार्श्ववर्ती बना रहा।

पाँचवाँ मोड़ सन् १९३४ से १९३९ ई० तक का है जब द्वितीय विश्वयुद्ध का आरंभ हुआ। इसी बीच १९३४ ई० में कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना हुई। ये लोग स्वतंत्रता के स्वरूप को भी समाजवादी विचारधारा के अनुरूप स्थिर कर लेना चाहते थे। अछूत आंदोलन भी इसी युग की विशेषता है। कम्युनिस्ट आंदोलन के लिये भी यह युग प्रभावकारी सिद्ध हुआ। सामंती राज्यों की प्रजा भी आंदोलित हो उठी और स्वतंत्रता की माँग उपस्थित करने लगी। अब संपूर्ण भारत में राष्ट्रीय चेतना व्याप्त थी और जनता उसे फलवती देखने को लालायित। यही नहीं, प्रवासी भारतीयों तक यह लहर दौड़ गई। भाषा के आधार पर प्रांतों के पुनःसंगठन के आंदोलन का आरंभकाल भी वही है।

इसके बाद १९४२ का विद्रोह अंतिम चुनौती के रूप में सामने आया। आजाद हिंद फौज की करामात ने जादू का असर किया। युद्ध की विभीषिका से संतप्त अंतर-राष्ट्रीय जगत् सारी परिस्थितियों पर पुनर्विचार करने को बाध्य हुआ और हमने देखा कि एक दिन भारत स्वतंत्र हो गया। इस प्रकार इसे हम छठा मोड़ कह सकते हैं, जब सारा वातावरण विद्रोह की चिनगारी से जाज्वल्यमान था। गोआ की मुक्ति को इसी शृंखला की एक कड़ी समझना चाहिए।

स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद सातवाँ मोड़ आता है जब हम नवीन परिस्थितियों के नए संदर्भ में अपनी राष्ट्रीय नीति का निर्धारण करते हैं संसार की गतिविधियों के आलोक में अपने को सँवारते हैं, जीवन के नए मूल्यों को स्वीकार करते हैं। राष्ट्र के रूप में हम अपनी स्वतंत्र सत्ता की अव्यावहारिकता को हृदयंगम कर चुके हैं, सभी राष्ट्रों की आत्मनिर्भरतानीति पर मुहर लगा चुके हैं, 'पंचशील' जैसे सिद्धांत को चरितार्थ करने का दृढ़ संकल्प घोषित कर चुके हैं। आज का राष्ट्र अपने अर्थ में संकुचित नहीं रह गया है, अपितु 'संसार का कल्याण करने की इच्छा' से अनुप्राणित जान पड़ने लगा है।

प्राचीन भारत में क्रीड़ा एवं मनोरंजन

नीलकंठ पुरुषोत्तम जोशी

प्राचीन भारत की सामाजिक अवस्था का अध्ययन करने में क्रीड़ा एवं मनोरंजन के विविध साधनों का एक प्रमुख स्थान है। क्रीड़ा के इन साधनों को मुख्यतः इन तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—१. घर के बाहर खेले जानेवाले खेल। २. घर के भीतर खेले जानेवाले खेल। ३. इतर प्रकार के खेल।

बाहरी खेल

शिकार या मृगया—कदाचित् मानव के उदय के साथ ही क्रीड़ा एवं जीवननिर्वाह के हेतु मृगया का प्रादुर्भाव हो गया। वेदों में इसके उल्लेख मिलते हैं।[1] पाणिनि ने इसे लुब्धयोग कहा है।[2] कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में मृगया के गुणों की चर्चा करते हुए इसे राजा के लिये परम उपयोगी बताया है।[3] मृगया के दो रूप मिलते हैं — एक तो जीविका के लिये दूसरा शुद्ध मनोरंजन के हेतु। प्रस्तुत प्रसंग में हमें दूसरे प्रकार की मृगया से ही प्रयोजन है। कलाकृतियों में दोनो प्रकार की मृगया का चित्रण है, पर उसमें भी शुद्ध मनोरंजन के लिये की जानेवाली मृगया का अंकन कम है। भरहूत की एक कलाकृति[4] में एक शूकर पर एक छोटे भाले से आक्रमण किया जा रहा है तथा उसके पीछे दो कुत्ते भी छोड़े गए हैं। मथुरा से प्राप्त एक मिट्टी के ठीकरे पर घोड़े पर बैठे हुए दो शिकारी तीन सूअरों का पीछा कर रहे हैं।[5] इनमें से एक शिकारी के पास लंबा भाला है। इसी दृश्य में गर्दन घुमाए हुए एक हिरन भी अंकित है जो पार्श्वभूमि में स्थित अरण्य का प्रतीक है।

धनुर्विद्या—उपयोगी कला के अतिरिक्त धनुर्विद्या मनोरंजन का भी प्रमुख साधन थी। इस विद्या में नैपुण्य का प्रदर्शन करने के लिये 'समाज' या उत्सवों का

१. अथर्ववेद, १०, २६।
२. अष्टाध्यायी, ५, ४, ११६।
३. अर्थशास्त्र, ८, ३, ५०।
४. बी० एम० बरुआ, भरहूत, भाग ३, आकृति २२-२३।
५. मथुरा संग्रहालय, मिट्टी का ठीकरा, संख्या २७११।

आयोजन हुआ करता था। भरहूत की कलाकृतियों में[6] 'असदिस जातक' की कथा में ऐसा ही एक दृश्य प्रदर्शित है। एक धनुर्धारी आम्रवृक्ष के नीचे खड़ा है और उसका 'करतब' देखने के लिये उक्त दृश्य में एक दर्शक भी दिखलाया गया है। महाभारत[7] में आचार्य द्रोण द्वारा आयोजित ऐसे ही एक समाज का विस्तृत चित्रण मिलता है जिसमें धनुर्विद्या की भी प्रतियोगिताएँ हुई थीं और उनमें अर्जुन को सर्वश्रेष्ठ उद्घोषित किया गया था।

मल्लक्रीड़ा या कुश्ती (मल्लयुद्ध-नियुद्ध)—मल्लक्रीड़ा यहाँ का अत्यंत प्राचीन मनोरंजन का साधन है। कला में उसके कई उदाहरण मिलते हैं। भरहूत[8] से प्राप्त एक कलाकृति में दो व्यक्ति मल्लक्रीड़ा में लीन दिखलाए गए हैं। एक दूसरे शुंगकालीन नमूने[9] में हम देखते हैं कि दो मल्ल अभी अभी अखाड़े या रंगस्थल में उतरे हैं और हाथ मिला रहे हैं (चित्र १)। यह हाथ मिलाने की प्रक्रिया मुष्टिबंध नाम से विख्यात थी। प्राचीन भारतीय साहित्य में, जहाँ तक मैं जान सका हूँ, ऐसा एक भी ग्रंथ नहीं है जिसका विषय केवल मल्लविद्या हो। इसी लिये यत्रतत्र बिखरे हुए उल्लेखों की सहायता से प्राचीन मल्लविद्या का चित्र खड़ा करना पड़ता है। रामायण[10] में मल्लों के कुछ दाँवपेच का वर्णन है। महाभारत[11] में अखाड़ा (रंगमंडल) दर्शकों के स्थान (प्रेक्षागार) आदि बनाने की चर्चा है।

नटों के खेल—भरहूत[12] के एक वेदिकास्तंभ पर पंद्रह पुरुष एक के ऊपर एक खड़े होकर एक शिखर का निर्माण करते दिखलाए गए हैं (चित्र २)। इन लोगों की पहचान अर्थशास्त्र[13] के 'प्लवक' शब्द से की जा सकती है। क्योंकि वहाँ भी उक्त शब्द का अभिप्राय ऐसे लोगों से है जो रस्सी आदि की सहायता से विविध प्रकार की कूद फाँद दिखलाते हैं।

६. भरहूत, आकृति १००, फासबेल, जातक सं० १८१।

७. महाभारत, आदि० १३२, ३३।

८. भरहूत, आकृति १४७।

९. भारतकलाभवन, वाराणसी, वस्तुसंख्या ४८२७।

१०. वाल्मीकि रामायण, युद्ध० ४०, २२–२६; महाभारत, सभा० २१, ११-२०।

११. महाभारत, आदि०, १३४, १४; १३५, ६; १३६, ६।

१२. सतीशचंद्र काला, भरहूत स्कल्पचर्स, जर्नल आव् दी यू० पी० हिस्टारिकल सोसायटी, संख्या १८, १९४५, पृ० ३७।

१३. अर्थशास्त्र, २, २७, ३८।

पशुओं से युद्ध—इस खेल का सर्वप्रथम दृश्य साँची[14] की ऐतिहासिक कला में दिखलाई पड़ता है (चित्र ३)। यहाँ पर एक घुँघराले बालवाला मनुष्य, जिसके सिर पर कुल्हा (नोकदार तिकोनी टोपी) है तथा जो चिनबाहों की कामदार मिरजई और ऊँचे बूट पहिने हुए है, एक छुरे और ढाल की सहायता से शेर से अपना बचाव कर रहा है। सर जान मार्शल तथा फ्यूहरर ने उक्त दृश्य का इस प्रकार वर्णन करते हुए आगे यह भी कहा है[15] कि यह पर्सीपोलिस की अत्यंत प्रिय कथावस्तु की एक भोंडी पर स्पष्ट नकल है। स्पष्ट ही विद्वान् लेखक इस वाक्य के द्वारा प्रस्तुत खेल के विदेशी स्रोत की ओर संकेत कर रहे हैं। वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। यह खेल पूर्णतया भारतीय है भले ही विदेशों में भी प्राचीन काल से इसका प्रचार रहा हो।

सिंधुघाटी की प्रागैतिहासिक कालीन सभ्यता में इस खेल के दृश्य का अंकन[16] तथा महाभारत में इसके उल्लेख[17] इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि उस समय से ही यह खेल जनप्रिय रहा है जब भारत में शौर्य और पराक्रम का युग था। प्रयाग से प्राप्त एक दूसरी कलाकृति[18] में हम एक वीर को सपक्ष सिंह के साथ जूझते हुए पाते हैं। माथुरी कला में एक ऐसी मूर्ति भी है[19] जिसमें एक बैठा हुआ नग्न पुरुष अपने पीछे खड़े एक सबल सिंह के पंजों को दृढ़ता के साथ अपने हाथ में पकड़े है। यहीं से प्राप्त सिंह से युद्ध करनेवाले एक बलिष्ठ युवक की मूर्ति प्रसिद्ध ही है जो अब तक नेमियन सिंह को परास्त करनेवाले हिराकल्स की मूर्ति के नाम से पहचानी जाती है। कला के इस अप्रतिम नमूने के यथार्थ चित्रण की प्रवृत्ति तथा वीर मानव की वस्त्र-हीनता इसके यूनानी होने की ओर संकेत करते हैं; पर इस विषय का अंकन करनेवाले पूर्ववर्ती मिट्टी व पत्थर के नमूने तथा समकालीन साहित्य में उसके अस्तित्व के प्रमाण

१४. मार्शल, साँची, फलक ११।८८।

१५. वही। इसी फलक का वर्णन।

१६. मैके, अर्ली इंडस सिविलिजेशन, फलक १७।५।

१७. महाभारत, विराट० १३. ४१-२।

१८. काला, प्रयाग संग्रहालय की कुछ मृण्मूर्तियाँ, जर्नल आव् दी यू० पी० हिस्टारिकल सोसायटी, संख्या २१, पृ० १३१, क्रमसंख्या ८।

१९. अग्रवाल, फर्दर एक्स्कैवेशंस टु दी मथुरा म्यूज़ियम, वही, क्रमसंख्या १० पृ० ८८।

अवश्य ही यह बतलाते हैं कि यहाँ पर दिखलाई पड़नेवाला, मनुष्य और पशु युद्ध का चित्रण शुद्ध रूप से भारत की वस्तु है[२०] भले ही अन्यत्र भी उसका प्रचार रहा हो।

मनोरंजन के विशेष आयोजन

समाज—पाणिनि के अनुसार 'समाज' शब्द का अर्थ वह स्थान है जहाँ पर लोग मनोरंजनार्थ एकत्र होते हैं।[२१] जातकों के वर्णनानुसार समाज एक विशेष प्रकार का जनसमुदाय था जिसमें आबालवृद्ध स्त्रीपुरुष विविध प्रकार के खेल, अभिनय संगीत, नृत्य, आख्यान, गजयुद्ध, अश्वयुद्ध, दंडयुद्ध, मल्लयुद्ध आदि देखते और उनमें स्वयं भी भाग लेते थे।[२२] कौटिल्य ने यात्रा, उत्सव, प्रवहण आदि के साथ समाज का भी उल्लेख किया है।[२३] महाभारत में आचार्य द्रोण द्वारा आयोजित ऐसे ही एक समाज का वर्णन है।[२४] वहाँ इस बात का स्पष्ट संकेत है। इन समाजों में कोई भी भाग ले सकता था। काशी के राजघाट नामक स्थान से एक शुंगकालीन मिट्टी का ठीकरा मिला है जिस पर ऐसे ही एक समाज का दृश्य अंकित है[२५] (चित्र १)।

इस ठीकरे के ऊपरी भाग में दो मुर्गे आपस में लड़ते दिखलाए गए हैं। उसके नीचे दो बैल एक दूसरे के आमने सामने खड़े हैं। उनमें से एक की पूँछ उठी हुई है जो उसके विजेता होने का स्पष्ट संकेत है। कुक्कुटयुद्ध और वृषभयुद्ध के दाहिनी ओर दो मल्ल दिखलाई पड़ते हैं जो कुश्ती प्रारंभ करने की स्थिति में खड़े हैं। ठीकरे के नीचेवाले भाग में एक बड़ा ही आकर्षक दृश्य है। यहाँ पर एक रथ है जिसमें चार हाथी जुते हैं तथा सारथी का कार्य भी एक हाथी ही कर रहा है जिसकी ऊँची उठी हुई सूँड में लगाम और अंकुश दिखलाई पड़ते हैं। इस गजसारथी के पीछे दो छोटी वस्तुएँ बनी हैं जिनका उपयोग कदाचित् बलिकर्म और मंगल के लिये किया गया था क्योंकि 'समाज' के प्रारंभ में इनके करने का विधान मिलता है।[२६]

२०. इस खेल की लोकप्रियता परवर्ती काल में भी बनी रही। महाकवि बाण ने हाथियों के साथ युद्ध करनेवालों का 'षंठ' नाम से उल्लेख किया है—हर्षचरित, ७, पृ० २११, शंकर की टीका पृ० २११।

२१. अष्टाध्यायी, ३. ३. ४४; महाभाष्य २. १५२।

२२. रतिलाल मेहता, प्री बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० ३५५।

२३. अर्थशास्त्र, १, २१–४६।

२४. महाभारत, आदि० १३४।

२५. भारतकलाभवन, वाराणसी, वस्तुसंख्या ४८२७।

२६. महाभारत, आदि० १३७, २१।

उद्यानक्रीडाएँ—प्राचीन भारत में उद्यानक्रीड़ाओं में विहारयात्राएँ, पुष्पचयन, दोहद आदि क्रीड़ाओं का समावेश होता था जिनमें स्त्रीपुरुष समान रूप से भाग लेते थे।

उद्यान या विहार यात्राएँ—दैनिक जीवनक्रम को एक दिन के लिये बदलकर विविध प्रकार के खाद्य, मनोरंजनादि के साधनों के साथ गाड़ी पर चढ़कर नगर के बाहर उद्यानादिकों में जाना एवं मनबहलाव करना विहारयात्रा, गोष्ठीयान आदि नामों से अभिहित होते थे। इस प्रकार के गोष्ठीयान का सुंदर चित्रण शुंगकालीन खिलौनों में मिट्टी की गाड़ियों के रूप में मिलता है[२७] (चित्र ४)। यहाँ पर प्रदर्शित गाड़ी में कुल छः व्यक्ति दो पंक्तियों में बैठे हैं। एक व्यक्ति विविध पक्वानों का रस ले रहा है। उसके पास बैठी हुई स्त्री कदाचित् शकटवाहक से बात करने का प्रयास कर रही है, पर उसकी ओर वाहक का ध्यान नहीं है। दूसरी पंक्ति में दाहिनी ओर का पुरुष वीणा बजा रहा है। कुछ नमूनों में उसके दाहिने हाथ में लिया हुआ कोण भी स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। इस वीणावादक के पास ही एक मिथुन है। स्त्री का एक हाथ ढोलक की तरह प्रतीत होनेवाले एक वाद्यविशेष पर है। वाद्य बजाती हुई वह अपने प्रिय से बात भी कर रही है। कुछ खिलौनों में पुरुष के एक हाथ में तो मद्य का चषक है तथा दूसरा प्रिया के गले में है। इस प्रकार इस गोष्ठीयान में खाद्य, पेय तथा संगीत का संमिलित आयोजन रहता था।

इस क्रीड़ाविशेष का उल्लेख विनयपिटक में भी है।[२८] अशोक के शिलालेखों में जिन विहारयात्राओं की बात कही गई है उनमें मनोरंजन के अन्य साधनों के साथ मृगया का भी समावेश था।[२९] उद्यानयात्रा का विस्तृत विवरण वात्स्यायन ने भी दिया है।[३०] उन्होंने साथ चलनेवाले लोगों में वेश्याओं की भी गिनती की है।

पुष्पचयन—वन या उद्यान में जाकर विविध प्रकार के शृंगार के लिये फूल चुनना स्त्रियों का एक विशेष मनोरंजन था। संस्कृतसाहित्य में इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। कला में भी पुष्पचयन करनेवाली कितनी ही युवतियाँ दिखलाई पड़ती

२७. भारतकलाभवन, वाराणसी, वस्तुसंख्या १४११; काला, प्रयाग संग्रहालय की कुछ मृण्मूर्तियाँ, जर्नल आव् यू० पी० हिस्टारिकल सोसायटी, खंड २१, पृ० १२१ क्रमसंख्या ७।

२८. विनयपिटक, चुल्लवग्ग ६, २, ७।

२९. आठवाँ पर्वतलेख।

३०. कामसूत्र, १, ४, ४०।

है।[31] अशोकवृक्ष से उसके फूलों को तोड़नेवाली कुमारियाँ वस्तुतः अशोकोत्तंसिकाएँ हैं जो आभरण बनाने के लिये इन फूलों का संग्रह कर रही हैं।[32] एक दूसरी कलाकृति में एक रमणी अशोकवृक्ष के नीचे खड़ी होकर अपने सजे सजाए केशकलाप पर एक माला धारण कर रही है[33] जो बहुधा उसी वृक्ष के पुष्पों से निर्मित है। दूसरे स्थान पर एक स्त्री कदंबवृक्ष के फूल चुन रही है।[34] साँची के एक कोणस्तंभ पर पाटलवृक्ष के नीचे खड़ी होकर उसके फूलों को तोड़ती हुई एक नारी-मूर्ति बनी है।[35] कुछ ऐसे ही दृश्यों में वृक्षों की पहिचान कठिन है।[36]

इन क्रीड़ाओं को 'पूर्वीय क्रीड़ाएँ' कहा गया है। डा० फोगल पाणिनि द्वारा उल्लिखित 'शालभंजिका अभिप्राय' का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए बतलाते है—

'यद्यपि इन क्रीड़ाओं के विस्तृत वर्णन प्राप्त नहीं होते, तथापि वे समस्तपद जिनमें इनका उल्लेख होता है, स्पष्टरूप से बतलाते हैं कि इनमें मुख्य कार्य फूलों का चुनना था। यह भी कहा गया है कि ये खेल पूर्वी भारत में अधिक लोकप्रिय थे। यह बात बौद्ध साहित्य में उल्लिखित शालभंजिका उत्सव से अधिक पुष्ट होती है। स्पष्ट ही बौद्ध धर्म के उद्गमक्षेत्र मगध में ही इन खेलों का भी उदय था।'[37]

दोहद—यह भारत का एक 'कविसमय' माना जाता है, पर साहित्य और कला में इसके इतने प्रचुर उदाहरण और स्पष्ट संकेत मिलते हैं जिनके आधार पर कदाचित् यह माना जा सकता है कि दोहद और उसकी पूर्ति प्राचीन भारतीयों के मनोरंजन का एक प्रधान अंग था। 'दोहद' शब्द का लाक्षणिक अर्थ नायिका द्वारा वृक्षविशेष के पास खड़े होकर उन क्रीड़ाओं का करना है जिनके अंतर्गत वृक्ष पर पाद-प्रहार करना, मुखोच्छिष्ट मदिरा को फेंकना, उसे आलिंगन करना, उसके नीचे नृत्य आदि करने का समावेश होता है।[38]

३१. मथुरा संग्रहालय, वस्तुसंख्या एफ्० २३ लखनऊ संग्रहालय, वस्तुसंख्या बी० ८०, बी ६०।

३२. कामसूत्र, १, ४, ४२ टीका।

३३. स्मिथ जैनस्तूप, फलक ६०।

३४. भरहुत, आकृति २३; मथुरा संग्रहालय, वस्तुसंख्या एम् १६६२।

३५. साँची, फलक ७४, ११ ए।

३६. भरहुत, आकृति ७३, लखनऊ संग्रहालय, मूर्तिसंख्या जे २७६।

३७. फोगल, 'दी वुमेन ऐंड ट्री आव् शालभंजिका इन इंडियन आर्ट', एक्टा ओरियंटेलिया, लीडन, खंड २. पृ० २०३–४।

३८. काव्यप्रकाश, ७, २६५, टीका भी द्रष्टव्य।

अशोकदोहद—कहा जाता है कि रमणी के बाँए पैर का आघात प्राप्त किए बिना अशोक का वृक्ष पुष्पित नहीं होता, अतएव उसे पादप्रहार से कृतकृत्य करना भारतीय नायिकाओं का एक प्रधान कार्य था।[३९] माथुरी कला में हम इस कार्य में रत रमणियों को चित्रित पाते हैं।[४०] एक दूसरे नमूने में इस क्रीड़ा को देखने के लिये अन्य स्त्रीपुरुष भी एकत्र हैं।[४१] दोहदों का अंकन करनेवाले अन्य दृश्यों में परंपरागत वृक्षों के बदले अन्य वृक्ष भी दिखलाई पड़ते हैं जैसे—

कार्य	अंकित वृक्ष	परंपरागत वृक्ष
१ वीणावादन[४२] तथा कदाचित् गायन	ताड़	नमेरु या रुद्राक्ष
२ आलिंगन[४३]	अशोक	कुरबक
३ मदिरापान[४४] तथा कदाचित् गंडूषक्षेपण	,,	बकुल

कंदुकक्रीड़ा—यह खेल स्त्रियों एवं बालकों में अधिक लोकप्रिय था। मथुरा की कला में एक स्थान पर एक स्त्री कंदुक को ऊपर उछालकर दाहिने हाथ की केहुनी पर रोकती हुई अंकित की गई है (चित्र ५)।[४५] परवर्ती काल के साहित्य और कला में यह खेल लोकप्रिय रहा और अब भी है।

स्त्रीणांस्पर्शात्प्रियंगुर्विकसति बकुलः सीधुगण्डूषसेकात्
पादाघातादशोकस्तिलक कुरबकौ वीक्षणालिंगनाभ्याम्।
मन्दारोनर्मवाक्यात्पटुमृदुहसनाच्चंपको वक्त्रवाता—
च्चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात्कर्णिकारः॥

३९. साहित्यदर्पण ७, २४।

४०. मथुरा संग्रहालय, मूर्तिसंख्या जे० ५५।

४१. वही, मूर्तिसंख्या (?)।

४२. मथुरा संग्रहालय, मूर्तिसंख्या जी ४८।

४३. भरहुत, आकृति ७२, ७५।

४४. मथुरा संग्रहालय, मूर्तिसंख्या २६४।

४५. वही, मूर्तिसंख्या जे ६१।

—परवर्ती काल में स्त्रियाँ तीन कंदुकों से भी खेलती हुई दिखाई पड़ती हैं। गेंद को नीचे दबाने तथा उछालने के लिये 'आवर्तन' एवं 'उद्वर्तन' शास्त्रीय शब्द थे—श्रीमद्भागवत ८, १२-१८-२०।

पक्षी पालना—मथुरा से प्राप्त एक सुंदर वेदिकास्तंभ पर शुक के साथ एक रमणी अंकित की गई है।[४६] प्रणयविभोर होकर नृत्य करनेवाली इस नायिका के पास कदाचित् प्रिय का संदेश लेकर शुक आया है जो उसकी करधनी की गाँठ को वहीं पर बैठकर अपनी चोंच से छू रहा है। शुक की ओर स्नेहसिक्त नेत्रों से एक टक निहारनेवाली युवती की यह मूर्ति माथुरी कला की एक अनूठी देन है।[४७] स्त्रियों का शुक के साथ कई प्रकार से अंकन होता था। एक दूसरी माथुरी कलाकृति में पिंजड़े से निकला हुआ शुक अपनी स्वामिनी के कंधे पर बैठा है[४८], कहीं पर नायिका अपने हाथ से तोते को फल खिला रही है।[४९] यह विषय मिट्टी के खिलौनों से भी अछूता नहीं रहा। कौशांबी से प्राप्त एक सुंदर मिट्टी के ठीकरे पर प्रणयासक्त दंपति के पलंग के दाहिनी ओर पंखा झलनेवाला एक वामन खड़ा है तथा बाँई ओर शुक स्थित है।[५०] कदाचित् यह वात्स्यायन का क्रीड़ाशुक है। भवनविन्यास का वर्णन करते हुए कामसूत्रकार यह बतलाते हैं कि विलासमंदिर के बाहर की ओर पालतू पक्षियों का स्थान होना चाहिए।[५१]

शुक के अतिरिक्त मोर और हंस भी रमणियों के क्रीड़ाविषय थे। मथुरा की एक कलाकृति में सद्यःस्नाता रमणी के केशपास से चूनेवाले जलबिंदुओं को अपनी चोंच में लेनेवाला एक मोर बनाया गया है।[५२] वहीं के संग्रहालय में एक स्थान पर हंस के साथ खेलती हुई एक नायिका भी दिखलाई पड़ती है।[५३]

पक्षियों के पालन का उद्देश्य केवल मनोरंजन ही नहीं अपितु आत्मरक्षा भी था।[५४] वात्स्यायन का कथन है कि भोजनोपरांत नागरक तोते को पढ़ाने, लावक पक्षियों के युद्ध को देखने तथा मुर्गों और मेढ़ों को लड़ाने आदि प्रकार की क्रीड़ाओं

४६. अग्रवाल, ए शार्ट गाइड टु द आर्क्योलाजिकल सेक्शन, लखनऊ म्यूजियम, फलक १०, चित्र ११।

४७. वही, पृ० १०।

४८. मथुरा संग्रहालय, वस्तुसंख्या एफ्० २१।

४९. वही, एफ्० ११।

५०. अग्रवाल, मथुरा टेराकोटाज, जर्नल० यू० पी० हि० सोसायटी ९, खंड २ पृ० ३०, आकृति ३०।

५१. कामसूत्र, १, ४, १३।

५२. मथुरा संग्रहालय, मूर्तिसंख्या जे० ५।

५३. वही, मूर्तिसंख्या, ३४०२।

५४. अर्थशास्त्र, अध्य० २०, १०-१४।

में कुछ समय व्यतीत करें।[५५] विरहिणी नायिका के लिये शुक तथा सारिका संदेश-वाहन की दृष्टि से विशेष उपयोगी थे।

वनविहार—उद्यानक्रीड़ाओं के समान लोग वनविहार का भी आनंद लेते थे। साँची में एक शिकारी अपनी पत्नी के साथ वन में क्रीड़ा करता हुआ दिखलाया गया है।[५६] उसकी पत्नी के हाथ में धनुष है पर बाणों का निषंग शिकारी के पास है। बाँए हाथ से वह पत्नी को पीछे से सम्हाले हुए है क्योंकि सामने ही दो जंगली हाथी आपस में युद्ध कर रहे हैं। संभवतः शिकारी की पत्नी पति के साथ मृगया कर रही थी। इसी बीच एकाएक दो जंगली हाथी आपस में लड़ते हुए आ निकले। फलतः पत्नी की सहायता करने के लिये शिकारी ने हाथ बढ़ाया है। दूसरे दृश्य में राजा अपनी रानी के साथ रथ को हाँकते हुए दिखलाए गए हैं।[५७] राजा एक हाथ में घोड़ों की रास सम्हाले हुए हैं और उनका दूसरा हाथ रानी के कंधे पर है। रानी के हाथ में घोड़े हाँकने की छड़ी अथवा चाबुक है। रथ के पास एक कुत्ते की उपस्थिति इस दृश्य के शिकार से संबंधित होने की ओर संकेत करती है।

जलक्रीड़ा—नहाना, तैरना, नौकाविहार आदि विविध प्रकार की जलक्रीड़ाएँ हैं। साँची के एक तोरणद्वार पर तैरने तथा नौकाविहार का एक सुंदर दृश्य था, पर वह अब नष्ट हो चुका है। केवल श्री मेसी की पुस्तक में दिया गया उसका प्राचीन चित्र ही उसके कभी विद्यमान होने का प्रमाण है।[५८] उक्त दृश्य में नदी को पार करने और तैरने के लिये दो साधनों का उपयोग अंकित था, एक तो लकड़ी के तख्ते, दूसरा हवा से भरी हुई चमड़े की थैलियाँ जिन्हें भस्त्रा कहते थे। वे इतनी बड़ी होती थीं कि एक मनुष्य का बोझ सरलता से सम्हाल सकती थीं (चित्र ६)।

कमल की पुष्करिणी में क्रीड़ा करना (पद्मवनक्रीड़ा) भी लोगों को बड़ा पसंद था। बहुधा राजा अपने अंतःपुर की रमणियों के साथ हाथी पर बैठकर कमल से भरी हुई पुष्करिणी की ओर जाता था। वहाँ वे सब स्नान करते, तैरते तथा कमलों को तोड़ते थे। हाथी भी इसमें सहायता करते थे। कमलनालों को तोड़कर अपने स्वामी को भेंट करना उन्हें प्रिय था (चित्र ६)।[५९]

५५. कामसूत्र, १, ४२१।

५६. साँची, फलक ४३, बीच की धरन।

५७. वही, फलक ७६, २७ बी०।

५८. मेसी, साँची ऐंड इटस् रिमेंस्, फलक २१, आकृति २।

५९. साँची फलक ७६।२७ ए; १०२।

उपर्युक्त चित्र में पाया जानेवाला वर्णन जैनग्रंथों में वर्णित गंधद्वीप सेचनक की अपने राजा के साथ की हुई जलक्रीड़ा से पर्याप्त मिलता है।[६०]

घर में खेले जानेवाले खेल

द्यूतक्रीड़ा—भारत में द्यूतक्रीड़ा के उल्लेख वैदिक काल से ही मिलने लगते हैं। कला के क्षेत्र में भी उसका अभाव नहीं है। भरहूत की कलाकृतियों में एक स्थान पर लित्त जातक की कथा बनी है जिसमें द्यूतफलक दिखलाया गया है।[६१] इस फलक में ३६ वर्ग बने हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पत्थर पर उकेरकर ये चिरस्थायी द्यूतफलक बनाए जाते थे। उक्त दृश्य में दिखलाई पड़नेवाले ६ पासे हैं। इनका आकार वर्गाकार घनों का है जिनके चारो ओर खेल से संबंधित चिह्न बने रहते होंगे। पास ही में एक पेटी है जिसमें खेल के समाप्त होने पर पासों को रखा जाता होगा। यहीं पर एक मोहरा अलग पड़ा हुआ है।

इसी प्रकार के खेल का दूसरा चित्रण बुद्ध गया में मिलता है।[६२] मनुष्य और अश्वनुखी यक्षिणी के बीच पड़े हुए द्यूतफलक पर एक ओर से ८, इस प्रकार संभवतः ६४ वर्ग बने हैं। इस आधार पर कहा जा सकता है कि जिस खेल को यहाँ खेला जा रहा है, वह कदाचित् विनयपिटक में उल्लिखित 'अठपद' खेल हो।[६३]

मनोरंजन के अन्य साधन

सँपेरा (अहिगुंडिक)—अमरावती के एक स्तंभ पर एक सँपेरा[६४] जिसे अहिगुंडिक कहते थे, राजा के सामने अपनी कला का प्रदर्शन कर रहा है। उसके बाल घुँघराले हैं तथा चेहरामोहरा कुछ निग्रो जाति के लोगों से मिलता जुलता है। राजा की ओर उसने एक पिटारी बढ़ाई है जिसमें एक साँप फन निकाले खड़ा है। सँपेरे की बगल में एक बंदर भी शांतिपूर्वक बैठा है।

६०. निरयावलिका सूत्र अहमदाबाद १९४८, पृ० १७०–७२।
६१. भरहूत, आकृति ४१, फासबेल की संख्या ४१।
६२. बरुआ, बुद्धगया, आकृति ६१ बी०।
६३. विनयपिटक, चुल्ल० १, १३, १–३।
६४. शिवराममूर्ति अमरावती स्कल्पचर्स इन दी मद्रास म्यूजियम, फलक ३६ आकृति १।

खिलौने (क्रीडनक)—देश भर के उत्खनन में मिट्टी के जो सहस्रों विविध प्रकार के खिलौने मिले हैं, उनका प्रमुख उपयोग बालकों का मनोरंजन ही था। इन खिलौनों का कला में बहुत कम ही स्थानों पर अंकन मिलता है। नागार्जुनकोंड की एक कलाकृति में[६५] एक बालक हाथ में खिलौने की रस्सी पकड़कर घसीटता हुआ दिखलाया गया है। अमरावती की कला में भी पहिएदार खिलौने दिखलाई पड़ते हैं।[६६]

संबंधित चित्र

चित्र—१

६५. लांगहर्स्ट, दी बुद्धिस्ट ऐंटिक्विटिज आव् नागार्जुनीकोंड, ए० आ० आई० मेमायर नंबर ५४, फलक ५ सी।

६६. अमरावती स्कल्पचर्स, पृ० १४२।
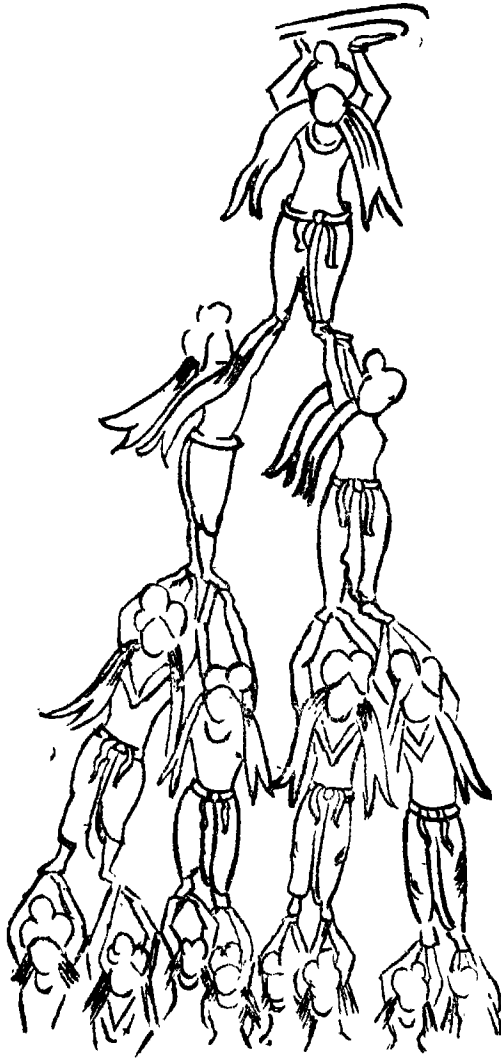
चित्र—२

चित्र—३
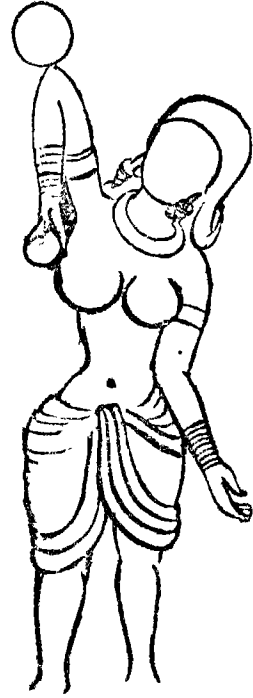
चित्र—५
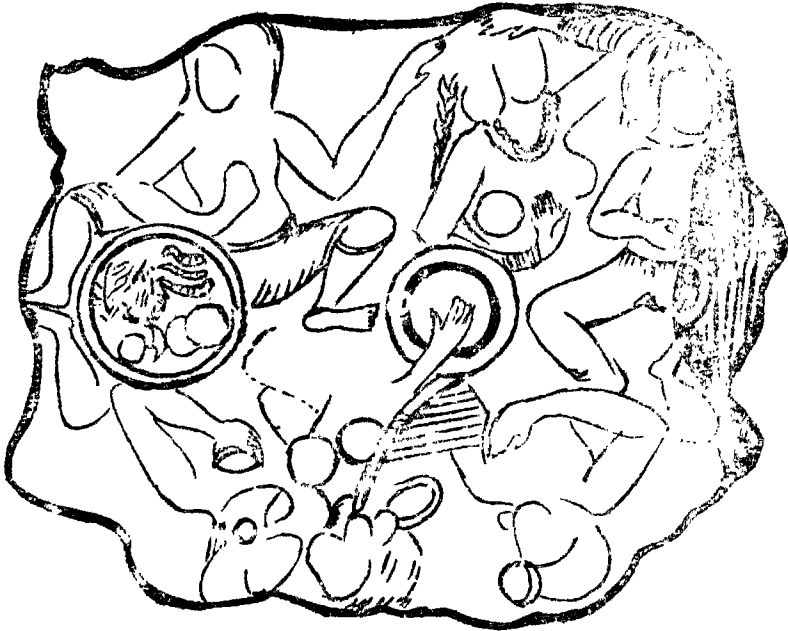
चित्र—४
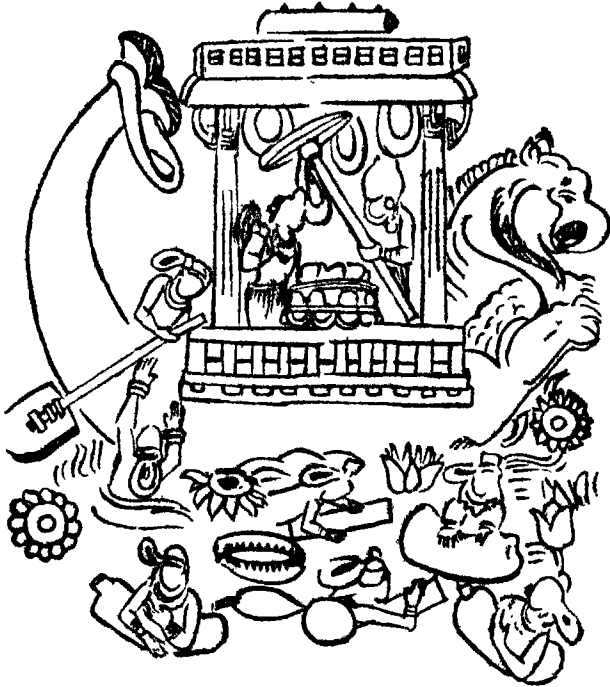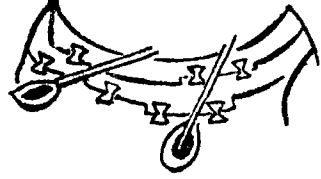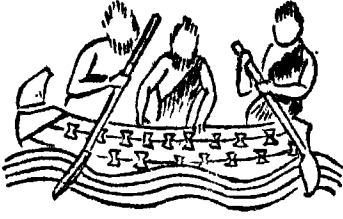
चित्र—६

भारत पर मुसलमानों के आक्रमणों की पृष्ठभूमि

बुद्धप्रकाश

भारत के इतिहास में मुसलमानों के आक्रमणों का अद्वितीय महत्व है। प्राचीन काल से ही ईरानियों, यूनानियों, शकों, पह्लवों, कुषाणों, हूणों आदि के आक्रमण होते रहे हैं किंतु मुसलमानी आक्रमणों से यहाँ जो विप्लव और क्रांति हुई उसने यहाँ की संस्कृति को एक नई दिशा प्रदान की। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में इन आक्रमणों के ज्वार ने समस्त उत्तरी भारत को आप्लावित कर दिया। यहाँ के शक्तिशाली क्षत्रियवंश और राज्य इस प्रलयंकर प्लावन की तरंगों से टकराकर नष्ट भ्रष्ट हो गए। तत्कालीन साहित्य से प्रतीत होता है कि उस समय देश में शौर्य और शक्ति की कमी नहीं थी, त्याग और बलिदान की भावना भी थी, रणभूमि से परास्त होकर लौटना अत्यंत लज्जास्पद माना जाता था। महिलाएँ यही कामना करती थीं कि उनके प्रियतम युद्धभूमि में लड़ते लड़ते मर जायँ पर शत्रु को पीठ दिखाकर घर न लौटें जिससे वे अपनी सखी सहेलियों में बैठकर लज्जित न हों।[1] माताएँ सोचतीं कि उन पुत्रों को जन्म देने से क्या लाभ है जिनके रहते, शत्रु पितृभूमि पर अधिकार कर ले।[2] मुसलमानों के विरुद्ध युद्ध में आर्थिक सहायता देने के लिये स्त्रियों ने अपने आभूषण तक बेच दिए थे और निर्धन लोगों ने दिन रात चर्खा चलाकर या मजदूरी करके सैनिकों के लिये उपहार भेजने की व्यवस्था की थी।[3]

१. कावि यारि परिहासइ एमं। तेम सुज्झु यावि लज्जमि जेमं॥
कावि यारि पडिवोहइ याहं। भग्गमायों पइँ जीवमि याहं॥
—'पउमचरिउ' ५९। ३-५।

भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि ! महारा कंतु।
हेमचंद्र, 'प्राकृत व्याकरण' सूत्र ४।३५१ का उदाहरण।
पुत्तें जाएँ कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पी की भूँहडी चंपिज्जइ अवरेण॥

२. वही, सूत्र ४।३९५ का उदाहरण।

३. मुहम्मद हबीब, सुलतान महमूद, पृ० २७; रमेशचंद्र मजुमदार, हिंदू रीएक्शन टु मुसलिम इन्वेजन्स्; दत्त वामन पोतदार स्मारकग्रंथ, पृ० ३४५।

किंतु इस अपूर्व देशभक्ति और धर्मप्रियता के होते हुए भी भारतीय क्षत्रियवंश ध्वस्त हो गए और मुसलिम सत्ता नए और प्रतिकूल सांस्कृतिक आदर्शों के साथ देश में जम गई। इस युगांतरकारी परिवर्तन पर विद्वानों ने जो गंभीर गवेषणा और चिंतन किया है उसकी अधुनातन मीमांसा यहाँ, अभीष्ट है।

भारत के हिंदूराज्यों के पतन पर विद्वानों ने तत्कालीन राजनीतिक विघटन, विद्वेष और प्रतिस्पर्धा की पर्याप्त चर्चा की है तथा भारतीय समाज की कुरीतियों, अंधविश्वासों और जातीय भेदभावों को इसका कारण सिद्ध किया है। हाल ही में कुछ प्रमुख इतिहासज्ञों ने इसके सामाजिक और आर्थिक पक्षों का विशेष अध्ययन किया है। इन अनुसंधानों में सबसे रोचक उत्तरी भारत में गोरीवंश के आक्रमणों के बाद होनेवाली नागरिक क्रांति का सिद्धांत है, जिसे प्रो० मुहम्मद हबीब ने इलियट और डाउसन की 'हिस्ट्री आव् इंडिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स' के दूसरे भाग के पुनर्मुद्रित संस्करण की भूमिका में प्रस्तुत किया है और श्री खलीक अहमद निज़ामी ने अपने नवप्रकाशित ग्रंथ 'सम आस्पेक्ट्स आव् रिलिजन ऐंड सोसायटी इन इंडिया ड्यूरिंग दि थर्टीथ सेंचुरी' में विकसित किया है। श्री हबीब का मत है कि भारत पर गोरीवंश की विजय का परिणाम यह हुआ कि 'ठाकुरों' के स्थान पर गोरीवंश के तुर्क शासनसत्ता पर आरूढ़ हो गए और भारतीय नागरिक श्रमिकों को स्वतंत्रता के अधिकार प्राप्त हो गए।[४] 'भारतीय नागरिक श्रमिकों ने, जिनमें हिंदू और मुसलमान दोनों संमिलित थे नए शासन की स्थापना में सहायता दी और इसे पाँच सौ वर्ष से कुछ अधिक अवधि तक अनेक विद्रोहों और परिवर्तनों के होते हुए भी अक्षुण्ण रखा।[५] 'उत्तरी भारत के नगर शिशिरकालीन पत्तों की तरह गिर पड़े। श्रमिक, जो इच्छा होने पर संभवतः नगरों की रक्षा के लिये लड़ते, नगरों के परकोटों के बाहर छोड़ दिए गए। खुले प्रदेशों की साधनसामग्री पूर्णतः तुर्कों के हाथों में थी। नगरों के भीतर सेठ, बनिए, दलाल, कायस्थ, ज्योतिषी, अध्यापक, वैद्य, पुजारी आदि असैनिक तत्व रह गए थे, जिनके पास अन्न, वस्त्र, शस्त्र आदि कुछ नहीं थे और जो परकोटों की रक्षा करने की शक्ति से रहित थे।'[६] 'भारत की तथाकथित गोरी-विजय वस्तुतः भारतीय नागरिक श्रमिकों की क्रांति थी जिसका नेतृत्व गोरी - तुर्कों ने

४. मुहम्मद हबीब, इलियट और डाउसन कृत 'हिस्ट्री आव् इंडिया ऐज टोल्ड बाई इट्स् ओन हिस्टोरियन्स भाग (२) [कास्मोपोलीटन पब्लिशर्स, अलीगढ़ १९५२] की प्रस्तावना पृ० १७।

५. वही, पृ० ५०।

६. वही, पृ० ५२।

किया।[७] मुसलिम शासन की स्थापना के बाद श्रमिकों और कारीगरों को नगर के परकोटों के भीतर स्थान दिया गया और सामाजिक बंधनों तथा न्यूनताओं से मुक्त कर दिया गया।

श्री हबीब का उक्त सिद्धांत इस धारणा पर आधारित है कि मुसलमानों के आक्रमणों के समय भारत में श्रमिकों, कारीगरों और दस्तकारों को नगरों और दुर्गों की दीवारों के भीतर रहने का अधिकार नहीं था और गोरीविजय के पश्चात् उन्हें नगरों और कस्बों के अंदर बसने और काम करने की अनुमति प्राप्त हुई। इस धारणा के समर्थन में श्री हबीब ने अल - बैरूनी के निम्नलिखित उल्लेख का आश्रय लिया है —

'श्रेणियाँ कस्बों और गाँवों के निकट किंतु उनसे बाहर रहती हैं। उनके अंदर चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था प्रचलित है। भंगी, चमार और जुलाहों को छोड़कर आठो श्रेणियों के लोग आपस में शादी विवाह करते हैं। भंगी, चमार और जुलाहों से कोई किसी प्रकार का संबंध रखने को तैयार नहीं है। ये आठ श्रेणियाँ इस प्रकार हैं—भंगी, चमार, मदारी, टोकरी और ढाल बनानेवाले, मल्लाह, शिकारी और चिड़िमार तथा जुलाहे।'[८]

खलीक अहमद निजामी ने श्री हबीब के विचारों को लगभग उन्हीं की भाषा में इस प्रकार दुहराया है—

'उत्तरी भारत पर तुर्की आधिपत्य का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव यह पड़ा कि नगरयोजना की प्राचीन पद्धति छिन्न भिन्न हो गई। मुसलमानों के 'सार्वभौम नगरों ने राजपूतयुग के जातीय नगरों का स्थान ले लिया। श्रमिकों, कारीगरों और चांडालों के लिये नए नगरों के द्वार खोल दिए गए। नगरों के परकोटे निरंतर सरकते और बढ़ते रहे और इनके भीतर ऊँच और नीच सब प्रकार के लोगों ने अपने घर बनाए और वे एक दूसरे के साथ बिना किसी सामाजिक भेदभाव के रहने लगे। यह योजना तुर्क प्रशासकों को पसंद आई जो अपने कारखानों, दफ्तरों और घरों में काम कराने के लिये सब श्रमिकों को अपने पास रखना चाहते थे। फलतः नगरों का विस्तार और समृद्धि बढ़ी। नगरों की चहारदीवारी अब सामाजिक विषमता अथवा विभाजन की रेखा नहीं रही अपितु केवल सुरक्षा और परित्राण की भित्ति हो गई थी, इससे अधिक उसका कुछ महत्व नहीं था। नए नगर जो लाहौर से लखनौती तक

७. वही, पृ० ५४।

८. 'अल - बैरूनी का भारत' सखाओ का अनुवाद, भाग १ पृ० १०१, हबीब द्वारा 'प्रस्तावना' के पृ० ४० पर उद्धृत।

उठ उभर रहे थे, नए सामाजिक विधान के प्रतीक थे। मजदूरों, कारीगरों, दस्तकारों, हीन जाति के लोगों और अधिकाररहित वर्गों ने सुलतानों की 'नगरीकरण'-नीति से पूरा लाभ उठाया और सर्वप्रथम नागरिक जीवन की सुख सुविधाओं का आनंद लिया। राजपूत तथा साधिकार वर्ग पराभव और पराजय के रोष से ग्रस्त हो गए। श्रमिक वर्गों ने नए शासन का हाथ बँटाया और नए नगरों के निर्माण में उसकी सहायता की।'[९]

उपर्युक्त भावना से अनुप्राणित होकर श्री यूसुफ हुसेन ने लिखा है—

'तेरहवीं शती में तुर्क और अफगानों द्वारा नागरिक अर्थव्यवस्था का प्रचलन उस प्रकार के व्यापारिक पूँजीवाद पर आधारित था जो मध्य एशियाई देशों और भूमध्य सागरीय प्रदेशों में प्रचलित था। इस अर्थव्यवस्था की प्राणशक्ति स्वतंत्र प्रतिस्पर्धापरक उद्योगों की प्रगति थी।'[१०]

उपर्युक्त लेखकों ने अपने सिद्धांतों का निरूपण करते समय भारतीय नगर-योजना और वास्तु व्यवस्था पर विचार नहीं किया है। संस्कृत में नगरों की रचना, योजना और व्यवस्था से संबंध रखनेवाला विशाल साहित्य है। पुराणों में विशेषतः अग्नि, गरुड़, मत्स्य और भविष्य में नगरविन्यास के अध्याय हैं। उदाहरण के लिये अग्निपुराण को लें। इस पुराण के १०६ अध्याय में वर्णित है कि नगर के विभिन्न भागों में किस क्रम और योजना से जनता के विविध वर्गों को बसाया जाय। इसके कुछ तथ्य इस प्रकार हैं —

'नगर की स्थापना से पहले विष्णु, शिव, सूर्य आदि देवताओं की उपासना करनी चाहिए और संस्थापक की ओर से बलि आदि की व्यवस्था होनी चाहिए। सुनारों और लुहारों को नगर के दक्षिणपूर्वी भाग में, उनसे दक्षिण में नृत्यशिक्षकों और वेश्याओं को, दक्षिणपश्चिमी भाग में नटों, कुम्हारों और मछुओं को बसाया जाय। पश्चिमी भाग में रथ, खड्ग और शस्त्रों के भंडार तथा उत्तरपश्चिमी भाग में शौंडिक और राजकर्मचारी रहने चाहिए। उत्तरी भाग में ब्राह्मण, संन्यासी और तापस लोग बसें दक्षिणपूर्वी भाग में व्यापारियों और फलविक्रेताओं का निवास होना चाहिए। पूर्वी भाग में सेनापति और सैनिक कर्मचारियों का मुहल्ला बनना चाहिए। दक्षिणपूर्वी भाग में सैनिकों का स्कंधावार और राजकीय अंतःपुर के

९. खलीक अहमद निज़ामी, सम आस्पेक्ट्स् आव् रिलिजन ऐंड पालिटिक्स इन इंडिया ड्यूरिंग दि थर्टीन्थ सेंचुरी (१९६१) पृ० ८५।

१०. यूसुफ हुसेन 'मिडीवल इंडियन कल्चर', पृ० १२५।

कर्मचारी दक्षिणी भाग में रहें। दक्षिणपश्चिमी भाग में राजकीय तंबू तनने चाहिएँ। प्रधान मंत्री, कोषाध्यक्ष और कारुक (बढ़ई, जुलाहे, नाई, धोबी और मोची)[११] पश्चिमी भाग में बसने चाहिए। न्याय और दंड के अधिकारी उत्तरी भाग में, क्षत्रिय पूर्वी भाग में, वैश्य दक्षिणी भाग में, शूद्र पश्चिमी भाग में और वैद्य नगर के चारो ओर रहने चाहिए। हाथी और अन्य सैनिक अंग इस प्रकार बसने चाहिए जिससे नगर की रक्षा हो सके। नगर के पूर्वी भाग में मंदिरों में चल शिवलिंग स्थापित हों। श्मशान-भूमि दक्षिणी भाग में होनी चाहिए। पश्चिमी भाग में पशुओं के व्रज होने चाहिए और उत्तरी भाग में कृषक रहने चाहिए। म्लेच्छ तथा अन्य हीन जातियाँ नगर के कोणों में बसनी चाहिए। नगरयोजना की यही पद्धति गाँवों में भी अपनाई जानी चाहिए'।[१२]

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि नगर में सब जातियों, वर्गों और धंधों के लोग रहते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और म्लेच्छ नगर के विभिन्न भागों में आबाद होते थे। कारीगरों और दस्तकारों की अलग गलियाँ और मुहल्ले होते थे। शौंडिक, कुम्हार, मछुए, सुनार, लुहार और अन्य दस्तकार नगर के विभिन्न स्थानों में अपना अपना धंधा करते थे। मानसार वास्तुशास्त्र के अनुसार, जो नगर-योजना और स्थापत्य का प्रमुख ग्रंथ है और जिसके नियम बहुत बाद तक देश में लागू रहे, नगर और ग्राम की योजना की एक ही पद्धति थी। इस ग्रंथ के नवें 'ग्रामलक्षणम्' अध्याय में गाँव की रूपरेखा मिलती है। इसके अनुसार गाँव परकोटे से घिरा होता था और इसके चार मुख्य द्वार होते थे। इनको एक दूसरे से मिलाने-वाली बड़ी सड़कों के किनारों पर कारीगरों और व्यापारियों की दुकानें होती थीं। मुख्य मार्गों से निकलकर गलियों और सड़कों का जाल सारी बस्ती में बिछा होता था और इसे अनेक भागोपभागों में बाँटता था। इनमें सभी जातियों और व्यवसायों के लोगों के मुहल्ले होते थे और पाली (गोपाल श्रेणी), जुलाहे (वस्त्र कर्मकार), मोची (चर्मकार), मछुए और कसाई (मत्स्यमांसोपजीविनः), वैद्य, तेली (तैलोपजीविनः) तथा अन्य दस्तकार और कारीगर (कर्मकार) रहते थे।[१३] केवल चांडाल, श्मशानभूमि और चामुंडा के मंदिर परकोटे से बाहर होते थे।[१४]

११. वा० शि० आप्टे, 'दि, प्रैक्टिकल संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी' पृ० ३५१।
१२. अग्निपुराण, अध्याय १०६, श्लोक १-१७।
१३. मानसार, प्रसन्नकुमार आचार्य, ९।७२ आदि।
१४. वही, ९।७३-८१।

मानसार के लेखक ने नगरों और कस्बों को कई श्रेणियों में विभाजित किया है। जैसे, नगर, खेट, खर्वट, पत्तन, कुब्जक आदि। इनमें प्रायः नगण्य अंतर था। सभी में हीन जातियों को परकोटे के भीतर स्थान दिया जाता था। 'पुर' को विभिन्न लोगों की बस्तियों से भरपूर (नानाजनगृहान्वितं) बताया गया है।[१५] खेट को शूद्रों के मुहल्लों से समन्वित (शूद्रालयसमन्वितं) कहा गया है।[१६] खर्वट विविध जातियों के निवासस्थानों से परिपूर्ण (नानाजातिगृहैर्वृतं) होता था।[१७] निगम में चारो वर्णों और वर्णांतरों को स्थान मिलता था और वहाँ कारीगरों और दस्तकारों की भारी बस्ती होती थी।[१८]

तंत्र और आगम साहित्य में, जिसकी रचना मुसलमानों के आक्रमणों के आसपास हुई, विशेष रूप से 'कामिकागम' और 'सुप्रभेदागम' में हमें यत्रतत्र नगर-योजना के संकेत मिल जाते हैं। 'कामिकागम' में नगर की परिभाषा करते हुए लिखा गया है कि वहाँ पण्यों के क्रयविक्रय में संलग्न जन, विभिन्न जातियों और व्यवसायों के लोग, विविध श्रेणियों के कारीगर और दस्तकार तथा सब देवताओं के मंदिर होने चाहिए।[१९] इन सब साक्ष्यों पर विचार करते हुए श्री प्रसन्नकुमार आचार्य ने लिखा है कि नगरों और कस्बों के सर्वश्रेष्ठ मुहल्लों में कारीगरों और दस्तकारों को स्थान दिया जाता था।[२०]

ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में, मुसलमानों के आक्रमणों के समय, नगरयोजना पर जो साहित्य लिखा गया उससे स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है कि कारीगरों और दस्तकारों को नगर के भीतर समुचित स्थान दिया जाता था। 'समरांगणसूत्रधार' में, जिसकी रचना का श्रेय भोज (१०१०–५५ खी०) को दिया जाता है, सब प्रमुख धंधों के लोगों को नगर में विशिष्ट स्थान देने की व्यवस्था है। सुनारों, लुहारों और अग्नि से काम करनेवालों (वह्निजीवी) के लिये नगर का दक्षिणपूर्वी भाग सुरक्षित था। व्यापारियों, जुआरियों, कुम्हारों, बढ़इयों, हंमालों, नर्तकों और नटों के लिये दक्षिणी भाग नियत था। सूअर पालनेवालों, पालियों, चिडिमारों, मछुओं, कहारों, नाविकों और चांडालों को दक्षिणपश्चिमी भाग में रखा गया था। सारथियों, रथ

१५. वही, १०।२७–२८।
१६. वही, १०।२६।
१७. वही, १०।३०; १०।३१–३२।
१८. वही, १०।४२।
१९. कामिकागम, २०।५६।
२०. प्र० कु० आचार्य, इंडियन आर्कीटेक्चर, पृ० ४०।

बनानेवालों, योद्धाओं, खजांचियों और राजकर्मचारियों को पश्चिमी भाग दिया गया था। सार्वजनिक कार्यविभाग के कर्मचारियों, श्रमिकों, शौंडिकों, होटलवालों और पुलिस के लोगों के लिये उत्तरपश्चिमी भाग में व्यवस्था है। तपस्वियों, संतों और संन्यासियों के आश्रम, प्याऊ, धर्मशालाएँ और सत्र उत्तरी भाग में बनाए गए हैं। सब्जी, फल और मक्खन बेचनेवालों का निवास उत्तरपूर्वी भाग में तथा उच्च अधिकारी, सेनापति, मुख्यमंत्री आदि के मकान और दफ्तर पूर्वी भाग में हैं। यद्यपि विभिन्न विभाग विविध व्यवसायों और उद्योगों के लिये सुरक्षित हैं, हठवे, बनिए, अत्तार, वैद्य, चौकीदार और पुलिसवाले बिना रोकटोक सभी जगह रह सकते हैं। यह व्यवस्था कौटिल्य के इस नियम के अनुरूप है कि श्रेणियों, कर्मकरों और मजदूरों को नगर के सभी भागों में बसाना चाहिए।[२१]

'मयमत' नामक ग्रंथ की नगरयोजना बाजारों और कारखानों के विन्यास पर आश्रित है। मुख्य मार्ग (रथपथ) पर सभी श्रेणियों के सदस्यों की दुकानें होती हैं जो माल के निर्माण और विनिमय का काम करते हैं। वैश्यों के मुहल्ले के सीधे हाथ जुलाहों की बस्ती आती है। इसके बाएँ और उत्तर में रथ बनानेवाले बढ़ई रहते हैं। रथपथ के बाएँ कारीगरों, दस्तकारों और धातु के काम करनेवालों के स्थान होते हैं।

मयमत की योजना के अनुसार पूर्वी से उत्तरपूर्वी विभागों तक मछुओं, कसाइयों और सब्जी बेचनेवालों की दुकानें होती हैं; पूर्वी से दक्षिणपूर्वी विभागों तक हठओं और पंसारियों की दुकानें रहती हैं; दक्षिणपश्चिमी विभागों में ठटेरों और कसेरों के कारखाने बनते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य विभागों में दर्जियों, बजाजों तेलियों, गंधियों, अत्तारों और मालाकारों के मकान और दुकान रखने की व्यवस्था है। इस योजना में चांडालों और धोबियों को नगर से २०० दंड की दूरी पर एक अलग मुहल्ले में स्थान दिया गया है।[२२]

बारहवीं शती का एक अन्य प्रसिद्ध स्थापत्य ग्रंथ भुवनदेवरचित 'अपराजित-पृच्छा' है। यह भोज के 'समरांगणसूत्रधार' से कुछ बाद का है।[२३] इसमें साधारण

२१. द्विजेंद्रनाथ शुक्ल, हिंदू साइंस आव् आर्किटेक्चर ऐंड टाउन प्लानिंग विद्, स्पेशल रेफरेंस टु भोजस् समरांगणसूत्रधार, पृ० १६८–१६९।

२२. बी० बी० दत्त, टाउन प्लानिंग इन एंशिएंट इंडिया, पृ० १४६।

२३. 'अपराजितपृच्छा', पी० ए० मनकड का संस्करण (गायकवाड ओरिएंटल सिरीज) प्रस्तावना पृ० १२; एम० डी० वोरा और एम० ए० ढाकी, 'दि डेट आव् दि अपराजितपृच्छा', जर्नल आव् दि ओरिएंटल

नियम यह है कि नगर के पूर्वी भाग में ब्राह्मणों की बस्ती होनी चाहिए, दक्षिणी भाग में क्षत्रियों की, उत्तरी भाग में शूद्रों की और मध्य में वैश्यों की।[२४] प्रत्येक नगर में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, शूद्रों, बनियों, कारीगरों और दस्तकारों की बस्तियाँ पृथक् होती हैं।[२५] पूर्वी, दक्षिणी और उत्तरी भागों में बाजारों के चौक और चौराहे होते हैं। उत्तरपूर्वी भागों में कारीगरों, दस्तकारों, धोबियों और छीपियों के मकान होते हैं।[२६] दक्षिणपूर्वी भागों में मोची और चमार रहते हैं। दक्षिणपश्चिमी भागों में कलालों और शौंडिकों तथा उत्तरपश्चिमी भागों में जुलाहों का निवास होता है।[२७]

गाहड़वाल राजाओं के प्रधानमंत्री लक्ष्मीधर ने 'कृत्यकल्पतरु' में लिखा है कि पुरोहितों, वैद्यों, व्यापारियों, कारीगरों और दस्तकारों को नगर के भीतर स्थान मिलता था और वे वहाँ अपना कामकाज और उद्योगधंधा करते थे।[२८]

भारतीय साहित्य से ज्ञात होता है कि स्थापत्यशास्त्रों के उपर्युक्त नियमों का व्यावहारिक दृष्टि से पूर्णतः पालन होता था। बौद्ध साहित्य से पता चलता है कि नगर की विभिन्न वीथियों में विविध उद्योगधंधों का स्थान होता था। बनारस जैसे नगर में हाथीदाँत का काम करनेवालों, रंगसाजों और जुलाहों आदि की अलग अलग गलियाँ और बाजार होते थे।[२९] श्यामिलक कृत 'पादताडितकम्' में नगर का सजीव वर्णन मिलता है। नगर को 'सार्वभौम' कहा गया है। इसके बाजार (विपणि) में स्त्रीपुरुषों का जमघट रहता था जो जल और स्थल पथों से लाए गए माल और सामान के बेचने खरीदने में व्यस्त थे।[३०] लोगों के धक्केमुक्के और हुल्लड़ से ऐसा शोर उठता था जैसा चरागाहों में गायों का या संध्याकालीन निवास पर

इंस्टीट्यूट, एम० एस० यूनिवर्सिटी आव् बड़ौदा, भाग ९, अंक ४ जून १९६० पृ० ४२४-४३८।

२४. वही ७१।४१ पृ० १७१।

२५. वही ७१।४३।

२६. वही ७१।४७।

२७. वही ७१।४८।

२८. लक्ष्मीधर, कृत्यकल्पतरु (राजधर्म कांड)।

२९. सी० ए० एफ० रीज डेविड्स्, इकोनोमिक कंडीशंस एकार्डिंग टु अर्ली बुद्धिस्ट लिटरेचर, 'कैंब्रिज हिस्ट्री आव् इंडिया' भाग १, पृ० १८५।

३०. श्यामिलक कृत 'पादताडितकम्', वासुदेवशरण अग्रवाल तथा मोतीचंद्र द्वारा संपादित 'चतुर्भाणी' पृ० १९६।

कैश्रों का होता है।[31] कारीगरों की धड़धड़ और दस्तकारों की टनटन कानों को फोड़ती थी। लुहारों के कारखानों में निरंतर खटखट होती रहती थी। कसेरे जब बरतनों को खराद पर उतारते थे तो कुररी जैसा शब्द होता था। शंखकार जब छेनियों से शंखों को तराशते थे तो सँ सँ की आवाज आती थी, जैसे घोड़े जोर से साँस ले रहे हों।[32] मालाकारों की दुकानों पर फूल और गजरे सजे थे और शौंडिकों की शालाओं में सुरा के चषक चल रहे थे।[33] बाजार में सब दिशाओं और देशों से आए हुए लोगों की इतनी भीड़ थी कि रास्ता चलने की जगह नहीं मिलती थी।[34] इस वर्णन से ज्ञात होता है कि कारीगर और दस्तकार नगर के अंदर रहते और काम करते थे। सातवीं शती के बाणभट्ट की कादंबरी में उज्जयिनी का ऐसा ही वर्णन मिलता है। दसवीं शती के लेखक त्रिविक्रम (९१५ खी०) ने विदर्भ के नगर कुंडिनपुर के बाजारों का वर्णन करते हुए लिखा है कि वहाँ कुम्हार आदि कारीगरों के कारखाने थे।[35] चंद्रबरदाई का कन्नौज का वर्णन, 'वादनगरप्रशस्ति' में आनंदपुर का उल्लेख, संध्याकर नंदी के 'रामचरित' में रामावती का चित्रण, बिल्हण के 'विक्रमांकदेवचरित' में प्रवरपुर की चर्चा, जयानक के 'पृथ्वीराजविजय' में अजमेर का जिक्र और पद्मनाभ के 'कान्हडदेप्रबंध' में बालौर का अंकन लगभग इसी प्रकार के हैं। 'कान्हडदेप्रबंध' से यह स्पष्ट है कि चमार, मोची, बढ़ई, छीपी, दर्जी आदि अठारह व्यवसायों (वर्णों) के लोग नगर के अंदर रहा करते थे। इसी प्रकार 'प्रभावकचरित' और 'उपमितिभवप्रपंचकथा' के अनुसार नगर को पाटकों में बाँटा गया है जिसमें चौराहे (चतुष्क) और तिराहे (त्रिक) दुकानों से भरपूर होते थे जहाँ सारे देश का सामान आकर बिकता था। शिलालेखों से भी साहित्यिक सूचनाओं की पुष्टि होती है। उदाहरण के लिये ओड़ीसा के अनंगभीम तृतीय का १२३० खी० का नगरीताम्रपट्ट द्रष्टव्य है। इसे श्री दिनेशचंद्र सरकार ने 'एपीग्राफिया इंडिका' के भाग २८ में संपादित किया है। इसमें हमें पूर्वी भारत के एक नगर की योजना का सजीव चित्र मिलता है। यह नगर पूरण ग्राम और जयनगर ग्राम में अवस्थित था जो साइलो विषय (कटक जिले का साइलो परगना) के अंतर्गत थे। इसमें गंधी, शंखकार, बढ़ई, सुनार, कसेरे आदि रहते थे। उनके नाम

३१. वही, पृ० १६६।

३२. वही, पृ० १६६।

३३. वही, पृ० १६७।

३४. वही, पृ० १६७।

३५. त्रिविक्रम कृत 'नलचंपू', काशी संस्कृत सिरीज, बनारस, १९३२, उच्छ्वास २।

बापुलि, नारायण, दामोदर, माधव, चित्र, सोम, वल्हु, केशव, महादेव, नरसिंह, शिव आदि थे। वहाँ महानाद, सोमा और इरंडु तंबोलियों, मनू माली, महादेव गंधी, धीरु और गर्भा, गडरियों, नागू और अगाई, जुलाहों, गणू और सुन्या तेलियों, अर्जुन और विसू कुम्हारों, राजू, वासू और पद्म मछुओं और इनके अतिरिक्त अनेक नाइयों, धोबियों और कारीगरों के मकान थे।[३५] इस अभिलेख से यह पूर्णतः सिद्ध हो जाता है कि नगरों और कस्बों में दस्तकारों और कारीगरों का प्रमुख स्थान होता था। विभिन्न व्यवसायों के लोगों के नाम देकर, जो मध्यकालीन देशी नामकरण के अध्ययन की दृष्टि से अत्यंत रोचक हैं, इस अभिलेख के लेखक ने इसमें वर्णित नगर-योजना को अपूर्व प्रामाणिकता प्रदान की है।

यह नगरयोजना अक्षुण्णरूप से तेरहवीं और चौदहवीं शती तक चलती रही। विद्यापति की 'कीर्तिलता' में हमें जँवनपुर का अत्यंत रोचक चित्र मिलता है। इसमें लिखा है कि नगर के बाजारों में कारीगरों और दस्तकारों की धड़धड़ कानों को बहरा कर देती थी। कसेरों और ठठेरों के शोर से कान पड़ी आवाज सुनाई नहीं देती थी। सुनारों, सर्राफों, पंसारियों, हलवाइयों, मछुओं, बजाजों आदि के अलग अलग बाजार थे। वहाँ ब्राह्मण और चांडाल आपस में इस तरह टकराते थे कि एक का जनेऊ दूसरे के शरीर में अटक जाता था। संन्यासी और वेश्या की भिड़ंत से एक का शरीर दूसरे के स्तन से छूकर अपना नियंत्रण खो देता था। सब ओर से उठता हुआ भयंकर रव कानों में भर जाता था और ऐसा लगता था कि कोई विशाल समुद्र अपने तटों को आप्लावित करता हुआ, उमड़ा आ रहा हो।[३७]

उपर्युक्त साक्ष्य से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि मुसलमानों के आक्रमणों के समय भारतीय नगरों में दस्तकारों और कारीगरों का विशिष्ट स्थान था। इस विषय में अल-बेरुनी की धारणा अपर्याप्त अन्वेषण और भ्रांतिपूर्ण निष्कर्षों पर आधारित है और फलतः श्री हबीब आदि विद्वानों का उपर्युक्त सिद्धांत युक्ति-संगत नहीं है।

मुसलमानों के आक्रमणों के समय भारत में उद्योगधंधे और व्यापार उन्नति कर रहे थे। सुनारों और अन्य कारीगरों ने एक बड़ा अनुदान दिया था जैसा कि १२०४ ई० के धारावार जिले के बेलगाँव के अभिलेख से ज्ञात होता है।[३८] रेशम के

३६. अनंगभीम तृतीय का नगरीताम्रपट्ट, पंचम पट्ट, सीधी ओर की पंक्ति १२१ - १२४, एपीग्राफिया इंडिका, दिनेशचंद्र सरकार द्वारा संपादित, भाग २८, अप्रैल १९५०, पृ० २५९।

३७. विद्यापति ठाकुर, कीर्तिलता, २।१०० - १०१, पृ० ३८।

३८. एपीग्राफिया इंडिका, भाग १३ पृ० १८।

कीड़ों की कुंडलियों से रेशम का निर्माण, पहाड़ी भेड़ों के बालों से ऊन की तैयारी, हिमालय के हिरन की पूँछ से चँवरों का बनाना, हाथी के दाँतों से हाथीदाँत का सामान बनाने का काम,[39] थाना और खंभात में चमड़े की रँगाई का धंधा,[40] गुजरात में गद्दी और रंगीन चमड़े की चटाइयों का उद्योग जिनमें पशुपक्षियों की आकृतियाँ और सोने और चाँदी की कढ़ाई का काम होता था,[41] चोलदेश और पांड्य प्रांत में मोती निकालने और साफ करने के व्यवसाय,[42] इस युग में अत्यंत समुन्नत थे। चोलदेश में नेगापटम्, गुजरात में अणहिल्लपाटण, पंजाब में मुलतान और पूर्व में बंग और कलिंग वस्त्रों के व्यवसाय के लिये प्रख्यात थे। वहाँ के बने वस्त्रों को क्रमशः 'नागपट्टन' 'अणिलावाद', 'मूलस्थान', 'बंग' और 'कलिंग' कहते थे।[43] मालाबार और गुजरात में रंगीन छींटों की बुनाई का काम बहुत नामी था। खंभात, मालवा, वारंगल और चोलदेश में बढ़िया बुकरम और पापलीन तैयार की जाती थी। पत्थर को तराशने और चिकना करने का धंधा बहुत बढ़ा चढ़ा था, जैसा कि तात्कालिक स्थापत्य और मूर्तिशिल्प से प्रकट होता है।[44] धातु का काम और लोहे की दस्तकारी बहुत उन्नति कर गई थी। पुरी के मंदिर में १७ फुट × ६ इंच × ४ इंच अथवा १७ फुट × ५ इंच × ६ इंच के आकार की २३९ लोहे की शहतीरें लगी हुई हैं। कोणार्क और भुवनेश्वर के मंदिरों में ३५ फुट × ७ इंच अथवा ७॥ इंच वर्ग आकार की लोहे की सरदलें प्रयुक्त हुई हैं। धारा में परमारकाल का पचास फुट ऊँचा लौहस्तंभ संसार में सबसे ऊँची लौह की वस्तु है।[45] उपर्युक्त साक्ष्य से तात्कालिक भारतीय कारीगरों और दस्तकारों की वैज्ञानिक क्षमता, कलात्मक प्रतिभा और औद्योगिक उन्नति का आभास मिलता है। उद्योगधंधों का यह विकास व्यापार के जाल पर निर्भर था। वैजयंतीकोश में धातुओं के विचित्र नाम मिलते हैं। तांबे को

३९. चाओ-जू-क्वा (हर्थ और राकहिल का अँगरेजी अनुवाद)।

४०. ट्रैवेल्स आव् मार्को पोलो (सर हेनरी यूल का अँगरेजी अनुवाद) भाग १, पृ० ३९५,३९८।

४१. वही, भाग २ पृ० ३९१।

४२. चाओ-जू-क्वा, पृ० ९६।

४३. सोमेश्वर कृत 'मानसोल्लास' (गायकवाड ओरियंटल सिरीज) भाग ३, पृ० १०१७-२०।

४४. 'अलबैरूनीज् इंडिया' (सखाओ का अँगरेजी अनुवाद) भाग २, १४४-१४५।

४५. पंचानन नियोगी, आयरन इन एंशियेंट इंडिया, पृ० २१-३०।

'म्लेच्छ' कहा गया है, शीशे का नाम 'यवनेष्ट' है, टीन की संज्ञा 'चीनपट्ट' है।[४६] इन नामों से पता चलता है कि ये धातुएँ क्रमशः पश्चिमी और पूर्वी देशों से भारत में लाई जाती थीं। इसी प्रकार 'मानसोल्लास' में चीन और लंका के वस्त्रों को 'महाचीनभव' और 'सिंहलद्वीपज' कहा गया है[४७] जिससे भारत चीन और लंका के वस्त्रव्यापार पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है।

कला, धंधे और दस्तकारी श्रेणियों द्वारा नियंत्रित और संचालित होते थे। ये श्रेणियाँ अपने आंतरिक नियमन और प्रशासन में स्वतंत्र थीं। इन्हें ऐसे सामूहिक मुहादे करने का अधिकार था जो उनके सदस्यों तथा राज्य पर लागू होते थे। नानादेश - तिशैयायिरत्तु - ऐन्नुर्रवर' आदि व्यापारनिगमों की अनेक शाखाएँ होती थीं जो बहुधा विदेशों में भी कार्य करती थीं। सुमात्रा और बर्मा से प्राप्त अभिलेखों में उनके उल्लेख मिलते हैं। कांबोज, बर्बर, पारस (फारस), नेपाल, चेर, चोल, पांड्य तथा पूर्व और पश्चिम के अनेक विदेशों में उनकी शाखाओं का जाल फैला हुआ था।[४८]

अरब, चीनी और योरोपीय पर्यटकों द्वारा वर्णित तथा मानसोल्लास जैसे भारतीय ग्रंथों में अंकित कृषि, उद्योग और व्यापार के इस विकास से स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है कि इस युग में कारीगरों और दस्तकारों का स्तर और स्थान काफी ऊँचा था। वास्तव में नगरों का वैभव, विलास और सौंदर्य पूर्णतः उनकी कलाओं पर आश्रित था। जैसा कि ऊपर लिखा गया है उन्हें रहने और काम करने के लिये नगर में अच्छे से अच्छे स्थान दिए जाते थे यद्यपि धनिक और निर्धन वर्गों में काफी असमानता थी किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि कारीगरों और दस्तकारों को अछूत समझकर नगरों से बाहर निकाल दिया जाता था। अल - बैरूनी का उल्लेख केवल चांडालों के विषय में चरितार्थ होता है जो गंदे रहते थे और जिनके लिये नगर के निकट ही अलग बस्ती बनाई जाती थी। आज तक भंगियों की बस्ती नगर के कोनों में अलग ही होती है। मुसलमानों के आक्रमणों से इस व्यवस्था में कोई अंतर नहीं पड़ा।

श्री हबीब का कहना है कि भारतीय नागरिक श्रमिकों ने मुस्लिम सलतनत को 'पाँच सौ साल से अधिक की अवधि तक अक्षुण्ण और सुरक्षित रखा। इस सलतनत ने उन्हें बढ़ावा दिया और गले लगाया। उनकी सामाजिक स्थिति

४६. वैजयंतीकोश, ४२।२१; ४३।२५ - ३३।

४७. मानसोल्लास, ३।१०१६।

४८. के० ए० नीलकंठ शास्त्री, 'दि चोलज़्', भाग २ पृ० ४१६।

को बहुत सुधारा।'[४९] इसलिये उन्होंने लिखा है 'यदि कोई व्यक्ति यह विचार करे कि मध्यकालीन भारतीय प्रशासन विदेशी अथवा सैनिक था, तो उसे राजनीतिक और अराजनीतिक भारतीय इतिहास की मौलिक सामग्री से नितांत अनभिज्ञ समझना चाहिए।'[५०] किंतु श्री हबीब ने स्वयं ही एक अन्य स्थान पर यह लिखा था, 'भारतीय इतिहास का तथाकथित मुसलिम युग वस्तुतः तुर्की युग है जिसमें दो अफगान मध्यांतर हैं। ऐसे युग को, जिसमें भारत के मुसलमानों को केवल उनके जन्म के दुःखद तथ्य के कारण उच्च पदों से वंचित रखा जाता था, मुसलिम युग कहना व्यंग्यपरक प्रतीत होता है।'[५१] यहाँ श्री हबीब स्पष्टतः यह स्वीकार करते हैं कि भारत के तुर्की और अफगान राज्य वास्तव में विदेशी प्रशासन थे जिन्हें न स्वदेशी कहा जा सकता है न लोकप्रिय। क्योंकि उनमें भारतीय मुसलमानों और विदेशी मुसलमानों को भेदपूर्ण दृष्टि से देखा जाता था, काफिर हिंदुओं का तो कहना ही क्या। इस्लाम ग्रहण करने-वाला इमादुद्दीन रैहान जैसा भारतीय कुछ समय के लिये राज्य में उच्च पद प्राप्त कर सकता था किंतु गियासुद्दीन बलबन जैसे व्यक्तियों के नेतृत्व में चलनेवाले तुर्की अभिजातवर्ग के सामने उस पद को सँभाले रखना असंभव था। बहमनी राज्य के इतिहास में भारतीय मुसलमान और विदेशी मुसलमान का द्वंद्व और विरोध चरम सीमा पर पहुँच गया था।[५२] विदेशी सामंत, 'उमरा', राज्य पर पूर्ण अधिकार रखते थे। इन्होंने अपना एक सामूहिक संगठन बना रखा था जिसे 'चालीस' कहते थे। वे वास्तविक राजनिर्माता थे। बलबन उनमें से एक था। किंतु राज्यारूढ़ होने पर उसने इन्हें खतरनाक समझा और इनमें से कुछ को समाप्त भी कर दिया। इस क्षणिक पराभव के पश्चात् वे फिर शक्तिशाली हो गए और उनका यश इतना बढ़ा कि कैकुबाद और उसके पिता बुगरा खाँ को उनकी सहायता माँगनी पड़ी। अलाउद्दीन खिलजी ने भी उनके आतंक को अनुभव करते हुए उनमें भारतीय मुसलमानों को भरती करना शुरू किया किंतु ये भारतीय मुसलमान विदेशियों से भी बाजी मार ले गए और सामान्य मुसलमान खुसरो खाँ और उसके साथियों के व्यवहार से थर्रा उठे। विदेशी मुसलमानों को यह डर होने लगा कि कहीं वे भारतीय प्रभाव के ज्वार में बह न

४९. मुहम्मद हबीब, वही, पृ० ५० ।

५०. वही, पृ० ११ ।

५१. मुहम्मद हबीब, भारतीय इतिहास परिषद् के वार्षिक संमेलन, बंबई में अध्यक्षीय अभिभाषण, प्रोसीडिंग्स् आव् दि हिस्ट्री कांग्रेस बंबई, १९५७, पृ० १५ ।

५२. वही, पृ० २८० ।

जायँ। इस अवसर और मनोवृत्ति का लाभ उठाते हुए गियासुद्दीन तुगलक ने खुसरो खाँ को हटाकर स्वयं राज्य की बागडोर सँभाल ली और विदेशी 'उमरा' के प्रशासन को पुनर्गठित कर दिया। उसके उत्तराधिकारी मुहम्मद तुगलक को यह सूझी की भारत से बाहर के मुसलिम देशों से वि`शियों को बुलाकर राज्य के उच्च पद दिए जायँ। भारतीय मुसलमान ही नहीं भारत में बसे हुए तुर्की मुसलमान भी तिरस्कार और अविश्वास के पात्र बन गए। वजीर, दबीर, शेखुलइसलाम, सिपहसालार आदि के महत्वपूर्ण पद विदेशियों को दिए गए। इन विदेशियों को अइज्जा (आदरणीय) कहते थे। वे केवल लूट खसोट और धनसंचय से वास्ता रखते थे, अपने कर्तव्य के पालन से उन्हें कोई सरोकार नहीं था। अतः सुलतान को घोर निराशा हुई और अपने राज्य के अंतिम भाग में उसने प्रशासन में सामान्य व्यक्तियों को भरती करना शुरू कर दिया। ननका, लोधा, पीरा, किशन आदि कुछ हिंदुओं को भी छोटे मोटे पद मिले किंतु इससे जियाउद्दीन बरनी जैसे विद्वान् इतिहासकार का रोप भभक उठा।'[५३] जैसा कि मुहम्मद अशरफ ने लिखा 'विदेशी' प्रशासक और विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों को जो मानसंमान मिलता था उससे विदेशी और अभारतीय मुसलमान समाज में सर्वोच्च स्थान के अधिकारी माने जाने लगे थे। भारत में सभी लोगों ने यथासंभव अपने लिये विदेशी वंशावली तलाश करना शुरू कर दिया था।'[५४]

जियाउद्दीन बरनी ने, जो भारत में मुसलिम सत्ता की स्थापना की प्रारंभिक शताब्दियों का सबसे प्रामाणिक इतिहासकार है, लिखा है कि उस काल के तुर्क सुलतान हीन जाति के लोगों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। उसके कथनानुसार इलतुतमिश ने तैंतीस व्यक्तियों को सिर्फ इसी लिये राजकीय पदों से बर्खास्त कर दिया कि उनका खानदान ऊँचा और नामी नहीं था। जमाल मरजूक को कन्नौज का मुतसर्रिफ मुकर्रर किया जा रहा था, लेकिन अजीज बहरूज ने एतराज कर दिया कि उसका खानदान नीचा है और फौरन जमाल के मुकर्रर करने का हुक्म मंसूख कर दिया गया। यही नहीं उसके शिफारसी निजामुलमुल्क जुनैदी को भी कहा गया कि अपने खानदान का सबूत पेश करे और जब यह पता चला कि वह तो सिर्फ जुलाहा है तो सुलतान ने उसपर से सारा विश्वास हटा लिया। इसी परंपरा का पालन करते हुए बलबन ने सब महत्वपूर्ण पदों से छोटे खानदानों के लोगों को अलग कर दिया। जब उसके

५३. मुहम्मद अशरफ, लाइफ ऐंड कंडीशंस आव् दि पिपुल आव् हिंदुस्तान (१२००–१५५० ई०), जर्नल आव् दि एशियाटिक सोसायटी आव् बंगाल' ('१६३५), भाग १, पृ० १७७–१७८।

५४. वही, पृ० १२१–१२२।

दरबारियों ने कमाल महियार नामक एक भारतीय मुसलमान को अमरोहे के मुतसर्रिफ के पद के लिये चुना तो सुलतान ने उन्हें खुले दरबार में यह कहकर कड़ी डाँट बताई 'मैं अफरासियाब का खानदानी हूँ, मैं कभी किसी छोटे खानदान के आदमी को ऊँचा स्थान नहीं दूँगा। जब मैं किसी छोटे खानदान के आदमी को देख लेता हूँ तो मेरा खून खौलने लगता है।' ज़ियाउद्दीन बरनी ने 'फतवा - ए - जहाँदरी' में जो विचार प्रकट किए हैं वे मुसलिम राजकीय वर्गों की मनोवृत्ति के परिचायक हैं। छोटे खानदान के लोगों के बारे में उसने लिखा है—

'छोटे खानदानों के लोग, जो निचले कामों और घटिया व्यवसायों के लिये रखे जाते हैं, केवल अशिष्टता, मिथ्याचार, कृपणता, गबन, पाप, बेइमानी, झूठ, बुराई, कृतघ्नता, गंदगी, अन्याय, क्रूरता, निर्लज्जता, हिंसा, दुष्टता, प्रदर्शनप्रियता और भगवान् में अश्रद्धा के योग्य हैं। अतः उन्हें हीनजन्म, बाजारू, निम्न, कमीने, निकम्मे, साधारण, निर्लज्ज और घृणित कहा जाता है। निम्न और छोटे खानदान के लोगों के पदों की उन्नति करने से इस लोक में कुछ लाभ नहीं होता क्योंकि सृष्टि के नियमों का उल्लंघन करना बुद्धिमत्ता नहीं है।''[५५]

खलीक अहमद निजामी ने बरनी के इन विचारों को उद्धृत करते हुए लिखा है कि वह 'शरीफ' और 'रजील' के अपने वैयक्तिक विचारों को सुलतानों पर आरोपित कर रहा था। उसका तर्क यह है कि इसामी ने बलबन की नीति का वर्णन करते हुए इन बातों का उल्लेख नहीं किया। किंतु क्या कहीं इसामी ने बरनी के विचारों का खंडन किया है? वस्तुतः इस महान् इतिहासकार पर विश्वास न करने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता। जहाँ तक सूफियों के दृष्टिकोण का प्रश्न है वह एक अलग विषय है। इन संतों के विचार सुलतानों की नीति नहीं थे। इनमें बड़ा अंतर था जैसा सिद्धांत और व्यवहार में सदा हुआ करता है। राज्य की नीति से ही बहुधा जनता की सामाजिक और आर्थिक स्थिति निर्धारित होती थी। यह विचार करना कि ऐसी भेदपूर्ण नीति से भारत में नागरिक क्रांति का सूत्रपात हो सकता था, कोरी कल्पना है।

भारत में मुसलमानों की विजय, अत्याचार और रक्तपात की एक करुण कथा है। आक्रमणकारियों ने तोड़फोड़ की, तहसनहस किया, लूटखसोट की, कत्ल गारत किया। गाँव के गाँव फूँक दिए गए, फसलें बर्बाद कर दी गईं, लोगों का धनधान्य लूट लिया गया, ब्राह्मण, स्त्रियों और बच्चों को पकड़ पकड़ कर कच्चे चमड़े के कोड़ों

५५. बरनी की तारीखे फिरोजशाही और 'फतवा-ए-जहाँदारी' निजामी द्वारा अपने उपर्युक्त ग्रंथ के पृ० १००-१०१ पर उद्धृत।

से बुरी तरह मारा गया। गायों को मारकर उनका खून और मांस कुओं में भर दिया गया जिससे बालवृद्ध प्यास से तड़पकर मरने लगे। लोगों का कष्ट और दुःख अवर्णनीय था। सेनाओं के साथ साथ पूरा कारागार चलता था और बंदियों को जबरन मुसलमान बनाया जाता था। पंद्रहवीं शती के एक लेखक पद्मनाभ ने अपने ग्रंथ 'कान्हडदेप्रबंध' में मुसलिम विजययात्रा का उपर्युक्त हृदयविदारक वर्णन किया है।[५६]

अमीर खुसरो जैसे उदार और प्रबुद्ध मुसलमान ने भी लिखा है कि भूमि खड्ग की धार के जल से आप्लावित हो गई और कुफ्र (अविश्वास) की भाप तिरोहित हो गई।[५७] इससे यह स्पष्ट है कि हिंदुओं ने अधिकतर क्रूरता और विवशता के कारण इस्लाम धर्म स्वीकार किया। हिंदू धनिक वर्गों के विनाश और विघटन के फलस्वरूप कारीगर और दस्तकार उनके आश्रय से वंचित हो गए। मुसलिम क्षेत्रों में अपना सामान बेचने के हेतु और जजिया के भार से बचने के निमित्त उनमें से कुछ ने इस्लाम को अंगीकार कर लिया। किंतु उन्होंने अपनी व्यवसायीय पृथकता बनाए रखी और वे नगरों के अलग अलग मुहल्लों में बसते रहे। मुहम्मद अशरफ के शब्दों में 'औद्योगिक श्रेणियाँ जातिप्रथा पर आधारित थीं और पैतृक थीं। उनके औजार और काम करने के तरीके मामूली थे और माल की तैयारी कम थी, यद्यपि किस्म अच्छी थी। उनको छोड़कर जो सरकारी कारखानों में काम करते थे अथवा सरकारी नौकरियों पर थे, दस्तकारों को समुचित राजकीय आश्रय नहीं मिलता था जिससे उनके हितों का संपादन हो सके। औद्योगिक वस्तुओं का निर्माण एक छोटे से अभिजात वर्ग की आवश्यकताओं पर निर्भर था। यह वर्ग कुछ किस्मों के सूती वस्त्रों, धातु या लकड़ी की कुछ वस्तुओं, निश्चित नमूने के स्थापत्य और छोटे मोटे अन्य सामान से संतुष्ट हो जाता था। कारीगर ऐसा ही सामान बनाते थे और उन्हें समस्त जाति की विशाल आवश्यकताओं का कोई अनुभव नहीं था।'[५८] इन परिस्थितियों में तेरहवीं शती की भारतीय नागरिक क्रांति का सिद्धांत एक कपोलकल्पना और रहस्यमयी भावना के अतिरिक्त कोई मूल्य नहीं रखता।

५६. पद्मनाभ कृत 'कान्हडदेप्रबंध' (जिनविजयमुनि द्वारा राजस्थान पुरातत्व ग्रंथमाला में संपादित) १।१५७-१६१।

५७. रमेशचंद्र मजुमदार 'हिंदू मुसलिम रिलेशन्स', दि स्ट्रगल फार एंपायर पृ० ४९९-५०२।

५८. मुहम्मद अशरफ, वही, पृ० २१७।

श्री हबीब की दूसरी युक्ति यह है कि हिंदूसमाज का जातिविधान अत्यंत कठोर और जटिल हो गया था और जनता इससे बहुत पीड़ित थी। इस्लाम का आगमन इस जातीय कठोरता के विरुद्ध एक प्रबल विद्रोह था। इससे निम्न जातियों के पददलित लोगों को बड़ी सांत्वना प्राप्त हुई। 'जब भारतीय नागरिक श्रमिक के समक्ष शरीयत की अर्थव्यवस्था तथा स्मृति के व्यावहारिक विकल्प उपस्थित हुए तो उसने शरीयत को पसंद किया।'[५९] अपने सिद्धांत के इस भाग के समर्थन में श्री हबीब ने अल-बैरूनी के निम्नलिखित कथन का आश्रय लिया है, 'मुझे बारंबार यह बताया गया है कि जब हिंदूदास भागकर अपने देश और धर्म में वापस जाते हैं तो हिंदू लोग उन्हें प्रायश्चित्त के रूप में उपवास करने का आदेश देते हैं। उसके बाद वे उन्हें गोबर, गोदुग्ध आदि में कुछ दिनों के लिये दबाते हैं जब तक कि वह सड़ न जाय। उसके बाद वे उन्हें खाने के लिये वही गंदगी देते हैं। मैंने ब्राह्मणों से पूछा कि क्या यह सूचना ठीक है। किंतु उन्होंने इसका निषेध किया वे कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति के लिये कोई प्रायश्चित्त संभव नहीं है और उन्हें कभी भी जीवन में वह स्थान नहीं दिया जा सकता जो उन्हें बंदी बनाए जाने से पहले प्राप्त था। यह संभव हो भी कैसे सकता है। यदि कोई ब्राह्मण शूद्र के घर भोजन कर ले तो उसे जाति से निकाल दिया जाता है और वह पुनः उस स्थान को प्राप्त नहीं कर सकता।'[६०] अल-बैरूनी की यह सूचना सुनी सुनाई है और उसे स्वयं इस विषय में निश्चय नहीं था जैसा कि उसने लिखा है। उसने उन व्यक्तियों की सूचनाओं का आश्रय लिया जिनके संपर्क में वह आया। कभी कभी ये सूचनाएँ अतिरंजित और विचित्रतापूर्ण होती थीं। साथ ही उसने ऐसे पुराने सैद्धांतिक ग्रंथों का परायण किया जिनका सामाजिक दृष्टिकोण कठोर तथा कट्टर था। सिद्धांत और व्यवहार में सदैव अंतर होता है। सिद्धांत रुद्ध हो जाता है और व्यवहार उससे आगे निकल जाता है। यद्यपि अल-बैरूनी के ब्राह्मणसूचकों ने उसे यह बताया कि जो व्यक्ति एक बार म्लेच्छों के संपर्क में आ जाता है उसके लिये कोई प्रायश्चित्त विहित नहीं है और उसे फिर से हिंदू धर्म में

५९. हबीब, वही, पृ० ५०; रमेशचंद्र दत्त 'ए हिस्ट्री आव् सिविलिजेशन इन एंशिएंट इंडिया' भाग २ पृ० ४७६-९८; कावालम माधव पणिक्कर, 'ए सर्वे आव् इंडियन हिस्ट्री' पृ० १२६-२८; रमेशचंद्र मजुमदार 'एंशिएंट इंडिया' पृ० ४९६-५०८; खलीक अहमद निजामी, 'सम आस्पेक्ट्स आव् रिलिजन ऐंड पालिटिक्स इन इंडिया इन दि थर्टींथ सेंचुरी' पृ० ६७-७४।

६०. अल-बैरूनी का भारत (सखाओ का अनुवाद) भाग २, पृ० १६२-१६३।

प्रविष्ट होने का अवसर कदापि नहीं दिया जा सकता, तथापि देवलस्मृति, अत्रिस्मृति आदि ग्रंथों में शुद्धि की प्रक्रिया का सुनियमित विधान मिलता है। सिंधु के तट पर बैठकर देवल ऋषि ने उन हिंदुओं की शुद्धि का आदेश दिया जिन्हें म्लेच्छ बलपूर्वक पकड़कर ले गए हों और गो का वध करने तथा उसका मांस खाने के लिये विवश कर दिया हो अथवा जिन्हें उनकी स्त्रियों के साथ रहने और भोजन करने के लिये बाध्य किया गया हो। इस प्रकार की शुद्धि के लिये एक सरल और साधारण उपचार पर्याप्त था। यही नहीं वे स्त्रियाँ भी जिन्हें म्लेच्छ उठा ले गए हों और भ्रष्ट कर चुके हों, शुद्धि के उपचार द्वारा पुनः वे हिंदू धर्म और समाज में प्रविष्ट की जा सकती थीं।[६१] देवल के अतिरिक्त विज्ञानेश्वर ने याग्यवल्क्यस्मृति (३।२६५) की मिताक्षरा टीका में इस विषय पर अनेक स्मृतियों और शास्त्रों के प्रमाण संगृहीत किए हैं और स्वयं उनका समर्थन किया है।[६२] ये विधिविधान लोकसंमत और व्यवहृत थे इसका प्रमाण इस तथ्य से मिलता है कि वे सब स्त्रीपुरुष जिन्हें मुहम्मद बिन कासिम ने बलपूर्वक मुसलमान बनाया था उसके लौटने के बाद फिर से शुद्ध कर लिए गए।[६३]

यद्यपि शुद्धि की प्रथा उस युग में चल निकली थी और जिन लोगों को मुसलिम आक्रामक बलपूर्वक मुसलमान बना लेते थे उनको फिर से हिंदू बनने की सुविधा दी जाती थी। इसमें संदेह नहीं है कि जातीय संकीर्णता देश में बढ़ रही थी। ब्राह्मण ही नहीं जैन भी इस प्रवाह में बह रहे थे। सोमदेव कृत 'नीतिवाक्यामृत' (लगभग ६५६ खी०) में ब्राह्मणढंग का जातीय विधान स्वीकार किया गया है और अंतर्जातीय विवाहों पर प्रतिबंध लगाया गया है। इसी प्रकार हेमचंद्र सूरि के 'लघ्वर्हन्नीतिशास्त्र' (१०८८-११७६ खी०) में, जो उनके प्राकृतग्रंथ 'बृहदर्हन्नीतिशास्त्र' का संक्षिप्त संस्करण है, ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों, जैसे मृत्युदंड और शरीरदंड से उनकी मुक्ति, की चर्चा है, यद्यपि यह अपवाद स्त्रियों, संन्यासियों और साधुओं के लिये भी लागू कर दिया गया है। जिनदत्त सूरि (१०७५-११५४ खी०) ने अपनी बिरादरी के बाहर शादी विवाह करने पर रोक लगाई है।[६४] जैनों

६१. देवलस्मृति और अन्य शास्त्र 'आनंदाश्रम संस्कृत सिरीज' के 'स्मृतीनां समुच्चयः' में प्रकाशित।

६२. याज्ञवल्क्यस्मृति (निर्णयसागर प्रेस १६२६), पृ० ४२३-३१।

६३. इलियट और डाउसन, हिस्ट्री आव् इंडिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियंस' भाग १ पृ० १२६।

६४. जिनदत्त सूरि, 'उपदेश रसायन' प्राचीन काव्यसंग्रह (गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज) भाग ३८ पद्य १३।

की तरह बौद्ध भी सांप्रदायिक संकीर्णता में ग्रस्त हो चले थे। हीनयानी और महायानी पृथक् वर्गों में विभक्त हो चुके थे जो आपस में ईर्ष्याद्वेष रखते थे। जब भोट भिक्षु धर्मस्वामी अपने हाथ में अष्टपारमिता की पांडुलिपि लेकर बोधगया के महाबोधि मंदिर में घुसा तो वहाँ के पुजारी ने इसे जल में फेंक देने को कहा और यह कहा कि बुद्ध भगवान् ने कभी भी महायान की शिक्षा नहीं दी थी।[६५] उसके यात्राविवरण से पता चलता है कि यद्यपि बिहार, बंगाल में बौद्ध धर्म का बोलबाला था तथापि वहाँ जातीय भावना जनता की मनोवृत्ति में बैठ गई थी। एक बार धर्मस्वामी एक नदी को पार करता हुआ जल के प्रवाह में बह चला। उसने तट पर एक मनुष्य को देखा और उससे सहायता की प्रार्थना की। किंतु उसने यह कह कर कि वह उछूत है उसको छूने या बचाने में अपनी असमर्थता प्रकट की।[६६] इस यात्री ने लिखा है कि जिस भोजन पर शूद्र की दृष्टि भी पड़ जाती थी वह हेय समझा जाता था।

इस जातीय संकीर्णता के विरुद्ध भारत में ही एक आंदोलन जोर पकड़ रहा था और फलतः निम्न वर्गों की स्थिति में क्रमशः सुधार हो रहा था। गाहडवाल मंत्री लक्ष्मीधर ने 'कृत्यकल्पतरु' में लिखा है कि शुद्ध विचारों का शूद्र दुष्ट ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य से श्रेष्ठ है। मेधातिथि और विश्वरूप का विचार है कि शूद्र न तो दास है और न ब्राह्मण पर निर्भर है। शूद्रों के, सेनाओं में भरती होकर क्षत्रियों की तरह युद्ध करने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। कभी कभी शूद्र इतना धन एकत्र कर लेते थे कि बड़े बड़े दान करते थे। गोविंदकेशव के भटेरा अभिलेख से तथा सोमनाथ मंदिर के अभिलेख से ज्ञात होता है कि ठठेरों और शंखकारों ने गृहदान किए थे। सियादोनी अभिलेख और चित्रप्रशस्ति से पता चलता है कि मालियों और तंबोलियों ने उत्तरप्रदेश में ग्वालियर के मंदिरों में पुष्प और पान भेजना स्वीकार किया था। संदेराव के लेख में लिखा है कि वहाँ के बढ़इयों और रथकारों ने राजस्थान में एक पर्व के लिये भूमि का दान दिया था। वैल्लभट्टस्वामी अभिलेख से स्पष्ट है कि तेलियों ने मंदिरों की मरम्मत के लिये चंदा दिया था। सेनवंश के राज्यकाल में कैवर्त अथवा मछुओं को सत्शूद्रों का पद दिया गया था। बल्लालसेन ने महेश नामक कैवर्त महत्तर को महामांडलिक की उपाधि प्रदान की थी। इनमें से कुछ कैवर्तों ने साहित्यरचना भी की थी। 'सदुक्तिकर्णामृत' में केवट्ट पपिप के पद्य मिलते हैं। मछुओं और मल्लाहों की

६५. जार्ज रोहरिख, बायोग्राफी आव् धर्मस्वामी। (काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पटना, १९५९) पृ० ७४ - ७५।

६६. वही।

तरह जुलाहे भी उन्नति कर रहे थे। कुछ विद्वानों का विचार है लक्ष्मणसेन का राजकवि धोई जाति का जुलाहा था। कश्मीर में चांडाल दरबानों और चौकीदारों का काम करते थे। डोम गानेबजाने और शिकार खेलने के लिये रखे जाते थे। चर्यागीतों से प्रकट होता है कि डोम और शबर धार्मिक नेता तक बनने लगे थे।[६७] इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि सैद्धांतिक कट्टरता के होते हुए व्यावहारिक दृष्टि से समाज में पर्याप्त लोच और लचक थी।

वास्तव में मुसलमानों के आगमन के समय में भारत में जातिपाँति के विरुद्ध एक प्रबल आंदोलन चल रहा था जो उनके आने के बाद नई दिशाओं में पहुँचकर बहुत जोर पकड़ गया। इनके आक्रमणों से कुछ पहले की शताब्दियों के धार्मिक इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जायगा कि सामाजिक बंधनों और जातीय भेदभाव के विरुद्ध भारतीय जनता ने स्वयं ही एक विद्रोह छेड़ दिया था। इस सामाजिक समानता के संग्राम में मुसलमानों का योग नगण्य था।

आठवीं शती के अंत में पूर्वी भारत में बौद्ध भिक्षु राहुलभद्र ने जो सरहपाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ, एक प्रबल सामाजिक आंदोलन को जन्म दिया जिसका लक्ष्य सामाजिक भेदभाव को दूर करना था। उसने निम्न जाति के लोगों के साथ संपर्क रखने की भावना को बढ़ावा देकर ऊँच नीच के भेद को दूर करने का प्रयास किया। ब्राह्मणों और अन्य धर्माचार्यों के पाखंडों पर उसने कठोर प्रहार किए और यह स्पष्टतः घोषित किया कि चांडाल के घर भोजन करने से कोई पाप नहीं लगता।[६८] सरह के अनुयायी 'सिद्ध' कहलाए, जिन्होंने आठवीं शती से बारहवीं शती तक भारतीय संस्कृति, धर्म और विचारधारा पर गंभीर प्रभाव डाला। इनकी संख्या ८४ मानी जाती है और इनमें सभी जातियों, वर्गों और व्यवसायों के लोग संमिलित थे। वर्णरत्नाकर और हठयोगप्रदीपिका आदि ग्रंथों में उनकी विस्तृत सूचियाँ मिलती हैं किंतु भोटिया साहित्य में उनके जीवनचरित्र भी पाए जाते हैं। कभी संस्कृत में भी यह साहित्य रहा होगा क्योंकि तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने इंद्रदत्त, इंद्रभद्र और भटघद्रि आदि भारतीय लेखकों के वर्णन के आधार पर अपने लेख तैयार किए। हाल ही में इटली के विद्वान् गुइसेपे तूची ने नेपाल से प्राप्त सिद्धों का संस्कृत जीवन-

६७. भक्तप्रसाद मजुमदार, सोशियो - इकोनोमिक हिस्ट्री आव् नार्दर्न इंडिया (१०३० - ११९४ ई०), पृ० १०६ - ११५।

६८. सरहपाद, दोहाकोश (राहुल सांकृत्यायन बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना), पृ० २१।

चरित्र प्रकाशित किया है।[६९] यद्यपि सिद्धों का संप्रदाय सभी जातियों के लोगों के लिये खुला था पर इसमें निचली जातियों को अधिक महत्व दिया जाता था। सिद्धों की रचनाओं में नैरात्म्य जैसी प्रमुख भावना को डोंबी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। साधक उसके साथ रहने को उतावला दिखाई देता है। कृष्णपाद (कण्हपा) की एक गीति में यह भाव विशेषरूप से पाया जाता है।[७०] इसी प्रकार भुसुकपा ने 'अवधूती' को जिसके द्वारा प्राणवायु सहस्रार की ओर चलती है, चांडाली के रूपक द्वारा प्रस्तुत किया है।[७१] डोंबीपा ने इसे तथा नैरात्म्य को मातंगी कहा है। शबरपा ने नैरात्म्य और शून्यता को महासुखस्थान में रहनेवाली शबरी बताया है।[७२] मत्स्येंद्रनाथ कृत 'कौलज्ञाननिर्णय' में लिखा है कि शिव ने शास्त्रों की रक्षा के लिये धीवर का अवतार लिया।[७३] इस ग्रंथ के अनुसार शिव ने मछुआ जाति के मत्स्येंद्र का रूप धारण कर चंद्रद्वीप में योगिनीकौल मार्ग का प्रवर्तन किया, जिसकी पहचान बागची महाशय के मतानुसार बंगाल के डेल्टा में स्थित संदीप नामक द्वीप से की जाती है।[७४] इंद्रभूति के मतानुसार तांत्रिक धर्मसाधना में निचली और पिछड़ी जातियों की स्त्रियों का महत्वपूर्ण स्थान था।[७५] गुह्यसमाजतंत्र में धोबी की लड़कियों को विशेष महत्व दिया गया है।[७६] लुई रनू ने सिद्धों की साधना को जनतंत्रात्मक कहकर उसकी तुलना 'फ्री मेसनरी' आंदोलन से की है।[७७] नाथयोगियों में भी जातिपाँति का कोई प्रश्न नहीं था। उनके द्वार प्रत्येक व्यक्ति के लिये खुले थे।

६९. तूची, 'एनीमद्वर्सियोनेस इंदीके', 'जर्नल आव् दि रायल एशियाटिक सोसायटी आव् बंगाल, भाग २६ १९३० पृ० १४८ - १५५।

७०. चर्यागीतिकोश (प्रबोधचंद्र बागची और शांतिभिक्षु शास्त्री) पृ० ३३ कण्हपा की गीति।

७१. वही, पृ० १५३।

७२. वही, पृ० ४७।

७३. वही, पृ० ३२।

७४. कौलज्ञाननिर्णय (प्रबोधचंद्र बागची) पृ० १२६।

७५. इंद्रभूति कृत 'ज्ञानसिद्धि' (विनयतोष भट्टाचार्य द्वारा गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज में प्रकाशित 'टू वज्रयान वर्क्स' नामक कृति में मुद्रित) पृ० ३१।

७६. गुह्यसमाजतंत्र (गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज में विनयतोष भट्टाचार्य द्वारा संपादित) पृ० ३४।

७७. लुई रनू, 'रिलिजन्स आव् एंशियंट इंडिया' पृ० ८७।

उन्होंने अपने व्यापक प्रचार और प्रसार द्वारा भारतीय समाज से जातिपाँति की कठोरता को दूर करने का महान् प्रयास किया था।[७८] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव, वज्रयानी, सहजयानी, सिद्ध, नाथ, योगी आदि संप्रदायों ने जातिपाँति का निषेध किया। आगे चलकर उनकी विचारधारा भक्तों, संतों सूफियों और गुरुओं के जीवनदर्शन में पल्लवित हुई जो मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के केंद्रबिंदु थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुसलमानों द्वारा हिंदुओं की पराजय का कारण न जातिपाँति का भेद था और न दस्तकारों, कारीगरों और श्रमिकों का अधःपतन। इस विषय में श्री हबीब आदि विद्वानों के विचार मन को नहीं लगते। उन्होंने अपर्याप्त साक्ष्य पर भरोसा करके और भारतीय सांस्कृतिक सामग्री पर ध्यान न देकर कल्पनाओं के प्रासाद खड़े किए हैं। वास्तव में भारतीय राज्यों की पराजय और हिंदूसमाज का पराभव एक विचित्र सामाजिक मनोवृत्ति का परिणाम था जिसकी ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। भारतीय लौकिक और धार्मिक साहित्य को सामाजिक और सांस्कृतिक प्रतीकात्मक दृष्टिकोण से देखने पर कुछ ऐसे तथ्य सामने आते हैं जिनसे तात्कालिक समाज की मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक प्रवृत्तियों पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है।

तात्कालिक धर्मसाधना दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों पर निर्भर थी। एक ओर तो जगत् को शून्य और असार घोषित किया जाता था और दूसरी ओर इसी को सब कुछ मानकर भव और निर्वाण की एकता स्थापित की जाती थी। इस युग में नागार्जुन का महत्व बढ़ गया था क्योंकि उन्होंने शून्य के सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। तात्कालिक साहित्य में वह सम्राट, संत, विद्वान् और रसायनशास्त्री सिद्ध के रूप में सामने आता है।[७९] वस्तुतः वह एक सांस्कृतिक मनोवृत्ति का प्रतीक मात्र बन गया है। एक नागार्जुन ने पचंक्रम नामक ग्रंथ में शून्य, अतिशून्य, महाशून्य और सर्वशून्य के सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। 'प्रज्ञापारमितासूत्र' और 'गुह्यसमाज तंत्र' के अनुसार महाशून्य ही काय, वाक् और चित्त का उद्गम है जिससे पाँच ध्यानी बुद्ध और उनकी शक्तियाँ प्रादुर्भूत हुई हैं। बौद्धों की तरह नाथशैव भी शिव को शून्यनिरंजन समझते थे। ओड़ीसा आदि प्रांतों में अब तक भी निरंजन-

७८. जायसी कृत 'पद्मावत' (वासुदेवशरण अग्रवाल) २९१। १-२ पृ० २४१।
७९. राजशेखर सूरि, प्रबंधकोश (सिंघी जैन ग्रंथमाला में जिनविजयमुनि द्वारा संपादित) पृ० ८४; मेरुतुंग, प्रबंधचिंतामणि (जिनविजयमुनि) पृ० १२१; 'पुरातनप्रबंधसंग्रह, वही, पृ० ४१।

संप्रदाय का बड़ा प्रचार है। मध्यकाल का सारा जीवनदर्शन शून्य की भावना पर आश्रित है। जायसी,[८०] कबीर,[८१] रैदास,[८२] दादू,[८३] नानक,[८४] मीरा[८५] सभी ने किसी न किसी रूप में शून्य की विचारधारा को स्वीकार किया है।

जगत् को असार शून्य समझकर ही राजा लोग राजपाट छोड़कर सिद्धों के आश्रमों में योगतंत्र की साधना करते थे। राजा गोपीचंद ने राज छोड़कर जलंधरनाथ (हाडीपा) की शरण ली थी। मध्यकाल में गोपीचंद का योग बहुत प्रसिद्ध हो गया था। अनेक राजाओं ने उसका अनुकरण किया होगा। 'पद्मावत' के अनुसार राजा रत्नसेन सोलह सहस्र सामंतों के साथ योगी हो गया था।[८६] सिद्धों के विचार से राजपंथ काँटों का मार्ग और कृपाण की धार थी जिसे छोड़ने में ही सुख और श्रेय था।[८७] राजा दारिकपा ने राज छोड़कर लुइपा के चरणों में दीक्षा ली और शांति अनुभव की।[८८] जब राजाओं का यह हाल था तो साधारण जनता का तो कहना ही क्या है।

शून्य की मनोवृत्ति से जिस पलायनवादी भावना का जन्म होता है उससे मनुष्य समाज, धर्म, संस्कृति के सब आदर्शों का खंडन तो करता है पर उनके स्थान में नए आदर्शों की सृष्टि की ओर ध्यान नहीं देता। अतः हम देखते हैं कि नाथ, सिद्धों और योगियों ने धर्म, शास्त्र, तीर्थ, तप, मंत्र, तंत्र सबकी खबर ली, पंडितों, पुरोहितों, वैद्यों और अग्निहोत्रियों को खरी खरी सुनाई और जातिपाँति, ऊँच नीच सबका खंडन किया, किंतु उनके स्थान में किसी नई व्यवस्था या किसी सृजनशक्ति का परिचय नहीं दिया।

किंतु संसार को असार कहने का अर्थ यह नहीं था कि इससे जो सुख मिलता है मनुष्य उसका तिरस्कार करे। प्रत्युत, इसके सुख का पूरा उपभोग करना ही जीवन का मंतव्य माना गया। योग और भोग की एकता, भव और निर्वाण की समरसता,

८०. जायसी कृत पद्मावत, पृ० २२५।
८१. 'संत कबीर', पृ० ११२।
८२. रैदास की बानी', पृ० ३।
८३. 'दादूदयाल की बानी', भाग १, पृ० १७०।
८४. 'प्राणसंगली', पृ० १३०।
८५. 'मीरा-बृहद्-पदसंग्रह', पृ० ३२४।
८६. 'पद्मावत', पृ० १३१।
८७. 'चर्यागीतिकोश', पृ० ५१ शांतिपाद का पद।
८८. 'वही', पृ० ११२, दारिकपाद का पद।

शून्य और सुख का समन्वय, इस युग की साधना में बद्धमूल थे। अतः साधकजगत् में पंचमकारों की खुली छूट थी। कर्पूरमंजरी और प्रबोधचंद्रोदय से ज्ञात होता है कि कौल साधक मांसभक्षण, सुरापान और रमणीरमण द्वारा अपूर्व सिद्धियाँ प्राप्त करते थे।[८९] 'रुद्रयामल' के अनुसार बुद्ध ने चीनभूमि में वसिष्ठ को मद्य, मांस, महिला, के प्रयोग का खुला उपदेश दिया।[९०] कौलज्ञाननिर्णय में मत्स्येंद्रनाथ ने इन वस्तुओं के उपभोग का मार्ग खोल दिया।[९१] 'पुरातनप्रबंधसंग्रह' में जो 'नीलपट' संप्रदाय का जिक्र आया है उसके माननेवाले तो खुलेआम सुरतव्यापार में संलग्न रहते थे और कहते थे कि जब तक विश्व की सारी नदियाँ मद्य से भरपूर नहीं होतीं, सारे पर्वत मांसमय नहीं बन जाते, सारा जगत् नारीमय नहीं हो जाता तब तक नीलपट कैसे सुखी हो सकता है।[९२] उनका कहना यही था कि जो बीत चुका है वह लौटने वाला नहीं है, शरीर स्कंधों का समुदयमात्र है और नश्वर है, इसलिये खाओ, पिओ और आनंद करो।[९३] सिद्ध सरहपाद का नारा ही यह था कि 'नाचो, गाओ और चंगे होकर विलास करो।'[९४]

वस्तुतः सामंतशाही समाज विलासप्रिय होता है। साहित्य और इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब मुसलमान सेनाएँ दुर्गों के द्वारों को तोड़ रही थीं तो परमर्दि नग्न स्त्रियों का नाच देख रहा था, लक्ष्मणसेन मातंगी से खेल कर रहा था, पृथ्वीराज नींद में ऊँघ रहा था और हरिराज नर्तकियों और वेश्याओं पर कोश खाली कर रहा था। गुजरात के चार हजार मंदिरों में बीस हजार से ज्यादा देवदासियाँ थीं। जो कुछ मंदिरों के अंदर होता था वही उनकी बाहरी दीवारों पर चित्रित किया जाता था। भोज ने 'समरांगणसूत्रधार' में लिखा है कि प्रासादों के बाहरी भाग को सुरतक्रियारत स्त्रीपुरुषों के चित्रों और मूर्तियों से सजाना चाहिए।[९५] कोणार्क,

८९. राजशेखर कृत 'कर्पूरमंजरी' १।१२ - २३, सी० आर० लानमन का अँगरेजी अनुवाद (हार्वर्ड ओरियंटल सिरीज) पृ० २२५; प्रबोधचंद्रोदय, ३।१३; पुष्पदंत कृत 'जसहरचरिउ' (हीरालाल जैन द्वारा कारंजा जैन सिरीज में संपादित), पृ० ६ - १३।

९०. 'तंत्रसार', परिशिष्ट पृ० २३।

९१. कौलज्ञाननिर्णय, पृ० ६९।

९२. पुरातनप्रबंधसंग्रह, पृ० १९।

९३. वही, पृ० १६।

९४. सरहपाद कृत 'दोहाकोश', पृ० १२६।

९५. समरांगणसूत्रधार, १७।१३ - १४।

पुरी और खजुराहो के मंदिरों से कलाविद् सुपरिचित हैं।[९६] साधारण जनता भी यौनसंबंधों में अत्यंत श्लथ हो गई थी। उदकसेवामहोत्सव, कौमुदीमहोत्सव, शावरोत्सव, मदनोत्सव आदि पर्वों पर युवक युवतियाँ लज्जा का आवरण फेंककर अत्यंत अश्लील क्रीडाओं में संलग्न हो जाते थे। तात्कालिक रास और फागु साहित्य इस उच्छृंखलता को प्रतिबिंबित करते हैं।[९७]

संसार के अपरिमित सुख का आनंद लेने के लिये स्वस्थ शरीर और लंबी आयु आवश्यक थी। अतः इस युग में शरीर को अमरत्व प्रदान करने की चिंता उग्र रूप में प्रकट होती है। रसेश्वर सिद्ध पारे आदि के अनेक ऐसे योग तैयार करने की फिक्र में थे जिनसे मृत्यु का आतंक दूर हो जाय। राजा लोग इन सिद्धों को आदर मान से बुलाकर इनके कहने के अनुसार मनों सोना अग्नि की भेंट कर देते थे। पुरातनप्रबंधसंग्रह में एक कथा आई है कि राजा भोज ने सिद्धों के कहने से सिद्ध-रस बनाने के लिये बड़ी बड़ी भट्टियाँ खुलवा दी थीं।[९८] गुरु गोरखनाथ यद्यपि यौनउच्छृंखलता के बड़े विरोधी थे किंतु रसरसायन में उन्हें भी विश्वास था।[९९]

रसरसायन के अतिरिक्त हठयोग अमरत्वप्राप्ति का साधन माना जाता था। योग द्वारा जो अलौकिक और अमानुषीय सिद्धि मनुष्य को मिलती थी वह अन्यथा असंभव थी। ब्रह्मवैवर्तपुराण में दूरश्रवण, परकायप्रवेश, मनोयायित्व, सर्वज्ञत्व, वह्निस्तंभ, चिरजीवित्व क्षुत्पिपासानिद्रास्तंभ, कायव्यूहप्रवेश, वाक्‌सिद्धि, मृतानयन, प्राणकर्षण, प्राणदान, इंद्रियस्तंभ, बुद्धिस्तंभ आदि ३४ सिद्धियों का उल्लेख है। मध्यकाल में यह मान्यता थी कि सिद्ध योगी ऐसी गोली रखते हैं जिससे जो चाहे हो सकता है।[१००] उनके शरीर पर मक्खी नहीं बैठती, उनकी आखों में पलक नहीं लगती, उनके शरीर की छाया नहीं पड़ती और उन्हें भूखप्यास नहीं लगती।[१०१] मुसलिम पर्यटक इब्नबतूता ने सिद्धों की गोली का जिक्र किया है जिसके प्रयोग से वे

९६. हेरमान गोएत्ज 'फाइव थाउजेंड इयर्स आव् इंडियन आर्ट' पृ० ५६० - ५८२।

९७. दशरथ शर्मा और दशरथ ओझा, रास और रासान्वयी काव्य (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी)।

९८. पुरातनप्रबंधसंग्रह, पृ० २२।

९९. गोरखबानी (पीतांबरदत्त बड़थ्वाल), पृ० १७०।

१००. पद्मावत, पृ० २१२।

१०१. वही, पृ० २०२।

भूखप्यास पर विजय प्राप्त करते थे।[102] उस युग में यह मान्यता थी कि जो कोई नहीं कर सकता वह योगी कर सकता है। अतः असाध्य को साध्य और असंभव को संभव करने के लिये राजा और प्रजा सब योगी बन जाते थे। मध्यकालीन कथासाहित्य ऐसे आख्यानों से भरा पड़ा है। कुतबन की 'मृगावती' (लगभग १५००) में चंद्रगिरि के राजा गणपतिदेव को अपनी प्रेयसी मृगावती की खोज में योगी बनते हुए दिखाया गया है। मंझन की 'मधुमालती' के अनुसार कनेसर का राजकुमार मनोहर मधुमालती की खोज में योगी होकर घर से निकल पड़ा। जायसी के 'पद्मावत' (लगभग १५२८) में चित्तौड़ का राजा रतनसेन योगी बनकर पद्मिनी को प्राप्त करने के लिये सिंहलद्वीप पहुँचा। योगियों का दल सिंहल के पास की बस्ती में एक शिवमंदिर में ठहरा। रतनसेन ने सिंहल के दुर्ग में सेंध लगाई लेकिन पकड़ा गया। राजा ने उसे शूली का दंड दिया। इस पर योगियों ने दुर्ग को घेर लिया और अपनी सिद्धियों से सेना को परास्त किया। नारायणदास की 'छिताईवार्ता' में सौरसि को चंद्रगिरि के चंद्रनाथ से योग की दीक्षा लेते हुए दिखाया गया है। योगी के वेश में वह छिताई को ढूंढ़ता हुआ दिल्ली पहुँचा और विंध्यवन नामक उद्यान में ठहरा। इसके बाद उसे अलाउद्दीन के हरम में छिताई के दर्शन हुए। उसमान की 'चित्रावली' में नेपाल के राजकुमार सुजान ने अपनी प्रिया चित्रावली की तलाश में योगियों के एक दल को भेजा जो उसे खोजता हुआ लंदन तक पहुँचा। कासिम शाह के 'हंस-जवाहिर' में बल्ख के सुल्तान बुरहान का पुत्र हंस चीन के राजा आलमशाह की पुत्री जवाहिर की खोज में योगी बनकर घूमा। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि योग की सिद्धियों में लोगों को अटूट विश्वास था।

सिद्ध योगी की शक्ति राजा की सैनिक शक्ति से कहीं अधिक समझी जाती है। गुजरात के प्रबंधों से ज्ञात होता है कि हेमचंद्र आचार्य ने अपनी सिद्धि से गजनी के सुल्तान महमूद को पालकी समेत अणहिल्लपाटन में खींच लिया।[103] सिद्ध पद्मसंभव ने अपनी सिद्धि से मुलतान के राजा की नाव नदी में डुबा दी जब वह उड्डियान और कच्छ पर आक्रमण कर रहा था।[104] जब सिद्ध अपनी सिद्धियों द्वारा विदेशियों के आक्रमणों को विफल कर सकते थे तो स्थानीय सामंतों को सेना जमा करके खून बहाने की क्या जरूरत थी।

१०२. एच० ए० आर० गिब, 'इब्नबतूता, ट्रैवेल्स इन एशिया ऐंड अफ्रीका' (१३२५-१३५४), पृ० २२४-२२५।

१०३. जिन मंडनगणी कृत कुमारपालचरित, पृ० २१३, जार्ज ब्यूलर द्वारा 'हेमचंद्र की जीवनी' के पृ० ५४ पर उद्धृत।

१०४. टूची, 'टिबेटन पेंटेड स्क्रोल्स्', भाग १, पृ० ८७।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुसलमानों के आगमन के समय भारतीय जनता एक ऐसी मनोवैज्ञानिक स्थिति में पहुँच चुकी थी जहाँ पलायनवाद और भोगवाद का सामंजस्य हो गया था। लोग संसार के सुखों का पूरा आनंद लेना किंतु उसके दायित्वों और कर्तव्यों से बचना चाहते थे। समाज और जीवन की यातनाओं से दूर एकांत में सुखों का उपभोग करें—यही प्रचलित मनोवृत्ति थी। इसी से अलौकिक साधनाओं और सिद्धियों में लोगों का विश्वास बढ़ने लगा। इस भावना से एक ओर अकर्मण्यता और उदासीनता बढ़ी तो दूसरी ओर भ्रांति और शिथिलता का दबाव पड़ा। शून्यवाद ने जनता पर सुषुप्ति का मंत्र फूँका तो भोगवाद ने उसकी शक्ति चूसकर उसे ढीला कर दिया। इस प्रकार जनता पर सुस्ती, निराशा, उन्माद और विलासिता का पर्दा पड़ गया। कबीर के शब्दों में उसकी आत्मा बोल पड़ी 'रहना नहीं देस बिराना है' और तुलसी के शब्दों में तत्कालीन मनोवृत्ति गुनगुना उठी –'कोउ नृप होइ हमहिं का हानी। चेरी छाँड़ि कि होउब रानी'। यही पराजय और पतन का मनोविज्ञान भारत के पराभव का कारण बना।

❀

राउल वेल में प्रयुक्त क्रियाएँ

कैलाशचंद्र भाटिया

•

'राउल वेल' ११वीं शताब्दी का एक शिलांकित[1] भाषाकाव्य है जिसका रचयिता 'रोडा' नामक कवि है। इसमें किसी सामंत के राउल (राजकुल) राजभवन की रमणियों का वर्णन है। इसी आधार पर इसका नाम 'राउल वेल' (राजकुल विलास) है। इस ग्रंथ की भाषा के संबंध में टिप्पणी देते हुए डा० माताप्रसाद गुप्त[2] ने लिखा है—'लेख की भाषा पुरानी दक्षिणी कोसली है जिस प्रकार उक्तिर्व्यक्ति-प्रकरण की पुरानी कोसली है। उस पर समीपवर्ती तत्कालीन भाषाओं का कुछ प्रभाव अवश्य ज्ञात होता है। यह भाषा 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' की भाषा से कुछ प्राचीनतर लगती है[3] जो कि लेख के लेखनकाल के अनुसार होनी भी चाहिए और इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि हिंदी और हिंदी की भाँति कदाचित् अन्य आधुनिक आर्य भाषाएँ भी ग्यारहवीं शती ईसवी में इतनी प्रौढ़ हो चली थीं कि उनमें सरस काव्य-रचना हो सकती थी, वे केवल बोलचाल की भाषाएँ नहीं रह गई थीं'।

१. धार से प्राप्त यह शिलालेख बंबई में प्रिंस आव् वेल्स म्यूजियम में सुरक्षित है जिसका आकार ४५ × २२ इंच है और जिसका कुछ अंश भग्न एवं खंडित है। स्थान स्थान पर कुछ अंश अपाठ्य हैं। इस शिलांकित काव्य को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय डा० भायाणी को है जिन्होंने इसका मूल, मय अपने पाठ और अर्थ के एक संक्षिप्त भूमिका के साथ अँगरेजी में प्रकाशित किया। द्रष्टव्य भारतीय विद्या, भाग १७, अंक ३०, पृ० १३० – १४९।

२. माताप्रसाद गुप्त, रोडा कृत 'राउल वेल', धीरेंद्र वर्मा अभिनंदनांक, अनुशीलन, पृ० २३।

३. हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग के तृतीय संस्करण में डा० नामवर सिंह ने इसका स्थान उक्तिव्यक्तिप्रकरण के बाद रखा है, पृ० ८८–९५।

इस पुस्तक के अंत में कवि ने यह वक्तव्य दिया है—

रोडें राउल वेल बखा [णी]।
[पुणु ?] *तहं भासह* अइसी जाणी ॥

रोडा के द्वारा यह राउल वेल (राजकुल विलास) कही गई और फिर यह भी उस भाषा में[४] कही गई जैसी उसकी जानी थी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह काव्य तत्कालीन लोकभाषा में लिखा गया है जिसके लिये लेखक ने 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया है। 'भाषा' का तत्कालीन लोकभाषा के लिये प्रयोग उसी प्रकार सार्थक है जैसे तुलसी ने मानस में 'अवधी' के लिये संस्कृत से इतर भाषा की संज्ञा के लिये 'भाषा' का प्रयोग किया है। भायाणी जी ने इसमें आठ नखशिखों की कल्पना की है जो अपभ्रंशोत्तर आठ बोलियों के विशिष्ट तत्वों से समन्वित रहे होंगे और लेख में जो छः नखशिख बचे हैं वे जिन जिन क्षेत्रों की नायिकाओं का वर्णन करते हैं उन उन क्षेत्रों की बोलियों का कुछ प्रतिनिधित्व अलग अलग उनके नखशिखवर्णन में उपस्थित करते हैं। डा० गुप्त की राय में सब एक ही बोली में लिखे गए हैं जिनमें निकटवर्ती बोलियों के तत्व भी कदाचित् आ गए हैं। यह अत्यंत विवादास्पद विषय है कि इसमें एक भाषा का प्रयोग है अथवा अनेक भाषाओं का जिसका एक मात्र विवेचन संपूर्ण काव्य का विश्लेषणात्मक अध्ययन कर अनुगमनात्मक पद्धति से प्राप्त विषयों के आधार पर किया जा सकता है। डा० गुप्त 'भासहं' में अधिकरण एकवचन मानकर 'भाषा' में अर्थ करते हैं तो डा० नामवरसिंह 'भासहं' में षष्ठी बहुवचन मानकर 'भाषाओं का' अर्थ करते हैं। श्री भायाणी 'भाषाओं में' अर्थ करते हैं। इस प्रकार एक ही पद के अनेक अर्थ किए गए हैं। उत्तरकालीन अपभ्रंश में 'हँ' विभक्ति का प्रयोग अधिकरण एकवचन में भी होता था और संबंध बहुवचन में भी होता था।[५]

प्रस्तुत अध्ययन में केवल 'राउल वेल' में प्रयुक्त क्रियाओं का अध्ययन किया गया है। इसी प्रकार व्याकरण के संपूर्ण अवयवों पर कार्य करने के उपरांत ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कहाँ तक इस संपूर्ण शिलांकित काव्य में एक भाषा का प्रयोग है।

४. डा० नामवरसिंह ने इसका अर्थ किया है 'उन भाषाओं का मैं जैसी जानी'। वही, पृ० ८१।

५. डा० तगारे, हिस्टारिकल ग्रामर आव् अपभ्रंश, प्रथम सं०, पृ० १५६ तथा १६२।

क्रियाओं का विवेचन

सामान्य वर्तमान—

प्रथम पुरुष एकवचन में प्रयुक्त प्रत्यय { – अइ }

जैसे, √ आख् + { अइ } = आखइ । ६, २८ ।

अन्य प्रयोग —

आवइ । ५, १८ । अइ [सी] **बेटिया जा घह आवइ** (ऐसी बेटी जिस घर में आती है)।

पावइ । ५, २३ । **ताहि कि तूलिंब कोऊ पावइ ।** (उसकी तुल्यता क्या कोई पाता है) ।

इस कोटि की क्रियाओं की आवृत्ति सर्वाधिक है, जैसे—

अणुहरइ । ३६, १३ ।, करइ १२, १६ ।, कहइ । ४१, २ ।, कीजइ ।१३,२० खीजइ । २६, २५ ।, खूझइ । ३२, १५ ।, खूटइ । ३४, १३ ।, खोहइ । ७, २३ ।, चाहइ । १६, १ तथा २२, १० । जाणइ । ११, १६ ।, जूझइ । ४४, २२ ।, झांखइ । १०, ११ ।, देइ । २, १६ ।, देखइ । १०, २६ ।, धरइ । ३८, १६ ।, धावइ । १८, १२ ।, नावइ । २२, ११ । पइसइ । १४, २२ । पावइ । ३, ११; ४, २०; ४१, १४; ५, २३ ।, भइ । २८, १३ ।, भावइ । २, २; ४,१५; १२, ५; १४, ७; २२, ६; २६, २०; ३०, १६; ३७, ६; ३६, ११; ४१, २३; ४२, १२ । भूलइ ।२८,२४ । मूझइ । २४, ६ । मोहइ । ११, १० ।, रूचइ । ३, १८; २७, १७, ४५, २४ । वहइ । ४०, २२ । बूचइ । ४५, १७ ।, बूझइ । ४५, ७ । बोलइ । २८, १४ । सुहावइ । ३, ६; १४, २ ।, सूझइ । ३२, २६ । हरइ । ११, १० ।

टिप्पणी—१. कहीं कहीं अपवादरूप बहुवचन में भी यह प्रत्यय आ जाता है ।

२. कुछ कुछ स्थानों पर सं० 'अस्ति' का ही विकसित रूप 'आथि' भी मिलता है, जैसे, १३, ५; २७, २२; ६, ८, ३४, २१ ।

प्रथम पुरुष बहुवचन में —

{ – अहिं }[१] प्रत्यय लगता है ।

जैसे, √चाह् + { अहिं } = चाहहिं । १३, १८ । **खता जणु सयलइ चाहहिं** । (समस्त क्षत्रिय जन चाहते हैं ।)

१. मिलाइए – राहुल जी ने भी लिखा है 'प्रथम पुरुष बहुवचन का प्रयोग शायद 'इ' को अनुनासिक करके होता था । सरहपाद कृत दोहाकोश, पृ० ५६ ।

√ भाव् + { अहिं } = भावहिं । ४०, ६ । **ते सब भावहिं कूडा** (वे सब कूड़ा लगते हैं ।)

इसी प्रकार पावहिं ।, ३८, १० । उवीसहिं । १७, १८ ।, दीसहिं । १७, १३ । सोहहिं । १३, १३ । पडहिं । ३४, ७ ।

टिप्पणी — जिस प्रकार 'स्ति' का 'थि' रूप मिलता है उसी प्रकार 'न्ति' के 'न्थि' वाले रूप मिलते हैं, जैसे नावंथि । ३५, १८ । भावंथि । १६, ३१ । मोहंथि । ३, ३ ।

टिप्पणी — उपर्युक्त सामान्य प्रवृत्ति से इतर कुछ क्रियाएँ ऐसी भी मिलती है जिनमें वर्तमान प्रथम पुरुष एकवचन में { – हि } प्रत्यय लगता है ।

जैसे झांखहि – **केहा टेल्लि पुतु तुहुं झांखहि** – किस प्रकार टेल्लि पुत्र तेरे लिये झंखता है । १५वीं पंक्ति ।

आखहि – अ — **राउ वोहु तुहुँ आखहि** – देख, कि वह तुझे (तेरे संबंध में) कहता है । १५वीं पंक्ति ।

२. एक क्रियारूप { – ति } प्रत्ययांत भी मिलता है,

हांसगई जा चालति अइसी – हंसगति से इस प्रकार जो चलती है । पंक्ति १४ ।

मध्यम पुरुष —

मध्यम पुरुष एक वचन के लिये { – असि } प्रत्यय लगता है,

जैसे धातु + { असि } = √ देख् + { – असि } = देखसि = छईं गोहा को – देखसि । पंक्ति ६ । (ऐ गोहा [तू] देखता है) ।

इसी प्रकार हारसि, भूलसि । १६, १२ । वारसि ।, २१, १७ ।, बोलसि । १६, ७ ।

उत्तम पुरुष —

उत्तम पुरुष एक वचन के लिये { - हुँ } प्रत्यय लगता है ।

जैसे धातु + { अहु }

√ कर् + { अहुँ } = करहुं । ३६, १६ ।

कोई पहइणु हरइ तं उपमान करहुँ (कोई उसके परिधान का हरण करे तो उपमान करूँ) ।

इसी प्रकार अन्य उदाहरण जैसे, अवहरहुँ । ३६, २७ ।

पूर्णभूत —

भूतकाल का भाव प्रकट करने के लिये कई प्रत्यय प्रयुक्त हुए हैं,

{ – अउ } – भउ । २४, १६ । **सो देखि हारन्हु भउ अवहारू ।** (उसे देखकर हारों का अपहार हुआ)

इसी प्रकार दीनउ । ११, १४ ।, हुअउ । ३६, १४ ।

{ – इअउ } – ऊतरिअउ । ३१, १६ ।=**सोइर वानाहं सवहं ऊतरिअउ ।** (उसके वर्ण से सबका वर्ण उतरा)

खपिअउ । ३४, १८ । **कें कें केतंउ न खपिअउ ।** (कितने ही नहीं इसमें खपे)

इसी प्रकार ओडिअउ । ३०, १६ ।, चडापियउ ।, ३१, ५ । पाविअउ । ३१, १२ ।, मिलिअउ । २५,१२ ।

{ इअल }[७] – ओढिअल । २६, २६ । **धवलर कापड ओढिअल कइसे ।** (जो धवल कपड़ा ओढ़ा वह कैसा)

पैहिअल – । २५, १३ ।=**पैह्निअल वाही जे चंदहाई ।** (बाहों में चंद्रहाई पहनी)

भविष्यत् काल —

इस काल का प्रयोग बहुत कम हुआ है, एक उदाहरण मात्र है,

करिसी । ३२, २२ । **काम्वदेउ जगही काइं करिसी ।** (कामदेव जगत् का क्या करेगा ।)

आज्ञा —

इसके लिये निम्नलिखित प्रत्यय प्रयुक्त हुए हैं,

एकवचन मध्यम पुरुष —

{ – उ } – देखु । २१, ८ । **रे वर्व्वर देखु ।** (अरे वर्व्वर तू देख)

– । २१, १६ । **भउहीं तु रूरी देखु वर्व्वर कइसी ।** (अरे वर्व्वर, तू देख भौंह कैसी रूरी है)

बहुवचन मध्यम पुरुष —

{ – अउ } – तोरउ । २७, १५ । **विठ सवु तोरउ ।**

७. 'इअ' तथा 'उअ' के क्रमशः 'इल' तथा 'अल' रूप आज भी भोजपुरी, बँगला तथा मैथिली में मिलते हैं । राहुल, सरहपाद, दोहाकोश, पृ० ५७ ।

भूतकालिक कृदंत[८] —

अपभ्रंशकालीन क्रियाओं में ही मूल धातुओं के क्रियाप्रयोगों से इतर कृदंतीय प्रयोग किए जाने लगे थे। भूतकालिक प्रत्यय निम्नलिखित हैं—

{ – आ } – घेठा। ८, ७। **आनिकु वानु जो एथु घेठा।** (बांका वर्ण जो यहाँ घर्षित हुआ)

– थाढा। ८, १६। **आनिकु जोवणु उरु थाढा।** (बांका यौवन खड़ा है)

– बद्धा। १५, १३। **अड्डा केहपाहु जो बद्धा।** (आड़े केशपाश जो इस प्रकार बाँधे)

{ –इआ } – पइह्रिआ। ३६, ३२। **तें हाथहीं पायहीं पाइह्रिआ सोना-केरा चूडा।** (उसने हाथों व पैरों में सोने का चूड़ा पहना)

– किआ। ३३, २४। **दुई कपोल जिसा किआ।** (दोनो कपोल जैसे [विधाता ने] किए [बनाए])

{ – ई } – लूधी। ४४,१४। **जहि आवंति रति आपणइ हिअइ अति सुठु लूधी।** (जिसके आते ही अपने हृदय में रति अत्यंत लुब्ध हुई)

– पइह्री। ४०,१४। **वाही पडिकरी पइह्री ज कांचुली।** (उससे लगी हुई कंचुकी पहनी)

– मांडी। ६,६। **लोणि चि आनिक मांडी अंगा।** (बाँकी सुंदरता अंगों में सजाई)

अन्य उदाहरण, लाधी। ३५,२८;४४,६।, बखाणी ४६,३०। विलघी। ३६,५।, सोही। १०,११।, छांडी। १०,७।

{ – ए } कीएँ। ३१,१०। **निडालि टीके तु रूरे कीएँ ते काम्वइ।** (ललाट में सुंदर तिलक दिए हैं वे कामदेव के हैं)

पह्रिले। २२,२४। **कानन्हु पह्रिले ताडर पात।** (कानों में ताडर पत्ता पहने)

इसी प्रकार गणिए। २१,४।, घेतले। २०,१८।, दीठे। १६,१७। घेठे। १६,२१।, माते। २३,७।, हारे। २१,१।

{ – एन्हु } बाधेन्हु २०,२। **वेडेन्हु बाधेन्हु केसं जा लुडहिंब।** (बंधनों से बँधे हुए केश जो)

---

८. भूतकालिक कृदंत का प्रयोग ही समापिका क्रिया के रूप में होता है।

टिप्पणी—इसमें विशेषण की तरह प्रयोग हुआ है।

वर्तमानकालिक कृदंत—

वर्तमानकालिक कृदंतों का विशेष प्रयोग किया गया है,

{ – अतु } – दीसतु । १३,२४ । **दीसतु सस जण मोहइ** । (दीखते ही वह सब जनों को मोहता है)

– देखतु । १२,१८ । **कोकु न देखतु करइउ मातउ** । (कौन को देखते ही बावला करता है)

{ – अंत } – जोवंत । १२,२७ । **तरुणा जोवंत करइ सो बाउल** । (तरुणों को देखते ही बावला कर देता है)

सराहंत । २६,१० । **आनस सराहंत सुलि अहि अलि कोह** ।

{ – अत् } देखत । १०वीं पंक्ति । **देखत तोही मयणु व मोही** । (तुझे देखते ही मदन भी मोहित हो गया)

{ – ति } पइसति ।१८,२७ । **एही टक्किणि पइसति सोहइ** । (प्रवेश करती हुई टकिणी इस प्रकार शोभित हुई)

भाव, कर्म संबंधी क्रियाएँ—

अकर्मक धातुओं से भाव और सकर्मक धातुओं के कर्मसहित[१] प्रयोग मिलते हैं। इसके मुख्य प्रत्यय हैं,

{ – अइ } – कीजइ । २३,२० । **मासें सोना जालउ कीजइ** । (सोनजाल पहना जाता है)

दीजइ । २,६ । **आखिहिं काजलु तरलउ दीजइ** । (आँखों में तरल काजल दिया जाता है)

खीजइ । २६,२५ । **रूउँ देखि तारउ सब जणु खीजइ** । (रूप देखकर सब जन क्षीण होते हैं)

इसी प्रकार हसीजइ । २३,२४ । दीसइ । १४, २७ ।

{ – इजइ } – किय्यइ । १५,३१ । **चंदसवाणा टीहा किय्यइ** । (चंद्र के वर्ण का टीका किया जाता है)

भिज्जइ । १५,१६ । **अक्खंदहं हीआ भिज्जइ** । (जिसके संबंध में कहने से हृदय भिदता है)

१. ऐसे प्रयोग उक्तिव्यक्तिप्रकरण में भी हैं, पृष्ठ ५३ । मिलाइए – पिशेल, वि० ५४१,५४७ ।

– मंडिज्जइ । १६,२ । **मुहु एक्केसुवि मंडिज्जइ** । (एक ही होने पर मुँह को सजाया जाता है)

– वनिज्जइ । १५,१५ । **वेहु एक्कु सो एथु वनिउज्जइ** । (एक ही वेश यहाँ वर्णित किया जाता है)

टिप्पणी—इज्जइ का इय्यइ रूप मिलता है । राउल वेल में इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी हैं ।

पूर्वकालिक प्रयोग—

उत्तरकालीन अपभ्रंश में पूर्वकालिक क्रिया के लिये '– इवि', '– अवि', '– एवि' '– एविणु', '– अप्पि', ' –इउ', '– इ' प्रत्ययों का प्रयोग होता था जिनमें से राउल वेल में केवल निम्नलिखित प्रत्यय मिलते हैं —

{ – इ } – देखि । ३६,२७ ।
सुणि । २६,११ ।
छोडि । २७,१० तथा ४०,३१ ।

{ – इउ } – पाविउ । ३२,१८ ।
फाडिउ । ३३,१७ ।

इसी प्रकार घालिउ, तूसिउ, करिउ, आविउ, देखिउ आदि भी उल्लेखनीय हैं।

संयुक्त पूर्वकालिक क्रिया—

संयुक्त रूप भी मिलते हैं, जैसे,

– करि[10] के साथ जो हिंदी में आजकल 'कर' के रूप में प्रयुक्त होता है, जैसे खाकर, जाकर, लाकर इत्यादि ।

– निहालि करि – १६,८ ।

इस प्रकार के संयुक्त रूप उत्तर अपभ्रंशकालीन युग में प्रारंभ हो गए थे, जैसे दहेवि करि ।[11]

१०. करि प्रत्यय वस्तुतः √कृ धातु के – य प्रत्यय के साथ कृदंतीय रूप का ही विकास है, कार्य । कृत्वा । – करिअ – करी – करि ।
मिलाइए – डा० सुनीतिकुमार चटर्जी – उक्तिव्यक्तिप्रकरण की भूमिका, सं० २०१० ।

११. दहेवि करि – अब्दुर्रहमान, संदेशरासक, छंद १०८ ।

क्रियार्थक संज्ञा —

राउल वेल में क्रियाओं के संज्ञारूप में प्रयोग भी मिलने प्रारंभ हो गए थे, इस प्रकार के प्रत्ययों में से प्रधान प्रत्यय थे – अण, अणु, इवे आदि।

{ – अण } – पैहण (२६,२५), सुणण। ३५,१४।

{ – अणु } – पहिरणु। १३,२०।

{ – इवे } – पाविवे। ३४,२।

संयुक्त क्रिया —

संयुक्त क्रियाओं के रूपों का अभाव है केवल 'पर' से संयुक्त रूप ही मिलते हैं, जैसे,

– पर – पहिरणु फरहरें पर सोहइ। १३,२१ – २२।

– परे – डहि परे। १६,१६।

– परइ – डहि परइ। १८,२। तथा। १८,२२।

यह क्रियाओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन है, जिसको अनुगमनात्मक पद्धति से प्राप्त किया गया है। इसी प्रकार संपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है।

*

हिंदी के आकारांत संज्ञा शब्द : पदग्रामिक विश्लेषण एवं वर्गबंधन

महावीरसरन जैन

०.१.

§ १. प्रत्येक भाषा के अंतर्गत वाक्य या उच्चार होते हैं। ये उच्चार, उस भाषा की कुछ विशिष्ट ध्वनियों, जिन्हें ध्वनिग्राम के नाम से पुकारा जाता है, से निर्मित होते हैं। इन विशिष्ट ध्वनियों अथवा ध्वनिग्रामों का अपना कोई अर्थ नहीं होता।[१] ये केवल अर्थभेदक क्षमता रखते हैं। किंतु इन ध्वनिग्रामों के विशेष समायोजन से एक अर्थ की प्राप्ति होती है।

§ २. भाषा की 'अर्थ' अथवा व्याकरणिक प्रणाली की न्यूनतम इकाई पद है। किसी भाषा के अर्थवान् उच्चारों के अंतर्गत न्यूनतम अर्थवान् तत्व पद ही होते हैं। ध्वनिग्रामों के प्रत्येक प्रकार का अर्थवान् आवर्तन पद नहीं है, इसके लिये न्यूनतम या अल्पतम प्रकार का अर्थवान् आवर्तन होना अनिवार्य है। इसी कारण किसी पद को दो अन्य अर्थवान् तत्वों में विखंडित नहीं किया जा सकता।

§ ३. पद ध्वनिग्राम से बड़ा होता है। प्रत्येक पद कम से कम एक ध्वनिग्राम का अवश्य होता है[२], एक से अधिक ध्वनिग्रामों को भी यह सँजो सकता है।

§ ४. भाषा की अर्थहीन इकाई ध्वनि अथवा ध्वनिग्राम है एवं अर्थयुक्त इकाई पद अथवा पदग्राम है। जिस प्रकार ध्वनिग्रामशास्त्र में जो ध्वनियाँ ध्वन्यात्मक समानता रखती हैं तथा परिपूरक वितरण अथवा युक्त परिवर्तन में होती हैं, उन्हें एक ध्वनिग्रामरूप में संबद्ध किया जाता है तथा ध्वनिग्राम के अंग 'सहस्वन' कहलाते हैं उसी प्रकार पदग्राम-शास्त्र में जो पद एक दूसरे को स्थानापन्न करते हैं अर्थात् अर्थगत समान होते हैं तथा परिपूरक वितरण या युक्त परिवर्तन में आते हैं, उन्हें 'पदग्राम' रूप में संबद्ध किया जाता है तथा पदग्राम के अंग 'सहपद' कहलाते हैं।

१. दि स्ट्रक्चर आव् अमेरिकन इंग्लिश, डब्लू० नेल्सन फ्रांसिस, पृ० १६३।

२. इंट्रोडक्शन टु लिंग्विस्टिक स्ट्रक्चर्स, आर्चिबाल्ड ए० हिल, पृ० ८१।

§ ५. पदग्रामशास्त्र खंडित पदग्रामों के समूह की विधि का अध्ययन है। दूसरे शब्दों में पदग्रामशास्त्र भाषाशास्त्र की वह कला है जिसके अंतर्गत उच्चारों को अर्थवान् तत्वों में खंडित किया जाता है तथा उस विधि का प्रतिपादन किया जाता है जिससे शब्दों का निर्माण होता है।

§ ६. हिंदी भाषा के अंतर्गत लड़का, घोड़ा, राजा इत्यादि पुंलिंग आकारांत संज्ञा शब्द कहे जाते हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या ये शब्द ही पदग्राम हैं? अथवा इन शब्दों में एक से अधिक पद या पदग्राम हैं। इसी के साथ यह भी समस्या उठती है कि शब्दों का पदग्रामिक विश्लेषण किस विधि से संपन्न करना चाहिए? उक्त प्रश्नों पर विचार करने के लिये सर्वप्रथम हमें 'पद' एवं 'शब्द' के अंतर को स्पष्ट करना होगा। इस अंतर को ठीक प्रकार समझे बिना कुछ विद्वानों ने भ्रांत विचार प्रकट किए हैं। 'पाणिनि' के मत से 'शब्द' एवं 'पद' में जो अंतर है, वह भाषाशास्त्र (जो मूलतः अधुनातम अमेरिकन भाषाशास्त्रियों के अध्ययन पर आधारित है) की दृष्टि से सर्वथा भिन्न है। शायद पाणिनीय परंपरा के कारण ही एक विद्वान् ने अपने विचार यों दिए हैं—

> § २. मूल रूपग्राम ही प्रत्यय और परसर्गों के योग से 'पद' का रूप ग्रहण करता है।[3]

वस्तुतः मूल रूपग्राम (बेस् मार्फीम्) भी एक पद है एवं प्रत्येक प्रत्यय तथा परसर्ग अलग अलग पद हैं। मूल रूपग्राम में प्रत्यय और परसर्गों के योग से शब्द या उच्चार का निर्माण हो सकता है 'पद' का नहीं। 'सामान्यतः शब्द पदग्राम से अधिक बड़े होते हैं'।[४] शब्द में एक या एक से अधिक भी पद हो सकते हैं, किंतु पद शब्द से बड़ा नहीं हो सकता क्योंकि पद स्वतः न्यूनतम अर्थवान् तत्व होता है। भाषाशास्त्रीय दृष्टिकोण से 'शब्द' किसी भी ऐसे 'भाषीय रूप' के लिये प्रयुक्त किया जा सकता है जो 'वितरण' तथा 'अर्थ' में अपने आप में पूर्णतया 'स्वतंत्र' हो। 'पद' के लिये न्यूनतम अर्थवान् तत्व तो होना आवश्यक है ही, इसके साथ ही प्रत्येक 'पद' का 'वितरण' भी 'स्वतंत्र' नहीं होता। केवल 'मुक्त रूप' पद ही स्वतंत्र रूप में वितरित हो सकते हैं किंतु 'आबद्ध रूप' पद कभी भी एक 'स्वतंत्र' इकाई के रूप में नहीं आते, अपितु एक या अधिक पदों के साथ जुड़कर ही सदैव वितरित होते हैं।

३. ब्रजभाषा के लिंग वचनीय रूपग्राम, डा० अंबाप्रसाद 'सुमन', हिंदुस्तानी, भाग २२, अंक २।

४. ए कोर्स इन माडर्न लिंग्विस्टिक्स, चार्ल्स एफ० हाकेट, पृ० १६७।

§ ७. पदग्रामशास्त्र के अंतर्गत सर्वप्रथम उच्चारों का पदग्रामिक विश्लेषण किया जाता है। 'पदग्रामिक विश्लेषण वह विधि है जिसके द्वारा प्रत्येक उच्चार में प्राप्त पदग्रामों को विभाजित किया जाता है।'[५]

इस प्रकार का विभाजन करते समय दो प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठते हैं—

१. प्राप्त उच्चार के कुछ खंडों का अन्य उच्चारों में लगभग उसी समान अर्थ में प्रयोग होता है अथवा नहीं?

यदि उच्चार के खंडों का अन्य उच्चारों में लगभग उसी समान अर्थ में प्रयोग नहीं होता है तो हम पदग्रामिक विश्लेषण नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि ऐसी दशा में उस उच्चार को किसी भी रीति से विभाजित किया जा सकता है। पदग्रामिक विश्लेषण के लिये यह आवश्यक है कि उसके कुछ खंड अन्य उच्चारों में लगभग समान अर्थ में अवश्य प्रयुक्त हों।

२. दूसरा प्रश्न यह उठता है कि खंडित रूप अन्य अल्पतम अर्थवान् रूपों में विभक्त किया जा सकता है या नहीं? यदि प्राप्त रूप अन्य अल्पतम अर्थवान् रूपों में विभक्त किया जा सकता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि वह रूप पद से अधिक बड़ा है क्योंकि ध्वनिग्रामों के न्यूनतम अर्थयुक्त आवर्तन को ही पद कहते हैं।

इन प्रश्नों का यथोचित समाधान होने पर किसी उच्चार में प्राप्त पदों को ठीक प्रकार छाँटा जा सकता है।

१.१

§ १. हिंदी भाषा के अंतर्गत लड़का, घोड़ा, राजा, चाचा, मामा, दादा, जाड़ा, बच्चा आदि आकारांत संज्ञा शब्द पाए जाते हैं।

उपर्युक्त समस्त शब्द संज्ञाविभक्तिमय हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि संज्ञा प्रातिपदिक रूप शब्दों के कौन से खंड हैं एवं उनमें कौन सी विभक्तियाँ संयुक्त हैं तथा उनसे किन अर्थों की अभिव्यक्ति हो रही है। इसके साथ ही ये भी प्रश्न उठते हैं कि क्या समस्त आकारांत शब्दों का पदग्रामिक विश्लेषण एक ही विधि से होगा? क्या सभी एक ही रूप वर्ग के हैं? क्या सभी रूपों के अन्य कारक, वचन एवं लिंग के रूप एक ही समान निष्पन्न होते हैं?

§ २. भाषा में संबोधन को छोड़कर दो कारक—अविकारी तथा विकारी, दो वचन—एक वचन तथा बहुवचन तथा दो लिंग—पुंलिंग तथा स्त्रीलिंग हैं। प्रत्येक

५. मेथड्स इन स्ट्रक्चरल लिंग्विस्टिक्स, जेलिंग एस० हैरिस, पृ० १९१।

संज्ञा प्रातिपदिक के पुंलिंग एवं स्त्रीलिंग रूप नहीं बनते हैं। इस दृष्टि से संज्ञा प्रातिपदिकों को दो भागों में बाँटा जा सकता है —

१. ऐसे संज्ञा प्रातिपदिक जिनके पुंलिंग एवं स्त्रीलिंग दोनो रूप बनते हैं।

२. ऐसे संज्ञा प्रातिपदिक जिनमें या तो केवल पुंलिंग विभक्तियाँ अथवा केवल स्त्रीलिंग विभक्तियाँ ही संयुक्त होती हैं।

§ ३. जब कोई संज्ञा प्रातिपदिक संज्ञा विभक्तिमय पद बनता है अर्थात् संज्ञा प्रादिपदिक में संज्ञा के किसी रूप का कोई विभक्तिप्रत्यय संयुक्त होता है तो वह विभक्तिप्रत्यय, लिंग, वचन तथा कारक की एक साथ अभिव्यक्ति कराता है। इस दृष्टि से लड़का, घोड़ा, राजा, दादा, बच्चा, मामा इत्यादि संज्ञा शब्दों (जो संज्ञा विभक्तिमय पद भी हैं) के प्रातिपदिक अंश के पश्चात् जिन विभक्तियों का योग हुआ है, वे पुंलिंग, एकवचन, अविकारी कारक की अभिव्यक्ति करती हैं।

§ ४. किसी रूपवर्ग संज्ञा के आकारांत शब्दों के प्रातिपदिक अंशों के पश्चात् समान (ध्वनिग्रामशास्त्र की दृष्टि से) विभक्तियों का योग नहीं होता है। पुंलिंग, एकवचन, अविकारी कारक के अतिरिक्त अन्य लिंग, वचन एवं कारक के रूपों में विभक्तियों में इतना वैषम्य पाया जाता है कि हम संज्ञावर्ग के उपवर्ग बनाए बिना अध्ययन नहीं कर सकते हैं। अतः कौन कौन से संज्ञा शब्द संज्ञावर्ग के किस उपवर्ग में आते हैं, इसके लिये समस्त शब्दों या उच्चारों का रूपतालिकानुसार विवेचन करना आवश्यक हो जाता है।

१.२.

आकारांत संज्ञा शब्दों के समस्त कारक, वचन एवं लिंग के अनुसार, वर्ग एवं उपवर्ग कुछ उदाहरणोंसहित इस प्रकार बनाए जा सकते हैं—

सर्वप्रथम हम लिंग की दृष्टि से समस्त रूपों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—

१.२.१. पुंलिंग तथा १.२.१. स्त्रीलिंग।

जिन प्रातिपदिकों से पुंलिंग तथा स्त्रीलिंग दोनो रूप बनते हैं, उनमें दोनो लिंगों का एक ही मूल अथवा प्रातिपदिक माना जायगा। जिन प्रातिपदिकों में केवल एक ही लिंग की विभक्तियाँ संयुक्त होती हैं, उनमें वह प्रातिपदिक केवल उस विशेष लिंग के लिये प्रयुक्त होगा। यह विवेचन इसलिये किया गया है कि इस असमानता के कारण शब्दों के पदग्रामिक विश्लेषण में भी अंतर पड़ सकता है।

इन दो भागों के समस्त वचन एवं कारकों के अनुसार इस प्रकार रूप निष्पन्न होते हैं—

१.२.१. पुंलिंग

§ १. एक वचन अविकारी कारक

लड़का घोड़ा बच्चा जाड़ा छोरा मामा दादा राजा	आ रहा है।

§ २. एकवचन विकारी कारक

§ १.१.

इस	मामा छोरा चाचा दादा राजा	को यह वस्तु दे दो।

§ २.२.

इस	लड़के घोड़े बच्चे	को यह वस्तु दे दो।

§ ३. बहुवचन अविकारी कारक

§ ३.१.

मामा छोरा चाचा दादा राजा	आ रहे हैं।

§ ३.२.

लड़के घोड़े बच्चे	आ रहे हैं।

§ ४. बहुवचन विकारी कारक

§ ४.१.

इन	मामाओं छोराओं चाचाओं दादाओं राजाओं	को यह वस्तु दे दो।

§ ४.२.

इन	लड़कों घोड़ों बच्चों	को यह वस्तु दे दो।

१ २.२. स्त्रीलिंग

§ १. एकवचन अविकारी कारक

वह	लड़की घोड़ी बच्ची छोरी मामी दादी चाची	आ रही है।

§ २. एकवचन विकारी कारक

उस	लड़की घोड़ी बच्ची छोरी मामी दादी चाची	को दो।

§ ३. बहुवचन अविकारी कारक

	लड़कियाँ	
	घोड़ियाँ	
वे	बच्चियाँ	आ रही हैं।
	छोरियाँ	
	मामियाँ	
	दादियाँ	
	चाचियाँ	

§ बहुवचन विकारी कारक

	लड़कियों	
	घोड़ियों	
	बच्चियों	
उन	छोरियों	को दो।
	मामियों	
	दादियों	
	चाचियों	

१. ३.

पुंलिंग एकवचन अविकारी तथा पुंलिंग बहुवचन विकारी कारक में प्राति-पदिकों के पश्चात् विभक्तियों की असमानता को लक्ष्य में रखते हुए ही समस्त उच्चारों का पदग्रामिक विश्लेषण करना चाहिए क्योंकि इस असमानता के कारण पदग्रामिक विश्लेषण में भी अंतर पड़ सकता है।

	१	२	३	४	५	६	७	८
पुं. ए. अवि.	छोरा	मामा	चाचा	दादा	राजा	लड़का	घोड़ा	बच्चा
पुं. ए. वि.	छोरा	मामा	चाचा	दादा	राजा	लड़के	घोड़े	बच्चे
पुं. बहु. अवि.	छोरा	मामा	चाचा	दादा	राजा	लड़के	घोड़े	बच्चे
पुं. बहु. वि.	छोराओं	मामाओं	चाचाओं	दादाओं	राजाओं	लड़कों	घोड़ों	बच्चों
स्त्री. ए. अवि.	छोरी	मामी	चाची	दादी	×	लड़की	घोड़ी	बच्ची
स्त्री. ए. वि.	छोरी	मामी	चाची	दादी	×	लड़की	घोड़ी	बच्ची
स्त्री. बहु. अवि.	छोरियाँ	मामियाँ	चाचियाँ	दादियाँ	×	लड़कियाँ	घोड़ियाँ	बच्चियाँ
स्त्री. बहु. वि.	छोरियों	मामियों	चाचियों	दादियों	×	लड़कियों	घोड़ियों	बच्चियों

इन समस्त उच्चारों के निम्नलिखित न्यूनतम अर्थवान् खंड होंगे —

। छोर्– । । माम्– । । चाच्– । । दाद्– । । लड़क्– । । बच्च् । । घोड़्– ।
। आ । । ए । । ओं । । ई । । इयाँ । । इयों ।

सं० ५ के उच्चारों राजा, राजा, राजा, राजाओं का पदग्रामिक विश्लेषण दो प्रकार से संभव है —

१. । राज्– । । आ । । ओं । ⌣ राजा । । (।) । । ओं ।

२. १. **वर्गबंधन**

§ १. परंपरागत हिंदीव्याकरणों अथवा प्रकाशित हिंदी भाषा का अध्ययन करनेवाली पुस्तकों में सं० १ से ५ छोरा, मामा, चाचा, राजा आदि प्रकार के शब्दरूपों का विवेचन प्रायः नहीं मिलता । अन्य शब्दरूपों में उपलब्ध विभक्तियों को इस प्रकार प्रदर्शित किया गया है —

पुंलिंग आकारांत प्रातिपदिक	एकव०	बहुव०
अविकारी कारक	०	— ए
विकारी कारक	— ए	— ओं

स्त्रीलिंग ईकारांत प्रातिपदिक	एकव०	बहुव०
अविकारी कारक	०	— (इ) — याँ
विकारी कारक	०	— (इ) — यों

भाषाशास्त्रीय दृष्टि से इस विधि में ये मुख्य अवैज्ञानिकताएँ हैं—

१. पुंलिंग आकारांत प्रातिपदिक नहीं है। अगर लड़का पुं० आकारांत प्रातिपदिक है तो छोरा भी पुं० आकारांत प्रातिपदिक हुआ किंतु दोनो संज्ञा प्रातिपदिकों के दो भिन्न उपवर्गों के सदस्य हैं।

२. वस्तुतः प्रातिपदिक 'आकारांत' न होकर व्यंजनांत है। व्यंजनांत प्रातिपदिक में 'आ' विभक्ति संयुक्त होती है।

३. यदि 'लड़का' प्रातिपदिक मानते हैं एवं 'ए' तथा 'ओं' विभक्तियाँ प्रातिपदिक में जुड़ती हैं तो इस दृष्टि से संज्ञा-विभक्तिमय पदरूप लड़काए एवं लड़काओं होना चाहिए, लड़के अथवा लड़कों नहीं।

§ २. अधुनातम भाषाशास्त्रीय दृष्टिकोण के आधार पर संज्ञा प्रातिपदिकों के उपवर्ग बनाकर अध्ययन कर सकते हैं। उपवर्गों में ध्वनिग्राम की दृष्टि से भिन्न किंतु एक ही व्याकरणीय अर्थ की अभिव्यक्ति करानेवाली विभक्तियाँ वितरण में परिपूरक कहलाएँगी, इस कारण एक पदग्रामरूप में संबद्ध की जा सकेंगी।

संज्ञा प्रातिपदिकों के उपवर्ग तथा विभक्तियाँ

[क] । राजा ।
[ख] । छोर्। माम्। चाच्। दाद्।
[ग] । लड़क्। बच्च्। घोड़्।

क - पुंलिंग

	एकवचन	बहुवचन
अवि०	(।)	(।)
विकारी	(।)	ओं
संबोधन	(।)	ओ

इस वर्ग के अंतर्गत राजा इत्यादि जैसे प्रातिपदिक आते हैं।[६]

ख -

	पुंलिंग		स्त्रीलिंग	
	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
अविकारी	— आ	— आ	— ई	— इयाँ
विकारी	— आ	— आ–ओं	— ई	— इयों
संबोधन	— आ	— आ–ओं	— ई	— इयो

इस वर्ग के अंतर्गत। छोर्—। माम्—। चाच्—। दाद्—। इत्यादि जैसे संज्ञा प्रातिपदिक आते हैं। इन सभी प्रातिपदिकों में उक्त प्रदर्शित विभक्तियाँ जुड़ती हैं।

इसका दूसरा निदान भी संभव है। 'आ' एवं 'ई' को क्रमशः पुंलिंग व्युत्पादक प्रत्यय एवं स्त्रीलिंग व्युत्पादक प्रत्यय के रूप में भी स्वीकृत किया जा सकता है। यह रूप इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—

छोर्—मूल + आ व्युत्पादक प्रत्यय = छोरा = पुं० प्रातिपदिक छोर्—मूल + ई व्युत्पादक प्रत्यय = छोरी = स्त्री० प्रातिपदिक—

६. हिंदी के समस्त व्यंजनांत शब्द जैसे। घर्। इत्यादि भी इसी वर्ग के अंतर्गत आएँगे।

ग - पुंलिंग स्त्रीलिंग

	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
अविकारी	— आ	— ए	— ई	— इयाँ
विकारी	— ए	— ओं	— ई	— इयों
संबोधन	— आ	— ओ	— ई	— इयों

इस वर्ग के अंतर्गत। लड़क्—। घोड़्—। एवं। बच्—। जैसे संज्ञा प्रातिपदिक आते हैं।

इस वर्ग के दूसरे निदान में केवल 'ई' को ही व्युत्पादक प्रत्यय के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है। यथा—

लड़क्—प्रातिपदिक + ई० व्युत्पादक प्रत्यय = लड़की—प्रातिपदिक —व्युत्पन्न।

*

'ढोला मारू रा दूहा' के अर्थसंशोधन पर विचार

माताप्रसाद गुप्त

'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' के पिछले एक अंक (वर्ष ६६, अंक १) में ऊपर दिए हुए शीर्षक से एक लेख प्रकाशित हुआ है (पृ० २७–३७) जिसमें श्री भँवरलाल नाहटा ने उसी पत्रिका के एक अन्य अंक (वर्ष ६५, अंक १) में प्रकाशित 'ढोला मारू रा दूहा में अर्थ - संशोधन - विषयक कुछ सुझाव' शीर्षक लेख में प्रस्तुत किए गए मेरे कतिपय सुझावों पर मतभेदपूर्वक विचार किया है। अतः नीचे अत्यंत संक्षिप्त रूप में रचना के आवश्यक अंश तथा उनसे संबंधित उसके संपादकों की टीकाटिप्पणी का उल्लेख करते हुए अपने तथा श्री नाहटा के सुझावों और विचारों को दे रहा हूँ, तदनंतर श्री नाहटा द्वारा उपस्थित किए गए अर्थों के संबंध में अपने विचार रख रहा हूँ।

१ · दो० १२ : **जिम जिम मन अमले किअइ, तार चढंती जाइ।**
तिम तिम मारवणी तणइ, तन तरणायउ थाइ॥

टीकाटिप्पणी : प्रथम पंक्ति का अर्थ किया गया है 'ज्यों ज्यों मन अधिकार जमाता हुआ ऊँचा चढ़ता जाता है,…'

प्रस्तुत लेखक - 'चढ़ंती' क्रिया स्त्रीलिंग की है। 'तार चढंती जाइ' का अर्थ कदाचित् होना चाहिए 'तारकमाला चढ़ती जाती थी' अर्थात् उसके नक्षत्र अपने उच्च स्थानों पर होते जाते थे।

श्री नाहटा - 'इस पंक्ति का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए — अमल का नशा करने पर ज्यों ज्यों मन में तारतरंगें चढ़ती जाती हैं।'

विवेचन - १. नाहटा जी ने 'जिम' और 'तिम' के लगातार दो दो बार लाए जाने पर ध्यान नहीं दिया है। 'जिम जिम' और 'तिम तिम' भाषा में क्रमवाचक क्रियाविशेषण हैं, प्रकारवाचक नहीं।

२. 'अमल' अरबी शब्द है, जिसका अर्थ 'नशा' होता है; 'अमल का नशा' अतः संभव नहीं है।

३. 'तार' का नाहटा जी ने जो 'तरंग' अर्थ किया है, वह अनुमान से ही किया है। यह 'तार' फारसी का 'तार' है, जिसका अर्थ होता है सूत्र,

सूत का धागा, किसी धातु का धागा। यह 'तार' पुंलिंग है, जैसा कि नाहटा जी के द्वारा दिए हुए उदाहरण 'अमल के तार' से भी प्रमाणित है। नाहटा जी इसपर ध्यान न देते हुए अर्थ करते समय उसे स्त्रीलिंग मान लेते हैं और अर्थ 'तरंग' कर लेते हैं।

२ - दो० ३२ : **बाबहिया 'तर' पंखिया, तइँ किउँ दीन्ही लोर।**
मइँ जाण्यउ प्रिय आवियउ, ससहर चंद चकोर॥

टीकाटिप्पणी – टीका में 'तर' का अर्थ गहरे रंग का किया गया है, और टिप्पणी में है 'तर (फा०) = हरा'।

प्रस्तुत लेखक – पाठ 'तर' के स्थान पर 'रत' होना चाहिए और रत का अर्थ (<रक्त) 'लाल' है। (तुल० दोहा ६४)

श्री नाहटा – नाहटा जी ने ग्रंथ की टीकाटिप्पणी में आए हुए अर्थ का समर्थन करते हुए एक अन्यार्थ (<तरु) 'वृक्ष' भी संभव बताया है।

विवेचन – १. फारसी का 'तर' संज्ञा नहीं है, विशेषण है, जिसका अर्थ होता है आर्द्र, गीला, जो सूखा न हो, हराभरा, यह अर्थ दोहे में लग नहीं सकता है, क्योंकि इनमें से किसी अर्थ में पपीहे के पंख 'तर' नहीं होते हैं।

२. 'तर' का (<तरु) 'वृक्ष' अर्थ छंद की उक्ति में निरर्थक है, क्योंकि अन्य पक्षी भी 'वृक्ष' से उतने ही संबंधित होते हैं जितना पपीहा होता है, बल्कि हारिल पक्षी तो वृक्ष से और अधिक संबंधित होता है, वह पृथ्वी पर अपने पैर तक नहीं रखता है, आकाश में या वृक्ष पर ही रहता है, ऐसी प्रसिद्धि है।

३ - दो० १०५ : **ढाढी गुणी बोलाविया, राजा विगही ताल।**
नरवरगढ ढोलइ कन्हइ, जावउ 'वागरवाल'॥

टीकाटिप्पणी – टीका में 'वागरवाल' का अर्थ 'याचक' किया गया है, पर टिप्पणी में कहा गया है — 'वागरवाल — सं० वागर, प्रा० वागर = विद्वान्, पंडित, वाल प्रत्यय (हिं० वाला) यहाँ पर निरर्थक जान पड़ता है।'

प्रस्तुत लेखक – 'वागरवाल' का अर्थ वागर (वागड़) प्रदेशवाला (निवासी) है।

श्री नाहटा – नाहटा जी को आपत्ति है कि 'वागड़' का प्रयोग कहीं भी राजस्थानी में 'वागर' नहीं मिलता है — और वे संभवतः ग्रंथ की टीकाटिप्पणी का समर्थन करते हैं।

विवेचन – १. संपादकों के अनुसार 'वाल' प्रत्यय 'निरर्थक' है, किंतु कोई भी कवि इस प्रकार की निरर्थक शब्दयोजना नहीं करता है।

२. पृथ्वीराजरासो तक में 'वागडी' के लिये सर्वत्र 'वागरी' शब्द का प्रयोग हुआ है। उसमें 'देवराय' तथा एक दो अन्य पात्र भी 'वागरी' हैं। संभव है 'नाहटा' जी जिस क्षेत्र के निवासी हैं, वहाँ 'वागडा' और 'वागडी' रूप ही प्रचलित हों।

४ - दो० १३८ : **ढोला 'ढीली हर किया', मूँक्या मनह विसारि।**
संदेसउ हुन पाठवइ, जीवाँ किसइ अधारि॥

टीकाटिप्पणी – टीका में 'ढीली हर किया' का अर्थ 'प्रेम को शिथिल कर दिया है' किया गया है, और टिप्पणी में कहा गया है, 'हर — सं०, स्मर, प्रा० म्हर, हर = आकांक्षा, अभिलाषा, उत्कट इच्छा। राजस्थानी का प्रचलित शब्द है।'

प्रस्तुत लेखक – 'ढीली' और 'हर' स्पष्ट ही क्रमशः <ढिल्ली और < सं० गृह हैं। प्रथम चरण का आशय है—ढोला ने दिल्ली में घर किया है, विवाह करके गृहस्थी जमाई है।

श्री नाहटा – '···गुप्त जी का अर्थ सर्वथा गलत और हास्यास्पद है। ढोला नरवर का था। दिल्ली में घर करने का अर्थ सर्वथा असंगत है।'··· 'हर' शब्द का प्रयोग राजस्थान में 'प्रेमस्मृति' के लिये पर्याप्त प्रसिद्ध है।······ 'हर' शब्द देशी है और उसका अर्थ 'प्रेम - स्मृति' या 'ओ तूँ' होता है, जिसका स्त्रीलिंग 'ढीली' के साथ भी प्रयोग आपत्तिजनक नहीं है।

विवेचन – १. जहाँ तक राजस्थान में 'हर' शब्द के प्रयोग और विशिष्ट अर्थ की बात है, रचना के संपादकों और नाहटा जी का मत प्रमाण होना चाहिए। उसी प्रकार नाहटा जी का यह मत भी मान्य होना चाहिए कि स्त्रीलिंग ढीली के साथ भी (उसका) प्रयोग आपत्तिजनक नहीं है। हाँ, नाहटा जी ने यदि उसमें लिंगनिर्देशक प्रयोगों के कुछ उदाहरण भी राजस्थान के साहित्य से दिए होते तो अच्छा होता।

२. किंतु कठिनाई इतने से हल नहीं होती, क्योंकि यदि यह 'हर' स्त्री० शब्द है, तो होना चाहिए था 'ढीली की' और यदि पुंलिंग शब्द है, तो होना चाहिए था, 'ढीला किया'; इस अर्थ के साथ 'ढीली किया' तो सर्वथा असंभव है।

३. नाहटा जी का यह कथन कि ढोला नरवर का रहनेवाला था, दिल्ली में घर नहीं कर सकता था, समझ में नहीं आता है, क्योंकि नरवर

प्रदेश के हजारों व्यक्ति दिल्ली, कलकत्ता में घर बनाकर बसे हुए हैं और 'ढोला मारू रा दूहा' की रचना के समय तो दिल्ली देश का सबसे बड़ा और समृद्ध नगर था।

४. कौन सा अर्थ गलत और हास्यास्पद है, इसके निर्णय का भार नाहटा जी स्वयं लेते तो अच्छा होता।

५ - दो० १३६ : ढोला ढीली हर मुझ, दीठउ घणे जणेह।
चोल बरन्ने कप्पड़े, सावर घन अंगेह॥

टीकाटिप्पणी – 'ढीली हर मुझ' का अर्थ किया गया है 'मेरी प्रेमस्मृति को शिथिल कर।'

प्रस्तुत लेखक – 'ढीली हर <दिल्ली घरा = दिल्ली प्रदेश है और 'मुझे' का अर्थ 'मुझको' है।'

श्री नाहटा – ...'गुप्त जी ने न जाने कहाँ से 'मुझ' का 'मुझे' कर दिया और उसका अर्थ 'मेरी' की जगह 'मुझको' कर दिया। ...इस दोहे का अर्थ भी संपादकों ने ठीक किया था, पर गुप्त जी ने गलत अर्थकल्पना की है।

विवेचन – १. 'हर' के संपादकों और नाहटा जी द्वारा किए गए अर्थ में लिंग विषयक जो कठिनाई हमने ऊपर के दोहे में देखी है, वह यहाँ भी उपस्थित होती है।

२. 'मुझ' का 'मुझे' छापे की भूल से हो गया है, किंतु उसका अर्थ 'मुझको' तो ठीक ही है, यथा —

वलि मालवणी वीनवइ, हूँ प्री दासी तुझ्झ।
का चिंता चित्त अंतरे, सा प्री दाखउ मुझ्झ॥२३६॥
सुंदर थांके ही कहइ, खोडउ होय रहेस।
जउ ढोलउ डाँभण करइ, डाँभण मुझ्झ न देस॥३२८॥
सूवा एक संदेसड़उ, वार सरेसी तुझ्झ।
प्रीतम वाँसइ जाइ नइं, मुई सुणावे मुझ्झ॥३६८॥

६ - दो० १५१ : बीजुलियाँ 'जालउ मिल्याँ', ढोला हूँ न सहेसि।
जउ आसाढि न आवियउ, सावण समकि मरेसि॥

टीकाटिप्पणी – टीका में 'जालउ मिल्याँ' का अर्थ 'जाल मिल रहे हैं' किया गया है और टिप्पणी में कहा गया है 'जालउ — जाल, राजस्थानी जालो। मिल्याँ — भूतकृदंत, स्त्रीलिंग, बहुवचन = जाल की तरह मिल रही है।'

प्रस्तुत लेखक – पाठ 'जालउ मिल्याँ' न होकर 'जाल उमिल्याँ' होना चाहिए। उमिल्ल <उन्मील = प्रकाशमान, उल्लसित, उद्घाटित है।

श्री नाहटा – 'हमें इसकी (गुप्त जी द्वारा किए अर्थ की) आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। 'जालउ' शब्द 'ज्वाला' के लिये प्रयुक्त हो सकता है और तब उसका अर्थ होगा···विद्युत् ज्वाला के प्रकाशमान होने पर···।'

विवेचन – १. प्रस्तुत लेखक द्वारा किए गए अर्थ की आवश्यकता क्यों नहीं है, यह तो नाहटा जी ने नहीं बताया है, किंतु अर्थ उन्होंने 'प्रकाशमान' के रूप में उसका ही ग्रहण किया है 'मिले' या 'मिल रहे हैं' को नहीं किया है, इसलिये उसके द्वारा किए गए अर्थ की आवश्यकता उन्होंने स्वतः प्रमाणित कर दी है।

२. 'जालउ' 'ज्वाला' से किस प्रकार व्युत्पन्न हो सकता है, यह नाहटा जी ने नहीं बताया है। प्रा० में 'ज्वाला' से 'जाला' हुआ है, और वह स्त्रीलिंग है। उसका 'जालउ' रूप किस प्रकार संभव हुआ है, यदि नाहटा जी ने इस पर भी प्रकाश डाला होता तो अच्छा होता।

७ - दो० १५३ : **बीजुलियाँ 'पारोकियाँ', नीठ ज नीगमियाँह।**
अजइ न सज्जन बाहुडे, वलि पाछी वलियाँह॥

टीकाटिप्पणी – 'पारोकियाँ' का अर्थ 'परकीया नायिकाओं की भाँति' किया गया है और टिप्पणी में कहा गया है : पारोकियाँ — सं० परकीया = परकीया नायिकाएँ।

प्रस्तुत लेखक – 'पारोक' है प्रा० पारोक्ख < सं० पारोक्ष = परोक्षविषयक, परोक्षसंबंधी।

श्री नाहटा – 'परोक्ष होना और निर्गमन करना दोनो एक ही अर्थ के द्योतक हैं, जिसे स्वीकार करने पर दोहे में पुनरुक्ति दोष आ जाता है, पर संपादकों का उपर्युक्त अर्थ आलंकारिक होने के साथ साथ राजस्थानी भाषापद्धति से भी विपरीत नहीं जाता।'

विवेचन – १. नाहटा जी संपादकों के अर्थ का इसलिये समर्थन करते हैं कि वह आलंकारिक है — ठीक ही है, क्योंकि उसमें परकीया नायिका की चर्चा आ जाती है! किंतु अर्थ की राजस्थानी भाषापद्धति कौन सी है, यह वे बता सकते तो अच्छा होता।

२. 'परकीया' से 'पारोकिया' भाषाशास्त्र के किस सिद्धांत के अनुसार बन सकता है, इसपर भी वे कुछ प्रकाश डाल सकते तो अच्छा होता।

३. प्रस्तुत लेखक द्वारा किए गए अर्थ में पुनरुक्ति दोष कोई नहीं है। परोक्ष होना और निर्गमन करना भिन्न भिन्न क्रियाएँ हैं; एक बार परोक्ष होकर वे पुनः प्रत्यक्ष हो सकती थीं; 'नीठ ज नीगमियाँह' वे कठिनाई से गईं [किंतु चली गईं] में ध्वनि यह है कि वे पुनः शीघ्र आनेवाली नहीं हैं।

८ - दो० २११ : **मन सींचाणउ जउ हुवइ, पाँखाँ हुवइ त प्राँण।**
जाइ मिलीजइ साजणाँ, डोहीजइ 'महिराँण'॥

टीकाटिप्पणी – टीका में 'महिराँण' का अर्थ 'महारण्य' किया गया है और टिप्पणी में उसकी व्युत्पत्ति सं० महार्णव, प्रा० महण्णव से बताई गई है।

प्रस्तुत लेखक – महिराँण < मही + राण (< रण्ण < अरण्य) है।

श्री नाहटा – 'गुप्त जी ने पाठ के 'महि' को 'मही' कर दिया है, जिसका कोई कारण नहीं है। 'महिराँण' राजस्थानी और गुजराती साहित्य में अति प्रसिद्ध शब्द है और उसे कोशकारों और विद्वानों ने 'महार्णव' से ही व्युत्पन्न माना है।'

विवेचन – १. 'महि' का 'मही' प्रस्तुत लेखक ने नहीं किया है, भाषा का इतिहास ही यह बताता है कि महि – < मही है, यथा – महिअल < मही + तल, महिगोयर < मही + गोचर, महिपट्ठ < मही + पृष्ठ, महिपाल < मही + पाल, महिमंडल < मही + मंडल, महिरमण < मही + रमण, महिवइ < मही + पति, महिवल्लह < मही + वल्लभ, महिवाल < मही + पाल (देखिए 'पाइअ सद्द महण्णवो' में 'महि')।

२. 'महार्णव' से 'महिराँण' भाषाशास्त्र के किसी नियम के अनुसार नहीं बन सकता है, किन्हीं कोशकारों और विद्वानों ने भले ही ऐसा माना हो।

९ - दो० २५७ : **अति घण ऊनिमि आवियउ, झाझी रिठि झड़वाइ।**
बगही भला त बप्पड़ा, धरणि न मुकइ पाइ॥

टीकाटिप्पणी – टीका में 'झाझी रिठि' का अर्थ 'अत्यंत शीत' किया गया है और टिप्पणी में 'झाझी' की व्युत्पत्ति सं० 'दग्ध' से बताई गई है।

प्रस्तुत लेखक – झाझी [झंझ = क्लेश] = क्लेशपूर्ण, रिठि < रिष्टि = तलवार है, अतः 'झाझी रिठि झड़वाइ' का अर्थ होगा 'झड़ी वाली वायु कष्टप्रद तलवार [जैसी] हो रही है।'

श्री नाहटा – 'झाझी शब्द गुजरात और राजस्थान में पर्याप्त प्रसिद्ध है और इसका अर्थ अत्यंत व बहुत के रूप में व्यवहृत होता है। 'जोडणी कोश' में 'झाझुं' का अर्थ 'ज्यादा व पुष्कल' लिखा है, यही अर्थ 'गुजराती - इंग्लिश - डिक्शनरी' में किया गया है। एवं 'रिठि' का अर्थ अधिक शीत का पर्यायवाची है, अधिक ठंठ पड़ने पर कहते हैं — सी कई पड़ै रिढ पड़ै है।'

विवेचन – हो सकता है कि 'अधिक' अर्थवाची 'झाझुं' या 'झाझी' जैसा भी कोई शब्द गुजरात और राजस्थान में प्रचलित हो, किंतु 'रिठि' का अर्थ 'शीत' नहीं है, यह नाहटा जी के द्वारा दिए हुए उदाहरण से प्रमाणित है, जिसमें कहा गया है : 'शीत' क्या पड़ रही है, 'रिढ' पड़ रही है।

१० · दो० ३६६ : **वीछुडताँ ई सज्जणाँ, राता किया रतन्न।**
'वाराँ बिहुँ चिहुँ 'नाँखिया', आँसू मोतीअन्न॥

टीकाटिप्पणी – वाराँ बिहुँ चिहुँ 'नाँखिया' का अर्थ किया गया है 'दिन रात लगातार गिराए।'

प्रस्तुत लेखक – विहुँ = दो, चिहुँ = चार। अतः अर्थ होना चाहिए 'दोनो दिन चारो [ओर] गिराए।

श्री नाहटा – '[गुप्त जी का] अर्थ सर्वथा असंगत है, क्योंकि दो दिन चारो ओर आँसू गिराने का कोई अर्थ नहीं है। हमारी राय में यहाँ 'वाराँ' का अर्थ कुएँ से निकालने का 'वार' होना चाहिए, जो राजस्थान में पर्याप्त प्रसिद्ध है, यह झोलीनुमा बड़ा सा डोल होता है। मुहावरा भी प्रसिद्ध है कि 'आख्याँ सुँ आँसू वारा रा वारा नाँखे है।' अतः इसका अर्थ होना चाहिए — नेत्रकूप से मोती वरणे अश्रुओं के दो चार वारे गिराए।'

विवेचन – १. 'आँसू रा वारा रा वारा नाँखे है' उक्ति समझ में आती है, किंतु दोहे में उन वारों को 'दो चार' तक ही क्यों सीमित कर दिया गया, नाहटा जी को इस पर भी कुछ प्रकाश डालना चाहिए था।

२. दो दिनों तक चारो ओर मोतीसदृश आँसू गिराने में असंगति क्या है, नाहटा जी को यह भी बताना चाहिए था। यदि 'दो चार वारे' आँसू गिराया जाना असंगत नहीं है तो दो दिनों तक चारो ओर आँसू गिराना भी असंगत नहीं हो सकता है।

३. 'और' मैंने अवश्य ही अपनी ओर से जोड़ा है, किंतु प्रसंग और प्रयोग की अपेक्षा से जोड़ा है और फिर भी उसे कोष्ठकों में ही रखा है, जिससे पाठक को उसके विषय में कोई भ्रांति न हो सके।

११ - दो० ३७१ : सज्जणियाँ वउलाह कइ, मंदिर बइठी आइ।
मंदिर कालउ नाग जिउँ, हेलउ दे दे खाइ॥

टीकाटिप्पणी – टीका में 'हेलउ दे दे' का अर्थ 'पुकार पुकार कर' किया गया है।

प्रस्तुत लेखक – हेला का अर्थ अनादर, उपेक्षा होता है, इसलिये अर्थ होगा 'अनादर या उपेक्षा करते हुए'।

श्री नाहटा – 'महल क्या अनादर उपेक्षा करेगा? और काला नाग भी, जिसकी यहाँ उपमा है, उपेक्षा से नहीं खाता है, क्रोध से काटता है। अतः हेला शब्द का अर्थ पुकारना ही होगा, जो राजस्थान में अत्यधिक प्रयुक्त होता है। यहाँ कवि का अभिप्राय है 'मानो काला नाग पुकार पुकार कर खाने को उद्यत हो'।

विवेचन – १. चीजें उपेक्षा के साथ भी काटी या खाई जाती हैं और अपेक्षा के साथ भी। महल मारवणी की अपेक्षा नहीं कर रहा है, उपेक्षा या अनादर ही कर रहा है और वह जैसे खा रहा है, इसलिये उपेक्षा या अनादर पूर्वक उसका खाना संगत ही है।

२. 'हेला' शब्द का अर्थ नाहटा जी के अनुसार 'पुकारना' अति प्रसिद्ध है, किंतु क्या सर्प किसी को पुकार पुकार कर खाता या काटता है?

३. यहाँ केवल 'हेला' नहीं है, 'हेला दे दे' है; 'हेला देना' का प्रयोग भी पुकारने के अर्थ में होता है, इसके लिये कोई उदाहरण भी राजस्थान के साहित्य से यदि नाहटा जी दे सकते, तो अच्छा होता।

१२ - दो० ३७२ : सज्जणिया वबलाइ कइ, गउखे चढी लहक्क।
भरिया नयण कटोर ज्यउँ, मुंधा हुई डहक्क॥

टीकाटिप्पणी – 'मुंधा हुई डहक्क' का अर्थ 'मुग्धा बिलखने लगी' किया गया है।

प्रस्तुत लेखक – डहक्क प्रा० डह < सं० दह् = दग्ध होना से बना है। अतः 'हुई डहक्क का अर्थ होगा 'दग्ध हुई'।

श्री नाहटा – नाहटा जी ने संपादकों के अर्थ का समर्थन करते हुए कहा है कि *'डहकना' का 'बिलखना' अर्थ प्रामाणिक हिंदी कोश में भी मिलता है। साथ ही उन्होंने एक अन्य अर्थ भी सुझाया है। उनका ख्याल है कि मुंधा = ऊंधा, उलटा है, डहकना = उभरना, छलकना है और 'मुंधा*

हुआ डहक' का अर्थ होगा — भरे हुए कटोरे के उलट जाने की तरह नेत्र (उभरकर) आँसू छलकाने लगे। प्रस्तुत लेखक के द्वारा किए हुए 'डहक' के अर्थ पर आपत्ति करते हुए उन्होंने यह भी कहा है कि वह दोहा ४७६ में आनेवाले 'डहक' के लिये लागू नहीं होता है। संभवतः इसी लिये उसने 'डहक' को वहाँ 'हडक' लिखकर उसकी कोई आलोचना नहीं की है।

विवेचन – १. प्रस्तुत लेखक की आपत्ति 'हुई डहक' के संबंध में थी। 'डहक' विशेषण है, यह 'हुई' से प्रकट है, अतः इसका अर्थ 'बिलखने लगी' होना संभव नहीं है, भले ही किसी 'डहकना' का अर्थ 'बिलखना' होता हो।

२. कटोरा शब्द पुंलिंग है — उसका स्त्रीलिंग रूप 'कटोरी' है। मुंधा = ऊंधा, उलटा भी पुंलिंग है, उसका स्त्रीलिंग रूप 'मुंधी' होगा। यदि 'मुंधा' और 'डहक' के नाहटा जी के द्वारा किए हुए अर्थ मान भी लिए जायँ, तो 'मुंधा हुई' पाठ असंभव हो जाता है, इतनी मोटी सी बात पर नाहटा जी ने ध्यान नहीं दिया। इस अर्थ में 'कटोर' के साथ 'मुंधा हुआ' पाठ होना चाहिए था और 'कटोरी' के साथ 'मुंधी हुई।

३. दोहा ४७६ में आनेवाले 'डहक' के स्थान पर मेरे उक्त लेख में 'हडक' पाठ छापे की भूल है, यह इसी से प्रकट है कि 'हडक' पाठ के आधार पर मैंने कोई कथन नहीं किया है। वहाँ आया हुआ 'डहक' भिन्न है और यहाँ आया हुआ 'डहक' भिन्न। दोनो स्थलों पर 'डहक' को एक ही न संपादकों ने माना है और न नाहटा जी ने ही, फिर भी न जाने क्यों प्रस्तुत लेखक से ही यह अपेक्षा नाहटा जी ने की है।

१३ - दो० ३८७ : उर मेहीं पवनाँह ज्यउँ, करह उडंदउ जाइ।

टीकाटिप्पणी – उडंदउ' का अर्थ 'उड़ता हुआ' किया गया है।

प्रस्तुत लेखक – यह प्रकट ही उद्दंड है।

श्री नाहटा – गुप्त जी ने भ्रांतिवश पाठ 'उद्दंडउ' बनाया है।'

विवेचन – प्रस्तुत लेखक भूल स्वीकार करता है; पाठ 'उडंदउ' ही होना चाहिए था और अर्थ भी संपादकों का दिया हुआ।

१४ - दो० ४१० : करहा इया कुलिगाँमइइ, किहाँ स नागरबेलि।
करि 'कहरों' ही पारणउ, अइ दिन यूँ ही ठेलि॥

टीकाटिप्पणी – 'कइर' का अर्थ 'करील' दिया गया है और टिप्पणी में उसका संस्कृत तत्सम 'करीर' बताया गया है।

प्रस्तुत लेखक – कइर < सं० कद्र नाम का वृक्ष है (पा० स० म०), जिसे श्वेत खदिर भी कहा जाता है (मोनियर विलियम्स : सं० ई० डि०) सं० 'करीर', प्रा० में 'करील' हुआ है 'कइर' नहीं।

श्री नाहटा – 'कइर < [प्रा० कयर पुं० [क्रकर] = वृक्षविशेष, करीर, करील (पा० स० म०) ··· कवि बद्री जन ने 'कैर सतसई' बनाई है।'

विवेचन – १. नाहटा जी के बताए हुए 'क्रकर' से 'कयर' और फिर 'कयर' से 'कइर' होना संभव है, किंतु 'करीर' से 'कइर' होना भाषाशास्त्र की दृष्टि से संभव नहीं है।

२. 'ढोला मारू रा दूहा' में 'करीर' के लिये 'करीर' ही आया है—
आँव सरीखउ आक गिणि, जालि करीराँ झाड़ि ॥४३२॥
अतः कइर सं० कद्र = श्वेतखदिर अब भी विचारणीय लगता है।

३. बद्री जन की 'कैर सतसई' 'ढोला मारू रा दूहा' से बहुत बाद की रचना है 'ढोला मारू रा दूहा' के साक्ष्य के विरुद्ध उसकी मान्यता न होनी चाहिए।

१५ - दो० ४११ : सुणि ढोला करहउ कहइ, मो मनि मोटी आस।
'कइराँ' कूँपल नवि चरूँ, लंघण पड़इ पचास ॥

टीकाटिप्पणी – यहाँ भी 'कइर' को 'करीर' माना गया है।

प्रस्तुत लेखक – देखिए मेरा ४३० का कइरसंबंधी विवेचन। 'करीर' में ऐसी कूँपलें होती भी नहीं जिन्हें ऊँट चर सके।

श्री नाहटा – 'संपादकों के अर्थ का समर्थन करते हुए नाहटा जी का कहना है कि कैर वृक्ष में कूँपलें होती हैं तथा ऊँट कैर को खाता है।'

विवेचन – १. ऊपर जो कुछ दो० ४३० के 'कइर' के संबंध में कहा गया है, वह इस दोहे के कइर के संबंध में भी लागू होता है।

२. प्रश्न ऊँट के द्वारा 'करीर' के खाए जाने का नहीं है; प्रश्न यह है कि 'करीर में भी क्या ऐसी कूँपलें होती हैं कि ऊँट उन्हें उसकी टहनियों से अलग करके चर सके; करीर की टहनियों के साथ उसकी नन्ही नन्ही कूँपलों को खाना दूसरी बात है।

१६ - दो० ४१५ : ढोलइ करह विमासियउ, देखे बीस वसाख।
ऊँचे थवइ ज पकलो, 'बडबाखइ' पवाख ॥

टीकाटिप्पणी – 'वच्चालइ' का अर्थ टीका में 'बीच में' किया गया है और टिप्पणी में 'वच्च' को प्रा० विच्च से व्युत्पन्न तथा 'आलइ' को हिंदी 'वाला' का समानार्थी कहा गया है। वच्चालइ = बीचवाले स्थान में।

प्रस्तुत लेखक – वच्च < सं० वच् = कहना है।

श्री नाहटा – 'राजस्थानी में आज भी 'बिचालै' रूप का प्रयोग इसी (संपादकों के बताए) अर्थ में पर्याप्त प्रचलित है।'

विवेचन – 'विच्च' से 'वच्च' होने की संभावना भाषाशास्त्र के नियमों के अनुसार नहीं ज्ञात होती है। 'वच्च' के 'विच्च' के स्थान पर प्रयुक्त होने के कुछ उदाहरण भी राजस्थान के साहित्य से दिए जा सकते, तो अच्छा होता।

१७ - दो० ४४६ : दुरजन केरा बोलडा, मत पाँतरजउ कोय।
अवहुंती हुंतो कहइ, सगली साच न होय॥

टीकाटिप्पणी – टीका में 'पाँतरजउ' का अर्थ 'धोखा खाना' किया गया है। टिप्पणी कोई नहीं है।

प्रस्तुत लेखक – 'पाँतरज' प्रा० पत्तिज्ज < सं० प्रति + इ = विश्वास करना, प्रतीति करना से बना हुआ ज्ञात होता है।

श्री नाहटा – 'पाँतरजउ' का 'प्रतारणा' से व्युत्पन्न होना संभव है।

विवेचन – 'प्रतारणा' से 'पाँतरज' क्रिया बनने की संभावना भाषाशास्त्र के नियमों के अनुसार संभव नहीं लगती है। 'प्रतारणा' की क्रिया 'प्रतारय्' है, जिसका प्राकृतरूप 'पतार' है (देखिए पा० स० महण्णवो), किंतु उसका भी अर्थ 'धोखा' देना' है, 'धोखा खाना' नहीं।

१८ - दो० ४६३ : आदीताहूँ ऊजलो, मारवणी - मुख - भ्रन्न।
झीणां कप्पड़ पहिरणइ, जाँणि 'झँखइ' सोभ्रन्न॥

१९ - सो० ४६४ : मारूवणी मुँह वंन्न, आदित्ताहूँ उज्जलो।
सोइ 'झाँखउ' सोवंन्न, ओगलि पहिरउ रूप कउ॥

टीकाटिप्पणी – 'झाँखइ' का अर्थ 'झलक रहा है' किया गया है और टिप्पणी में कहा गया है—झँखइ - झँखणो, झाँखो पड़नो। झलक दिखाई देना, झलक पड़ना। मिलाओ — झाँकी।

प्रस्तुत लेखक – 'प्रा० 'झँख' का अर्थ संतप्त होना है (पा० स० म०), अतः 'जाँणि झँखइ सोवंन' का अर्थ होगा 'मानो सोना तप रहा हो।'

श्री नाहटा – 'झाँखना' क्रिया प्रसिद्ध है, जैसे झरोखे में से झाँकना उसी प्रकार झीने वस्त्रों में से स्वर्णवर्णी देह झाँकती है या झलकती है। ··· झीने वस्त्रों में से 'मानो सोना तप रहा हो' लिखना कोई अर्थ नहीं रखता है। प्रामाणिक हिंदी कोश आदि से भी आड़ में से झुककर देखने का अर्थ समर्थित है।'

विवेचन – १. 'झाँकना' एक शब्द है, 'झाँखना',' झँखना' दूसरा; दोनो को एक सिद्ध करने के लिये प्राचीन साहित्य से भी कुछ प्रमाणों को देने की अपेक्षा है।

२. यदि दो० ४६३ में 'झँखना' का अर्थ 'झाँकना' मान भी लिया जाय, तो वह सो० ४६४ में लागू नहीं होता, यद्यपि दोनो की उक्ति और शब्दावली ३/४ अंशों में एक ही है। झीने कपड़े में से भले ही शरीर का झाँकना संगत हो, गले में पहना हुआ चाँदी का आभरण भी झाँकता है, यह अर्थ संगत नहीं लगता है।

३. दो० ४६३ में प्रस्तुत लेखक ने यह अर्थ नहीं किया है कि 'झीने वस्त्रों में से मानो सोना तप रहा हो।' जिस प्रकार सो० ४६४ में भाव यह है कि नायिका के शरीर की कांति से उसके गले में पहना हुआ चाँदी का आभरण भी स्वर्ण जैसा झँखा, उसी प्रकार ४६३ में भाव कदाचित् यह होगा कि नायिका के झीने कपड़े का परिधान उसके शरीर की कांति से ऐसा लगा मानो स्वर्ण झँख रहा हो।

२० - दो० ४६० : **डींभ लंक मरालि गय, पिक सर पही वाँणि।**
ढोला पही मारुई, जेहा हंझ निवाँणि॥

टीकाटिप्पणी – टीका में 'हंझ निवाँणि' का अर्थ 'सरोवर में स्थित हंस' किया गया है और टिप्पणी में 'हंझ' को 'हंस' तथा 'निवाँणि' को 'निम्न' से व्युत्पन्न बताया गया है।

प्रस्तुत लेखक – 'हंझ < सं० हञ्झा से बना है, जिसे 'कन्या' से व्युत्पन्न बताया जाता है (मो० वि० : संस्कृत - इंग्लिश डिक्शनरी)। निवाण < प्रा० णिव्वाण < सं० निर्वाण (= परमसुख) है। अतः 'हंझ निवाण' का अर्थ होना चाहिए 'निर्वाण - कन्या।'

श्री नाहटा – 'हमें यह अर्थ संगत नहीं लगता है।' यह कहते हुए नाहटा जी ने संपादकों के अर्थ का समर्थन किया है।

विवेचन – १. 'निवाण' 'निम्न' से व्युत्पन्न नहीं है, वह सं० निपान (=कूप, तालाब) से व्युत्पन्न है।

२. 'हंझ' 'हंस' से व्युत्पन्न है, इसका कोई प्रमाण नहीं दिया गया है, 'ढोला मारू रा दूहा' में ही 'हंस' के लिये हंसड़ा के रूप में 'हंस' आया है —

घूमइ पडिया हंसड़ा भूला माँनसराँह ॥५५२॥

इसलिये 'निवाण' का आशय 'जलाशय' मान भी लिया जाय, तो 'हंझ की समस्या बनी रह जाती है।

२१ - दो० ४७४ : **चरि गयवर नइ पग भमर, हालंती गय हंझ। मारू पारेवाह ज्यूँ, अंखी रत्ता मंझ॥**

टीकाटिप्पणी — यहाँ भी 'हंझ' का अर्थ 'हंस' किया गया है।

प्रस्तुत लेखक — 'गय हंझ = गजकन्या।'

श्री नाहटा — यथा ऊपर दोहा ४६० में।

विवेचन — देखिए ऊपर दोहा ४६० में 'हंझ' संबंधी विवेचन।

२२ - दो० ४७६ : **कसतूरी कढ़ि केवड़ो, 'मसकत' जाय महक्क। मारू दाड़म - फूल जिम, दिन दिन नवी डहक्क॥**

टीकाटिप्पणी — टीका में 'मसकत जाय महक' का अर्थ किया गया है 'महक उड़ती जा रही हो।' टिप्पणी में कहा गया है 'मसकत = महकता हुआ।'

प्रस्तुत लेखक — 'मसकत' किसी विदेशी पुष्प का नाम लगता है, जो कभी मसकत नाम के नगर से आया होगा। जाय < सं० जाती (= जाती-पुष्प) है।

श्री नाहटा — 'गुप्त जी ने ··· मसकत' शब्द के लिये ··· निराधार कल्पना की है। 'मसकत' शब्द 'मस्तक' का विपर्यय लगता है, क्योंकि राजस्थानी बोलचाल में ऐसा विपर्यय व्यवहृत है। अतः 'उसके मस्तक से उपर्युक्त फूलों का सौरभ उड़ रहा था' के भाव से लिखा जाना संभव है।

विवेचन — १. प्रसंग यहाँ नायिका के किसी अंग का नहीं है, नायिका के संपूर्ण शरीर का है और दूसरे चरण में कहा गया है कि नायिका [यौवनागम के कारण] दिन दिन विभिन्न पुष्पों की नई नई सुगंध धारण कर रही है।

२. 'मसकत' के 'मस्तक' के लिये प्रयुक्त होने का कोई उदाहरण श्री नाहटा जी ने प्राचीन राजस्थानी साहित्य से दिया होता तो अच्छा होता।

३. 'निराधार कल्पना' कौन सी है, इसका निर्णय नाहटा जी स्वयं करते तो अच्छा होता।

२२ - दो० ४७७ : ढोला सायधण माँणने, झीणी पाँसळियाँह।
कइ लाभे हर पूजियाँ, हेमाळे गळियाँह॥

टीकाटिप्पणी – प्रथम पंक्ति का अर्थ किया गया है, 'हे ढोला, उसकी पँसुलियाँ बड़ी सुकुमार हैं। रंग (प्रेम) करने के लिये ···।' और टिप्पणी में प्रथम पंक्ति का अन्यार्थ दिया गया है—'हे ढोला, उस प्रेयसी से रंग करो न, उसकी पँसुलियाँ पतली हैं।'

प्रस्तुत लेखक – 'माँणने' का अर्थ 'बड़ी' किया गया है (पृ० १५७); फिर [टिप्पणी में] उसका एक अन्यार्थ 'रंग करो न' भी किया गया है (पृ० ५२६)। 'माँणन' < प्रा० माणण < सं० मानन (= सुख की अनुभूति) है, अतः प्रथम चरण का अर्थ होगा, 'हे ढोला, वह स्त्री सुख की अनुभूति [तुल्य] है और पतली पँसलियों वाली है।'

श्री नाहटा – 'उन्होंने (संपादकों ने) 'माँणने' का अर्थ 'बड़ी' नहीं किया है। उन्होंने तो 'झीणी' पाँसलियाँह का अर्थ 'पँसुलियाँ बड़ी सुकुमार हैं', किया है और 'माँणने' का अर्थ 'रंग (प्रेम) करने के लिये' किया है। यह शब्द इसी अर्थ में राजस्थान में पर्याप्त प्रसिद्ध है। ··· राजस्थान के लोकगीत आदि में रंग माणना शब्द 'भोगने' के अर्थ में सर्वविदित है।'

विवेचन – १. खेद है कि नाहटा जी ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि संपादकों ने 'रंग करो न' देते हुए टिप्पणी में उसे 'अन्यार्थ' लिखा है, जिससे प्रकट है कि उन्होंने टीका में भिन्न अर्थ दिया है। साथ ही, 'झीणी पाँसलियाँह' का अर्थ होता है 'झीनी या क्षीण पँसलियों की' और टीका में 'सायधण माँणने झीणी पाँसलियाँह' का अर्थ किया जाता है 'उसकी पँसुलियाँ बड़ी सुकुमार हैं', इसलिये यह मानना पड़ेगा कि या तो संपादकों ने टीका में 'माँणने' का अर्थ छोड़कर 'बड़ी' अपनी ओर से बढ़ा दिया है और या तो उन्होंने 'माँणने' का ही अर्थ 'बड़ी' किया है।

२. संपादकों ने 'माँणने' का अन्यार्थ टिप्पणी में किया है, 'रंग करो न' और नाहटा जी कहते हैं कि उन्होंने 'माँणने' का अर्थ 'रंग (प्रेम) करने के लिये' किया है।

३. लोकगीतों से दो चार उदाहरण श्री नाहटा जी ने 'माँणने' के प्रयोग के दिए होते, तो अच्छा होता।

२४ - दो० ४८० : **दंत जिसा दाड़म कुली, सीस फूल सिणगार।**
काने कुंडल भलहलइ, कंठ टँकावल हार॥

टीकाटिप्पणी – टीका में 'दंत जिसा दाड़म कुली' का अर्थ किया गया है 'दाँत दाड़िम के दानों जैसे हैं' और टिप्पणी में कहा गया है 'कुली < सं० कली।'

प्रस्तुत लेखक – कुली का अर्थ 'कली' किया गया है (पृ० १५८) किंतु दाँतों की तुलना दाड़िम के बीज से दी जाती है न कि दाड़िमकली से। 'कुली' का अर्थ है 'कुल का'।

श्री नाहटा – गुप्त जी ने लिखा है कि 'कुली' का अर्थ 'कली' किया गया है (पृ० १५८), पर वास्तव में 'कली' अर्थ किया ही नहीं, 'कुली' का अर्थ 'दाना' किया है ··· अतः संपादकों की गलती नहीं है। गुप्त जी नें न मालूम कहाँ से 'कली' शब्द लिखकर आलोचना की है। ··· 'दाड़िम कुल' का क्या आशय है?'

विवेचन – १. 'कुली < सं० कली' टिप्पणी (पृ० ५३०) में दिया हुआ है, यह नाहटा जी को मालूम होना चाहिए था। टिप्पणी की पृष्ठसंख्या मैंने उक्त लेख में नहीं दी, इतनी भूल अवश्य मैंने की।

२. 'कुली' से 'दाना' अर्थ कैसे बनता है, यह नाहटा जी ने नहीं बताया है। 'कली' शब्द आधुनिक भाषा का है, जो संभवतः सं० 'कलिका' के लिये भूल से टिप्पणी में छप गया है।

३. 'ढोला मारू रा दूहा' में भी 'कलिका' के लिये 'कली' शब्द ही आया है, 'कुली' नहीं –

जोबन चाँपउ मउरियउ कली न चुट्टइ आइ ॥१२०॥

४. 'कुली' का अर्थ 'कुल का' निर्विवाद है। कुली < सं० कुलिक = कुल का व्यक्ति है (दे० 'कुलिक' — मोनियर विलियम्स : संस्कृत - इंग्लिश - डिक्शनरी)। 'दाड़िमकुली' का आशय होगा 'दाड़िम [बीज] के आकार - प्रकार का।'

२५ - दो० ५४८ : **डेडरिया खिणमइ हुवइ, घँण बूठइ 'सरजित्त'।**

टीकाटिप्पणी – टीका में 'सरजित्त' का अर्थ 'संजीवित' किया गया है, और टिप्पणी में कहा गया है : सरजित्त — संजीवित। मिलाओ — सरजीवन = संजीवन।

प्रस्तुत लेखक – यह स्पष्ट ही < सं० सर्जित (= बनाया हुआ) है।

श्री नाहटा – 'यह [कथन] वास्तव में गलत है। राजस्थान में 'संजीवन' को 'सरजीवण' कहते हैं, जिसकी भूतकालिक क्रिया 'सरजित्त का यहाँ प्रयोग हुआ है। ··· मेंढक बनाए — सर्जित किए — नहीं जाते, बल्कि वर्षा में अपने आप संजीवित हो उठते हैं।'

विवेचन – १. राजस्थान में 'संजीवन' को 'सरजीवन' कहते हैं, तो 'संजीवित' को 'सरजीवित' कहते होंगे, 'सरजित्त' नहीं। नाहटा जी जरा पता लगाएँ। 'सरजित्त' के कोई दो एक उदाहरण भी उन्होंने प्राचीन राजस्थानी साहित्य से दिए होते, तो अच्छा होता।

२. मेंढक क्या, मनुष्य तक का सर्जन होता है।

२६ - दो० ६६१ : **जिण भुइ पन्नग पीयणा, 'कयर' कँटाला रूँख।**

'कयर' के संबंध में देखिए ऊपर दो० ४३० के 'कइर' के संबंध का विवेचन।

मेरे अर्थों के सुझाव के संबंध में नाहटा जी ने अपने लेख के प्रारंभ तथा अंत में सामान्य रूप से जो कुछ कहा है, उसके विषय में मुझे कुछ नहीं कहना है। श्री भँवरलाल नाहटा जैसे राजस्थानी साहित्य के विद्वान् से मैं कुछ और अच्छे स्तर के विवेचन की अपेक्षा करता था, मैं इतना ही कहना चाहूँगा।

*

हिंदी के साधारण वाक्य में स्वतंत्र कर्ता और असमापिका (इन्फिनिट) क्रियावाले वाक्यांश

वि० ए० चेर्निशोव्

अगर दो शब्दोंवाले किसी समूह में उद्देश्य और विधेय रहते हों तो यह अविस्तृत वाक्य के मुख्य लक्षणों में से एक है। जहाँ तक हिंदी का सवाल है, यह नियम सिर्फ मुख्य प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति करता है और निरपवाद नहीं माना जा सकता। क्योंकि भाषा के तथ्यों का विश्लेषण करने से स्पष्ट हो जाता है कि उद्देश्य और विधेय के बीच होनेवाले संबंध के तत्व, न सिर्फ दो शब्दोंवाले समूह (उद्देश्य और विधेय) अर्थात् वाक्य के बीजकेंद्र में हो सकते हैं बल्कि साधारण वाक्य के ऐसे शब्दसमूहों में भी देखे जा सकते हैं जिनका मुख्य शब्द, क्रिया के सामान्य रूप या कृदंत से अभिव्यक्त हो जाता है। ध्यान देने की बात है कि ऐसे शब्दसमूह, अकर्मक क्रियाओं के आधार पर ही बनते हैं। ऐसे उपवाक्य जैसे शब्दसमूहों की यह विशेषता है कि उनके अंदर न सिर्फ अर्थ की बल्कि व्याकरण की दृष्टि से भी उद्देश्य सा शब्द उपस्थित होता है। क्रिया के सामान्य रूप या कृदंत के किसी भी रूपांतर से ऐसा कार्य व्यक्त हो जाता है जिसका कर्ता, वाक्य के मुख्य ढाँचे के कर्ता से भिन्न है। इसके आधार पर क्रिया के सामान्य रूप या कृदंतवाला शब्दसमूह, उपवाक्य जैसे स्वतंत्र वाक्यांश में परिणत हो जाता है। विस्तृत वाक्य के समान ऐसे स्वतंत्र वाक्यांश में उद्देश्य सा अपना निजी कर्ता वर्तमान है जिसे हम स्वतंत्र कर्ता कहते हैं। व्याकरणिक उद्देश्य से स्वतंत्र कर्ता की यह समानता है कि अर्थ की दृष्टि से स्वतंत्र कर्ता, क्रिया के सामान्य रूप या कृदंत से व्यक्त होनेवाले कार्य के साधक का नाम है और व्याकरण की दृष्टि से वह स्वतंत्र (कर्ता कारक के) रूप में प्रयुक्त होता है। वाक्य के व्याकरणिक उद्देश्य और स्वतंत्र कर्ता का यह अंतर है कि स्वतंत्र वाक्यांश में कर्ता और कार्य के बीच होनेवाला संबंध व्याकरण की दृष्टि से पूर्णतया कार्यान्वित नहीं हो जाता, बल्कि अधूरा ही रहता है। क्रिया के सामान्य रूप या कृदंतवाले शब्दसमूह की नींव और वाक्य के ढाँचे के बीजकेंद्र में यह अंतर होता है कि क्रिया के सामान्य रूप या कृदंत से व्यक्त होनेवाले कार्य का वास्तविकता से संबंध अस्पष्ट रहता है क्योंकि ऐसे शब्दसमूह में क्रिया के काल तथा नियम (मूड) जैसी विशेषताएँ व्यक्त नहीं होतीं। क्रिया के सामान्य रूप या कृदंत से व्यक्त होनेवाले कार्य के काल तथा मूड, वाक्य के मुख्य ढाँचे की क्रिया के अन्योन्य संबंध में ही स्पष्ट हो जाते हैं।

क्रिया के सामान्य रूप या कृदंतवाला स्वतंत्र वाक्यांश न केवल वाक्य के मुख्य बीजतत्वों (कर्ता और क्रिया) के उपस्थित होने से परंतु उन दोनो तत्वों के स्थानक्रम से भी बनता है। इसलिये उसका ढाँचा सदा बंद रहता है अर्थात् क्रिया का सामान्य रूप या कृदंत उसके अंत में ही आता है।

इस प्रकार के वाक्यांश के मुख्य तत्व, वाक्य के उद्देश्य और विधेय के अनुरूप होते हैं मगर वाक्य के पूरे ढाँचे में स्वतंत्र वाक्यांश, वाक्य के सहायक अंग आमतौर पर विस्तृत क्रिया - विशेषता - बोधक के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

क्रिया के सामान्य रूपवाला स्वतंत्र वाक्यांश, 'पर', 'के बाद' और 'से पहले' विभक्तियाँ लेकर आता है और उसका अर्थ ऐसा कार्य व्यक्त करता है जो क्रमशः वाक्य के मुख्य ढाँचे में होनेवाले कार्य से पहले या बाद पूरा हो जाता है। यथा—

युद्ध आरंभ होने पर प्राणरक्षा के लिये आवश्यक पदार्थों को उत्पन्न करना बंद कर नाश के ही साधन बनाए जाते हैं (यशपाल, सबसे बड़ा आदमी)।

फिर **मोटर गुजर जाने के बाद** उसने बड़ी अदा से अपनी साड़ी सँभाली और···सड़क पार करके प्रतिमा, ललिता और नीलिमा से आ मिली (कृष्णचंद्र, ब्रह्मपुत्र)।

तूफान आने से पहले नाव के किनारे बैठी पकड़ी जानेवाली बड़ी बड़ी मछलियों को देख रही थी (उदयशंकर भट्ट, सागर लहरें और मनुष्य, २६)।

अपूर्णक्रियाद्योतक कृदंतवाले स्वतंत्र वाक्यांश से अपूर्ण कार्य व्यक्त हो जाता है जो वाक्य के मुख्य ढाँचे में बताए गए कार्य के साथ ही चलता है। ऐसे वाक्यांश के कृदंत की बहुधा द्विरुक्ति होती है। यथा —

सबेरा होते होते हम आठ मील और समुद्र में आगे बढ़ गए (वही, ३७)।

शाम होते होते माणिक और रत्ना सिनेमा देखने चले गए (वही, १७३)।

तात्कालिक कृदंतवाले स्वतंत्र वाक्यांश से, जो अपूर्णक्रियाद्योतक कृदंत के अंत में 'ही' जोड़ने से बनता है, मुख्य क्रिया के समय के ठीक पहले होनेवाली घटना का बोध होता है। यथा —

मुँह खुलते ही मुर्गा अड़कर पेड़ पर जा बैठा (भारतीय लोककथा)।

सबेरा होते ही वंशी ने कड़कती आवाज में विट्ठल को उठाया (उ० भट्ट, वही, ७४)।

पूर्णक्रियाद्योतक कृदंतवाले स्वतंत्र वाक्यांश से मुख्य क्रिया के समय के पहले ही समाप्त हुई घटना का बोध होता है। यथा —

मैं परीक्षा की तैयारी के लिये तीन बजे सुबह उठकर पढ़ाई करता था (यशपाल, पिंजरे की उड़ान, ६७) ।

बहुत दिन हुए आपका कोई पत्र नहीं मिला (सुदर्शन, तीर्थयात्रा, १२४) ।

विरोध सूचित करने के लिये क्रिया के सामान्य रूपवाले और अपूर्णक्रिया-द्योतक कृदंतवाले स्वतंत्र वाक्यांश प्रयोग में आते हैं। पहले वाले का योग क्रिया के सामान्य (विकृत) रूप में 'पर' विभक्ति और 'भी' अव्यय एक साथ लगाकर ही किया जाता है। दूसरा वाला, विकृत कृदंत में 'भी' अव्यय जोड़ने से बनता है। जैसे —

सवेरा होने पर भी रत्ना बिस्तर पर पड़ी रही (उ० भट्ट, वही, १६२) ।

बाहर के लोगों द्वारा नाच-रंग होते हुए भी विठल का जी खुश नहीं था (वही, २२२) ।

कार्य का कारण सूचित करनेवाले विस्तृत क्रियाविशेषताबोधक के रूप में सिर्फ क्रिया के सामान्य रूपवाले स्वतंत्र वाक्यांश प्रयुक्त होते हैं जो 'से', 'के कारण' ('कि वजह') विभक्तियों के साथ प्रयोग में आते हैं, जैसे—

रस्सी टूट जाने से वह (छोटी नाव) बह गई (वही, ४०) ।

धीरे धीरे खुमारी बढ़ने के कारण फिर झपकी आ गई (वही, १३०) ।

स्वतंत्र कर्ता और क्रिया के सामान्य रूपवाले शब्दसमूह, पूरे वाक्य के अंदर किसी शब्द के विशेषताबोधक रूप में भी प्रयुक्त हो सकते हैं जो विशेष्य से 'का' विभक्ति द्वारा संबद्ध होता है। जहाँ तक ऐसे वाक्य के मुख्य ढाँचे से स्वतंत्र वाक्यांश के संबंध का सवाल है, उसका स्वरूप दूसरों से भिन्न है। मतलब यह है कि यदि क्रिया के सामान्य रूप या कृदंतवाले वाक्यांश, पूरे वाक्य के सहायक अंग (क्रियाविशेषताबोधक) के रूप में प्रयुक्त होते हैं तो 'का' विभक्ति द्वारा बने हुए स्वतंत्र वाक्यांश एक ही शब्द (विशेष्य) से संबद्ध रहते हैं और 'का' विभक्ति जैसे सहायक व्याकरणिक साधन का विशेष्य से लिंग वचन में अन्वय होता है, जैसे—

कार का दरवाजा खुलने के शब्द ने दोनों को चौंका दिया (राजेंद्र यादव, उखड़े हुए लोग, ६४) ।

असंतोष फैलने की संभावना है (धर्मवीर भारती, चाँद और टूटे हुए लोग, ११७) ।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, पूर्णवाक्य के उद्देश्य और विधेय के बीच जो संबंध विद्यमान होते हैं उनके कुछ तत्व, स्वतंत्र वाक्यांश के कर्ता (संज्ञा) और क्रिया

के बीच भी उपस्थित हो सकते हैं। यह न केवल इस बात पर निर्भर होता है कि स्वतंत्र वाक्यांश की संज्ञा और क्रिया, अर्थ की दृष्टि से एक दूसरे से संबद्ध रहती हैं, बल्कि इस बात पर भी कि कभी कभी उन दोनों के बीच होनेवाले संबंध अंशतः उनके रूप में भी मूर्तिमान हो जाते हैं। यह तभी होता है जब स्वतंत्र वाक्यांश के अंदर 'होना' आदि अकर्मक क्रियाएँ रहती हैं जिनका अर्थ पूरा करने के लिये उनके साथ कोई शब्द (विकारी विशेषण या कृदंत) लगाने की आवश्यकता होती है। इस अवस्था में विकारी विशेषण या कृदंत का स्वतंत्र कर्ता से लिंग और वचन में अन्वय होता है। जैसे—

लंगर पड़े रहने पर भी 'मचवा' उलटा बहने लगा (उ० भट्ट, वही, ४०)।

उंगली टेढ़ी होने की खबर सुनकर रमपतिया दौड़ी आई थी। (रेणु, ठुमरी, २०)।

जैसा ऊपर बताया जा चुका है, अकर्मक क्रिया से बने हुए पूर्वकालिक कृदंतवाले स्वतंत्र वाक्यांश भी हो सकते हैं। परंतु ध्यान देने की बात है कि पिछले २५ - ३० साल में, विशेषकर नई पीढ़ी के लेखकों की कृतियों में पूर्वकालिक कृदंत से बने हुए स्वतंत्र कर्तावाले वाक्यांश प्रयुक्त नहीं होते। हमारी राय में यह बात पूर्वकालिक कृदंतवाले स्वतंत्र वाक्यांश से बचने की प्रवृत्ति का द्योतक है। उल्लेखनीय है कि पूर्वकालिक कृदंत से बने हुए स्वतंत्र वाक्यांशोंवाले वाक्य हमें केवल कतिपय व्याकरणों में ही मिले हैं। यथा—

रात बीतकर आसमान के किनारों पर लाली दौड़ आई थी (गुरु, हिंदी व्याकरण, २ पृ०, ५२३)।

थकावट दूर होकर अच्छी नींद आती है (वही, ६४१)।

पूर्वकालिक कृदंत से बने हुए स्वतंत्र कर्तावाले वाक्यांश से बचने की प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि भाषाविज्ञान की दृष्टि से संभव और ग्राह्य होते हुए भी ऐसे वाक्यांश अप्रचलित हो गए हैं। उसका कारण भी ढूँढ़ निकाला जा सकता है— यदि पूर्वकालिक कृदंत से बने हुए वाक्यांशों के संबंध में हम हिंदी भाषा के वाक्य - विन्यास की एक ही विशेषता स्मरण करें। हिंदी की क्रिया के रूपों में से केवल पूर्वकालिक कृदंत विधेय या उसके अंग के रूप में प्रयुक्त हो ही नहीं सकता ('बड़ा' विशेषण का पर्याय 'से बढ़कर' हम जान बूझ कर ध्यान में नहीं रखते क्योंकि एक अपवाद किसी निष्कर्ष का आधार नहीं हो सकता)। अतः कार्य का साधक (उद्देश्य) उसके साथ प्रयुक्त भी नहीं होता। हमारी राय में यही बात, विधेय के रूप में पूर्वकालिक कृदंत की अव्यावहारिकता ही, पूर्वकालिक कृदंतवाले वाक्यांश के भीतर स्वतंत्र कर्ता का प्रयोग न करने की प्रवृत्ति का कारण है।

*

हिंदी द्वंद्व समास में भाषासांकर्य

वी० बेस्कोवनी

प्रस्तुत निबंध हिंदी में मिश्र शब्दनिर्माण पर मेरे कार्य की शृंखला में है।[1] हिंदी भाषा के द्वारा अरबी और फारसी शब्दों का जो ग्रहण सुपरिचित ऐतिहासिक परिस्थितियों में हुआ था, उसका जैसा परिचय द्वंद्व समासों से मिलता है उसका दिग्दर्शन इस निबंध का उद्देश्य है। इनमें भारतीय (हिंदी एवं संस्कृत) घटकों का, अरबी या फारसी उद्गम के घटकों के साथ योग है। मिश्र शब्दनिर्माण से यहाँ हमारा तात्पर्य केवल ऐसे शब्दशास्त्रतः विजातीय योगों से ही होगा।

यह सर्वविदित है कि भारतीय आर्यभाषाओं में हिंदीसमेत शब्दशास्त्रतः भिन्न परंतु पर्यायवाची घटकोंवाले द्वंद्व शब्दों के उद्भव के संबंध में दो मत हैं। प्रो० सुनीतिकुमार चटर्जी का मत है कि शब्दशास्त्रतः भिन्न घटकोंवाले द्वंद्व समासों का आगम अज्ञात या अल्पज्ञात गृहीत शब्दों के स्पष्टीकरण या अनुवाद की प्रवृत्ति का परिणाम है। यद्यपि प्रो० चटर्जी उनकी मुख्य शैलीगत विशेषता बताते हुए उनकी चर्चा तथाकथित अनुवादमूलक समस्तपद[2] या अनुवादसमास[3] के साथ करते हैं। पर्यायवाची मिश्र द्वंद्व के उद्भव के कारण के रूप में 'अनुवाद' या 'स्पष्टीकरण' का सिद्धांत इस निष्कर्ष की ओर ले जाता है कि विदेशी पर्यायों और प्रतिरूपों का आत्मीकरण मिश्र पर्यायात्मक शब्दनिर्माण के बाद का है। वस्तुतः येनकेन-प्रकारेण भारतीय आर्यभाषा में चाहे भाषासहगामित्व या साहित्यिक प्रभाव के फलस्वरूप मिश्र पर्यायात्मक द्वंद्व का निर्माण विदेशी शब्दों के ग्रहण से पूर्व का

१. द्रष्टव्य वी० एम० बेस्कोवनी, 'हिंदी इ उर्दू', वोप्रोसी लेक्सिकोलोगी इ स्लोवू आज़ोवानिया' (मास्को, १९६०) नामक ग्रंथ में 'मोर्फोलोगिचेस्कोये गिब्रिद्नोये स्लोवू आज़ोवानिये व् हिंदी'।

२. भारतीय आर्यभाषा में बहुभाषिता, सु० कु० चाटुर्ज्या, ऋतंभरा, इलाहाबाद, १९५८।

३. एस० के० चटर्जी के 'इंडो-आर्यन ऐंड हिंदी' में 'पालीग्लाटिज्म इन इंडो-आर्यन', कलकत्ता, १९६०, पृ० १८८-२०३।

है (इसका प्रमाण बिहारी, भूषण तथा अन्य मध्यकालीन कवियों की भाषा में मिल सकता है)। इस कारण यह मान्यता इस भाषीय विशेषता के आगमन और प्रवृत्ति की व्याख्या करने में असमर्थ हो जाती है। यह मान्यता समान रूप से यह समझाने में भी असफल है कि हिंदी और उर्दू के अधिकांश द्वंद्वों में इनके प्रथम घटक के रूप में हिंदीशब्द ही क्यों रहता है।

नभाआ भाषाओं में पर्यायात्मक द्वंद्व के उद्भव के संबंध में तीसरे दशकांत के आसपास एक भिन्न मत अकादमीशियन ए० पी० बाराभ्निकोव् ने व्यक्त किया। नभाआ भाषाओं में पर्यायात्मक द्वंद्व पर विशेष रूप से लिखित अपने निबंध में उन्होंने यह मत प्रस्तावित किया कि पर्यायात्मक द्वंद्व के निर्माण में प्रेरक सिद्धांत 'नभाआ भाषाओं की प्रवृत्ति में निहित मनोवृत्तियाँ हैं, साथ ही उनमें खासतौर से ऐसे समासों की बहुलता है जिनके दोनो खंड देशी हैं।'[४] हिंदी-संस्कृत पर्यायात्मक समासों के संबंध में उसी निबंध में उन्होंने इस प्रकार लिखा है — 'ये निर्माण संभवतः व्याख्या या अनुवाद करने की प्रवृत्ति के लिये नहीं, बल्कि प्रथम तत्व पर गुरुत्व और बल देने के लिये लाए गए।'[५] पर्यायात्मक मिश्र और अमिश्र द्वंद्वों के निर्माण के पीछे निहित शैलीगत सिद्धांत पर प्रकाश डालनेवाला यह मत उचित है। वस्तुतः मिश्र तथा अमिश्र द्वंद्व, आधुनिक हिंदी में जो असंख्य प्रकार के द्वंद्वरूप बनाते हैं, वह नभाआ भाषाओं में एक सविशेष और स्पष्ट लक्षण है, जिसका उद्भव और विकास प्राचीन काल से ही वाणी की अभिव्यंजना में वृद्धि और उसे अधिक ओज प्रदान करने की ओर था। यहाँ इतना और कहा जा सकता है कि यह नियम केवल पर्यायात्मक द्वंद्वों के संबंध में ही क्रियाशील नहीं था। यही प्रवृत्ति अन्य प्रकार के द्वंद्वों के निर्माण के पीछे निहित है अर्थात् विलोम और अंशतः संबंध समासों (असोशिएटिव) के विषय में भी।

उनके आगमन में पूर्वापेक्षा और उनके सामान्य शैलीगत लक्षण मिश्र द्वंद्वों को किसी प्रकार हिंदी के अन्य द्वंद्वों से पृथक् नहीं करते। वक्ता या लेखक बोलते और लिखते समय उनके मिश्र होने की अनुभूति नहीं करते। उनका निर्माण सहज रूप से मातृभाषा के शब्दभांडार से गृहीत सामग्री के द्वारा बिना किसी पूर्व कल्पना के ही होता है। हिंदी के मिश्र द्वंद्व यह सहज प्रमाणित करते हैं कि अरबी और फारसी भूणों को लेकर जनमानस में कोई मनो - भाषावैज्ञानिक पार्थक्य की भावना नहीं है।

४. ए० पी० बाराभ्निकोव्, 'सिनोनिमिचेस्किये ओब्लोरी व् नोवोइन्दिइस्किख — जापिस्की कोलेगी वोस्तोकोवेदोव्', तृतीय एल १६२८।

५. वही, पृ० २५७।

इन मिश्र द्वंद्वों में अपनी शैलीगत अभिव्यंजकता से संबद्ध कोई खास सांगीतिकता और सुस्वरता का लक्षण नहीं होता, जो 'विशुद्ध भारतीय' द्वंद्वों से भिन्न हो। छंदानुरोध के अनुकूल अरबी और फारसी घटकों का अनुवर्तन भी भारतीय भाषा द्वारा उनका संपूर्ण एकीकरण प्रमाणित करता है। यह मानने के समुचित कारण हैं कि द्वंद्वों में घटकों के प्रथम या द्वितीय स्थान का निर्धारण शब्दशास्त्रीय नहीं बल्कि छंदशास्त्रीय लक्षणों से होता है। ध्वनिबल अर्थबल का अनुगामी होता है।

जब घटकों की अक्षरसंख्या भिन्न होती है तब सांगीतिक वृत्ति छोटे शब्द को प्रथम स्थान देती है, यथा, माँ - बेटी, नून - तेल - लकड़ी, चौका - बरतन, भूला - भटका, सोच - विचार आदि में।

यही छंदात्मक योजना निम्नलिखित मिश्र समासों में भी मिलती है — क़िस्सा - कहानी, खेल - तमाशा या मेला - तमाशा, सैर - सपाटा, घूस - रिश्वत, खून - पसीना, हँसी - मजाक, हँसी - दिल्लगी, मेल - मुलाकात, भूख - गरीबी, सुख - आराम, चुप - खामोश, धन - दौलत, कष्ट - तकलीफ, सेवा - बंदगी आदि। दूसरी छंदानुसारी प्रवृत्ति वर्तमान में द्वंद्वों के घटकों के तुक और अनुप्रास में दिखाई पड़ती है। इसका कार्यक्षेत्र स्वभावतः पर्यायवाचियों, अपर्यायवाचियों के ध्वन्यात्मक संयोग द्वारा परिसीमित है और द्वंद्व के अन्य अवयवों द्वारा—जिनका चुनाव द्वंद्व के अर्थ पर निर्भर करता है। हिंदी के ये रूप जर्मन भाषा के ऐसे ही द्वंद्वात्मक मिलापों— 'वेग उंत स्तेग, साक उंत पाक, विंड उंत वेतर' आदि के पूर्ण साम्य में हैं। भारतीय घटकों से निर्मित निम्नलिखित द्वंद्व तुक और अनुप्रास के उदाहरण हो सकते हैं — झाड़् - बहाड़् (द्वितीय शब्द तुक के लिये बदल दिया गया है), छोटा - मोटा, साँठ - गाँठ, रूखा - सूखा, दीन - हीन, सुख दुःख, काम - काज, डील - डौल, बोरिया - बँधना, सोच - विचार आदि।

मिश्र द्वंद्वों में तुक कम ही होते हैं। यथा, कार - व्यवहार, हारी - बीमारी, हाल - चाल जैसे समास कम हैं, परंतु आनुप्रासिकता प्रचुर है। यथा – रोज - रात, मरा - मुर्दा, मेवा - मिठाई, मालिक - मुखिया, रीति - रिवाज, दुख - दर्द, जी - जान, गुल - गप्पाड़ा, नाक - नक्शा, सबर - संतोष, तेज - तीखा, साफ - सुथरा या साफ - स्वच्छ, खाली - पोला, जूती - पैजार आदि।

आधुनिक हिंदी में द्वंद्व शब्दनिर्माण का एक सजीव तथा सफल ढंग है। इनका प्रयोग बोलचाल तथा साहित्यिक भाषा दोनों में होता है। जहाँ तक साहित्यिक भाषा की बात है अधिकांशतः वे कथासाहित्य में मिलते हैं यद्यपि पत्रकारिता और वैज्ञानिक साहित्य भी उनसे जीवंत हुए हैं। अब तक द्वंद्व और उनमें भी मिश्र द्वंद्वों का अधिकांशतः आलेखन समग्रतः वाणी से उद्धृत होने के कारण, पुस्तकों में ही

हुआ है, जब कि कोशों और व्याकरणों में उन्हीं का आंशिक आकलन हुआ है जो प्रयोगों द्वारा जम चुके हैं और जिनमें बहुतेरे अपनी अभिव्यंजना का मूल रूप खो चुके हैं। बहुत से द्वंद्व यद्यपि शैली और छंदात्मकता में पूर्ण कोशगत इकाइयाँ हैं, किंतु व्याकरणगत वे दो शब्दों के युग्म ही रह गए हैं। परंतु वे सामान्य शब्दयोगों से भिन्न हैं क्योंकि उसी मात्रा में अभिव्यंजकता के साथ शब्दयोग, संयोजकों (कंजंक्शन) समेत, इनका स्थान नहीं ले सकते।

जैसा कि हमने देखा है, द्वंद्वों में विशेष छंदात्मक रूप होते हैं परंतु तुक और स्वरत्व की दृष्टि से वे अपना मुख्य व्यापार पूर्णतः वाक्य में ही प्रकट करते हैं। निम्नलिखित उदाहरण देखे जा सकते हैं —

'ताने - मेहने, गाली - गलौज, थुक्का - फजीहत, कोई बात न बची।' (प्रेमचंद)

'प्रेम - मुहब्बत, संबंध - रिश्ता, बीबी - बेटी, कविता - कहानी, कला - सौंदर्य, ज्ञान - दर्शन, जिस विषय पर भी बात शुरू करता हूँ...' (हंस, १९६१)।

उपर्युक्त अंश एकबारगी एक ओर अरबी और फारसी घटकों और दूसरी ओर भारतीय घटकों की व्यावहारिक 'समता' दिखाते हैं, साथ ही मिश्र और 'विशुद्ध भारतीय' द्वंद्वों की शैलीगत 'समता' भी। मिश्र द्वंद्व किसी वैज्ञानिक लेख में उसकी संस्कृतगर्भ शैली को ठेस पहुँचाए बिना आ सकते हैं—'शक्ति ही यदि सुंदर होती तो कमजोर - कोमल कुसुम सुंदर नहीं कहा जा सकता।' (हिंदी साहित्यिक कोश)।

अन्य हिंदी द्वंद्वों के समान ही मिश्र द्वंद्व, अपने घटकों के शैलीगत संबंधों के अनुसार, निम्नलिखित तीन वर्गों में आते हैं —

१. पर्यायात्मक (दो पर्यायवाची शब्दों के योग) यथा, आँधी - तूफान, कचहरी - अदालत, कल - पुर्जा, गाँठ - गिरह, टोला - मुहल्ला, धोखा - फरेब, लाज - सरम, खाक - धूल, दाग - धब्बा, नजर - भेंट, राह - बाट, चिंता - फिक्र, वैद्य - हकीम, खत - पत्र, दोस्त - मित्र, अच्छा - खासा, काला - स्याह, थका - माँदा, पीला - ज़र्द, मुश्किल - कठिन, हर्गिज़ - कभी, कुल - जोड़, कुल - योग।

२. संबंधित (यहाँ समासखंड समासक्षेत्रीय तथा दो परस्पर संबंधित विषयों या दृष्टियों के द्योतक होते हैं) यथा, किसान - मज़दूर, कुँजड़े - कसाई, चूना - सुरखी, खाँसी - जुकाम, ताड़ी - शराब, मिठाई - मुरब्बा, मियाँ - बीबी, कमीज़ - धोती, खून - मांस, नमक - रोटी, दाना - पानी, फल - सब्जी, मेल - मुहब्बत, राजा - वज़ीर आदि।

३. विरोधार्थक (दो विरोधी शब्दों से बने) ये हैं — बिक्री - खरीद, धरती - आसमान, अमीर - कंगाल, लाभ - नुकसान, स्त्री - मर्द आदि।

मिश्र द्वंद्वों की संख्या और क्षेत्र विशाल हैं। इनके निर्माण में प्रथम अपेक्षा हिंदी भाषा द्वारा पर्याप्त मात्रा में अरबी और फारसी के शब्दों को आत्मसात् कर लेने की है। हिंदी का वक्ता या लेखक शैलीगत आवश्यकताओं के अनुरूप उन्हें उसी स्वच्छंदता से रच लेता है जैसे कोई शब्दशास्त्रानुरूप सजातीय घटकों से बनाता है। ऐसा लगता है कि आधुनिक साहित्यिक हिंदी भाषा – जिसमें कथासाहित्य और समाचार-पत्रों की भाषा तथा वैज्ञानिक साहित्य का समावेश है — प्रयोग द्वारा स्थिर या नव-निर्मित कई सौ मिश्र द्वंद्वों का उपयोग करती है। उपर्युक्त प्रकार की पुस्तकों में उपलब्ध २५० मिश्र द्वंद्वों के आधार पर कोई निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकता है—

समस्त मिश्र द्वंद्वों में पर्यायात्मक द्वंद्वों का बाहुल्य है, अर्थात् ६५%, संबंधित ३०% और विरोधार्थक प्रायः ५%। यह कहा जा सकता है कि सामान्यतः हिंदी द्वंद्वों की समष्टि लगभग इसी अनुपात से नियमित है अर्थात् व्यवहार में पर्यायात्मक द्वंद्वों की मुख्यता है।

मिश्र द्वंद्वों के शब्दशास्त्रीय गठन और उनके घटकक्रम के पर्यालोचन से पता चलता है कि समस्त मिश्र द्वंद्वों में (हिंदी + अरबी या फारसी) प्रकार के समासों की व्याप्ति ५०% है; 'अफा + हिं' द्वंद्व (अरबी या फारसी + हिंदी घटक) ३३%, हैं प्रायः १०% से ऊपर 'सं + अफा' (संस्कृत + अरबी या फारसी) घटकों से बनते हैं और प्रायः ७% 'अफा + सं' (अरबी या फारसी + संस्कृत घटकों) से। तात्पर्य यह कि समस्त मिश्र द्वंद्वों में ६०% किसी भारतीय (हिंदी या संस्कृत) घटक से आरंभ होते हैं। अतः आँकड़ों का आधार इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि मिश्र द्वंद्व समासों के घटकों का क्रम अरबी और फारसी शब्दों के अनुवाद या मनो-भाषावैज्ञानिक पार्थक्य के सिद्धांत पर निश्चित नहीं होता। स्वतंत्र रूप से और अनुपाततः 'सं + अफा' और 'अफा + सं०' प्रकार के मिश्र द्वंद्वों की संख्याल्पता यह निर्देश करती है कि इन समासों के निर्माण में एक ओर संस्कृत और अरबी तथा फारसी शब्दों के शैलीगत विभेद की अनुभूति के कारण बाधा आई। यही अपनी जगह हिंदी और उर्दू के साहित्यिक रूपों के बीच शैलीगत भेदों के कारण हुआ।

शब्दशास्त्रीय वर्गों में शैलीगत प्रकार के द्वंद्वों का अनुपात निम्नलिखित प्रतीत होता है—'हिं + अफा' वर्ग में ६९% पर्यायात्मक, २८% परस्पर संबंधित और ३% विरोधार्थक द्वंद्व; 'अफा + हिं' प्रकार में ये संख्याएँ क्रमशः ५४, ४१ और ५ हैं; 'सं + अफा' प्रकार में क्रमशः ६३, २७ और १०; 'अफा + सं' प्रकार में केवल पर्यायात्मक द्वंद्व मिलते हैं।

यह तालिका द्वंद्वों के प्रकारों और वर्गों के विस्तार (समासों का प्रतिशत) दिखाती है —

	पर्यायात्मक	संबंधित	विरोधार्थक	योग
हिं + अफा	६६	२८	३	५०
अफा + हिं	५७	४१	५	३३
सं + अफा	६३	२७	१०	१०
अफा + सं	१००	—	—	७
योग	६५	३०	५	—

*

नवसंस्कृतीय निर्मापक तत्व : शब्दपरसर्ग

(आधुनिक साहित्यिक हिंदी में नवीन संस्कृतीय शब्दनिर्माण)

ए० एस० बरखूदारोव्

१. साहित्यिक हिंदी के विकास के वर्तमान काल में संस्कृतशब्दावली के क्षेत्र में महान् अर्थात्मक तथा गठनात्मक परिवर्तनों का वैशिष्ट्य है। हिंदीशब्दावली की अभिवृद्धि के लिये संस्कृत से शब्दग्रहण (सीधे ग्रहण जो बाद में नए अर्थ प्राप्त करते हैं) के परंपरागत ढंग और साधन के साथ साथ शब्दनिर्माण के नए तथा पुराने, सतत् विकासशील, प्रकार मिलते हैं। साहित्यिक हिंदी द्वारा गृहीत संस्कृतशब्दावली में नवीन और प्राचीन संस्कृतात्मक प्रकारों के विकास का संबंध कोशगत तथा रूपगत नूतन प्रवर्तना से है।

हिंदी भाषा के प्रश्न पर विनियोजित अनेक व्याकरणों तथा वैज्ञानिक निबंधों में संस्कृतात्मक शब्दनिर्माण के प्रश्न पर पर्याप्त बल दिया गया है। यद्यपि पुरानी संस्कृत, ठेठ संस्कृत और नूतन 'संस्कृतात्मक' शब्दनिर्माण के बीच कोई विभाजन रेखा नहीं है। ऐसी विभाजन रेखा और व्यवस्था आधुनिक साहित्यिक हिंदी की स्थिति पर प्रकाश डालेगी; यह दिखायगी कि संस्कृतशब्दावली और उससे प्रथम संस्कृतात्मक पारिभाषिकता में हिंदी के विकास ने क्या योगदान किया है। हिंदी के नवसंस्कृतीय शब्दनिर्माण से हिंदी भाषा में संस्कृत से गृहीत शब्दों और परसर्गों (अफिक्सेशन) द्वारा नए शब्दों की सृष्टि को समझा जाता है। नवसंस्कृतात्मक निर्मापक तत्व, प्रतिमान तथा प्रकार हिंदीशब्दावली के विकास की सामान्य प्रवृत्तियों के अनुकूल हैं। ये प्रवृत्तियाँ, सामान्यतः संस्कृत के शब्दनिर्माण के आदर्शों (कथित 'टकसाली' या नियमित रूपों) से संबंधित नहीं हैं।

२. भारतीय आर्यभाषाओं के विकास में शब्दरूपों की अर्थभेदक विशेषताएँ ये हैं—उपसर्गों का लोप, क्रियाधातुओं तथा संज्ञाओं के साथ उपसर्गों का पूर्ण लोप और इस प्रकार अनेकानेक नव भारतीय धातुओं तथा धातुजों का उदय। तद्भव शब्दावली के सभी स्तरों में भारतीय उपसर्गों की पद्धति का ह्रास दिखाई देता है। परसर्गीय कोश - व्याकरणिक तथा वाक्यरचनासंबंधी तत्व — परसर्गीय (उपसर्ग और विभक्तिविकार के बदले) सहायक क्रिया (विकृत क्रियारूपों के बदले), 'निर्मापक क्रियाएँ' (क्रिया रूपी उपसर्गों के बदले), परसर्गधर्मी शब्दनिर्मापक

संज्ञाएँ जिन्हें नियमाधीन रूपों से शब्दपरसर्ग कहते हैं,[1] उपर्युक्त सभी उपसर्गों के लोप की पूर्ति के हेतु अति महत्वपूर्ण निर्मापक साधन हैं।

नवसंस्कृतात्मक शब्दावली के निर्माण में प्रमुख प्रवृत्ति है शब्दपरसर्गों की एक व्यापक तथा लचीली पद्धति का विकास।

किसी स्वतंत्र शब्द से परसर्ग तक के विकास के क्रम में शब्दपरसर्गों की मध्यवर्ती स्थिति होती है। ये समस्तपद के द्वितीय अंश के ठोस अर्थ के क्रमिक लोप के परिणाम हैं, जो सामान्य क्रम में पड़ते हुए शब्दनिर्माता के गुण प्राप्त करते हैं।[2] शब्दगठन में द्वितीय अंश का कार्य करनेवाले बहुत से ऐसे शब्दों की व्याकरणिक विशेषता उनकी पूर्ववर्ती स्थिति के साथ तुलना करने पर पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है—

तुलनीय—शीलसंपन्न, शुभचरित्र से युक्त परंतु विकासशील, विकास की क्षमतावाला।[3]

किसी खास शब्द के स्वतंत्र प्रयोग से यह तात्पर्य नहीं कि वह शब्दनिर्मापक परसर्ग का काम नहीं कर सकता। अधिकांश शब्दपरसर्ग तथा वे शब्द भी जिन्होंने कोई व्याकरणिक अर्थ प्राप्त कर लिया है, स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त होने की क्षमता नहीं खोते, जैसे—वाद, तंत्र, शील, पूर्ण, गण आदि। इनके सही कोशगत अर्थ इनकी उपसर्गीय स्थिति (सामासिक शब्दों के प्रथम पद) से संबंधित होते हैं, अथवा उनके स्वतंत्र वाक्यसंघटनात्मक प्रयोग से। बहरहाल, सामासिक शब्दों में वे द्वितीय अंश के रूप में एक निगूढ़ व्याकरणात्मक विशेषता ग्रहण करने लगते हैं।

हिंदी में शब्दनिर्माणकारी समूह के निर्मापक तत्वों को निर्धारित करते हुए यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रचलित अर्थ वैज्ञानिक क्रम में जब सामासिक शब्द को समग्र रूप में लेते हैं तब उसका अर्थ लाक्षणिक होता है, अर्थात् इसके दोनो अंशों के अर्थतत्व में एक साथ परिवर्तन होता है। नए शब्द के निर्माण का सामान्य ढंग इस प्रकार है—देशप्रेमी = मातृभूमि को प्यार करनेवाला देशभक्त।

१. शब्दप्रत्यय या पदप्रत्यय।

२. इस प्रकार के बहुतेरे नए परसर्ग उपजते हैं, उदाहरणार्थ 'जर्मन और अँगरेजी' में अंशतः व्याकरणिक व्यापार ग्रहण करनेवाले अथवा विशेष रूप से रूसी भाषा में भी घटते हैं (तुलनीय—'आकार'—अँ० 'हुड्', 'ओब्राज्नी' (रूसी), रूपी=विद्नी (रूसी))।

३. जनप्रतिनिधि, गणराज्य, प्रजाजन, प्रतिनिधिगण आदि।

शब्दपरसर्ग की उपस्थिति तब स्पष्ट हो जाती है जब द्वितीय अंश अलग कर दिया जाता है परंतु समस्तपद का मूल कोशगत अर्थ प्रथमपद से अभिव्यक्त होता है, भले ही उस समग्र शब्द का अर्थ बदले या न बदले। इस प्रकार प्रथमपद मूल तथा उत्तरपद परसर्ग हो जाता है। उदाहरणार्थ, साहित्यकार शब्द में 'साहित्य' कोशगत महत्व को सुरक्षित रखता है परंतु उत्तरपद 'कार' उसे खो देता है।

३. शब्दपरसर्गों का रूपनिर्मापक तत्वों के व्याकरणगत, कोशगत तथा वाक्यरचनागत प्रयोगों के सामान्य मध्यभारतीय और नवभारतीय क्रमों के पहलुओं में एक पर प्रकाश डालता है। इसलिये, किसी शब्द का परसर्ग में परिवर्तन सर्वप्रथम बोलचाल की भाषा की तद्भव शब्दावली के निर्माणक्रम में हुआ। परसर्गों का निर्माण शब्दों के ध्वन्यात्मक - रूपात्मक विकास के आधार पर हुआ — प्राचीन भारतीय सामासिक शब्द, मध्यभारतीय व्युत्पत्यात्मक सामासिक रूप, मध्यभारतीय शब्द (सामान्य या व्युत्पत्यात्मक)।[४]

ध्वन्यात्मक परिवर्तन के क्रम में द्वितीय अंश या तो प्रथम निर्मापक के साथ विलिन होकर ऐसे संयोग में एक नवीन अव्युत्पत्यात्मक विकास को रूप देता है अथवा परसर्ग के रूप में एक रूपात्मक अभिव्यक्ति की स्थापना करता है। इस दूसरे क्रम का मुख्य तत्व तद्भव रूपों के साथ परिणामजन्य निर्माण में है।[५]

शब्दों के परसर्गों में परिवर्तन का आलोक साहित्यिक हिंदी की संस्कृताश्रित शब्दावली के निर्माण के अंतिम काल में उपस्थित होता है। यह क्रम संस्कृत के सामासिक शब्दों के द्वितीय अंशों का साहित्यिक हिंदी के शब्दपरसर्गों में परिवर्तित होने का सहगामी है[६]। बहरहाल, तद्भव परसर्गों के विपरीत शब्दपरसर्गों की नव

४. उदाहरणार्थ, प्रा० भा० सुवर्णकारः > प्रा० सुवण्णकारो > म० भा० सुनार, सोनार (मूल शब्द सोना और परसर्ग - आर) इस ढंग से हिंदी में सक्रिय परसर्ग होते हैं — वाला (पालकः से) — हारा (धारकः से) और अनेक निष्क्रिय (इन् ऐक्टिव) परसर्ग होते हैं, पहलौठा — पहला (प्रत्यय 'औठा'), वैसे अर्थविचार की दृष्टि से अप० पहिल उट्ठ'उ < पढविअउट्ठ'उ < प्रा० पढमपुत्त (क) - ओ < प्रा० भा० प्रथमपुत्रकः।

५. उदाहरणार्थ, खिलाड़ी — खेल (प्रत्यय आड़ी)।

६. उदाहरणार्थ संस्कृतनाम - कारः, ये कर्ताप्रकार के समास उपपद समास हैं : ग्रंथकार - लेखन का कर्ता, हिंदी में 'रचयिता'। कार्य - नामों के शब्दपरसर्ग (धंधे के अनुसार व्यक्ति का नामकरण) यथा इतिहासकार, पत्रकार आदि।

संस्कृतीय प्रणाली अपने आरंभिक स्तर पर है। प्रथम, साहित्यिक हिंदी के परसर्गों में संस्कृतशब्दों का परिवर्तन एक निश्चित स्तर पर ध्वन्यात्मक परिवर्तनों से युक्त नहीं है। यथा, शब्द — वाद = सिद्धांत आदि और वाद = इज्म (अँ०)। द्वितीय, शब्दपरसर्गों के कोशगत अर्थों का लोप नहीं होता, परंतु शब्दनिर्माण के कार्य में उनका समानांतर प्रयोग होता है। कोशगत अर्थलोप के परिमाण पर निर्भर यह पक्ष कोशगत अर्थ के ऊपर अथवा उसके आधीन रहता है। प्राचीन शब्द 'रोगग्रस्त' तथा नवीन 'विवादग्रस्त' में तुलना करें। इसलिये, एक माने हुए स्तर पर, शब्दपरसर्ग किसी नियम के रूप में पूर्णतः व्याकरणिक उद्देश्य की प्राप्ति नहीं कर सकते और संस्कृत के शब्दनिर्माण से मौलिक प्रकारों के साथ अपना परंपरागत संबंध नहीं खोते।

४. स्वयं संस्कृत में शब्दपरसर्गों के द्वारा मूलरूपों के नए निर्माण हुए हैं। कुछ विरल अपवादों को छोड़ (जैसे मय, शालिन्, आलय), उनका पर्याप्त विकास नहीं हुआ।

आधुनिक साहित्यिक हिंदी के शब्दपरसर्गों के गतिशील वर्गों में प्रायः पंद्रह से बीस संस्कृतशब्द शब्दनिर्माण और शब्दपरिवर्तन के क्रियातत्व के इतने निकट हो गए हैं कि उन्हें परसर्ग माना जा सकता है।[७] शेष निर्मापक तत्वों में उन शब्दों के लक्षण हैं जिनका उपयोग शब्दनिर्मापक परसर्गों के रूप में होता है। अधिकांश में नवसंस्कृतीय समासों के द्वितीय अंश अर्थविचार की दृष्टि से, परसर्ग की अपेक्षा किसी स्वतंत्र शब्द के अधिक निकट होते हैं। बहुत से शब्दपरसर्ग इस वर्ग के अंतर्गत मात्र प्रतिबंध के साथ समाहित किए गए हैं। ये पूर्ण स्वतंत्र शब्द सामान्यीकरणवृत्ति के आरंभिक चरण से ही संमुख होते हैं।[८] यद्यपि उनमें व्याकरणात्मक व्यापार और क्रिया की दृष्टि से भिन्नता है।

इन निर्माणकारी तत्वों को शब्दपरसर्गों के समूह में संनिहित करने का मात्र आधार यह है कि ये विभिन्न स्तरों पर संस्कृतशब्दों के परसर्गों में परिवर्तित होने के सामान्य क्रम (आरंभ से अंत तक) का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार, निर्मापक तत्वों के निर्दिष्ट वर्गों को निर्धारित और नियमित करते समय शब्दों द्वारा एक

७. जिन शब्दपरसर्गों ने विशेष व्याकरणिक व्यापार ग्रहण कर लिया है, वे हैं — आत्मक, — आलय, — करण (— ई — करण, — ईय — करण); — कार; — गण; — जनक; तंत्र; पूर्ण; — पूर्वक, वश, वाद, — वादी; शील; शून्य, हीन आदि।

८. उदाहरणार्थ, ऐसे शब्द जैसे कला (ललित कला), वासी, नामक, पत्र — कागज, अभिलेख आदि।

निश्चित स्तर पर व्याकरणिक व्यापार ग्रहण करने की सामान्य प्रवृत्ति का मुख्य लक्षण सामने आता है। यदि कोई इस परसर्गीय प्रक्रिया के विभिन्न क्रमिक स्तरों की कड़ियों को ध्यान में न रखे तो दूसरे शब्दपरसर्ग व्यावहारिक भिन्नार्थक मान लिए जायँ — पूर्ण = 'भरा' और — पूर्ण = पूर्णताबोधक विशेषणवाची परसर्ग (जैसे अँगरेजी का full और - ful, जर्मन का voll और - vol) अथवा हीन, शून्य और — हीन, — शून्य जैसे नकारात्मक परसर्ग यथा अँगरेजी less और — less, जर्मन lose और — los)। यतः शब्दों तथा शब्दपरसर्गों और शब्द-परसर्गों तथा उपसर्गों के बीच कोई सुनिश्चित भेदक लक्षण नहीं है, अतः यह सुझाव हो सकता है कि उन्हें भिन्नार्थक नहीं, बल्कि दुहरे व्यापार से युक्त एक सामान्य संधिकालीन श्रेणी का समझा जाय, अर्थात् या तो ऐसा शब्द जो परसर्ग का काम करता है या ऐसा परसर्ग जिसने कोशगत अर्थच्छाया को सुरक्षित रखा हो। इन दोनों व्यापारों में प्रधानता किसकी होगी, यह वास्तविक निर्माण में निर्मापक तत्व के मूल-भूत वास्तविक तत्व की हानि की मात्रा पर और शब्दनिर्माण के प्रसंग पर निर्भर करेगा।

५. साहित्यिक हिंदी के विकारी परसर्गों में संस्कृतशब्दों के परिवर्तन होने में मुख्य विधायक तत्व कौन से हैं?

प्रथमतः, संस्कृतशब्दों का परसर्गों में विकास, प्राचीन संस्कृतरूपों से नए शब्दनिर्माण की आवश्यकता के कारण, सीधे सादृश्यमूलक विकास का परिणाम है। नवसंस्कृतीय शब्दपरसर्गों का निर्माण प्राचीन संस्कृत के सामासिक शब्दों के अनुरूप समासों और उनके गठन के विकास के द्वारा उद्भूत होता है।[1] उसी वर्ग के निर्मित रूपों का ग्रहण किसी शब्दनिर्मापक वर्ग को दृढ़ करता है और उससे भी आगे संस्कृत से ही नहीं, बल्कि तद्भव से भी और विदेशी शब्दावली से नए शब्दों को जन्म देकर विकास को अग्रसर करता है। अतः उसके कोशगत अर्थ का विलोप तथा नए शब्दनिर्माण-व्यापार का हेतु होता है। यद्यपि सदैव शब्दपसर्गों के कार्य का परिमाण सीधे व्याकरणात्मक दृष्टि के स्तर पर नहीं होता, तथापि, सदा ही क्रिया का विकास शब्द द्वारा व्याकरणात्मक व्यापार के ग्रहण को इंगित करता है। यथा – वाद, – करण, – आत्मक, पूर्ण, – पूर्वक आदि।

दूसरे, शब्दों का परसर्गों में परिवर्तन अनुवाद की ऋणमूलक समस्या से संबंधित है जिससे पुराने अर्थों में परिवर्तन और विदेशी शब्दावली मुख्यतः

१. तुलनीय प्राचीन सेनापति और नवीन उद्योगपति, प्राचीन द्वैतवादी तथा नवीन समाजवादी, प्राचीन राज्यतंत्र तथा नवीन जनतंत्र, प्राचीन एकीकरण एवं नवीन जनतंत्रीकरण आदि।

अंतरराष्ट्रीय पारिभाषिक शब्दावली के साथ गठनात्मक और अर्थात्मक वाक्य के द्वारा नए शब्दों का निर्माण होता है। उदाहरणार्थ, वाद 'व्याख्या', 'व्याख्यान', 'विरोध', 'मर्यादा', 'सिद्धांत', 'मत', 'तंत्र', तंतु, 'आधार', 'गठन', 'शासन', 'शक्ति', 'प्रभुत्व' आदि संस्कृतशब्दों का भाववाचक संज्ञात्मक पारिभाषिक परसर्गों में परिवर्तन अधिक मात्रा में, लैटिन - ग्रीक - मूलक परसर्ग — 'इज्म' और 'क्रैसी' के साथ, साम्य के द्वारा प्रेरित हुआ था।[10]

शब्दों के परसर्गों में परिवर्तनसंबंधी ऊपर गिनाई बातें परस्पर संबंधित हैं। संस्कृत में ग्रहण विकास के साथ सहचरित है—वाक्य के द्वारा, अथवा प्राचीन निर्माण और परिवर्ती नूतन निर्माण दोनों के द्वारा। आंतरिक भाषासाम्य विदेशी शब्दों (अनुवाद ऋण) के साथ तुलना के द्वारा पुष्ट होता है जो कभी कभी विकास के व्यापार को निर्धारित करता है, उदाहरणार्थ 'इज्म' से समाप्त होनेवाले पारिभाषिकों से शब्दपरसर्ग — 'वाद' जैसा अनुवाद ऋण।

६. शब्दपरसर्गीकरण संस्कृतीय शब्दावली के विकास में नव भारतीय वृत्ति पर उस हद तक प्रकाश डालता है कि यह शब्दावली आधुनिक साहित्यिक हिंदी में शब्दनिर्माण के साधन और प्रकारों की प्रणाली का अंग है। शब्दनिर्माण के क्षेत्र में विश्लेषणात्मक रूप अर्थात् गुण और वृद्धि का अभाव, संधियों का अभाव और मूल शब्द के साथ उपसर्गों तथा शब्दउपसर्गों के अनुरूप संयोजन एवं परसर्गों तथा शब्दपरसर्गों[11] की आदर्शभूत संयोजक इकाइयाँ आदि—उपर्युक्त सभी क्रमशः संस्कृत के नियमों की दृष्टि से ठीक समझे जानेवाले विकारी रूपों को पृथक् और निर्मूल करते जा रहे हैं।

बहुत कुछ संस्कृतनिष्ठ रूपों का विकास और आगे बढ़कर मूल क्रिया-धातुरूपों के साथ अर्थमूलक एवं रूपमूलक ढंग से भिन्नतापूर्वक हो रहा है। उदाहरणार्थ, प्राचीन व्याख्याता के बदले व्याख्यानकर्ता।[12] परसर्ग अभिप्रायक विकारी

१०. इस संबंध में यह विशेषता है कि हिंदी जनवाद शब्द का अर्थ जनतंत्र है न कि (सामान्य) जनता की वार्ता (जन - वाद), जैसे संस्कृत में राजतंत्र शब्द का अर्थ है एक राजा का शासन न कि 'शासन की प्रणाली', 'राज्य का गठन' आदि।

११. अंतरराष्ट्रवादिता, अंतरराष्ट्रीयता शब्दों में — वादि - ता, ईय - ता।

१२. प्राचीन शुद्ध रूप 'अनूदित' के बदले नवसंस्कृतीय प्रयोग में अनुवाद से अनुवादित या निर्वाचन से निर्वाचित, न कि प्राचीन निरुक्त 'नियुक्त' के अर्थ में।

रूप ('इतिहासकार' के अर्थ में ऐतिहासिक) का स्थान प्रायः तुल्य शब्दपरसर्ग 'इतिहासकार' ले लेता है। ऐसे विकारी शब्दपरसर्ग व्युत्पत्ति के सहायक समासोद्भूत रूप उस क्रम के प्रमाण हैं जिसमें शब्द के परसर्ग में परिवर्तन के मुख्य अंतिम स्तर पर, शब्दपरसर्ग की रूपात्मकता प्रधान होती है।

एक नूतन परसर्गव्यापार को ग्रहण करनेवाले (उदाहरणार्थ—गत 'गया', परंतु दलगत में दल का वि०) कुछ शब्द निरंतर इस व्यापार में प्रयुक्त हो रहे हैं, अर्थात् शब्दों का सक्रिय परसर्गों में परिवर्तन और अंततः, शब्दपरसर्गों के परसर्गों में परिवर्तन की सुस्पष्ट सामान्य वृत्ति — जैसी संस्कृत के प्रमुख स्तरों में शब्द के व्याकरणिक व्यापार ग्रहण करने की है यथा साहित्यिक हिंदी में शब्दनिर्मापक परसर्ग। यह विशेषत ज्ञात है कि अधिकांश संस्कृतीय शब्दपरसर्ग[13] मुख्यतः शब्दावली के निर्माण में पारिभाषिक शब्दों की उत्पत्ति के हेतु बनते हैं। यह शब्दावली मूलतः संस्कृतप्रधान परंतु व्यवहारतः अर्थव्यंजना (कनोटेशन) में अंतरराष्ट्रीय होती है।

नए 'शुद्ध', यद्यपि अधिकांश स्थितियों में कृत्रिम और अशुद्ध परंतु सामान्यतः प्रयुक्त नवसंस्कृतीय रूपों के संबंध में परस्पर खंडनात्मक और उससे भी आगे विरोधी प्रवृत्तियों का आख्यान होता है। जो भी हो, ये विरोधी प्रवृत्तियाँ, विश्लेषणात्मक शब्दनिर्माण और शब्दपरसर्गीकरण के द्वारा होनेवाले संस्कृतीय शब्दावली के विकास की मुख्य प्रवृत्ति का प्रतिरोध नहीं करतीं। यह प्रवृत्ति अब नई शब्दावली पर छायी जा रही है। उदाहरणार्थ, 'उद्योगीकरण' के साथ 'औद्योगीकरण' के समानांतर अस्तित्व की तुलना कीजिए।

जैसे जैसे नए और अधिक सक्रिय शब्दपरसर्ग समन्वित होते जा रहे हैं वैसे वैसे पारिभाषिक शब्दावली के क्षेत्र में मूलभूत दोहरापन (द्वित्व) अब क्रमशः कम होता जा रहा है। हिंदी में बहुप्रचलित संस्कृत आधारित शब्दनिर्माण इस प्रकार होता है — शब्द - मूल + शब्द - परसर्ग। यह तथ्य है कि उनमें बहुतों के अधिकांशतः सक्रिय प्रकार होते हुए भी वे संस्कृतीय शब्दावली के निर्माण में प्रमुख कार्य नहीं करते।

७. अंततः, शब्दपरसर्गीकरण के शैलीगत प्रश्न पर भी दृष्टिपात करना चाहिए और इस संबंध में शब्दपरसर्ग पर्यायों पर भी। हिंदी में शब्दपरसर्गों के रूप अन्य परसर्गीय रूपों के प्रतिकूल, मुख्यतः संस्कृत से गृहीत शब्दों से बनते हैं

१३. उदाहरणार्थ — इक, ईय — ता के द्वारा निर्माण।

और न्यूनतर अंश में फारसी के शब्दों से भी। कतिपय संस्कृतीय शब्दपरसर्गों के समानार्थक ही ठेठ हिंदी के तद्भवों[१४] में हैं।

बहुसंख्यक सक्रिय संस्कृत शब्दपरसर्गों के समानार्थी शब्दपरसर्ग फारसी उद्भव के हैं।[१५]

संस्कृत शब्दपरसर्गों और उनके समानार्थक फारसी शब्दपरसर्गों में जाति और शैली गत अंतर हैं। जाति और शैली की ये भिन्नताएँ दो साहित्यिक शैलियों (हिंदी और उर्दू) की उपस्थिति के परिणाम हैं। जो भी हो, साहित्यिक हिंदी की शैलीगत परिसीमाओं के अंतर्गत[१६] इनका प्रयोग प्रचुरता से होता है।

प्राचीन कोशगत अर्थों के साथ उनके संबंधों के आग्रहण और अपने विभिन्न स्रोतों द्वारा नियंत्रित, विभिन्न प्रकारों और शैलियों के प्रयोग ने व्याप्ति और अर्थों के सूक्ष्म अंतरों को संभव किया है। इसने न केवल शैली की विविधता को ही जन्म दिया वरन् सामान्य अवधारणा को शुद्ध अभिव्यक्ति भी प्रदान की। अंतरराष्ट्रीय पारिभाषिक अर्थों को लेकर चलनेवाले नए शब्द इसी प्रकार बनाए जाते हैं।[१७] संस्कृतीय शब्दपरसर्गों में अर्थगत और शैलीगत भेदों की विविधता न केवल गठनात्मक प्रकारों एवं पर्यायों के विस्तार से ही बल्कि सांकर्य के तथ्य से भी संबंधित है, अर्थात् व्युत्पत्यात्मक बहुभाषिकता या संस्कृत और उनके फारसी (मूलवाले) तथा ठेठ हिंदी पर्यायवाची शब्दपरसर्गों या परसर्गों के प्रयोग से। इस प्रकार व्युत्पत्यात्मक

१४. तुलना करें गृह—घर; शाला—साला;—साल 'घर'; जन 'मनुष्य', गण 'समुदाय'—लोग (जनता), (लोकः से 'विश्व')।

१५. तुलना करें गृह, आगार—आलय, शाला—खाना (स्थाननाम); —बाज़ी, प्रेमी,—प्रिय, कारी—पसंद,—परस्त,—बाज,—खोर,—कुन् (शब्दपरसर्गों के कोशगत अर्थों के मेल में, व्यक्ति के धंधे आदि के अनुसार, अनेक खास अर्थों में); तंत्र, सत्ता शाही (ऐब्सट्रैक्ट संज्ञाएँ)—'क्रैसी'—'इज्म' कैटिज्म; पत्र (कागज)—नामा 'पुस्तक' (लेख, कार्यालय के कागज आदि विधिसंमत शब्द)।

१६. कर्मचारीतंत्र—नौकरशाही, पूँजीवाद—पूँजीशाही, युद्धप्रेमी—जंगपरस्त आदि।

१७. यथा —युद्धखोर, युद्धबाज, युद्धपरस्त जैसे 'मिश्रित' सं० फा० नव निर्माणों की नवसंस्कृतीय युद्धवादी, युद्धप्रेमी, युद्धप्रिय जैसे शब्दों के साथ तुलना करें।

विजातीयता को बराबर या अनुकूल नहीं किया जाता बल्कि उसे समग्रतः हिंदी की शब्दनिर्माणपद्धति में शैलीगत विजातीयता के रूप में ग्रहण कर लिया गया है जो शैलीगत भेदों के साधन का कार्य करता है। कोश-व्युत्पत्ति-शास्त्रीय जाति के शब्द तथा निर्मापक तत्व आधुनिक भाषा की शब्दावली को शैलीविशेष या अर्थविज्ञान में समृद्ध करते हैं, विशेषरूप से संस्कृत के शब्दपरसर्ग साधारणतः हिंदी की तथाकथित शिष्ट शैली के द्योतक हैं। फारसी मूल के शब्दपरसर्गों का प्रयोग प्रायः अभिव्यंजनापरक तथा विषयपरक मूल्यों[१८] के बोधन के लिये होता है।

अन्यों का तिरस्कार कर एकाकी शब्दपरसर्गों के विकास की अपेक्षा[१९] हिंदी में नवसंस्कृतीय निर्माण के आधुनिक आरंभिक स्तर पर पर्यायवाची शब्दपरसर्गों के विकास की प्रवृत्ति (यद्यपि भिन्न अंशों में) अधिकतर है। गठनात्मक - अर्थात्मक प्रकारों के नवसंस्कृतीय शब्दपरसर्गों की प्रणाली के अस्थिर रूप, नवसंस्कृतीय शब्द-निर्माण (प्राचीन और नवीन प्रकार, 'नियमित' एवं 'अनियमित' रूप) के अनिष्पन्न नियम, विभिन्न स्रोतों और प्रकारों से ये अनुवाद ऋण — उपर्युक्त सभी उसी अर्थ के विभिन्न शब्दों की उद्भावना करते हैं और पारिभाषिक शब्दावली में प्रायः द्विरावृत्ति के हेतु बनते हैं।[२०]

अनेक भाषाओं की निजी विशेषता के रूप में शब्दपरसर्गों द्वारा शब्दनिर्माण, विशेषतः किसी शब्द का परसर्ग में परिवर्तन एक सामान्य भाषावैज्ञानिक लक्षण है। नव भारतीय साहित्यिक भाषाओं में यद्यपि कुछ संस्कृतीय शब्द परसर्गों में परिवर्तित कर लिए गए हैं किंतु व्यवहार में यह क्रम पूर्णतः अपने विकास के आरंभिक स्तर पर

१८. उदाहरणार्थ—नेतृत्व, 'नेतापन' निर्देशन, सं० फा० का योग—नेताशाही, नेतागिरी, नेताबाज़ी — 'निरंकुशता', 'नेतृत्व का मोह', 'शक्ति का दुरुपयोग'। संस्कृत फारसी के मिश्रण में 'नेतापन' का सामान्य अर्थ अपमानजनक (आक्रोशबोधक, निंदात्मक, व्यंग्यात्मक आदि) होता है।

१९. उदाहरणार्थ तीनों शब्दपरसर्गों — विद्या, विज्ञान, शास्त्र — का विभिन्न विषयों और विज्ञानों के द्योतन में सक्रिय विकास है, यद्यपि अब दूसरे शब्दों की तुलना में इधर 'शास्त्र' ने अधिक सक्रियता दिखाई है।

२०. प्रजा, जन, लोक, गण जैसे विभिन्न शब्दपरसर्ग तंत्र और सत्ता (पावर > — क्रैसी) 'डेमोक्रैसी' और 'रिपब्लिक' के भाव को प्रकट करते हैं — निःशस्त्रीकरण, निरस्त्रीकरण और कोशगत भिन्न रूप निरस्त्रीकरण का अर्थ है डिस्आर्मामेंट; या अंततः, विभिन्न शैलीगत अर्थच्छाया के साथ कोशगत भिन्न रूप, लोकतंत्र, प्रजातंत्र (लोकशाही, प्रजाशाही) डेमोक्रैसी के सामान्य अर्थ के द्योतक हैं।

है। हिंदी में शब्दपरसर्गों का वर्ग संस्कृत कोशगत अणों को आत्मसात् करने और न्यूनतर अंश में फारसी भाषा से ग्रहण करने, इन दोनो से संबंधित है। इसका संबंध विदेशी शब्दनिर्मापक प्रकारों के अनुरूप अनुवाद अणों से भी है। मुख्यतया यह अंतरराष्ट्रीय पारिभाषिक शब्दावली के संबंध में है। संस्कृतीय शब्दपरसर्गीकरण का व्यापक उपयोग आधुनिक साहित्यिक हिंदी में राजकीय पारिभाषिकता की शैली के विकास में एक मुख्य संकेत है।

नीचे ऐसे संस्कृतशब्दों की सूची है जिनका उपयोग हिंदीशब्दनिर्माण में अपने व्याकरणिक या कोशगत व्यापार में होता है।

जब शब्दव्यापार कोशात्मक की अपेक्षा व्याकरणात्मक अधिक होता है तब इसका व्यापार निर्मापक परसर्गत्व के अधिक निकट होता है। उदाहरणार्थ 'आत्मक', तुलनीय परसर्ग — 'इव्' (- iv), — अल् (- al), '— इक् — अल्' (- ic - al)। यदि यह व्यापार प्रधानतः कोशात्मक हो, अर्थात् शब्द के ठोस अर्थ पर आधारित हो तो परसर्ग में विकास आरंभिक स्तर पर है। शब्द का परसर्ग में विकास उत्पादनक्षमता के समानांतर हो सकता है। परंतु यह अतिरिक्त या स्वतंत्र शब्द के धरातल पर भी रह सकता है। द्वितीय शब्दांश (निर्मापक शब्द) के उत्पादकत्व के लोप का परिणाम संपूर्ण समस्तपद की अर्थात्मक एकता में होता है।

मूल संस्कृत में प्रयुक्त या आधुनिक साहित्यिक हिंदी के नव निर्मित शब्दपरसर्ग तथा शब्दघटक[२१]—

अक्त अधीश अध्यक्ष अनुसार अर्चित अतीत अर्थी आकार आकुल आकृति आगार आतुर आत्मक आधार आधारी आपन्न आरूढ़ आलय आवली आवास आवेश आशय आश्रय आश्रित आसक्त आसन्न आस्पद उत्पादक उन्मुख उपयोगी —कर —करण कर्ता कर्म कर्मी कला —कार कारक कारी कृत क्षेत्र गण गत गामी गृह ग्रस्त चकित चालक च्युत जन जनक जाति जीवी — ज्ञ ज्ञान तत्व तंत्र — द दर्शक दर्शी दाता दान दायक दायी द्रष्टा धारी नगर नामक निर्माता निवासी निष्ठ निष्ठा पंथी पक्षी पति पत्र पाल पुर पूर्ण पूरक पूर्वक — प्रद प्रधान प्राप्त प्रिय प्रेक्षक प्रेक्षण प्रेमी बद्ध भूत भूमि मंडल मात्र मान मापक मार्गी मूलक यंत्र युक्त योग्य रंजित रहित राज्य रूपी लेखन वक्ता वंचित वर्ग वर्ती वर्धक वश —वाद —वादी वासी वाहक विचार —विज्ञ विज्ञान विज्ञानी — विद् विद्या विरोध विरोधी विषयक विशारद विशेषज्ञ विहीन —वीक्षक वीक्षण वेत्ता वैज्ञानिक वृंद व्यापी शाला शास्त्र शास्त्री शील शून्य संगत सत्ता समेत संपन्न संबंधी समूह सहित सूचक — स्थ स्थल स्थान स्थित स्वरूप हीन।

२१. शब्द अवयवों की यह सूची पूर्णता का दावा नहीं करती।

परिशिष्ट

साहित्यिक हिंदी में शब्दपरसर्ग[1]

१. भाववाचक संज्ञाएँ—

अ. सामाजिक शब्दावली

१. करण — डूइंग > — इजेशन,—इफिकेशन
वाद — थियरी, डाक्ट्रिन > इज्म
तंत्र — ऐडमिनिस्ट्रेशन > पावर,—क्रैसी
२. विरोध — काउंटरऐक्शन, अपोजिट > ऐंटी —

ब. पारिभाषिक शब्दावली[2]

३. प्रेक्षण* — आब्जर्वेशन (व्यूइंग), रिव्यू > — स्कोप
वीक्षण* — विजन, इंस्पेक्शन > — स्कोप
४. मान* — मेजरिंग, मेजर > — मेट्री
लेखन* — राइटिंग > — ग्राफी

स. सजीव विषयों की बहुवचनांत संज्ञाएँ—

1. शब्दनिर्माण के मुख्य, सामान्य लक्षणों के अनुसार शब्दपरसर्गों को वर्गित किया गया है। प्रत्येक वर्ग के शब्दपरसर्गों को उनकी सीमा के अंतर्गत, उनके कार्य तथा कोशगत विशेष अर्थों का विचार किए बिना अकारादि क्रम में रखा गया है। अल्पप्रचलित प्राचीन शब्दपरसर्गों के साथ साथ आधुनिक शब्दनिर्माण में बहुप्रचलित नवीन शब्द-परसर्गों को स्थान दिया गया है। केवल शब्दपरसर्गों के मुख्यार्थों के अनुवाद दिए गए हैं जिनका विचार अपने व्यक्त रूप में होता है। दूसरे शब्दों से मिलकर वे एक विशेष अर्थ धारण करते हैं। अधिकांश हिंदीशब्दपरसर्ग शब्दनिर्माण के क्रम में बनते और सक्रियता प्राप्त करते हैं। इनमें कुछ संस्कृतीय कृत्य शब्द हैं।
२. शब्दों के दाएँ तारक चिह्न आरंभिक विकासक्रम के परसर्गीकरण में समस्तपद के द्वितीय अवयवों के द्योतक हैं। उनके मुख्य अर्थ कोशगत हैं।

द. विज्ञानों और कलाओं के नाम

१. शास्त्र — डिसिप्लिन > — लॉजी

२. विज्ञान, विद्या — नालेज, सायंस > —लॉजी

३. तत्व — एसेंस, एलिमेंट, सब्जेक्ट > —लॉजी, —इक्स

कला* — आर्ट, क्रैफ्ट > — इक्स, — री

स. सजीव विषयों की बहुवचनांत संज्ञाएँ और गुणीभूत भाववाचक संज्ञाएँ बहुवचन और समवेत शब्दपरसर्गों के योग से बनती हैं —

५. गण — क्राउड, ग्रुप, मल्टीट्यूड

जन — मैन, मेन, पीपुल (प्लूरलिटी)

जाति — रेस (प्लूरलिटी, कलेक्टिविटी)

६. मात्र — मेजर, फुल क्वांटिटी > आल —

वर्ग* — क्लास, कटेगरी, ग्रुप

वृंद — (क्वचित्) ग्रुप, ए लॉट

समूह — मास, बंच, क्राउड (ऐग्रीगेट, कलेक्टिव)

७. आवलि, आवली — रो, सिरीज, रेंज (आवलिः)

माला — गार्लैंड, नेकलेस, रो, सिरीज (ऐग्रीगेट, सीरियल)

२. पदार्थवाचक संज्ञाएँ—

अ. स्थानों के नाम

१. विभिन्न गृहों, कार्यालयों, संस्थाओं, संघटनों के नाम

आगार — हाउस, प्रेमिसेज, स्टोर हाउस

आलय — हाउस, प्लेस, रेपोजिटरी

आवास — अबोड, ड्वेलिंग, रेजिडेंस, प्रेमिसेज, हाउस

आशय — (क्वचित्) रेपोजिटरी, काउच, अबोड

गृह — हाउस, प्रेमिसेज, बिल्डिंग

भवन* — प्रेमिसेज, बिल्डिंग, हाउस

शाला — ए हाल, कोराइडर, रूम

(हिं० — साला या अधिकप्राय साल)

२. विभिन्न स्थानों, स्थलों, क्षेत्रों, स्थितियों, क्षेत्रसीमाओं, विभागों या स्थानों की स्थितियों के नाम

क्षेत्र* — फील्ड, डिस्ट्रिक्ट, एरिया, ब्रांच, सेक्शन

भूमि* — अर्थ, स्वायल, लैंड, प्लेस

स्थल* — साइट, स्पॉट, स्वायल, लैंड, रीजन

स्थान* — प्लेस, स्टे, स्टैंड, स्पेस, सिचुएशन, स्टेशन, रेजिडेंस

ब. अभिलेखों, प्रमाणपत्रों, प्रशासनिक कागजों, विभिन्न प्रकार की लिखित और मुद्रित सामग्री के नाम शब्दपरसर्ग[3] पत्र, शीट, पेपर से अभिव्यक्त होते हैं।

(फा० नामा* बुक, डाक्यूमेंट)

स. मशीनों, उनके शिल्प एवं औजारों की अभिव्यक्ति शब्दपरसर्ग[4] यंत्र* से होती है।

मशीन — मशीन, मेकैनिज्म

३. अभिकर्म की संज्ञाओं (नौमिना एजेंशिया) तथा व्यक्ति के धंधे और उनकी व्याख्या देनेवाले विशेषणों की अभिव्यंजना शब्दमूल से होती है—

१. अधीश* — ए मास्टर, रूलर, लार्ड
अध्यक्ष* — चीफ, हेड, ओवरसीयर, सुपरवाइजर

२. अर्थी* — डिजायरस, स्ट्राइविंग, अर्येनिंग, प्लीडिंग, इंटरेस्टेड

३. कर्ता — कार, कारक, कारी—मेकर, मेकिंग

४. दाता, दायक, दायी—गिवर, गिविंग

५. दर्शी, दर्शक* — स्पेक्टेटर, सीइंग, आन-लुकर >—स्कोप (टेक०)
प्रेक्षक*, वीक्षक — आब्जर्विंग, लुकिंग > स्कोप (टेक०)
मापक — मेजरिंग, मेजरर, मीटर, मेट्रिक, मेट्रिकल (टेक०)
सूचक* — सिग्निफिकेटिव, इंडिकेटिव, इंडिकेटर (टेक०)

६. पति — सावरेन, लार्ड, ओनर
पाल—प्रोटेक्टर

३. 'स्थानों के नाम' के इस वर्ग में निम्नलिखित को भी संमिलित कर लेना चाहिए—(ब) नगरों बस्तियों, गाँवों आदि के नाम, भौगोलिक नाम नगर* टाउन, सिटी।

पुर*—सेटिलमेंट, टाउन, सिटी, हैमलेट। (और भी १०. गढ़*—फोरट्रेस, फोर्ट, सेटिलमेंट)। (तुलनीय रूसी—'ग्राड' 'सिटी' > टु फेंस आफ)।

१०. बारी,—बाड़ी—गार्डेन > वाटिका।

४. हिंदी में संस्कृत के अंत्यस्वर 'अ' का प्रायः लोप हो जाता है। विशेषतः परसर्ग—इत > इत् में। इस 'अ' की उपस्थिति केवल छन्दात्मक कारणों से रहती है।

७. पंथी* — ट्रैवेलर, अटेंडेंट, फालोवर
पक्षी — सपोर्टर> प्रो—
८. प्रिय, प्रेमी — लवर आव् (अमेचर), लविंग
९. वादी — इस्ट, — इस्टिक, — इक

१०. व्यक्ति का विशेषताबोधक नामकरण
विज्ञानी, ज्ञानी—स्पेशलिस्ट, सायंटिस्ट> —इस्ट,—लॉजिस्ट
वैज्ञानिक—सायंटिस्ट सायंटिफिक> —लाजिकल;—इस्ट,—लॉजिस्ट
विशारद*, विशेषज्ञ — एक्सपर्ट, स्पेशलिस्ट > लॉजिस्ट
वेत्ता — नोइंग, एक्सपर्ट > —इस्ट,—लॉजिस्ट
विज्ञ — स्किल्फुल, एक्सपीरिएंस्ड> —लॉजिस्ट,—इस्ट
शास्त्री — सायंटिस्ट > लॉजिस्ट

११. निवासस्थान के अनुसार व्यक्तियों के नाम
वासी — ड्वेलर, रेजिडेंट, इन्हैबिटैंट

६. विशेषणनिर्मापक शब्दपरसर्गों का वितरण विभिन्न विधर्मी समूहों में उनकी रूपात्मक विशेषता (गठन) और शब्दपरसर्गों के अर्थविज्ञान तथा अतिरिक्त कोशगत अर्थों के आगम का आश्रित होता है।

कर्मवाच्य के परसर्गों से समास होनेवाले संस्कृत अव्यय

१. कृत — डन,—डन बाइ,—डन विथ
भूत — पास्ट, फार्मर, हैपेंड,—डन विथ, बाइ

२. गत — गान, गोइंग> बेरड
संगत — कमिंग टुगेदर, कॉएंसाइडिंग, ज्वाइंड
स्थित — प्लेस्ड, बीइंग, स्टैंडिंग

३. अन्वित — कनेक्टेड विथ, इन्हेरेंट इन, ज्वाइंड > पजेस्ड आव्
ग्रस्त — ग्रैस्प्ड
प्राप्त — गेंड, एक्वायर्ड, आब्टेंड, गाट> पजेस्ड आव्
बद्ध — बाउंड, टाइड अप, चेक्ड, ज्वाइंड, कंसिस्टिंग आव्
युक्त — ज्वाइंड, कंबाइंड, फिट, पजेसिंग
सहित — टुगेदर विथ, एकांपैनीड बाइ > कनेक्टेड विथ
समेत —मिक्स्ड अप, टुगेदर विथ, अलांग विथ
संपन्न — हैविंग रिसीव्ड, एकांप्लिश्ड, रिच> पजेसिंग, हैविंग
(इस उपवर्ग (३) के शब्दपरसर्ग मूल शब्द के द्वारा अभिव्यक्त गुणवाचक या धर्मवाचक सामान्य अर्थ से युक्त होते हैं)।

४. च्युत — (क्वचित्) ड्राप्ड, फालेन, डेविएटेड फ्राम
मुक्त — (क्वचित्) फ्री, फ्रीड
रहित — वांटिंग, डेस्टीट्यूट आव्, विदाउट
वंचित — सेपैरेटेड, डिवायड आव्
विहीन, हीन – डिवायड आव्
शून्य — एंप्टी, ऐब्सेंस आव्
(किसी गुण या धर्म के अभाव की अभिव्यक्ति शब्दमूल, समास ' – लेस', 'विदाउट' द्वारा अभिव्यक्त)

५. विरोधी — अपोनेंट, अपोजिट, काउंटर, एँटी

६. कर्ता (ट्रअर = एजेंट) और विशेषण के संस्कृतव्युत्पन्न शब्दमूल
अक, आत्मक — अपनी प्रकृति, विशेषता और धर्म के अनुसार
जनक — गिविंग बर्थ टु, क्रिएटिंग
मूलक — रूटेड, बेस्ड आन
वाचक, वाची—डेजिग्नेटिंग, एक्सप्रेसिंग
सूचक — इंडिकेटिंग, बीइंग एविडेंस आव् (द्रष्टव्य ४. ५)

७. पूर्ण—(फुलनेस आव् क्वालिटी) फुल आव् , फुल

८. आकार — फीगर > लाइक (बहुव्रीहि)
रूपी — हैविंग फार्म आव् > - लाइक, सिमिलर

९. प्रधान — दि मेन, प्रिडॉमिनेंट, डिटर्मिनिंग, कैरेक्टराइजिंग (बहुव्रीहि जाति—गुण की प्रधानता)

१०. शील — इन्क्लिनेशन, कैरेक्टर (गुड कैरेक्टर, गुड मारल्स) एकार्डिंग टु कैरेक्टर, 'पजेसिंग' ए डिस्पोजीशन आर इन्क्लिनेशन', कैरेक्टर, इन्क्लाइंड (बहुव्रीहि जाति—स्वभाव गुण का विकास, सहज गुण)

११. विषयक — कंसर्निंग, रिलेटिंग टु
संबंधी — कनेक्टेड, रिलेटेड टु

१२. क्रियाधातुओं (सामान्य और उपसर्गित) द्वारा विशेष व्यापार संज्ञाओं से अविभाज्य संलग्नता के साथ ग्रहण होता है—
कर — डूइंग; - स्थ—स्टेइंग, रिजाइडिंग
द, प्रद—गिविंग, गिविंग अप

५. क्रियाविशेषण

निम्नलिखित शब्दपरसर्ग मुख्यार्थ और कोशगत अर्थ[५] के साम्य में क्रिया-विशेषण बनते हैं —

अनुसार — फालोइंग, करेस्पांडिंग, कांसिक्वेंस, करेस्पांडिंग्ली, इन एग्री-मेंट विथ, टु दि एक्सटेंट, एकार्डिंग टु···

अनुकूल* — करेस्पांडिंग्ली, फिटिंग, इन एकार्डेंस विथ

अर्थ* — दि आइडिया, पर्पज, विथ द एम > फार, बाइ रीजन आव्

वश — फोर्स सबौर्डिनेशन, डिपेंडेंसी, ड्यू टु द फोर्स आव्, ड्यू टु, बिकाज आव्, फार दि सेक आव्

— पूर्वक — फार्मर, बिफोर > टुगेदर विथ, ड्यू टु द पर्पज आव्, — वे

(अर्थात्मक विकासशील बहुव्रीहि 'पूर्व' के साथ शब्द + गुरु विशेषण-निर्मापक परसर्ग

— अक — प्रिसीडिंग, एकांपैनीइंग, ज्वाइंट, टुगेदर विथ)

स्वरूप* — 'फार्म', 'आव् इट्स ओन पिक्यूलियर फार्म' 'ऐटीच्यूड', 'काइंड', इन दि फार्म आव् ऐस्पेक्ट > लाइक, इन क्वालिटी, काइंड, ऐज

सामान्य लक्षणों का क्रमीकरण शब्दनिर्माण के सिद्धांत पर आधारित है और परंपरया भिन्न वर्गों और प्रकारों के सामासिक शब्दों का प्रतिनिधित्व करता है। व्याकरणिक व्यापार के तारतम्य के बड़े अंतर, शब्दनिर्माण की निश्चित प्रणाली के पृथक् तत्वों के निर्मापक लक्षण का निर्देश करते हैं — अर्थात् पृथक् शब्दसमासों, शब्दपरसर्गों या समग्र शब्द अवयवों और शब्दपरसर्गों के संपूर्ण (पर्यायवाची) वर्गों का भी।

*

५. इनका व्यापार परसर्गीय समासों के एकदम निकट का होता है।

पंजाबी में मिश्रवाक्यगठन और मुख्य उपवाक्य का एक अंग

शु० श० स्मिरनोव्

पंजाबी में एक विशेष प्रकार का मिश्रवाक्य मिलता है जिसके विशेषण उपवाक्य 'जो' और 'जिहड़ा' ('जेहड़ा')[1] से आरंभ होते हैं। इसके मुख्य उपवाक्य का आरंभ परिपद संज्ञा (अँ० ऐंटिसिडेंट नाउन) से और अंत ऐसे वाचांश (अँ० सेगमेंट आव् स्पीच) से होता है जिसमें सर्वनाम अविकारी (अँ० डाइरेक्ट) या विकारी कारक (अँ० आब्लीक केस) संबंधित वाचांश की संज्ञा का विशेषतया प्रतिनिधित्व करता है। दूसरे को प्रथम से पृथक् करनेवाला एक मध्यवर्ती आश्रित उपवाक्य रहता है।

संज्ञा के साथ प्रायः नित्यसंबंधी (सर्वनाम = अँ० कोरिलेटिव) जिसकी अभिव्यक्ति मूलतः 'उह' (वह) सर्वनाम द्वारा या मिश्रवाक्य के निर्मापक अंगों की व्याख्या और निर्धारण करनेवाले संयोजक तत्व (अँ० लिआज़न) द्वारा होती है। परिणामतः इसका घनिष्ठ सुग्रथन, विश्लेषण और संयोग हो पाता है।

विचारणीय वाक्यठगन के सूत्र को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है[2] —

——— नि प <———> सं० <———> प्र ———

उदाहरण—

१. उह शब्द जो संबंधक दा संबंधी होवे, उस दी वर्तों सदा नाँव जाँ पड़नाँव वाँग ही हो सकदी है।[3] 'परसर्ग के साथ प्रयुक्त शब्द का कार्य सदा संज्ञा या

१. सब पंजाबी शब्द स्वन्यानुलिखित (अँ० ट्राँसलिटरेटेड) हैं ध्वनि-प्रतिलिखित (अँ० ट्राँसक्राइब्ड) नहीं।

२. यहाँ नि=नित्यसंबंधी (सर्वनाम = अँ० कोरिलेटिव); प=परिपद (अँ० ऐंटिसिडेंट); सं=संबंधबोधक (सर्वनाम=अँ० रिलेटिव); प्र = प्रतिनिधि सर्वनाम (अँ० रिप्रज़ेंटेटिव प्रोनाउन); ——— =मुख्य उपवाक्य का शेष भाग; <———> = नित्यसंबंध (अँ० कोरिलेशन) के संकेत हैं।

३. मोहनसिंह, पंजाबी विआकरण, पंजाब यूनिवर्सिटी, जालंधर, १९५४, पृ० १७५.

सर्वनाम के समान हो सकता है।' (शब्दानुवाद — **वह शब्द जो** परसर्ग का सहयोगी हो, **उसका** कार्य सदा···इत्यादि।)

२. **उह क्रिश्रा** जिस दा कर्ता भी अते करम भी होवे उस नूँ सकरमक क्रिया आखिआ जाँदा है[४]। 'कर्ता और कर्म दोनो से युक्त क्रिया को सकर्मक कहते हैं।' (शब्दा०—**वह क्रिया जिसका** कर्ता भी हो और कर्म भी **उसे** सकर्मक कहा जाता है।)

३. **इक होर कार्वाई जिहदी** कि वर्नन योग है अते **जिहदे** बारे साडी राजसर्कार अग्गे लँघ गई है **उह** है इंद्रा हालीडे होम कईंपाँ दा चलाउणा[५]। '**एक और कार्यवाही जो** कि चर्चा के योग्य है और **जिसके** सिलसिले में हमारी सरकार आगे बढ़ चुकी है **वह** है इंदिरा हॉलीडे होम कैंप्स।'

४. **वह विशेषण जिहड़े** आपणे विशेष दी गिणती - मिणती जाँ तोल माप दस्सण उन्हाँ नूँ परिमाण वाचक विशेशण आखिआ जाँदा है[६]। '**वे विशेषण जो** विशेष्य का परिमाण, तोल या नाप व्यक्त करें (शब्दा०—**वे**) परिणामबोधक विशेषण कहलाते हैं।'

५. इस लई **हर औरत जो** इस दिआँ कहाणिआँ पढ़दी है **उह** विचारदी है कि जिस ने **इह** कहाणिआँ लिखिआँ हन् उह आप किस तरहाँ दा होवेगा![७] 'इसलिये **प्रत्येक स्त्री जो** उसकी कहानियाँ पढ़ती है (शब्दा०—**वह**) सोचती है कि जिसने ये कहानियाँ लिखी हैं वह स्वयं किस प्रकार का होगा।'

तीसरे और पाँचवें उदाहरणों में नित्यसंबंधी सर्वनामों के अंतर्गत एक ओर 'इक होर' (एक और) तो दूसरी ओर 'हर' (प्रत्येक) का योग मिलता है। आश्रित उपवाक्यों की उपस्थिति से इन दोनो में इयत्ता और विशिष्टता प्रदान करने का गुण आ जाता है। इन दोनो वाक्यों में से एक का अभिप्रेत सामान्यतः 'एक अतिरिक्त व्यवस्था' नहीं; वरं एक विशेष व्यवस्था है जो कि 'वर्णन योग्य' और 'अग्रगामिता' से युक्त है। दूसरा वाक्य प्रत्येक स्त्री सामान्य के लिये नहीं वरं उस स्त्री के लिये प्रयुक्त है जिसने संबंधित लेखक की कहानियाँ पढ़ी हैं।

४. वही।

५. अकाली पत्रिका, २८. ४. ५७, पृ० ३।

६. मोहनसिंह, पंजाबी विआकरण, पंजाब यूनिवर्सिटी, जालंधर, १९५४, पृ० ४१।

७. कर्तारसिंह दुग्गल, नवाँ आदमी, सिख पब्लिशिंग हाउस, लिमिटेड, नवीं दिल्ली ते अमृतसर, पृ० १०।

इस गठन को समझने के लिये इसके मुख्य उपवाक्य की परीक्षा करनी होगी। गतिरोध का कारण एक ही उपवाक्य में विशेष्य संज्ञा और उसके प्रतिनिधि सर्वनाम का एक साथ उपस्थित होना है।

पहले उदाहरण का मुख्य उपवाक्य ही लें—उह शब्द···उस दी वर्तों सदा नाँव जाँ पड़नाँव वाँग ही हो सकदी है 'वह शब्द···उसका कार्य सदैव संज्ञा या सर्वनाम के सदृश हो सकता है।'

यह आवश्यक है कि उल्लिखित संज्ञा और सर्वनामों के संबंध और मुख्य उपवाक्य में उनके कार्यनिर्वाह की पड़ताल कर ली जाय।

यदि हम इस प्रकार के उपवाक्य को एक साधारण वाक्य मान लें तो इसकी समानता बहुत सी भाषाओं में, जिनमें सामी जैसी अभारोपीय भाषाएँ भी संमिलित हैं, मिल जायँगी। हाँ, इतर भाषाओं के मिश्रवाक्यों में यह समानता कम ही लक्षित होगी।

पुरानी रूसी भाषा के लिखित और उच्चरित रूप में इस प्रकार का गठन व्यापक रूप से मिलता है।

उदाहरणार्थ—

१. त्सारेविची भे इ त्सारेव्नु···ब्नेग्दा स्लुचित्स इम् इत्ती क त्सेर्क्वि···।[८] 'कभी कभी ऐसा होता है कि राजकुमार और राजकुमारियाँ चर्च तक चलकर जाती हैं······।' (शब्दा०—राजकुमार और राजकुमारियाँ, कभी उनके प्रति ऐसा होता है कि चर्च तक चलकर जायँ···।)

२. आ इ मलदोय् दुनाइ, अन् दगाद्लिव बील[८] 'और युवक दुनय (शब्दा० – वह) व्युत्पन्नबुद्धि था।'

वर्तमान रूसी में विशेषतः बोलचाल में इस प्रकार का गठन प्राप्त होता है।

उदाहरणार्थ—

१. एतत् स्तुल पुस्त् इवो पस्ताविग्रत् व् विरेद्नेई[९] 'इस कुर्सी को सामने के कमरे में रख दें' (शब्दा० – यह कुर्सी, रख दें इसे सामने के कमरे में।)

८. आ० आ० पोतेब्नी, 'इज़ जापिसक प रुस्कय् ग्राम्मातिके' ('रूसी व्याकरण की टिप्पणियों से'), भाग २, १८८८, पृ० १०० – २।

९. आ० एम० पेश्कव्स्कि 'रुस्कि सिन्ताक्सिस् व् नऊच्नोम् ग्रस्वेशिनिई' (रूसी वाक्यरचना का एक वैज्ञानिक विवेचन), मास्को, १९५६, पृ० ४०५।

२. एता रोमान्तिचेस्काया लितरतूरा नचाला १६, वेका व् गरमानिइ अना विलयाला······[9] 'जर्मनी में उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ के इस स्वच्छंदतावादी साहित्य ने (शब्दा० – इसने)···प्रभाव डाला।'

वर्तमान फारसी में, जहाँ कि प्रतिनिधि सर्वनाम निपात (अँ० एनक्लीटिक) है, इस प्रकार के वाक्य बहुतायत से प्रयुक्त होते हैं।

उदाहरण—

१. अमू जनश बीमार शुद। 'चाची बीमार हो गई। (शब्दा० - चाचा उसकी पत्नी बीमार हो गई)।[10]

२. मुराद चरतश पारह शुद। 'मुराद डर गया' (शब्दा० - मुराद उसकी ऊँघ टूट गई।)[11]

हमें अरबी में भी मिलता जुलता गठन मिलता है जिसमें साधारण और मिश्र दोनों वाक्यस्तर प्रभावित मिलते हैं। जो उदाहरण दिए जा रहे हैं उनमें सार्वनामिक प्रत्यय और पृथक् किए जाने योग्य पुरुषवाचक सर्वनाम (अँ० पर्सनल प्रोनाउन) हैं।

उदाहरण—

१. व जा मिन अदन आन निजाम हज्र उत्तजूल कद आईद फर्जत अली आसर उला शुत्वाकात।[12]

'अदन से सूचना मिली है कि दंगों के बाद पुनः कर्फ्यू लगा दिया गया है (शब्दा०···कर्फ्यू इसे फिर लगाया गया दंगों के बाद······)'

२. व हैस आन उलउम्माल आदरकुवा आन हिजह उलमुहावलत यकसद मिन्हा तफरिकत सफूफ हिम।[13]

'······और तबसे श्रमिकों ने समझा कि उनके वर्ग में फूट डालने का प्रयत्न किया जा रहा है।'

१०. यू० आ० रुबिन्चिक 'सव्रेमेनि परसिद्स्कि' याजिका (वर्तमान फारसी), मास्को, १९६०, पृ० ११४।

११. एल० एस० पेयूसिकोव् 'वप्रसु सिनताक्सिसा परसिद्स्कवो याजिका' (फारसी वाक्यरचना की समस्याएँ) मास्को, १९५९, पृ० ९८४।

१२. 'अल मसं' अ, २,११,५८।

१३. यह उदाहरण अरबी के एक मूल पाठ से है जो कि 'उचेबिनके अरबस्कोवो याजिका' (अरबी में पाठ्यपुस्तक) में कोवलेफ और शरबतोव् द्वारा उद्धृत है (मास्को, १९६०, पृ० ४७१) लिया गया है।

३. व सैकून अव्वल मौजूअ य बहस फ़यीह हुव मशरूअ कानून इत्तहाद उल्मजामिअ उल्लुल् गवैयत उल् इल्मियत।[१४]

'और वैज्ञानिक भाषापरिषदों के घोषणापत्र का प्रारूप इस कांफ्रेंस का पहला विचारणीय विषय होगा (शब्दा० और पहला विषय जिस पर इसमें विचार होगा, यह होगा घोषणापत्र का प्रारूप······इत्यादि।)

विचाराधीन गठन की परीक्षा करने पर पाँच भाषाओं (पंजाबी, फ़ारसी, अरबी, रूसी और प्राचीन रूसी) के उदाहरणों से हमारा ध्यान इन तथ्यों की ओर जाता है। वाक्यारंभ में स्थित संज्ञा (मिश्रवाक्य में मुख्य उपवाक्य के आरंभ में), अकेली हो चाहे किसी अन्य शब्द (प्रायः निश्चयवाचक सर्वनाम) के साथ वाक्य-रचना की दृष्टि से अविच्छिन्न होती है, कारण कि यह सदैव कर्ताकारक में (पंजाबी में अविकारीकारक में)[१५] होती है और वाक्यांश के रूप में कभी प्रयुक्त नहीं होती। दूसरी ओर इसका प्रतिनिधित्व करनेवाला सर्वनाम विविध वाक्यांशों का कार्य करता है (यद्यपि फ़ारसी में इसकी वाक्यरचना का कार्य कुछ सीमित है)। उक्त सर्वनाम संज्ञा के साथ वचन में (पंजाबी के समान) और कुछ भाषाओं में (अरबी और रूसी के समान) लिंग में भी समानता रखता है।

रूसी भाषाशास्त्री ए० एम० पेकोव्स्की अपनी मातृभाषा में गठन के आरंभ में प्राप्त संज्ञा[१६] के वाक्यरचनात्मक अलगाव को, किसी वस्तु की यथार्थता पर विचारों को केंद्रित करने की एक उचित और विशिष्ट पद्धति समझते हैं। यह दृष्टिकोण हमें तर्कसंगत और उल्लिखित भाषाओं पर घटनेवाला लगता है।

अकादमीशियन वी० वी० विनोग्रदोव् ने भी रूसी में मिलते जुलते रचना-गठन पर ध्यान दिया है। उन्होंने उक्त प्रकार की संज्ञा को वाक्यरचना की दृष्टि से वाक्य से पृथक् माना है और इसे 'भावकर्ता' के रूप में अभिहित किया है।

ऊपर कहा जा चुका है कि हमारा उद्देश्य संबद्ध संज्ञा और उसके प्रतिनिधि सर्वनाम के संबंधों और वाक्य में उनके कार्य का पता लगाना है। हमारी समझ में ये संबंध इस प्रकार हैं। यतः इस प्रकार के वाक्य हरेक का ध्यान एक ओर ऐसे

१४. वही, पृ० ४५५।

१५. यह स्मरणीय है कि अरबी में संयोजक 'अन' के बाद आनेवाली कर्म-विभक्ति कर्ता के समान होती है।

१६. यहाँ हम उस रचनागठन पर जहाँ कि पुरुषवाचक सर्वनाम पर अपेक्षित बल दिया गया है, विचार नहीं कर रहे हैं।

भावपरक शब्दवाले (संज्ञावाले) वाक्य जिसका उद्देश्य किसी भाव, किसी परिकल्पना पर बल देना होता है, के रचनात्मक पार्थक्य की ओर आकृष्ट करेंगे तो दूसरी ओर उसी वाक्य (उपवाक्य) में संज्ञा के प्रतिनिधि की उपस्थिति की ओर, अर्थात् विभिन्न व्याकरणात्मक (वाक्यरचनात्मक) व्यापारों में आनेवाले कोशतः दोषपूर्ण शब्द की ओर। हमारी समझ में इस समस्या का उचित समाधान कोशगत तथा व्याकरणगत स्तरों पर भाषा की अन्योन्यता के अध्ययन द्वारा होना चाहिए। विचारणीय वाक्यरचना ऐसी अन्योन्याश्रयता के आदर्श उदाहरणों में एक है। जैसा कि विदित है, कोई कोशगत भावपरक शब्द एक ठोस अर्थ लेकर चलता है, अर्थात् सामान्य भाव से वह किसी विषय या वास्तविकता के लक्षणों से संबंधित भाव या अवधारणा की अभिव्यंजना करता है। किसी शब्द के माध्यम से इस धारणा को और तर्कबल देने के लिये इसके कोशगत पहलू पर टिकना होगा। परंतु किसी शब्द के कोशगत रूप प्रत्यक्ष होते हुए भी व्याकरणिक (और सही माने में वाक्य-रचनात्मक) व्यापारों में न्यूनतर संबंधित हो सकते हैं, जिसकी उपलब्धि विचारणीय रचना में १ – मुख्य संज्ञाप्रधान वाक्य से वाक्यरचनात्मक पार्थक्य के द्वारा; २ – इसके सीधे कर्ताकारक में प्रयोग के द्वारा जिसमें संज्ञा एक शाब्दिक इकाई के रूप में आती है और ३ – रचना की परिधि से निष्कासित होने पर होती है।

किसी विषय पर तार्किक बल अपने आप में कोई चरम लक्ष्य नहीं है। इसका प्रयोग प्रथमतः विषय की ओर ध्यान आकृष्ट करने के हेतु होता है और पुनः उसकी निर्धारणा की अभिव्यंजना के लिये जिसकी सिद्धि उच्चस्तरीय व्याकरणिक योजना से युक्त, वाक्य के माध्यम से होती है। अतः संबद्ध विषय की निर्धारणा को अभि-व्यक्त करने के हेतु हम उसे वाक्यसीमा में अर्थात् व्याकरण की सीमा में खींचते हैं। इसकी उपलब्धि हमें प्रतिनिधि सर्वनाम की सहायता से होती है, जो वाक्य में जुड़ने पर वाक्यरचना की दृष्टि से पृथक् संज्ञा का **व्याकरणिक आदेश** होता है। परंतु व्याकरणतः वाक्य से उच्छिन्न होने पर भी उक्त संज्ञा का संबंध उससे **कोश-शैलीगत** मार्ग से बना रहता है, क्योंकि संबद्ध संज्ञा सर्वनाम आदेश के कोशगत अर्थ को घनत्व प्रदान करती है। संक्षेप में, अध्ययनविषयक संज्ञा और सर्वनाम के बीच व्याकरण - शैलीगत (व्याकरण-कोशगत) व्यापारों के वितरण के समानांतर निश्चित संबंध मिलते हैं।

परिणामतः संबद्ध रचना में हमें वाक्य का समूह (समष्ट्यात्मक) खंड मिलता है, जिसके घटक इस निश्चित संबंध में हैं—उनमें एक, दूसरे का व्याकरणिक भार वहन करता है और दूसरा प्रथम की कोशगत न्यूनता को पूर्ण करता है। इन संबंधों के विषय में हम अन्य विपरीत कल्पना नहीं कर सकते, इसलिये और भी कि दोनो घटक उसी विषय या वास्तविक लक्षण के नित्यसंबंधी हैं। इस विषय

(लक्षण) की अवधारणा की अभिव्यंजना संज्ञा से होती है और सर्वनाम दूसरे की ओर इंगित करता है।

पंजाबी में जहाँ हमें मिश्रवाक्यस्तर पर ऐसे रूप (पैटर्न) मिलते हैं, आश्रित उपवाक्य मुख्य उपवाक्य 'स + प' के समूहखंड को उदाहृत करता है। औपचारिकता में आश्रित उपवाक्य इन दोनो तत्वों से संबंधित रहता है क्योंकि इसका परिचायक सर्वनाम इनके समान वचन में रहता है। परंतु व्यवहारतः आश्रित उपवाक्य अधिक कड़ाई से समूह अंग के शैलीगत केंद्र के साथ संश्लिष्ट रहता है, अर्थात् तर्कध्वनित संज्ञा के साथ। यह कोई संयोग की बात नहीं है, क्योंकि यह शैलीगत पहलू पर उस संज्ञा की व्याख्या करता है जिसका भार इस तत्व के द्वारा वहन होता है।

किसी संदर्भ में पाठक या श्रोता का ध्यान विषय की ओर बनाए रखने के लिये मिश्रवाक्य के नियमानुकूल पंजाबी के मिश्रवाक्य के मुख्य उपवाक्य में इतर वाक्य-खंड के साथ ऐसे आदर्श (पैटर्न) का प्रयोग हमारी समझ से उचित है। कतिपय अन्य भारतीय भाषाओं के समान पंजाबी वाक्य की रचनात्मक विचित्रताओं के कारण उसका विधेयात्मक बीजकेंद्र सामान्यतया समापन के संनिकट स्थापित होता है। यदि इसके अतिरिक्त कोई आश्रित उपवाक्य संबद्ध संज्ञा और विधेय के बीच घुस पड़ता है, तब वे प्रायः बहुसंख्यक शब्दों द्वारा एक दूसरे से पृथक् किए जा सकते हैं। अतः यदि कोई पाठक या श्रोता का ध्यान खींचने के लिये कोई अन्य मार्ग नहीं अपनाता तो विषयसंबंधी महत्वपूर्ण सूचना देनेवाली वार्ता विधेयात्मक बीजकेंद्र तक पहुँचने तक में काफी 'क्षीण' हो जायगी। इस अर्थ में वाक्यखंड के साथ यह आदर्श काम का है। यह केवल ध्वनीकरण का तर्कसंमत मार्ग ही नहीं है बल्कि वाक्य में निहित किसी जटिल वार्ता के कथन का सुविधाजनक और सरल ढंग भी है। इसलिये यह केवल संयोगवश नहीं अर्थात् इसका व्यापक प्रयोग वैज्ञानिक और शैक्षणिक साहित्य में हो रहा है जिसे बोधगम्य तथा यथार्थ शब्दावली की आवश्यकता है।

*

पुष्पमंजरी

करुणापति त्रिपाठी

•

पुष्पमंजरी नाम की छोटी रचना का हस्तलेख उपलब्ध हुआ। यद्यपि काव्यसौष्ठव की दृष्टि से इस लघुकृति का महत्व अधिक नहीं है तथापि इसका संबंध परंपराविशेष के साथ लक्षित होता है। इसी कारण प्रस्तुत लेख में इसे प्रकाशित किया जा रहा है।

रीतिकालीन प्रवृत्तिवाले ग्रंथकारों में सर्वप्रथम कवि हैं अष्टछापवाले **नंददास** जिनके नाम के साथ **फूलमंजरी** नामक छोटी सी रचना का उल्लेख किया गया है। **नंददास** यद्यपि **भक्तिकालीन** कवि हैं, कृष्णभक्तिसंबंधी अष्टछाप के कवियों में उनका कृतित्व और व्यक्तित्व **सूर** के बाद कदाचित् सर्वतोधिक महत्वपूर्ण स्थान रखता है, तथापि उनकी रचनाओं में 'भक्ति' से इतर विषयों का आश्रय लेकर की गई रचनाएँ भी मिलती हैं। मूलरूप से भक्तिभाव की मधुधारा से अंतर्बहिः ओतप्रोत रहने पर भी उनकी कुछ रचनाओं का आयाम अन्य परिवेशों का भी स्पर्श करता चलता है। **रसमंजरी** में **भानुमिश्र** की **रसमंजरी** के आधार पर 'नायिकाभेद' का निरूपण मिलता है जिसे मध्यकालीन हिंदी का तद्विषयक **सर्वप्रथम** ग्रंथ कहा जा सकता है। **नाममाला** और **अनेकार्थमंजरी** भी शास्त्रीय ग्रंथ कहे जा सकते हैं जिनका विषय भक्तिभाव को लेकर चलता हुआ भी कोशविद्या की परिधि में अंतर्विष्ट है। इसी भाँति उनके नाम के साथ 'फूलमंजरी' नामक ग्रंथ का भी उनकी कृति के रूप में उल्लेख किया गया है। डा० दीनदयाल गुप्त ने अपने ग्रंथ (**अष्टछाप और वल्लभसंप्रदाय**) के द्वितीय भाग में यद्यपि **नंददास** के प्रामाणिक ग्रंथों में इसका उल्लेख नहीं किया है। और उक्त ग्रंथ के संबंध में अपना मत देते हुए प्रथम भाग में लिखा भी है कि **फूलमंजरी नंददास** का कोई ग्रंथ नहीं है। **नंददास** की शैली देखकर **पुरुषोत्तम** कवि की फूलमंजरी को किसी प्रतिलिपिकार ने नंददास कृत लिख दिया है।[1]

पर उक्त ग्रंथ की चर्चा को लेकर डा० गुप्त ने इस संबंध में जो बातें लिखी हैं उनका यहाँ संक्षिप्त उल्लेख अनुचित न होगा। यद्यपि तासी से लेकर अब तक के

१. पृ० ३९०, पंक्ति ८ से (भाग – १)।

हिंदीसाहित्य के इतिहासलेखकों में से किसी ने भी नंददास की **फूलमंजरी** का वर्णन नहीं किया है तथापि **नागरीप्रचारिणी सभा** की **खोज रिपोर्ट** में **नंददास** कृत **फूलमंजरी** का विवरण मिलता है।[२] जिस प्रति के आधार पर यह विवरण प्रस्तुत किया गया है उसमें प्रतिलिपि या रचना के समय का निर्देश नहीं है और उसके आदि अंत में कृतिकार के रूप से **नंददास** का नामोल्लेख है। अंत की पंक्ति है– **इति श्री फूलमंजरी नंददास किरत संपूर्ण समाप्तं**। पर डा० गुप्त के अनुमान के अनुसार संभवतः प्रतिलिपिकार ने भ्रमवश मनमाने ढंग से यह अंतिमांश लिख दिया है। भ्रम का कारण **नंददास** की अन्य कृतियों में उपलब्ध शैलीमात्र है। परंतु इतना ही कारण कुछ ठीक नहीं लगता। हो सकता है, यह भ्रम **नंददास** के 'मंजरी' शब्दांत पंचमंजरी ग्रंथों के कारण हो और यह भी हो सकता है कि **अष्टछाप** में दीक्षित होने के पहले का यह ग्रंथ **नंददास** कृत ही हो। बाद का भी हो सकता है। क्योंकि उनके शास्त्रीय या लौकिक शृंगाराभास, अन्य ग्रंथों के समान मधुरभाव-संपृक्त नायक नायिका के रूप में **नंदलाल** और **ब्रजबाल** का अवलंबन यहाँ भी है—

आदि – **सीस मुकुट कुंडल झलक संग सोहै ब्रजबाल।**
पहरे माल गुलाब की, आवत है नंदलाल॥

अंत में भी **बलबीर** और **स्याम** का नाम है –

पीतांबर कटि काछनी, सोहत स्याम सरीर।[३]
कुसुम केतकी मुकुट धरि, आवत है बलबीर॥

उसी **खोज रिपोर्ट** में इस कृति के विषय मे बताया गया है कि प्रस्तुत रचना ३१ दोहों की है और इसमें नव दुलहिनी नायिका के रूपादि के वर्णन हैं और प्रत्येक दोहे में किसी न किसी फूल का नाम भी आ गया है।

इस संदर्भ में डा० गुप्त ने इसके नंददास कृत होने में कई आपत्तियाँ उठाई हैं। मुख्य रूप से उनका कहना है कि वल्लभसंप्रदायवालों में **नंददास** की **पंचमंजरी** ही प्रसिद्ध है, इन पाँच मंजरी ग्रंथों से यह रचना भिन्न है। संप्रदाय के अनुयायी किसी विद्वान् के मुख से **नंददास कृत फूलमंजरी** का नाम भी नहीं सुना जाता है। अन्यथा **नंददास कृत छठी** मंजरी का उल्लेख उक्त 'खोज रिपोर्ट' के अतिरिक्त कहीं न कहीं अवश्य मिलता। अपने कथन की पुष्टि में एक और महत्त्वपूर्ण अनुमानलब्ध प्रमाण की ओर भी डा० गुप्त ने संकेत किया है। उनका कथन है कि

२. ना० प्र० स०, खोज रिपोर्ट, सन् १९२९ – ३१ ई०, सं० २४४।
३. उक्त खोज रिपोर्ट के अनुसार।

'याज्ञिकसंग्रहालय' में उन्होंने 'फूलमंजरी' की दो प्रतियाँ देखीं। उनमें से एक 'पुरुषोत्तम कवि' द्वारा रचित है। यह भी दोहों में ही है और संख्या भी इसकी ३२ ही है। ३१वें दोहे पर ग्रंथ समाप्त होता है। इसके आदिअंत के दोहों में एक दो शब्दों के पाठभेद को छोड़कर इसके दोहे भी प्रायः वही हैं जो उपर्युक्त **खोज रिपोर्ट-वाली' फूलमंजरी** के हैं। अंत के ३२वें या **अंतिम दोहे** में **पुरुषोत्तम** कवि का नाम यों है –

आदि – सीस मुकुट कुंडल कनक संग सोहत ब्रजबाल।
पहरे माल गुलाब की, आवत है नंदलाल ॥१॥
चंपक वरन सरीर सुख, नैन चपल द्रग मीन।
नव दुलहिन तव रूप लखि लाल भये आधीन ॥२॥

अंत – पीतांबर की छवि बनी सोहत स्याम सरीर।
कुसुम केतकी मुकुटधर, आवत है बलबीर ॥३॥
पोहपबंध धरि ग्रंथ है कह्यो पुहपन को नाम।
पुरुषोत्तम याको भजै, लै पुहपन को नाम ॥

इति श्री पौहोप मंजरी संपूर्ण

डा० गुप्त ने आगे बताया है कि **मिश्रबंधुविनोद** के भाग १ और ३ में **तीन** प्राचीन **पुरुषोत्तम** कवियों के नाम उल्लिखित हैं, पर किसी के रचित ग्रंथ का **फूलमंजरी** नाम नहीं बताया गया है। चतुर्थ भागवाले **पुरुषोत्तम** कवि आधुनिक हैं। हाँ, **राधावल्लभ संप्रदाय** में 'विनोद' के लेखकरूप मे उल्लिखित **पुरुषोत्तम** इस **मंजरी** के कर्ता माने जा सकते हैं।

यहाँ दो बातें विशेषरूप से ध्यान में रखने की हैं। एक तो यह कि इस प्रकार की कृतियाँ 'पौहपबंध' को धारण कर चलती हैं। इनमें 'पुहपन' का नाम कथित रहता है। दूसरी बात यह कि इस ग्रंथ का नाम **पौहोपमंजरी (पुष्पमंजरी)** है। अर्थात् इस श्रृंखला की रचनाएँ **फूलमंजरी** नाम से भी लिखी जाती थीं और **पुष्पमंजरी** नाम से भी।

याज्ञिकसंग्रहालय में सुरक्षित **केशवसुत मोहनकवि कृत** एक और **फूलमंजरी** की सूचना डा० गुप्त ने अपने ग्रंथ में[४] दी है जिसका रचनाकाल १८४५ वि० है। इसमें दोहाछंद का ही प्रयोग है। इस **मंजरी** के दोहे उपर्युक्त दोनो कवियों के मंजरीग्रंथ से भिन्न हैं—

४. अष्टछाप और वल्लभसंप्रदाय, भाग (१), पृ० १४१।

आदि – कमलनैन कन्हर लला, सुंदर स्यामल गात ।
बन ते आवत सुरभि संग······मन मुसुकात ॥
पीत पगा कीनैं कगा, कर कसूंभ की माल ।
नगम बटत कर मुरलिका, बाजत सब्द रसाल ॥

अंत – दाऊदी फूली बिमल, अलि मिलि लेत सुवास ।
पिय प्यारी मिलि आजु ही, हिलिमिलि करैं बिलास ॥
पांडु[५] बेद[४] बसु[८] चंद[१] ये, बसत कुम्हेर सुगाम ।
केसवसुत मोहन रची फूलमंजरी नाम ॥

इन **मंजरी** - कृतियों के अतिरिक्त सन् १९०६ - ११ की **खोज रिपोर्ट** में **मनोहरदास** कृत ३१ दोहों के **फूलचरित्र** नामवाली कृति का तथा **महाराज सावंतसिंह नागरीदास कृत फूलविलास** का उल्लेख मिलता है ।[५]

इस प्रसंग में **महाकवि मतिराम** कृत **फूलमंजरी** का नाम विशेषरूप से उल्लेख्य **है** । **साहित्यसमालोचक** (भाग – ३ संख्या – ५ चैत्र - वैशाख, संवत् १९८५ वसंत) में कृष्णबिहारी मिश्र ने इसका परिचय दिया है । इसका आरंभ इस प्रकार है —

चंपक बरनी यों कहै, छूटे बासु सुबास ।
चंपक माल पहरे हिये, तेहि राखे पिय पास ॥

मिश्रबंधुविनोद में भी इसकी चर्चा की गई है । पर वहाँ इसे **मतिराम** की कृति के रूप में अंगीकृत नहीं किया गया है । आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी, संभवतः **'विनोद'** को ही आधार मानकर, इस ग्रंथ को **मतिराम** की न तो रचना बताई है और न **मतिराम** के प्रसंग में इसका उल्लेख ही किया है । परंतु आगे चलकर **मतिराम ग्रंथावली** (तृतीय संस्करण के भूमिकाभाग, संवत् १९९६) में कृष्णबिहारी मिश्र ने इसे मतिराम कवि कृत माना है ।

संभवतः इसी **फूलमंजरी** के तीन हस्तलेख **भवानीशंकर याज्ञिक** को भरतपुर राज्य में हिंदीग्रंथों की खोज करते समय प्राप्त हुए थे । उनमें से केवल एक पर प्रतिलिपिकाल १८४५ दिया है, अन्य प्रतियों पर समय का उल्लेख नहीं है । यहाँ यह भी विशेषरूप से स्मरण रखने की बात है कि तीनों ही प्रतियाँ केवल **भरतपुर** राज्य में प्राप्त हुई हैं ।

५. अष्टछाप और वल्लभसंप्रदाय, पृ० ११० ।

इन्हीं हस्तलेखों की किसी प्रति की प्रतिलिपि **कृष्णबिहारी मिश्र** को उक्त याज्ञिक जी की कृपा से (**फूलमंजरी**) प्राप्त हुई। इसके प्रणेता **मतिराम** ही थे—जिसका उल्लेख अंतिम दोहे में इस प्रकार किया गया है —

हुकुम पाय जहँगीर को, नगर आगरे धाम।
फूलन की माला करी मति सों कवि मतिराम॥

इसी दोहे को आधार मानकर **कृष्णबिहारी मिश्र** का अनुमान है कि **फूलमंजरी** की रचना मतिराम ने **मुगलसम्राट जहाँगीर** के निर्देश पर की थी और कदाचित् वह भी अवसर विशेष पर। **मुंशी देवीप्रसाद** द्वारा अनूदित **जहाँगीरनामा** की सूचना के अनुसार मिश्र जी ने अनुमान किया है कि **फूलमंजरी** का निर्माणकाल उस 'नौरोज' नामक उत्सवविशेष के आसपास है जो **जहाँगीर** के साम्राज्यारोहण के पंद्रह वर्षों के बीत जाने पर सोलहवें वर्ष के आरंभ में बड़ी धूमधाम के साथ आगरा में मनाया गया था। इस उत्सव में बेगमों के सहित नाव पर बैठकर बादशाह 'नूरअफशाँ बाग' में गए थे। इसका काल है सन् १०३० हि० अर्थात् १६२१ ई०। उन्होंने ऐसी संभावना भी प्रकट की है कि उक्त रचना में जिन फूलों के वर्णन हैं वे भी कदाचित् उक्त बगीचे के प्रमुख पुष्प रहे हों। प्रस्तुत संकलन के दोहों में भावविधान की अप्रौढ़ता, कल्पनाचित्र की धूमिलता और रचनाशिल्प में अभिव्यक्ति की अप्रगल्भता देखकर यह भी अनुमान किया गया है कि कदाचित् **फूलमंजरी, मतिराम** की पहली रचना थी जब उनकी अवस्था १८ या २० वर्ष के आसपास रही होगी। ग्रंथावलीसंपादक स्वयं स्वीकार करते हैं कि उपर्युक्त समस्त कल्पना अनुमान ही अनुमान है, जिस अनुमिति में, साधकप्रमाण मुख्यतः तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थिति ही है — जिसका जहाँगीर के संबंध में उल्लेख किया जा चुका है। मेरी समझ में **फूलमंजरी** जैसी कृति **मतिराम** के समान भावप्रवण, सहज, सरस और रससिद्ध कवि की रचना नहीं प्रतीत होती। हो सकता है कि उक्त संग्रह किसी दूसरे **मतिराम** नामक कवि की रचना हो। 'मतिराम' **सतसई** नाम से संकलित ग्रंथ में भी (जहाँ तक मेरा अनुमान है — क्योंकि प्रकाशित रूप में **फूलमंजरी** मैं देख नहीं सका हूं) **फूलमंजरी** के दोहे नहीं ग्रथित हैं जब कि उन्हीं की अन्य रचनाओं से वहाँ दोहे लिए गए हैं। **मतिराम ग्रंथावली** की भूमिका में उद्धृत **फूलमंजरी** के दोहों को देखने मात्र से उपर्युक्त कल्पना का आभास मिल सकता है —

कमलनैन लीनें कमल कमलमुखी के ठावँ।
तन न्योछावरि राज की, यहि आवनि बलि जावँ॥

निसि कारी भारी हुती तरसत मेरो जीव।
फूल निवारी को सरस, वारी तुम पर पीव ॥[६]

परंतु दृढ़ता के साथ यह भी नहीं कहा जा सकता कि उक्त रचना **मतिराम** की नहीं है। **मतिराम** पर शोधकार्य करनेवाले दो अनुशीलकों ने (डा० त्रिभुवन सिंह तथा डा० महेंद्रकुमार ने)[७] भी कृष्णबिहारी मिश्र की ही बातें अपने शोधग्रंथों में — कमबेश दुहराई है।

मैं यहाँ यह कहना चाहता था कि **फूलमंजरी** के सदृश संग्रहरचना की परंपरा भी कदाचित् रीतिकालीन कवियों में यत्रतत्र प्रचलित रही है, जिसके अनेक ग्रंथों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उसी शृंखला की ही एक छोटी सी कृति **पुष्पमंजरी** भी है। मतिराम की इस **फूलमंजरी** में **साठ** दोहे हैं पर प्रस्तुत **पुष्पमंजरी** में तथा कुछ अन्य 'मंजरियों' में भी केवल **इकतीस** ही दोहे हैं। रचना खंडित नहीं है। उसका आदि और अंत ग्रंथ में वर्तमान है अंत में इसका रचनाकाल भी संवत् १८०३ दिया हुआ है जो किसी भी पूर्वोक्त **फूलमंजरी** के निर्दिष्ट प्रतिलिपिकाल से प्राचीन है। परंतु इस रचना में ग्रंथकार का नाम कहीं उपलब्ध नहीं है। किंतु एक बात से रचनाकार के संक्षिप्त उपनाम की ओर अवश्य संकेत मिलता है। प्रायः प्रत्येक दोहे में **कला** शब्द आया है। हो सकता है कि यह कवि का संक्षिप्त काव्य-उपनाम हो। दोहों को पढ़ने से ऐसा भी कुछ कुछ लगता है कि कलाकार कोई स्त्री है जिसका उपनाम, कदाचित् **कला** था। **फूलमंजरी** के ही समान प्रायः प्रत्येक दोहे में किसी न किसी पुष्पविशेष का या फूलसामान्य का प्रयोग मिलता है। वर्ण्य-अवर्ण्य रूप में भी, प्रस्तुत अप्रस्तुत रूप से भी फूलों का उल्लेख रचना में किया गया है।

सभी दोहों में शृंगार के संयोग-विरह - पक्ष से संबद्ध भावनाओं की ही व्यंजना दिखाई पड़ती है। यद्यपि अभिव्यक्त उक्तियों में हृदयस्पर्शी अनुभूतियों की गहराई का प्रौढ़त्व प्रायः नहीं दिखाई देता है तथापि परंपरायुक्त ढंग से कवि ने रीतिकालीन कविक्रीड़ा का परिचय देने का प्रयास किया है। नीचे संपूर्ण **पुष्पमंजरी** और उसके आदि - अंत के अंशों का ब्लाक दिया जा रहा है। ग्रंथपाठ में संपादन भी यत्रतत्र थोड़ा सा किया गया है। छंद के अनुरोध से मूलपाठ में थोड़ा सा

६. मतिराम ग्रंथावली, भूमिकाभाग, पृ० १२६।

७. (१) महाकवि मतिराम और मध्यकालीन कविता में अलंकरणवृत्ति।
(२) मतिराम – कवि और आचार्य।

परिवर्तन, कहीं कहीं कर दिया गया है — यद्यपि मूल पाठ भी वहीं कोष्ठ में दे दिया गया है। अंत में इस बात की ओर पुनः ध्यान आकृष्ट किया जा रहा है कि संभवतः इस वर्ग की दो ही रचनाओं में प्रतिलिपिकाल या रचनाकाल मिलता है। एक में संवत् १८४५ निर्दिष्ट है और दूसरी मतिराम के नामवाली प्रति में प्रतिलिपिकाल संवत् १८५० है। अतः १८०३ संवत् वाली यह 'पुष्पमंजरी' उपलब्ध 'मंजरियों' की प्रतियों में प्राचीनतम हस्तलेख है।

श्रीगणेशाय नमः। अथ पुष्पमंजरी

दोहा

[१]

आसु कला कछु भाग है मनमोहन प्रतिपाल।
हरषत आपु हेतु सो पहिरे लाल गुलाल ॥

[२]

चंपक बरण सुतनु कला कुंदन लाजत जाहि।
बिरहे दहि कुहला कियो छिन छिन धरै सु ताहि ॥

[३]

औचक आये पिउ कला अंग भरे रस - मूल।
बिहसत हरषत पान मुष कर कूजा के फूल ॥

[४]

करवत भये सुकेवरा बिष सी लागै बास।
सेज भई पावक कला जौ प्रीतम नहि पास ॥

[५]

कब आवहिगे पिउ कला पंडित पूछै तीय।
फूल न भावै बेइली कै बलि परि निछु पीय ॥

[६]

रोंव रोंव ताकरि कला निकसि गई दुष सूल।
औचक आये कंत घर सुनत चंबेली फूल ॥

[७]

तारे खिनिगी सम ल [ला] गत भोरे मनहु अंगार।
चंदन भावै चाँदनी नहि जूही के माल ॥

[८]

बहुत अरे तनु तुम कला बहुतहु धरे उसास।
रतनमंजरी गूंफि कै पिय लै आये पास॥

[९]

रितु बसंत आई कला प्रानपती के साथ।
टेसू फूल सुहावने देषी पिउ के हाथ॥

[१०]

हरि दरसन पावै कला फूल सुदरसन हाथ।
नैन मिलै नहि मन मिलै दूती [भै] आवे साथ॥

[११]

दुंद हरण आनँदकरण जौ घर रह [है] सषि कंत।
तौ मुहि भावै रे कला फूला सदाबसंत॥

[१२]

प्रीतम आये साँझि घर पहिरे लाल समूल।
वरण विराजति यौं कला मनहु कुसुम के फूल॥

[१३]

हरि आये हरषत कला पहिले प्रीति संभार।
केसरि आवा गावने औ नागेसरि हार॥

[१४]

छोटे पिउ पाये कला जिय प्रफु[फू]लित भै नारि।
हरिसिंगार पियरे चुनो पहिरे हार सिंगार॥

[१५]

मलिन भये ही रास भै देषि दसन तुम नंद।
सिषि जे हारे ये कला औ रस लेती कुंद॥

[१६]

गई नेवारी मै चुनी कला जीय सँग जाइ।
मेहदी छूटी हाथ की गूँदत हार सुहाइ॥

[१७]

अति व्याकुल वैराग ते देखत कला सँनाय।
पिउ आये परदेस ते धन सोपा डर आय॥

[१८]

मूँगावारे अधर पर यैसे अधर सरूप।
पीपल तापर कीय ए और पुहुप बंधूप ॥

[१९]

लाल बिलोकि तरे कला रोंम रोंम आनंद।
ऐसी प्रीति लगी कला हौं कुमुदिनि[नी]पिउ चंद ॥

[२०]

लिधि [खि] जैमाला सो गले पुष्प मालती हाथ।
बालँम आये जोग ते लिहे सहेली साथ ॥

[२१]

नैन कमल अरु मुष कमल सुरस कमल कुच हीय।
भोर भये बालँम कला प्रेम परस रस लीय ॥

[२२]

भोरि जमत मुहि कला ते नही येक आकूल।
लाये आनि बिछावने मोल सरीष के फूल ॥

[२३]

प्रीतम लावा गुँह चँ [चं] पा भयेहु कला एहि बान।
चूनत ही भइ संचयो [ययो] रीझे नैन परान ॥

[२४]

मोरे आँगन मोगरा फूला सुरस सुबास।
चुमत न भावै मुहि कला जौ प्रीतम नहि पास ॥

[२५]

आछी फूली रे कला जुही बिराजत मोहि।
दूती के [जो] बचन सुनि [कें] ऊन करे पिय कोहि ॥

[२६]

नित कनइल दूती करे बाढै फूल कनेर।
सैन देत हरि को कला रोइ पचारै सेर ॥

[२७]

ऐसी दूती सिरषंडी कै सिरषंडी मोर।
सैन देत हरि कों कला चितवत और कि ओर ॥

[२८]

रैनि कला नित ही रहै भोर आउ जग भान ।
सजन सेवाती फूल कौ लै आये अनुमान ॥

[२९]

सजन बिसारे है कला भरि जोबन मैमंत ।
करणा फूला बहुत है का करणा बिनु कंत ॥

[३०]

कुंदन बरण सुहावने पीत वरण रसमूल ।
प्रीतम लावा आनि कै सूर्यमुपी के फूल ॥

[३१]

प्रीतम पाये रे कला परसन भये जु ईश ।
चंदन खौरी [रि] मान मुप फूल केतुकी सीस ॥

इति पुष्पमंजरी समाप्त ॥ श्री विश्वेश्वराय नमः । संवत् १८०२ वर्षे साके १६६८ माधव मासे शुक्ल पक्षे भौमवासरे मदीयं पुस्तकं कर्तव्यं ॥

टिप्पणी—हस्तलेख के प्रथम और अंतिम पृष्ठ के प्रतिचित्र अगले पृष्ठ पर दिए जा रहे हैं —

क्या अवस्था की अनुकृति नाट्य है ?

बच्चनसिंह

धनंजय ने दशरूपक में लिखा है – **'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्'** अर्थात् अवस्था की अनुकृति नाट्य है। इसे और स्पष्ट करते हुए बताया गया है – **'काव्योपनिबद्ध-धीरोदात्ताद्यवस्थानुकारश्चतुर्विधाभिनयेन तादात्म्यापत्तिर्नाट्यम्'** मतलब यह कि काव्यनिबद्ध धीरोदात्त आदि नायकों का चतुर्विध अभिनय द्वारा अनुकार किया जाता है जिससे नटों में पात्रों की तादात्म्यापत्ति हो जाती है। अवस्था का अर्थ है कविनिबद्ध पात्र की बहिरंतर स्थितियाँ। पर क्या पात्र की मनोदशाओं और बाह्य व्यापारों का अनुकरण संभव है ?

भारत तथा पाश्चात्य देशों में 'अनुकरण' अपने अपने अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। पश्चिम में तो यह काव्यशास्त्र का मूलाधार रहा है। किंतु संस्कृत के शास्त्रकारों तथा यवनानी आचार्यों में मौलिक भेद यह है कि जहाँ पहला 'अनुकरण' को नटकर्म मानता है वहाँ दूसरा उसे कविकर्म मानता है। लेकिन दोनों की मान्यताएँ भ्रांतिपूर्ण हैं।

अरस्तू के व्याख्याकार गिलबर्ट मरे, बुचर, पाट्स आदि ने 'अनुकरण' का अर्थ सामान्यतः पुनरुत्पादन, पुनः सृजन किया है। डा० नगेंद्र ने अरस्तू द्वारा प्रयुक्त 'अनुकरण' शब्द के औचित्य पर संगत प्रश्न उठाया है—'इस प्रसंग में सबसे पहली शंका जो हमारे मन में उठती है कि क्या अनुकरण शब्द का अरस्तू ने उचित प्रयोग किया है ? अर्थात् क्या अनुकरण शब्द की अर्थपरिधि में कल्पनात्मक पुनर्निर्माण···आदि का अंतर्भाव सहज है ? इसका उत्तर यूनानी काव्यशास्त्र के विद्वानों ने यह दिया है कि अरस्तू का शब्द तो मीमेसिस है— अँगरेजी का इमीटेशन उसका अत्यंत असमर्थ अनुवाद है। परंतु इससे हमारा परितोष नहीं होता। मीमेसिस का अर्थ इमीटेशन के अर्थ से इतना भिन्न नहीं है कि उसमें सर्जना का भी अंतर्भाव हो सके, अतएव यह आक्षेप असंगत नहीं हो सकता कि अरस्तू ने उचित शब्द का प्रयोग नहीं किया। जो अर्थ उन्होंने अनुकरण शब्द में भरना चाहा है वह उसके सामर्थ्य के बाहर है।'

पर इस तरह की कोई शंका नगेंद्र जी ने भारतीय काव्यशास्त्र में प्रयुक्त 'अनुकरण' शब्द पर नहीं उठाई है। जिस प्रकार अरस्तू का 'अनुकरण' शब्द

अपेक्षित अर्थ नहीं दे पाता, उसी प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र का अनुकरण शब्द भी अपेक्षित अर्थ देने में असमर्थ है। अभिनव गुप्त ने इस शब्द की समर्थता का खंडन किया है। संक्षेप में अभिनव गुप्त के तर्कों को देख लेना चाहिए।

अभिनवभारती के प्रथम अध्याय में ही लिखा गया है—'यह अनुव्यवसाय विशेषरूप 'अनुकीर्तन' जिसको कि नाट्य नाम से भी कहा जाता है, अनुकरणरूप है ऐसा समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। क्योंकि इस (नाट्य को देखने पर) भांड (नकल करनेवाले भाँड) ने राजपुत्र की या अन्य किसी की नकल की है, इस प्रकार की बुद्धि (नाटक देखने पर) नहीं होती है। नकल नाटक से भिन्न होती है। उसके करनेवाले 'नट' नहीं भाँड 'भाण्ड', भांड कहलाते हैं। उसके देखने पर यह भांड राजपुत्र की नकल कर रहा है इस प्रकार की बुद्धि होती है। और वह मध्यस्थों के लिये केवल हास्यजनक विकृति (नकल) नाम से प्रसिद्ध है।"[1]

अभिनव गुप्त के मतानुसार अनुकरण सदृश क्रियारूप होता है। सदृशत्व विशेष रूप का और समकालीन पदार्थों का बनता है। कभी कभी गौणरूप से नियत पदार्थ का, भिन्न भिन्न काल में होने पर भी अनुकार संभव है। तब प्रश्न उठता है कि भाव, विभाव, अनुभाव आदि का अनुकरण कैसे हो सकता है?

रामादि का अनुकरण सदृश क्रियारूप नहीं हो सकता क्योंकि नाटक में वे साधारणीकृत रूप में गृहीत होते हैं जिससे उनके विशेषत्व का परिहार हो जाता है। नाटक के अन्य पात्रों के संबंध में भी यही सत्य है। चित्तवृत्तियों का अनुकरण तो और भी दूर की बात है। नट, अपने हर्ष, शोक, करुणा आदि को रामादि के हर्ष, शोक, करुणा आदि के सदृश नहीं बना सकता। हर्ष, शोक आदि का विशेषरूप नहीं होता। अतः स्थायी भाव, अनुभाव आदि का अनुकार भी संभव नहीं है।

किंतु नट द्वारा प्रदर्शित हर्ष, शोक आदि की जो प्रतीति होती है, वह क्या है? वस्तुतः नट रामादि के सदृश शोकादि नहीं करता। वह रामादि के 'सजातीय' शोकादि को करता है। न्यायसिद्धांतानुसार जाति को नित्य तथा एक तरह की वस्तुओं में अनेक समवेत धर्म माना गया है। मनुष्य में 'मनुष्यत्व', गाय में 'गोत्व' नित्य और अनेक समवेत धर्म हैं। राम को जो शोक, हर्ष हुए थे उनमें शोकत्व, हर्षत्व आदि जाति थी और नट द्वारा प्रदर्शित हर्ष, शोक आदि में हर्षत्व और शोकत्व की जाति है। इसलिये दोनों के शोक, हर्ष आदि सजातीय कहे जायँगे।

१. तदिदमनुकीर्तनमनुव्यवसायविशेषो वा नाट्यापरपर्यायोनानुकार इति भ्रमितव्यम्। अनेन भांडेन राजपुत्रस्यान्यस्य वानुकृतिमित्यादिबुद्धेर भावात्। तद्धि विकारणमिति प्रसिद्धं हास्यमात्र फलम् मध्यस्थानम्। —आचार्य विश्वेश्वर, हिंदी अभिनवभारती पृ० १८७।

अभिनव गुप्त 'अनुकरण' के स्थान पर 'अनुकीर्तन' का प्रयोग औचित्यपूर्ण ठहराते हैं। भरत ने लिखा है—

नैकांतऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम्।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्॥

—१।१०७।

अर्थात् इसमें केवल आपका और देवों का ही (चरित्र) प्रदर्शन नहीं कराया गया है अपितु नाट्य में (वस्तुतः) इस समस्त विश्व के भावों का प्रदर्शन कराया गया है। इसके आधार पर अभिनव गुप्त ने नाट्य को अनुकीर्तनरूप माना है। उन्होंने अनुकीर्तन का अर्थ 'नाटक के साधारणीकरणरूप अलौकिक व्यापार द्वारा सीतारामादि के विशेष स्वरूप को हटाकर उनके साधारणीकृत रूप का ग्रहण' लिया है। पर अभिनव ने 'अनुभावन' की व्याख्या नहीं की है। आचार्य विश्वेश्वर इसका अर्थ 'पदार्थ के प्रत्यक्ष दिखलाई देनेवाले विशेष स्वरूप का ग्रहण' करते हैं। उक्त प्रसंग को देखते हुए यह अर्थ ठीक प्रतीत होता है। एकांत, भवताम् और देवानाम् पर जिस ढंग से बल दिया गया है उससे यही दिखाई देता है कि 'अनुभावन' का अभिप्राय पदार्थ के प्रत्यक्षरूप का ग्रहण ही है। अभिनव की टिप्पणी है—
न देवासुराणाम् एकांतेनानुभावनम्। नैव तेऽनुभाव्यंते केनचित्प्रकारेण।
अर्थात् इसमें देवासुर का एकांत अनुभावन नहीं है और किसी प्रकार से उनको अनुभाव्य बनाया भी नहीं जा सकता। नाट्य का यह उद्देश्य भी तो नहीं है क्योंकि वह तो समस्त विश्व के भावों का अनुकीर्तन है। लगता है 'अनुभावन' 'अनुकरण' का समानार्थी है। इसलिये यह शब्द अभिनव को अभिप्रेत नहीं हुआ। दैत्यों को यही तो भ्रम हुआ था कि नाट्य में उनका अनुकरण या अनुभावन किया गया है, इसी लिये वे उपद्रव पर उतर आए।

पर समस्या फिर वहाँ उलझ जाती है जहाँ आगे चलकर भरत लिखते हैं—

नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्॥

—१।११२।

'नाना प्रकार के भावों से युक्त और नाना प्रकार की अवस्थाओं वाला लोक-व्यवहार का अनुकरण करनेवाला यह नाट्य मैंने बनाया।' अभिनव ने 'लोकवृत्ता-नुकरणं' पर कोई ऐसी टिप्पणी नहीं दी है जिससे उपर्युक्त समस्या का समाधान हो सके। क्या भरत के इस कथन के समकक्ष दशरूपककार का **'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्'** नहीं रखा जा सकता ?

लेकिन विवेकवान् विचारक अपना मत अभिनव गुप्त के पक्ष में ही देगा, क्योंकि अवस्था का अनुकरण संभव नहीं है। आज प्लेटो और अरस्तू के 'इमीटेशन'

शब्द की जिस तरह की व्याख्याएँ हो रही हैं, उस शब्द की असमर्थता और अर्थवत्ता पर जिस ढंग से विचार किए जा रहे हैं, अभिनव गुप्त ने अपनी तलस्पर्शिनी प्रतिभा के द्वारा 'अनुकरण' शब्द पर उनसे भी गहरे पैठकर चिंतन मनन किया था। अभिनव गुप्त के विचार आधुनिक व्यक्तियों के मेल में अधिक हैं। कहीं कहीं तो ऐसा लगता है जैसे कोई आधुनिक श्रेष्ठ चिंतक व्याख्या कर रहा हो।

अभिनव गुप्त की अपूर्व मेधा से चकित होना अस्वाभाविक नहीं है क्योंकि उस प्रकार के मेधावी व्यक्ति शताब्दियों में हुआ करते हैं। लेकिन भरत के व्याख्याकार के रूप में उनसे सर्वत्र सहमत होना कठिन हो जाता है। भरत के नाट्यशास्त्र में उल्लिखित **'लोकवृत्तानुकरणं नाट्यम्'** का क्या अभिप्राय है? अनुकर्ता नट है। कविनिबद्ध लोकवृत्त का अनुकरण तो वही करेगा न! अब प्रश्न उठता है कि क्या भरत ने 'अनुकरण' और 'अनुकीर्तन' दोनों को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है?

यही नहीं 'अनुकरण' शब्द का व्यवहार भरत ने अन्यत्र भी किया है—

तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा यथा दैत्या सुरैर्जिताः।
सम्फेटविद्रवकृताच्छेद्यभेद्याहवात्मिका ॥

—१ - ५७।

अभिनव ने अपनी व्याख्या में स्वयं लिखा है **'अनुकृतिरिति नाट्यम्'** अनुकृति नाट्य है। 'बद्धा' का अभिप्राय उन्होंने 'अभिनय आरंभ किया' लिया है। एक ओर **'अनुकृतिरिति नाट्यम्'** लिखना और दूसरी ओर इसका खंडन करना असंगति नहीं है? फिर क्या 'अनुकृतिर्बद्धा' और 'लोकवृत्तानुकरणं' में बहुत दूर तक साम्य नहीं है?

इन असंगतियों के बावजूद भी अभिनव गुप्त की मूल मान्यता—नाट्य भावानुकीर्तन है—अपने स्थान पर अतर्क्य है। अभिनव गुप्त व्याख्याकार से अधिक मौलिक चिंतक हैं। उनके इस चिंतन के फलस्वरूप **'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्'** का सिद्धांत अपने आप खंडित हो जाता है। यदि इस सिद्धांत का समर्थन ही अभीष्ट हो तो 'अनुकृति' में नया अर्थ भरना होगा क्योंकि अपने मूल अर्थ में यह शास्त्र-निष्पादित अर्थभार वहन करने में सर्वथा असमर्थ है।

*

महामना

श्रद्धांजलियाँ

संस्मरण

व्यक्तित्व और कर्तृत्व

पत्र

भाषण

श्र द्धां ज लि याँ

पंडित मदनमोहन मालवीय शताब्दी समारोह के अवसर पर मैं उन महामना नेता के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ, जिन्होंने ५० वर्ष तक भारतीय जनता की निःस्वार्थ सेवा की। मालवीय जी का कार्यक्षेत्र केवल राजनीति ही नहीं था, समाजसेवा, शिक्षा, हिंदीप्रचार और प्रसार के क्षेत्र में भी उनका योगदान असाधारण रूप से महत्वपूर्ण है। उनका व्यक्तिगत जीवन चरित्रनिर्माण और सरलता की दिशा में हमारे लिये सदा प्रेरणादायक रहेगा।

राजेन्द्र प्रसाद
राष्ट्रपति
भारत

मैं यह जानकर प्रसन्न हूँ कि आप मालवीय जी-शतवार्षिक समारोह के अवसर पर एक विशेषांक निकाल रहे हैं। मैं इस प्रकाशन की सफलता की कामना करता हूँ।

एस० राधाकृष्णन्
उपराष्ट्रपति
भारत

महामना मालवीय जी से निकट संपर्क का मौका तो मुझे नहीं मिला है। एक ही दफा उनसे मिला हूँ। पर उतने में उनके वात्सल्य की अनुभूति मुझे हुई है। उनके व्यापक वात्सल्य में राय रंक सबका समावेश था। इसी लिये वे 'महामना' कहलाए। उपनिषदों ने तो हम सबको ही आदेश दिया है —

महामनाः स्यात्। तद् व्रतम्।

विनोबा भावे

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि महामना मालवीय जन्मशती समारोह के अवसर पर काशी नागरीप्रचारिणी सभा अपनी पत्रिका का विशेषांक निकाल रही है। सभा और उसकी पत्रिका अपने जीवनकाल से ही नागरी लिपि तथा हिंदी भाषा और साहित्य के प्रसार और प्रचार में निरंतर प्रयत्नशील है। महामना मालवीय जी ने बहुत पहले ही यह अनुभव कर लिया था कि यदि कोई भी भाषा राष्ट्रभाषा होने के योग्य है तो वह हिंदी ही है और वे यह भी मानते थे कि नागरी लिपि का उपयोग भारत की सभी भाषाओं के संवर्धन और उनको एक दूसरे के निकट लाने में सहायक होगा। उन्होंने इस दिशा में जो प्रयत्न किए थे वे सर्वविदित हैं। इस प्रदेश के न्यायालयों में नागरी लिपि को उचित स्थान दिलाने के लिये तीन वर्ष परिश्रम कर अनेक अकाट्य तर्क, प्रमाण और आँकड़े देकर उन्होंने जो पुस्तक तैयार की थी वह अद्वितीय है। वह समय अब दूर नहीं है जब समस्त देश में नागरी लिपि और हिंदी भाषा पूर्णरूप से अपना ली जावेगी और भाषा और लिपि के प्रश्न को लेकर जो स्थिति इस समय देश में है वह समाप्त हो जावेगी। इस स्थिति को शीघ्रातिशीघ्र लाने के लिये सतत प्रयत्न करते रहना ही हम सबका कर्तव्य होना चाहिए।

न० ह० भगवती
कुलपति, का० हिं० वि०

महापुरुष

गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

सांसारिक चक्र के मार्ग के विषय में भारतीय और भारतेतर विचारधाराओं में भेद है। यह भी कहा जा सकता है कि उक्त विषय पर ये दोनों विचारधाराएँ परस्पर विरुद्ध मत रखती हैं। भारतीय वाङ्मय का अध्ययन करने से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि संस्कृतिचक्र के प्रचलन में यहाँ ह्रासवादी दृष्टिकोण रहा है। इस ह्रासवाद का स्पष्टीकरण ही चार युगों के विभाजन में प्रतिफलित हुआ है। इसके विपरीत पाश्चात्य विचारधारा इस विषय में विकासवादी दृष्टिकोण को अपनाती है।

प्रस्तुत लेख में उपर्युक्त विचार को इसलिये सामने रखा गया है कि ह्रासवादी दृष्टिकोण के अनुसार ही महापुरुषों का प्रादुर्भाव और उनका उपयोग अधिक सार्थक हो सकता है। सृष्टि जब विनाश के दरवाजे पर पहुँचकर सर्वनाश की ओर अग्रसर हो जाती है, तभी हम देखते हैं कि कोई महापुरुष आकर उस डगमगाती नौका को अनायास ही किनारे लगा जाता है।

ये महापुरुष ईश्वर की कृपा पर ही निर्भर रहा करते हैं। उसकी कृपा पर ही उनका सर्वस्व सन्निहित रहता है और सुदुस्तर आपत्ति के महासमुद्र में डूबने को समुद्यत असंख्य प्राणियों को अकारण सहृदय भावना से प्रेरित होकर ये महात्मागण ईश्वरीय चरणारविंद की नौका में बिठाकर लीला मात्र से इसके पार पहुँचाने के प्रयत्न में सफल होते हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवत दशमस्कंध की गर्भस्तुति में कहा गया है —

स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन् भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः।
भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते निधाय याताः सदनुग्रहो भवान्॥ २।३१

अर्थात् ये द्युतिमान् जगदीश्वर आपके भक्त महापुरुष इस दुस्तर भयानक संसाररूप महासमुद्र में स्वयं उतरते हैं, क्योंकि उनका प्राणियों के साथ बहुत बड़ा सौहार्द है। जैसे महानदी के तट पर किसी मेले में तैरना न जाननेवाले कुछ पुरुष पैर फिसल जाने से जल में गिरकर डुबक डुबक करने लगते हैं तो तट का रक्षक स्वयं

जल में कूदकर उन्हें किसी नाव का सहारा देकर स्वयं बाहर हो जाता है, इसी प्रकार ये आपके भक्त महापुरुष भी संसारसागर में डूबते हुए और तैरना न जानते हुए अल्पज्ञ पुरुषों के साथ बहुत बड़ा प्रेम रखते हुए भयानक संसारसमुद्र में सौहार्दवश हो अपने आप (बिना किसी कर्म की प्रेरणा के) कूद आते हैं और उस अल्पज्ञ जनता को आपके चरणारविंदरूप नौका का सहारा बताकर अपने आप तो संसार समुद्र से निकल ही जाते हैं, उन्हें रोकनेवाला ही कौन है, ऐसे सत्पुरुष ही आपके अनुग्रहभाजन बनते हैं।

संसार में कर्मबंधन में बँधकर आए हुए प्राणियों से इनका यही भेद रहता है कि कर्मबद्ध प्राणी कर्मभोग की समाप्तिपर्यंत संसार में रहने को विवश किए जाते हैं और जो महापुरुष बिना कर्मबंधन के ही केवल कृपावश संसार में उतरते हैं वे अपना काम पूरा कर बिना किसी रोकटोक के संसार से निकल जाते हैं।

मणिनूपुरों के समान कानों को रसायन सी लगनेवाली वाणी से ये लोग समस्त जनसमुदाय का मन अपनी ओर आकृष्ट करने में सुसिद्ध होते हैं। इनकी सन्निधि मात्र से समस्त दुःख प्रपंच हट जाते हैं और चारों ओर का वातावरण शांत और मंगलमय हो जाता है।

दूसरे गुणों के परमाणुओं को भी अपनाकर उनको पर्वत के समान आत्मा में विकसित करने की क्षमता इनमें होती है। जब ये महापुरुष औचित्य के आधार पर किसी मार्ग का अवलंबन करते हैं तो इन्हें बड़े से बड़े विरोध का भी सामना करना पड़ता है, परंतु इनका तो यह स्वभाव ही है कि ये किसी भी भयंकर से भयकर आपत्ति से विचलित होना तो जानते ही नहीं। चाहे नीतिज्ञ पुरुष इनकी निंदा ही करें, चाहे इन्हें सर्वदा निर्धनता घेरे ही रहे, यहाँ तक कि भले ही मृत्यु का ही आलिंगन क्यों न करना पड़े परंतु इनका आत्मबल इतना दृढ़ होता है कि ये न्याययुक्त मार्ग के समर्थन से पीछे हटना जानते ही नहीं।

पुराकाल में महापुरुषों की पहचान में यौगिक सिद्धियों का दर्शन भी संमिलित होता था। इनके परिवार में स्थित जड़ चेतन सभी इनके अनुकूल आचरण करते थे। कादंबरी में महर्षि जाबालि के प्रभाव का इसी प्रकार का सजीव वर्णन मिलता है कि उनके आश्रम के समीप मानवेतर प्राणी भी पारस्परिक विरोध से उन्मुक्त ही नहीं रहते थे, उनमें एक दूसरे के उपकारिक व्यवहार भी दिखाए गए हैं। धूप से व्याकुल सर्प मयूर के सघन पंखों के अंदर सानंद रहता हुआ गर्मी का समय बिता देता था। मृगशिशु सिंहनी के बच्चों के साथ सिंहनी के स्तन का निःशंक होकर पान करता था। हाथी के बच्चे चाँदनी में बैठे हुए सिंह के बालों को मृणालतंतु समझकर खींचते थे,

परंतु सिंह उनकी ओर विशेष ध्यान नहीं देता था। बूढ़े अंधे तपस्वीगण को वानरगण अपने हाथ के सहारे कुटियों में पहुँचा देते थे। इन सब वर्णनों का यह स्पष्ट प्रयोजन है कि ऋषियों का अपने समीप के वातावरण पर पूर्ण प्रभाव रहता था। ऐसे महापुरुष जब किसी के स्थान पर पहुँचते थे तब उनके आगमन से किसका मन प्रसन्नता के समुद्र में हिलोरें न लेता होगा। देवर्षि नारद जब भगवान् कृष्ण से मिलने गए तो भगवान् की प्रसन्नता का रोचक वर्णन महाकवि माघ ने किया है—

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकासमासत।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसंभवा मुदः ॥१।२३

'प्रलयकाल उपस्थित होने पर भगवान् के जिस शरीर में सारे के सारे लोक बड़े विकास के साथ लीन हो जाते हैं, उसी भगवान के शरीर में नारद के आगमन से समुद्भूत हर्ष नहीं समा सका।' यह भगवान् कृष्ण की लोकमर्यादा दिखाने की लीला थी।

ऐसा ही विलक्षण वर्णन किरातार्जुनीय महाकाव्य में महर्षि वेदव्यास के युधिष्ठिर के समीप आगमन का महाकवि भारवि ने भी किया है।

पांडवों के वनवासकाल में महर्षि वेदव्यास उन्हें उपदेश देने के लिये गए। वे अपने स्निग्ध निरीक्षण से चंचल पक्षियों में भी शांति का संचार कर रहे थे, उनके चारो ओर प्रकाशमान् तेज पापों को भस्म करने में पटु था। युधिष्ठिर ने समझा कि यह वेदव्यास नहीं पुण्यों का समूह ही शरीर धारण कर चला आया है।

भगवान् वेदव्यास विशिष्ट शरीरशोभा धारण किए हुए थे, अपरिचित मनुष्यों में भी उन्हें देखकर हठात् भक्तिभाव का संचार हो ही जाता था। भगवान् व्यास के सन्निधान में अंतःकरण की सौम्यवृत्ति विस्तार प्राप्त कर रही थी, अपने मधुर और विश्वस्त निरीक्षण से मानो वे वार्तालाप सा कर रहे थे। उनके आगमन से अपनी प्रसन्नता का वर्णन भी युधिष्ठिर ने बड़े विनीत भाव से इस प्रकार किया—

अद्य क्रियाः कामदुघाः क्रतूनां सत्याशिषः संप्रति भूमिदेवाः।
आसंसृतेरस्मि जगत्सु जातस्त्वय्यागते यद्बहुमानपात्रम् ॥३।६
श्च्योतन्मयूखेऽपि हिमद्युतौ मे न निर्वृतं निर्वृतिमेऽति चक्षुः।
समुज्झितज्ञातिवियोगखेदन्त्वत्सन्निधावुच्छ्वसतीव चेतः ॥३।८

'आज मुझे यज्ञों का यथार्थ फल मिला है, आज सत्यनिष्ठ ब्राह्मणों के आशीर्वाद सफल हुए हैं क्योंकि आपके शुभागमन से मैं संसार में बहुत बड़े संमान

का पात्र बन गया हूँ। चंद्रिका की वर्षा करनेवाले चंद्रमा को देखकर मेरा जो मन तृप्त नहीं होता है, वह आज आपके दर्शन से तृप्ति का अनुभव कर रहा है। आज अपने बांधवों का वियोग भी मुझे कष्ट नहीं दे रहा है तथा आपके सान्निध्य में किसी अनिर्वचनीय आनंद का उन्मेष मुझमें हो रहा है।'

इस प्रकार के महाकवियों के सजीव वर्णन से उस आनंद की मूर्ति सी सामने आ जाती है, जो कि महापुरुषों के आगमन से योग्य पुरुषों में होता था।

योगसिद्धि की बात तो इस युग में बहुत कठिन है। किंतु यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि स्वनामधन्य महामना श्री मदनमोहन मालवीय जी इस युग के महापुरुष ही थे। उनकी सौम्यमूर्ति देखते ही मनुष्य के चित्त पर एक अद्भुत प्रभाव पड़ता था। मानो वे अविद्याग्रस्त लोकों के उपकारार्थ एक अपनी संस्कृति की रक्षा का प्रतीक काशी हिंदू विश्वविद्यालय स्थापित करने को ही विश्व में अवतीर्ण हुए थे और वह कार्य पूरा कर अपने अभीप्सित स्थान को चले गए। उनकी यह कीर्तिध्वजा संसार में सदा दोधूयमान रहती हुई आगे के पुरुषों को कर्तव्यनिर्देश करती रहेगी।

पं० मदनमोहन मालवीय का पुण्यस्मरण

अंबिकाप्रसाद वाजपेयी

•

गत शती में देश में जो अनेक गण्यमान्य पुरुष उत्पन्न हुए हैं, उनमें पं० मदनमोहन मालवीय का विशिष्ट स्थान था। मालवीय संज्ञा मालवे में बसे उन श्री गौड़ ब्राह्मणों की है, जो वहाँ से उत्तर भारत में चले आए थे। मालवीय जी के पिता पं० ब्रजनाथ चौबे अन्य श्री गौड़ ब्राह्मणों की भाँति प्रयागराज में आ बसे थे। और भी कई मालवीय परिवार इलाहाबाद और लखनऊ में रहने लगे थे। गौड़ ब्राह्मणों का गौड़ बंगाल से कोई संबध न था। उनके जो तीन भेद आदि गौड़, गुर्जर गौड़ और श्री गौड़ हैं, उनमें किसी के बंगाल में कभी रहने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। आदि गौड़ हरियाने और राजस्थान में रहते हैं और गौड़ ब्राह्मण कहाते हैं। गुर्जर गौड़ गुजरात में रहते और श्री गौड़ मालवे में रहने के कारण मालवीय या माल्लई प्रसिद्ध हैं।

पं० मदनमोहन के पिता कथावाचक पंडित थे और उनका आस्पद चौबे था। उन्होंने अपने पुत्र को उस समय के अनुसार अँगरेजी की उच्च शिक्षा दिलाई। इन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी० ए० परीक्षा पास की। उन दिनों उत्तर में कलकत्ते के सिवा कहीं युनिवर्सिटी नहीं थी और आसाम से लेकर पंजाब तक के विद्यार्थी कलकत्ता युनिवर्सिटी की परीक्षाओं में बैठते थे। मालवीय जी ने बी० ए० परीक्षा पास कर कालाकाँकर के ताल्लुकेदार राजा रामपालसिंह के द्वारा संचालित हिंदी दैनिक पत्र 'हिंदोस्थान' का संपादकत्व स्वीकार कर लिया। इन्हीं के आग्रह पर बाबू बालमुकुंद गुप्त उर्दू पत्रकार से हिंदी पत्रकार बन गए और 'हिंदोस्थान' के संपादकीय विभाग में प्रविष्ट हुए। कालांतर में पं० प्रतापनारायण मिश्र और पं० अमृतलाल चक्रवर्ती भी 'हिंदोस्थान' के संपादकीय विभाग में पहुँच गए। मालवीय जी की इच्छा वकालत करने की हुई। इसलिये 'हिंदोस्थान' छोड़कर वे इलाहाबाद चले गए और वहाँ एल-एल० बी० परीक्षा पास कर वकालत करने लगे। उस समय देश में हिंदी की अवस्था बड़ी शोचनीय थी। अँगरेज सरकार ने शासन से फारसी को तो विदा करा दिया, पर उसका स्थान हिंदी के बदले उर्दू को दे दिया था। उर्दू फारसी पढ़े लिखे कुछ लोगों की ही भाषा थी। इसके विरोध में हिंदी के हामियों ने आंदोलन किया और नागरी अक्षरों के प्रचार के लिये जगह जगह नागरीप्रचारिणी सभाएँ स्थापित कीं। परंतु इनका कुछ फल न हुआ। सरकार उर्दू का ही पोषण करती रही।

१८९६ में मालवीय जी को एक उपाय सूझा। उन दिनों पश्चिमोत्तर प्रदेश व अवध को सरकारी लिखा पढ़ी में 'ममालिक मगरबी व शुमाली व अवध' की संज्ञा

दी जाती थी। इसके लेफ्टेनेंट गवर्नर या छोटे लाट एक आइरिश सज्जन सर ऐंटनी पेट्रिक मेकडनेल थे। आयरलैंड भी उन दिनों ब्रिटेन की सरकार के अधीन था। उसकी समस्याओं से भारतीय समस्याओं का कुछ साम्य था। मालवीय जी व्यावहारिक राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने सोचा कि उर्दू को उसके स्थान से हटाने का यत्न करना दीवार से सिर टकराना है। इसलिये उन्होंने लाट साहब को एक स्मरणपत्र दिया, जिस पर कोई ५० हजार लोगों के हस्ताक्षर थे। इस लेखक का भी हस्ताक्षर था। इसमें प्रार्थना की गई थी कि संमन आदि पर उर्दू और हिंदी दोनो लिपियों के फार्म रहते हैं। उर्दू लिपि के फार्म तो भरे जाते हैं, हिंदी या नागरी फार्म खाली पड़े रहते हैं। प्रार्थना है कि वे भी भर दिए जाया करें जिससे उर्दू न पढ़ सकनेवालों की कठिनाइयाँ दूर हो जायँ। यह उपाय फलप्रद हुआ। लाट साहब ने आज्ञा तो दे दी पर उर्दू फारसी के पक्षपातियों ने इसे बेकार कर दिया। वकीलों के हिंदू मुहर्रिर अपना हिंदीप्रेम दिखाते, तो काम कुछ आगे बढ़ता। पर इससे रास्ता खुल गया।

मालवीय जी की अध्यक्षता में ही काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने हिंदी-साहित्य - संमेलन की नींव डाली थी और वह तब से ४० साल लगातार भारत के भिन्न भिन्न भागों में प्रतिवर्ष होता रहा। हिंदी - साहित्य - संमेलन ने बड़ा काम किया। पर हिंदी के दुर्भाग्य से वहाँ भी दलबंदी ने डेरा जमा लिया।

पं० मदनमोहन मालवीय ने जो सबसे बड़ा काम किया, वह हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना थी। इसके लिये उन्होंने दिनरात एक कर डाला। यदि उन्हीं की लगन के और साथी होते, तो आज हिंदू विश्वविद्यालय और हिंदी की बहुत अधिक उन्नति होती। पर ऐसा नहीं हुआ।

मालवीय जी की अभिलाषा थी कि विश्वविद्यालय में हिंदी द्वारा शिक्षा की व्यवस्था हो, पर वाइसराय लार्ड हार्डिंग्ज इसके लिये तैयार न थे। इसलिये मालवीय जी के सामने यह प्रश्न था कि हिंदू विश्वविद्यालय स्थापित किया जाय या नहीं। हमलोगों के आग्रह पर उन्होंने कहा कि हिंदी के लिये हठ करने से विश्वविद्यालय तो स्थापित हो ही गा नहीं; हिंदी का भी कुछ उपकार न होगा। इसलिये विश्वविद्यालय स्थापित हो गया। इससे अखिल भारत के लोगों का हित ही हुआ। हिंदी के हित-शत्रु तो उसके पक्षपाती ही निकले, जिन्होंने हिंदी - साहित्य - संमेलन को पंगु बना दिया।

हिंदू विश्वविद्यालय मालवीय जी का सबसे बड़ा स्मारक है। हिंदुस्तान के मेवों—फूट और बैर—से हमें इसकी रक्षा करनी चाहिए। मालवीय जी के नाम पर हमें अपनी पार्टीबंदी बंद करनी चाहिए।

●

महामना मालवीय जी और श्रीमद्भगवद्गीता

शिवपूजन सहाय

वर्तमान बीसवीं शती की दूसरी और तीसरी दशाब्दी में अपने काशीप्रवास के समय मुझे कई बार हिंदू विश्वविद्यालय के कला महाविद्यालय में एकादशी के दिन पूज्य मालवीय जी के गीताप्रवचन सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। काशी-निवासी 'सुप्रभातम्' - संपादक पंडित केदारनाथ शर्मा सारस्वत के साथ ही वहाँ जाता था। महामना जब व्यासासन पर विराजमान होते थे तब उनके तेजस्वी रूप की कांतिछटा देखते ही बनती थी। ललाट पर चंदनतिलक, रेशमी रामनामी चादर, पुष्पहार आदि से उनका दिव्य रूप साक्षात् वेदव्यास के समान ही जान पड़ता था। एक बार उन्होंने श्रोताओं को बतलाया था कि उनके पुण्यश्लोक पिता भी बड़े अच्छे कथावाचक थे और श्रीमद्भागवत महापुराण के प्रसिद्ध वक्ता भी। अपने पिता के संबंध में संस्मरण सुनाते हुए उन्होंने कहा था कि पिता जी को भागवत का दशम स्कंध प्रायः समग्र कंठस्थ था और रासपंचाध्यायीप्रकरण का सस्वर पाठ करते हुए उनका अश्रुप्रवाह रुकता न था।

महामना मालवीय जी भी कभी कभी भागवत की कथा कहा करते थे। उन्हें भी अधिकांश कथाप्रसंग के श्लोक कंठस्थ थे। पोथी देखे बिना ही वे आनंद-गद्गद्कंठ से श्लोक कहकर उसकी व्याख्या में धाराप्रवाह भाषण करते चले जाते थे। एक एक श्लोक पर उनकी अमृतमयी वाणी जो चमत्कारपूर्ण प्रवचन करती थी वह कर्णपुट को तो पवित्र करती ही थी, हृदय को भी आह्लादित करके तृप्त कर देती थी। जैसे हिमालय से धरातल पर उतरकर 'वसुधाशृंगारहारावली' गंगा का प्रखर प्रवाह समुद्राभिमुख प्रधावित होता है, जान पड़ता था, वैसे ही उनके श्रीमुख से भक्तिरस की अखंड धारा श्रोतृवृंद में फैलकर सबको भक्तिभावना में रसमग्न कर देती थी। वैसी ललित और सरस भगवत्कथा कहीं फिर सुनने में न आई। बीच बीच में सूरदास और नंददास के प्रकरणानुकूल पद भी कहते जाते थे, जिससे कथा की रोचकता और भी बढ़ जाती थी।

लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णचंद्र की बाललीला का दृश्य वर्णन करते समय उनके सजल नेत्रों में भगवद्भक्ति का रस उमड़ता दीख पड़ता था और श्रोता मंत्रमुग्ध होकर उनके भक्तिविह्वल रूप को अनिमेष नयनों से देखते रह जाते थे। उनकी भाषा

और भावाभिव्यंजना में उनकी अनुभूति तथा तल्लीनता से विलक्षण माधुर्य और आकर्षण उत्पन्न हो जाता था। कभी कभी ईश्वरानुराग की गहनता और भगवत्प्रेम की महिमा पर बोलते हुए वे अँगरेजी, फारसी और उर्दू की कविताएँ भी सुनाकर श्रोताओं को आनंदविभोर कर देते थे। उनकी स्मृतिशक्ति कितनी प्रबल थी। उनकी भावुकता कैसी चित्ताकर्षिणी थी। उनकी वाणी की मधुरिमा का तो कहना ही क्या !

प्रवचन की एक बैठक में गीता के दो चार श्लोकों का भाष्य करते करते समय बीत जाता था। व्याख्यान के क्रम में आधुनिक समाज, धर्म और राजनीति के ज्वलंत प्रश्नों पर भी अपने सुचिंतित विचारों को व्यक्त किया करते थे। जिस अध्याय पर भाषण होता था उसके कुछ प्रमुख श्लोकों के अंतर्निहित भावों का मर्मोद्घाटन करके संपूर्ण अध्याय का वास्तविक अभिप्राय समझा देते थे और उस अध्याय में भगवान् ने कौन सा संदेश दिया है यह भी बतला देते थे। उनका मत था कि भगवद्गीता का प्रचार घर घर में होना चाहिए। श्रोताओं को उनका यह सत्परामर्श बराबर मिला करता था कि प्रत्येक गृहस्थपरिवार में नित्य गीतापाठ का नियमित रूप से अभ्यास चलना अत्यावश्यक है।

महामना के प्रवचन और व्याख्यान हिंदू विश्वविद्यालय के अतिरिक्त विशुद्धानंद महाविद्यालय (कलकत्ता) में, त्रिवेणीसंगम पर माघ मेले में, बनारस के टाउनहाल में, दिल्ली की कांग्रेस में और हिंदू महासभा (कलकत्ता) में अनेक बार सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। यहाँ केवल विश्वविद्यालय के गीताप्रवचन में ही, अपनी स्मरणशक्ति के आधार पर, करीब करीब महामना के ही शब्दों में जो आज भी हृत्पटल पर अंकित हैं, कुछ बातें लिखने की चेष्टा कर रहा हूँ —

'भगवद्गीता कर्मयोगशास्त्र तो है ही, भक्तियोगशास्त्र भी है। भगवान् श्रीकृष्ण ने द्वापर युग के अंत के बाद ही आनेवाले कलिकाल के मनुष्यों की प्रकृति और प्रवृत्ति का ध्यान रखकर उनके उद्धार का एकमात्र उपाय भगवदाश्रय ही बतलाया है। भगवद्भक्ति में हार्दिक अनुरक्ति ही गीता की मुख्य शिक्षा है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी गीता के भगवद्वचनों से ही प्रभावित होकर 'रामचरितमानस' में कलियुगी जीवों के निस्तार के लिये केवल ईश्वरभक्ति पर ही विशेष बल दिया। भगवान् ने अपने को उसी के लिये सुलभ बताया है जो सदा उनका स्मरण करता रहता है। इसी कारण भगवन्नामस्मरण पर ही गोस्वामी तुलसीदास ने सर्वापेक्षा अधिक बल दिया है। गीता के बल पर ही गोस्वामी जी ने 'विनयपत्रिका' में लिख दिया है कि जिसने अहर्निश रामनामामृत पान किया उसने तपस्या, यज्ञ, दान आदि सभी शुभ कर्म कर डाले। गीता में भगवान् ने भगवद्भक्त को योगी, तपस्वी, दानी आदि से भी

बड़ा बतलाया है। अतः भगवत्प्राप्ति के सभी साधनों से बढ़कर भगवच्चरणारविंद में आत्मसमर्पण ही है। शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप अथवा यज्ञादि से भगवान् शीघ्र वैसे आकृष्ट नहीं होते जैसे अनन्य प्रेम से। भगवान् ने अपने विश्वरूप-दर्शन का भी एकमात्र उपाय अनन्य भक्ति को ही घोषित किया है। यहाँ तक कि निर्गुण ब्रह्म भी अनन्य भक्ति से ही प्राप्तव्य है। अनन्य उपासक के योगक्षेम का सारा भार भगवान् स्वयं वहन करते हैं। पापजन्मा और पापजीवी भी यदि निश्चित संकल्प के साथ भगवान् की शरण में अपने आपको अर्पित कर देता है तो भगवान् उसका उद्धार कर देते हैं। अतः गीतानुसार भगवद्भजन ही आत्मोद्धार का सर्वोत्तम मार्ग है।'

गीताप्रवचन में महामना विशेषतः ईश्वरभक्ति, ईश्वरप्रार्थना और ईश्वरोपासना पर ही जोर देते थे। गीता का अमर संदेश यही बतलाते थे कि निष्कपट भाव से मनुष्य भगवद्भजन में दत्तचित्त हो रहे। साथ ही उनका यह भी कहना था कि भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करते हुए ही भजन सुमिरन होना चाहिए। जीवदया और लोकोपकार की प्रेरणा से किए हुए सभी कर्म भगवान् को संतुष्ट करते हैं। अतः भक्ति और भजन के बहाने लौकिक कर्मों से उदासीन या विरक्त होना उचित नहीं। फलासक्ति को त्याग कर किए हुए लोकहितकर कार्य भगवान् द्वारा अवश्य पुरस्कृत होते हैं। सच्ची निष्ठा के साथ किया गया कोई कर्म आजतक भगवान् से अपुरस्कृत नहीं रहा। जो कुछ करो धरो, भगवान् को समर्पित करते चलो, यही मानवजीवन की सार्थकता है।

गीता के श्लोकों के एक एक शब्द और वाक्य पर उनकी उक्तियाँ अपूर्व उद्भावनाशक्ति का परिचय देती थीं। जैसे — **'सततं कीर्त्तयन्तो मां'** में जो 'सततं' शब्द है उसके संबंध में उन्होंने बताया था कि इस शब्द का अर्थ 'निरंतर' तो है ही, 'तत' का अर्थ 'वीणा' भी है, अतः वीणामृदंगादि के साथ संकीर्तन करने से भगवान् विशेष प्रसन्न होते हैं, क्योंकि संगीत द्वारा मनुष्य में तल्लीनता आती है और वह अनायास भगवद्भजन में तन्मय हो जाता है। गीता के आरंभ के प्रथम श्लोक में जो 'युयुत्सवः' शब्द है उसका अर्थ योद्धागण तो है ही, उसमें 'युयुत्सु' मल्लविद्या का भी सूचक है; क्योंकि उस युग में सभी वीर पुरुष मल्लविद्या में निपुण होते थे और जापान में मल्लविद्या के लिये जो 'युयुत्सु' शब्द प्रचलित है वह भारतवर्ष की ही देन है, अतः सब लोगों को कसरत करना चाहिए और कसरती शरीर के लिये ब्रह्मचर्यपालन परमावश्यक है तथा ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये विशुद्ध गोदुग्धपान सर्वथा अनिवार्य है। गोरक्षा पर बोलते समय वे रोने लगते थे और महाकवि कालिदास के 'रघुवंश' में वर्णित महाराज दिलीप की गोभक्ति तथा गोसेवा का उपाख्यान कहकर गोपालन की प्रेरणा सबको देते थे।

हिंदू महासभा का विशेषाधिवेशन (कलकत्ता) पंजाबकेसरी लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में हुआ था। मैं 'मतवाला' में उन दिनों काम करता था। लाहौर के उर्दू दैनिक 'वंदेमातरम्' के संपादक लाला रामप्रसाद ने प्रस्ताव उपस्थित किया कि ईश्वर की दी हुई रोशनी और हवा सभी प्राणियों को समान रूप से नसीब है तो फिर ईश्वर की वाणी कहा जानेवाला जो वेद है उससे शूद्रवर्ग क्यों वंचित रहे, अतः जैसे ईश्वरदत्त सभी प्राकृतिक साधन सबके लिये सुलभ हैं वैसे वेद भी शूद्रों के पढ़ने के लिये सुलभ कर दिए जायँ। इस प्रस्ताव का बड़ा ही जोरदार समर्थन स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने किया। दोनो ओजस्वी वक्ताओं के व्याख्यान का जादू सा असर हुआ। सारे पंडाल में सनसनी फैल गई। मतविभाजन की खलबली देख व्याख्यानवाचस्पति पंडित दीनदयालु शर्मा ने महामना मालवीय जी से मँझधार पड़ी नैया का कर्णधार बनने की अपील की। हर्षोल्लासपूर्ण करतलध्वनि के बीच वे मंच पर आकर बोले — 'ईश्वरदत्त सभी विभूतियाँ मानवमात्र को सुलभ हैं सही, पर वायु परमात्मा का श्वास है और प्रकाश परमात्मा की नेत्रज्योति है, इन दोनो से वाणी की महत्ता कहीं अधिक है, इसलिये ईश्वरीय वाणी का प्रसाद ग्रहण करने के लिये मनुष्य में विशिष्ट पात्रता होनी चाहिए। वेद के पठनपाठन के निमित्त घोर संयमशीलता की नितांत आवश्यकता है। वेदवाणी अतिशय गूढ़ और सूत्ररूपिणी है, उसका अध्ययन-मनन वही कर सकता है जो ब्रह्मचारी और तपस्वी हो, सबके लिये वह सुगम नहीं। कलि में ऐसे लोगों का टोटा होने की संभावना समझ भगवान् ने वेदों और उपनिषदों का सारभाग ग्रहण करके 'भगवद्गीता' को सर्वलोकोपकारार्थ प्रकट कर दिया। अतः गीता भी भगवद्-वाणी ही है। वह सबके लिये सुगम है। सभी वर्णों और आश्रमों के लोग उसे पढ़कर वेदशास्त्रों के पढ़ने का पुण्य अर्जित कर सकते हैं। भगवान् ने वैदिक वाङ्मय का विधिवत् मंथन करके जो दिव्य नवनीत निकाला है वह उसमें संचित है। ज्ञानविज्ञान के रहस्य के जिज्ञासुओं के लिये वह बोधगम्य भी है। देश की सभी भाषाओं में उसकी सरल टीका प्रकाशित करके जनता में प्रचारित किया जाय जिससे सब श्रेणी की जनता ईश्वरीय वाणी का अमृत पानकर लाभान्वित हो।' इसके बाद तत्क्षण ही सेठ घनश्यामदास बिड़ला ने उठकर घोषित कर दिया कि मूल और टीका के साथ गीता की लाखों प्रतियाँ छपवाकर नाममात्र मूल्य में सर्वसाधारण के लिये सुलभ कर दी जायँगी। सारा सभामंडप महामना की जयजयकार से गूँज उठा।

महामना के गीतोपदेश यदि लिपिबद्ध हुए होते या 'रेकर्ड' में भरे गए होते तो आज भी सार्वजनिक समारोहों में अमृतवर्षा हो सकती। तब भी उनके प्रवचनों, वक्तव्यों, संदेशों, व्याख्यानों और भाषणों तथा लेखों का संकलन तत्परता से करके प्रकाशित करना चाहिए; क्योंकि वे लोककल्याण के अमोघ साधन हैं और उन्हें साहित्य की अमूल्य निधि मानकर सुरक्षित रखने की आवश्यकता है। उनकी

'सनातनधर्म' नामक पुस्तक भारतीय संस्कृति का सात्विक संदेश सुनाती है और आधुनिक स्वेच्छाचारी युग में उसे सर्वजनसुलभ बनाने की आवश्यकता पदे पदे अनुभूत होती है। मालवीयसाहित्य के संरक्षण से भारत जैसे विशाल राष्ट्र के राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक नवजागरण का इतिहास तैयार हो जायगा।

मालवीय जी महाराज इस युग के महर्षि थे। उनके विना भारतीय संस्कृति आज अनाथा दीख पड़ती है। गोमाता के तो वे सचमुच 'मदनमोहन' थे। दिल्ली कांग्रेस में अध्यक्षपद से अंतिम मौखिक भाषण करते समय स्वागताध्यक्ष हकीम अजमल खाँ के कंधे पर हाथ रखकर गोरक्षा की उपेक्षा पर बिलख बिलख कर रो पड़े। कैसा कारुणिक हृदय था उनका। हिंदीमाता को भी उनका अभाव बहुत खलता है। सरकारी दफ्तरों में नागरीप्रचार के लिये उनका प्रयत्न सर्वविदित है। बंबई में जब वे दूसरी बार अखिल भारतीय हिंदी - साहित्य - संमेलन के अध्यक्ष हुए तो परंपरागत रीति के अनुसार उनके मनोनीत नाम का प्रस्ताव उपस्थित करते हुए पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने ठीक ही कहा था कि 'मद न मोह न' अर्थात् मालवीय जी में मद या मोह नहीं है, निर्विकार महापुरुष हैं। वस्तुतः वह सौम्यमूर्ति दर्शनीय और वंदनीय थी। श्री एंडरूज साहब ने अपने एक संस्मरण में लिखा था 'महात्मा गाँधी के साथ मैं सिमला में टहल रहा था, आगे आगे मालवीय जी और मद्रास उच्चन्यायालय के न्यायाधीश श्री शंकरन् नैयर चल रहे थे। मैंने महात्मा जी से कहा कि आपका असहयोग आंदोलन खूब सफल हुआ। महात्मा जी ने मालवीय जी की ओर छड़ी से इशारा करते हुए कहा कि जब तक इस महापुरुष पर असहयोग का रंग नहीं चढ़ता तब तक चालीस करोड़ भारतवासियों के असहयोगी हो जाने से भी मैं अपनी सफलता नहीं मानूँगा।'

सचमुच हिंदुस्थान के करोड़ों निवासियों के ईश्वरदत्त प्रतिनिधि महामना मालवीय जी थे।

*

महामना : कुछ भावचित्र

लक्ष्मीनारायण मिश्र

•

१९१८ ई० की बात है। शिक्षाक्रम में गाँव के वातावरण से निकलकर मुझे प्रयागनगरी में आना पड़ा था। वर्नाक्युलर मिडिल फाइनल की परीक्षा आजमगढ़ जिले की घोसी तहसील से उत्तीर्ण कर अँगरेजी शिक्षा के श्रीगणेश के लिये प्रयाग के माडर्न हाई स्कूल की छठी विशेष कक्षा में मेरा नाम लिखा गया। एक वर्ष इस विद्यालय में बीता पर इसी अवधि में काशी हिंदू विश्वविद्यालय और उसके संस्थापक प्रातःस्मरणीय महामना मालवीय की विभूतिसंबंधी जो बातें कान में पड़ीं, उनसे मन कुछ ऐसा मोह गया कि दूसरे ही वर्ष प्रयाग छोड़कर मैं काशी पहुँच गया और कमच्छा स्थित सेंट्रल हिंदू स्कूल की सातवीं कक्षा का छात्र बना। श्री पंडित कमलापति त्रिपाठी, डाक्टर जगन्नाथप्रसाद शर्मा, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' सरीखे अन्य कई किशोर मेरे सहपाठी बने। इस विद्यालय से लेकर काशी हिंदू विश्वविद्यालय तक दस वर्ष का जीवन जिस पवित्र और उत्कर्षपूर्ण वातावरण में बीता वह वातावरण उसके बाद फिर नहीं मिला। इस अवधि में महामना पंडित मदनमोहन मालवीय को विभिन्न परिस्थितियों में और उनसे उद्भूत विभिन्न भावों के भोग उठाते हुए देखने का लाभ मुझे बार बार मिला था और जब कभी उनका स्मरण मुझे हो आता है मालवीय जी का सात्विक स्वरूप मेरी आँखों के सामने झलक जाता है। मन में जितना उठता है वह सब व्यक्त करने में यदि मेरे निर्बल शब्द समर्थ हो पाते तब तो मैं सिद्ध कवि बन जाता।

उस समय उनके निकट पहुँचने पर मैं विस्मय से अभिभूत होकर अपनी सुधि बुधि भूल बैठता था। न ऐसी शक्ति कभी आई और न कभी यह साहस हुआ कि उनके व्यक्तित्व के विवेचन की इच्छा भी करूँ। वे मेरे लिये उस समय जैसी विभूति थे वैसी ही आज भी हैं। पश्चिमी लोक में व्यक्ति की जैसी धारणा है उस परिधि के भीतर उन्हें घेरना संभव न हो सकेगा। अपनी सामान्य बुद्धि की बात क्या कहूँ, असाधारण बुद्धि के मनस्वी पुरुष भी जब उनके सामने आए, उनके मन की वही दशा हुई जो चित्रकूट में भरत की भक्ति से महर्षि वशिष्ठ के मन की हुई थी, जिसे गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी सिद्धकविशक्ति से इस चौपाई में व्यक्त किया है—

भरत महा महिमा जलरासी। मुनि मति तीर ठाढ़ि अबला सी।

यह चौपाई इस युग में यदि किसी महापुरुष पर घटित हो सकती है तो अकेले महामना पर। पश्चिमी शिक्षा और संस्कृति के प्रभाव में यदि हम अत्यधिक संदेह और तर्कवादी न बन गए होते, हमारी जातीय श्रद्धा और निष्ठा यदि अब भी हमारी एक एक साँस से निकलती होती या हमारे जीवन की संजीवनी होती तब तो जिस प्रकार हमारी जाति ने शंकराचार्य की विभूति में उन्हें भगवान् शंकर का, कुमारिल भट्ट को स्वामि कार्तिक का, मंडन मिश्र को ब्रह्मा का, अभिनवगुप्त पादाचार्य को शेषनाग का और गोस्वामी तुलसीदास को वाल्मीकि का अवतार बना दिया उसी प्रकार विद्या और विधान के मार्गदर्शक मदनमोहन मालवीय को हमने महर्षि वशिष्ठ का अवतार बना दिया होता। यह देश कभी भी व्यक्ति का पूजक नहीं रहा। जिस देही से अलौकिक कार्य हुए, जिससे लोकजीवन को गति मिली उसका व्यक्तित्व पहले मिटाया गया और उसे अवतारी बनाकर उसका यशगान किया गया। वशिष्ठ ने जिस प्रकार इंद्रियविजय और सर्वस्वत्याग के बल से वशिष्ठ नाम ग्रहण किया था, उसी प्रकार मालवीय जी सब ओर से इंद्रियविजय और त्यागबुद्धि में जीवन भर संतुष्ट रहे। उनके दर्शनमात्र से जैसे इस देश की समूची प्राप्ति के दर्शन हो जाते थे। श्रुति, स्मृति, पुराण, काव्य, कला, साहित्य उनके भीतर जैसे मूर्त हो उठे थे और उनका सच्चा नाता ऋग्वेद से लेकर श्रीमद्भागवत तक था। पश्चिमी प्रभाव के पूर्व इस देश का जो कुछ धन था सबका सब उनके भीतर समाया पड़ा था। **कविर्मनिषी परिभूः स्वयंभूः** मे परमपुरुष का कविधर्म महामना के भीतर जीवन भर चलता रहा। काशी हिंदू विश्वविद्यालय और उसके साथ विद्या और कला के सभी स्वरूप जो चले और इस देश के भाग्य से चलते रहेंगे वे उनके कविकर्म के ध्यज बने रहेंगे जो काल के महासिंधु में कभी और कहीं से देखे जा सकेंगे। हमारी परंपरा में कवि व्यक्ति नहीं सदैव विधाता रहा है, इस अर्थ में वे हमारे इस युग के विधाता तो रहे ही भविष्य के विधाता भी रहेंगे। मदनमोहन मालवीय नाम के व्यक्ति की जन्मशती यह नहीं है उस विधाता की जन्मशती है जो उनके कलेवर में अवतरित हुआ था।

अछूतोद्धार का कार्य उन्होंने किया, पर उसमें भी श्रुति का सूत्र नहीं टूटा। काशी में गंगातट पर उन्होंने अछूतों को मंत्र दिया। संदेहवादी उनके इस कर्म को चाहे जैसा समझें पर इतना निश्चित है कि पतितपावनी भगवती गंगा उनके लिये भी पतितपावनी थी और मंत्र की शक्ति उनके लिये भी वही थी जो गोस्वामी तुलसीदास के लिये थी —

मंत्र परम लघु जासु बस बिधि हरि हर सुर सर्ब।
महामत्त गजराज कहँ बस कर अंकुस खर्ब॥

जिस काल में यह देश पश्चिमी संस्कार और वेशभूषा में आँख मूँदकर ढला जा रहा था, विद्या और प्रभाव की कसौटी पश्चिमी वस्त्र और आहारविहार हो

गया था, उसी युग में इस कर्मयोगी ने पूर्वजों की परंपरा को अक्षुण्ण रखा। सिर पर श्वेत पगड़ी, ललाट पर श्वेत चंदन, कंठ में श्वेत उत्तरीय जो कंठ को घेर कर दोनो ओर घुटने तक लटकता था, श्वेत अचकन और नीचे श्वेत ही परिधान जैसे यह सब भगवती सरस्वती के श्वेत स्वरूप और आसन का प्रसाद रहा हो या सतोगुण और शांत रस ने उनके रूप में शरीर धर लिया हो। ऐसी थी आकृति और वेशभूषा उस कालजयी कवि की जो किसी के अनुकरण पर नहीं, अपने मन की वृत्ति पर विकसित हुई थी। कहने का अर्थ यह नहीं कि वे केवल सतोगुणी थे। केवल सतोगुणी होने का अर्थ होता है जगत् और जीवन से विरक्त होकर संन्यास या वनवास। ऐसा नहीं हुआ, इसलिये कि उनके मन में अंत समय में भी मोक्ष की कामना नहीं आई। एक बार और जन्म लेकर काशी हिंदू विश्वविद्यालय और अपने लोक की सेवा की उन्हें कामना थी। हमारा जातीय विश्वास **काश्यां मरणान्मुक्तिः** उनके भीतर अंत समय में भी अडिग था और उनको इस बात की चिंता थी कि कहीं काशी में मरने से मुक्ति न हो जाय। इसलिये उन्होंने पुनर्जन्म की कामना की कि आगे भी उन्हें कर्मयोगी का जीवन मिले। भक्त मुक्ति की कामना नहीं करते, बार बार जन्म लेकर भक्ति की ही कामना करते हैं। भक्ति कर्म का शुद्धतम रूप है, इसे वे जानते थे।

मेरी आँखों ने उनके धीर गंभीर निर्विकार सतोगुणी रूप को अधिक देखा पर रजोगुणी और तमोगुणी रूप भी कभी कभी देखने को मिल गए थे। सात्त्विक क्रोध में आँखों का लाल होकर नाचने लगना और हँसी में जैसे जूही के फूलों का झड़ना भी मैं देख चुका हूँ। उनके अधिक निकट संपर्क में आने का अवसर तो मुझे भाग्य ने नहीं दिया। अपनी हीनता का बोध, संकोची स्वभाव, महत्वाकांक्षा का अभाव इसमें बाधक बने नहीं तो उनका द्वार सबके लिये खुला था। 'अंतर्जगत' संवत् १९८१ वि० में प्रकाशित हो चुका था और इतना वे जान चुके थे कि उनके विश्वविद्यालय का यह विद्यार्थी कवि बन रहा है। जब कभी सामने जा पड़ता हँसकर पूछते 'कहो कुछ पढ़ाई भी हो रही है कि अब पूरे कवि बन गए?' उनकी आँखों में सीधे देखने में तो मेरे नीचे की धरती खिसक जाती थी, आँखें झुक जाती थीं और देह काँपने लगती थी जिसे सँभालने में मनोयोग का सहारा लेना पड़ता था। ऐसी ही स्थिति में दो बार उनका दायाँ हाथ मेरे सिर पर आ गया था जिसका अनुभव मुझे इस क्षण भी हो रहा है और शरीर में वही सिहरन डोल रही है। कला विद्यालय के प्रधान उन दिनों आचार्य आनंदशंकर बापू भाई ध्रुव थे। कला विद्यालय के विशाल कक्ष में पश्चिमी दर्शन और धर्म के प्रकांड विद्वान् डाक्टर कजिंस का भाषण हो रहा था। विद्यार्थियों से हाल खचाखच भरा था। ऊपर भी छात्राएँ सब ओर खड़ी थीं। वक्ता और मंच के ऊपर बैठे सज्जनों को देख

रही थीं। पहली पंक्ति में वक्ता के साथ आचार्य ध्रुव और महामना बैठे थे। वक्ता के भाषण के अंत में ध्रुव जी धन्यवाद देने उठे और उसी प्रसंग में जब उन्होंने यह कह दिया कि 'जिन दिनों यूनानी सभ्यता, दर्शन, साहित्य, कलाकौशल, धर्म और स्थापत्य अपने चरमोत्कर्ष पर थे उन दिनों भी यूनान में चोर को दंड इसलिये नहीं दिया जाता था कि उसने चोरी की बल्कि इसलिये कि उसने कलात्मक ढंग से चोरी नहीं की और पकड़ लिया गया। वहाँ चोरी करना अपराध नहीं था, पकड़ा जाना ही अपराध था। पर इस देश में तो शंख और लिखित नाम के दो विद्वान् ब्राह्मण किसी पेड़ से चूकर जल में बहते हुए फल को खा तो गए पर पचा नहीं सके। उनके भीतर इस बात की ग्लानि पैदा हुई कि पता नहीं किसका फल बिना उसके स्वामी से पाए उपभोग कर वे पाप के भागी बन गए। इस ग्लानि में दोनो ने जाकर राजा से अपने अपराध का निवेदन किया और दंड देने के लिये आग्रह भी। राजा ने कहा — विद्वान् ब्राह्मणों को दंड देने का अधिकार शास्त्र ने मुझे नहीं दिया है। इस पर राजसभा में ही दोनो ने अपने हाथ का कुछ भाग स्वयं काट दिया और राजसभा से चले गए। यह अंतर है पश्चिमी और भारतीय आचारविधान का। इस तरह के और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं। विद्वान् वक्ता ने पश्चिमी दर्शन, धर्म और आचारशास्त्र का परिचय हमें दिया इसके लिये हम कृतज्ञ हैं। आशा है कि भविष्य में वे पश्चिमी और भारतीय आचारदर्शन को व्यवहार की इस कसौटी पर भी कसकर देखेंगे।' डाक्टर कजिंस अपने भाषण में पश्चिमी आचारदर्शन की बड़ी ऊँची ऊँची बातें कह गए थे। उनकी मुद्रा, भावभंगी, शब्दों और वाक्यों पर विशेष आग्रह उत्पन्न करने की क्रिया से महामना जो गंभीर और चिंताशील हो उठे थे सूर्य की किरणों से सहस्रदल कमल से खिल उठे। अंग अंग और रोम रोम से जैसे सुख, संतोष, तृप्ति और आनंद की किरणें निकलकर उस विशाल कक्ष को सब ओर से उन्हीं के प्रीतिकर भाव से भरने लगीं। दूसरी ओर डाक्टर कजिंस पर जैसे घड़ों पानी पड़ गया, उनकी आकृति धूमिल हो गई। आँखें धरती देखने लगीं। ध्रुव जी नितांत गंभीर और अनासक्त बनने की चेष्टा में भी कई बार मुस्करा पड़े। समस्त श्रोता मुग्ध हो गए।

डाक्टर कजिंस को आदर के साथ उनकी कार तक पहुँचाने हमारे दूसरे आचार्य गए। महामना थोड़ी देर तक ध्रुव जी का हाथ पकड़े जैसे किसी चरम तुष्टि में रमे रहे। छात्र प्रायः सब चले गए थे। पश्चिम के बरामदे में मैं भी निकल आया पर इन दो यशस्वी महापुरुषों का चुपचाप बैठे रहना मेरे विस्मय और उत्सुकता का कारण बन गया। तीन बार द्वार के भीतर सिर डालकर मैंने झाँककर देखा। तब तक जैसे ध्रुव जी के सहारे महामना उठे। पीछे हटते हटते भी आचार्य ध्रुव की दृष्टि मुझ पर पड़ गई और वे प्रधानाचार्य के अधिकारस्वर में मुझसे पूछ बैठे 'क्या चाहते हो?'

महामना मेरे संकट को समझ गए और हँसकर बोल पड़े 'अपने आचार्य के भाषण से इस कवि का मन रँग गया है, उसका आकर्षण इसे छोड़ नहीं रहा है।' मुझे तो यही लगा कि अथाह जल में डूबते हुए को शिखा पकड़कर किसी प्राणदाता ने ऊपर उठा लिया। महामना बाएँ हाथ में छाता लिए थे। दाएँ हाथ से ध्रुव जी का बायाँ हाथ पकड़े हुए जैसे उन्हीं के सहारे चल रहे थे। उनके हृदय का आनंद जैसे अब उनके सहे सहा नहीं जा रहा था और उनके लिये ध्रुव जी का सहारा आवश्यक हो गया था। 'यह लिए रहो' कहकर छाता उन्होंने मेरी ओर बढ़ा दिया। दोनो हाथ से उसे मैंने अपने ललाट से टिका दिया। इस पर महामना की हँसी जो फूट निकली वह मेरे भावलोक को अब तक धन्य करती रही है।

मैं बरामदे से आगे बढ़कर चबूतरे पर खड़ा हो गया। महामना ध्रुव जी का हाथ पकड़े नीचे सीढ़ियाँ उतरकर हरी दूब की धरती पर धीरे धीरे चलते हुए कजिंस के भाषण और आचार्य ध्रुव की आलोचना की बातें करते रहे। बीच बीच में उनकी हँसी जैसे दिगंत को अमृत के रस में बोरती रही। छाता मेरे हाथ में ऐसा फूल सा हल्का लगा कि मैं उसे खोलकर देखने का मोह न रोक सका। उसी क्षण मन में यह बात बैठ गई कि ऐसा ही छाता मुझे जीवनभर रखना है। कमानी पोली इकहरी थी और एक जगह कमानी पर 'जर्मनी का बना' अँगरेजी में लिखा था। छाता खोले ही मेरी दृष्टि पितातुल्य दोनो सज्जनों पर पड़ी। महामना का सिर ध्रुव जी के कंधे पर टिका था और ध्रुव जी जैसे सिमटे जा रहे थे। महामना के चित्त की भावविभोर स्थिति तब तो ठीक से समझ में न आई पर अब ज्यों ज्यों दिन बीतते गए हैं उस परिस्थिति का मर्म मेरे मर्म का अंश बनता गया है। विदेशी दासता के नीचे महामना का देश उन दिनों था। विदेशी विद्वान् अपने दर्शन, धर्म और आचार का शंखनाद करने महामना के विश्वविद्यालय में आया था। आचार्य ध्रुव की कुल पाँच मिनट की आलोचना ने उसके गर्व के पर्वत को गिरा दिया था। उसकी जातीय प्रभुता का समुद्र जैसे सूख गया था। विजित जाति के अतीत गौरव के प्रकाश में उसकी आँखें ऐसे चकाचौंध में पड़ गई थीं कि उसे कहीं कुछ सूझता ही नहीं था। कला विद्यालय के विशाल कक्ष में यह पश्चिमी दर्शन, धर्म और आचार की पराजय थी। जातीय संस्कृति का यह विजयपर्व महामना के रोम रोम को पुलकित कर गया था। अपने विजेताओं की हीनता वे देख चुके थे और उसके फलस्वरूप न जाने कितने सात्विक भावों का उदय उनके हृदय में हुआ था जिसकी अभिव्यक्ति उस क्षण के उनके कार्यकलाप में लक्षित हुई। दूसरे ही दिन वाराणसी के चौक में उसी तरह का छाता मैंने मोल लिया। सन् ४६ के बाद से जब उस तरह की कमानी का छाता आना इस देश में बंद हो गया मेरे फुफेरे भाई श्री रामाव्रत तिवारी हर तीसरे वर्ष रंगून से लाकर वैसा ही छाता मुझे देते चले जा रहे हैं। बब उनका रहना

रंगून में न होगा और मेरी आयु अभी चलती रहेगी तब उस दिन का संकल्प न निभ सकेगा।

महामना पूर्णपुरुष थे। साहित्यशास्त्र में अथवा पतंजलि के योगसूत्र में जिन मूल भावों के बल पर हमारी काया और हमारे कर्मों के चलते रहने की बात कही गई है उनके भीतर ये सभी मूल भाव अपने चरमोत्कर्ष में परिस्थितिविशेष के अनुसार जिस अंश तक प्राणवान् रहे उस अंश तक उनके समकालीन किसी दूसरे पुरुष में रहे होंगे इसमें मुझे संदेह है। उनके हृदय में भाव की लहरें कितनी सरलता से उठ आया करती थीं इस प्रसंग के कितने ही दृश्य मेरे मन की आँखों पर आज भी उतर रहे हैं — जिनके आधार पर छोटा मोटा ग्रंथ लिखा जा सकता है। पर वह तो सरस्वती की कृपा और मेरे भाग्य पर निर्भर है। २८ वर्ष पूर्व आरंभ किया हुआ महाकाव्य अभी भी अधूरा है। एक प्रसंग और कहे बिना मन नहीं मानता।

कला विद्यालय के उसी विशाल कक्ष में देवोत्थान एकादशी के अवसर पर गायनाचार्य पं० शिवप्रसाद तिवारी के संगीत का कार्यक्रम था। कुछ इन गिने छात्र और थोड़े अध्यापकों के साथ महामना भी उपस्थित थे। पगड़ी छोड़कर शेष वस्त्र वही थे। ऊपर से श्वेत शाल पड़ा था। पंडित शिवप्रसाद तिवारी थोड़ी देर तक हारमोनियम के सुर मिलाते रहे, तबला बजानेवाला कभी कभी तबले पर थाप दे दिया करता था। विनयपत्रिका का पद गायनाचार्य ने उठाया —

ऐसो को उदार जग माहीं
बिनु सेवा जो द्रवै, दीन पर रामसरिस कोउ नाहीं।

गायनाचार्य आरोह, अवरोह, सम और मींड़ आदि के साथ पूरे पद को यथावसर दुहराकर गाते रहे। उपस्थित मंडली में सबसे अधिक प्रभाव इस पद का महामना मालवीय पर पड़ा। इस प्रभाव का रंग, स्वाद और अनुभव जिस क्रम से उनके मन में गहरा होता गया, उनकी काया — ललाट, भौं, आँख, नाक, कपोल, और अधर – पर जैसे उस प्रभाव का रासनृत्य होने लगा। देखते ही देखते उनकी दोनो आँखों से जैसे मोती की लड़ियाँ चल पड़ीं। यह दशा यहाँ तक गहन गंभीर हो गई कि तीन बार वे सिसक पड़े। यह दृश्य देवताओं को भी विस्मित करता। जिन्होंने देखा उनमें जो सहृदय रहे होंगे, वे किसी ऐसे दिव्यलोक में पहुँच गए होंगे जहाँ न जरा का भय है और न मरण का। ऐसे थे भावप्रवण महामना मालवीय। दार्शनिक और विचारक इस एक प्रसंग पर बहुत कुछ कह सकेंगे। मुझे इतना ही कहना है कि इस पद से महामना का आनंद में भरकर इस प्रकार अपनी सुधि बुधि खोकर रोने लगना उनके व्यक्ति की परिधि के नहीं उनकी विभूति की परिधि के दर्शन कराती है।

महामना श्रीमद्भागवत का अध्ययन श्रद्धा से करते थे – जिसके माहात्म्य में ही कहा है —

निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्, शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥

रस के आलय श्रीमद्भागवत से रस लेकर महामना का हृदय भी रस का आलय हो गया था।

सन् १९२९ ई० में काशी हिंदू विश्वविद्यालय का वातावरण मुझसे छूट गया। महमना के दर्शन का अवसर भी फिर बहुत कम मिला। सन् १९४२ में विश्वविद्यालय की रजतजयंती मनाई गई। पता नहीं कैसे मुझे भी निमंत्रणपत्र मिल गया। मृत्युंजय गाँधी उस अवसर के प्रधान वक्ता थे। महामना के साथ जब वे मंच पर आए अपार जनसमूह ने कंठ और करतल की तुमुल ध्वनि की। कितने ही राजा, सेठ, और उच्च अधिकारी उसी मंच पर पहले ही से आसीन थे। महात्मा गाँधी का भाषण आरंभ हुआ। अँगरेजी माध्यम से शिक्षा देने के लिये उन्होंने विश्वविद्यालय की कठोर आलोचना की। कुछ शब्द मुझे अभी भी स्मरण हैं — 'जब मैं इस विश्वविद्यालय के फाटक पर पहुंचा तो मैंने देखा फाटक के ऊपर तीन चौथाई जगह घेरकर बड़े बड़े अँगरेजी अक्षरों में लिखा है 'बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी और नीचे एक चौथाई जगह में छोटे नागरी अक्षरों में लिखा है 'काशी हिंदू विश्वविद्यालय' मैं नहीं समझता सात समुंदर पार की अँगरेजी का इतना अधिकार यहाँ कैसे हो गया ? किसी बाहरी भाषा को देना ही था तो अपने किसी पड़ोसी मुल्क की भाषा रही होती' आदि आदि। गाँधी जी अपने निर्भीक, कठोर आलोचना के शब्द बोलते चले जा रहे थे और महामना के मुख पर शरद की चाँदनी सी हँसी खिलती जा रही थी। अँगरेजी साम्राज्य के भीतर अँगरेजी की उपेक्षा कर कोई विश्वविद्यालय कैसे चल सकता था ? गाँधी जी ने अपने निर्भीक भाषण में इसका विचार नहीं किया, पर महामना इस विषय के व्यावहारिक पक्ष को सोचते जाते थे और मुस्कराते जाते थे। गाँधी जी महामना को अपना बड़ा भाई कहते थे। महामना ने अनुज के प्रति अग्रज के धर्म का निर्वाह सभी संकट के अवसरों पर किया। विश्वविद्यालय में पढ़ने के दिनों में अनेक बातें मुझे सुनने को मिलीं जिनसे पता चला कि संकट की किस परिस्थिति में महामना ने गाँधी जी की किस प्रकार की सहायता की; ब्रिटेन के सम्राट के प्रतिनिधि किस वाइसराय से किस अवसर पर गाँधी जी के पक्ष की बात कहकर अँगरेजी शासन को उनके प्रति उदार बनाए रखने का प्रयत्न किया। गाँधी जी की सिद्धियों में महामना का सहयोग कितना प्रतिफलित हुआ है इसे हमारे कर्णधार प्रायः भूल से गए। सत्य को भुला देना, भगवान् को भुला देना है।

महामना पंडित मदनमोहन मालवीय के कंठ में भगवती सरस्वती का निवास था। उनके भाषणों का प्रभाव इतना व्यापक होता था कि श्रोतामंडली झूमने लगती थी। मातृभूमि का प्रेम उनके मन में पश्चिमी राष्ट्रीयता जैसा केवल भौतिक ही नहीं था अपितु आध्यात्मिक था। भारतजननी और भगवती पार्वती में उनके समक्ष कोई भेद नहीं था। कांग्रेस के अध्यक्ष तीन बार रहकर भी कांग्रेस को देशसेवा का एक माध्यम भर मानते थे। जन्मभूमि उनके लिये कांग्रेस से बड़ी थी। अनुगमन करना उन्हें कभी आया नहीं। जब तक जीवित रहे सदैव अग्रगामी रहे। गंगाजल, अपना रसोई बनानेवाला बहुत कुछ खाद्य सामग्री साथ लेकर वे विलायत गए। बहुतों को यह उनकी रूढ़िवादिता लगेगी पर उस महापुरुष का यही बल था। पूर्वजों की परंपरा और रूढ़ियों को जो जाति छोड़ देती है वह अपने मूल से उखड़कर मिट जाती है। इस सत्य को वे जानते थे। इसी लिये प्राणपण से इसकी रक्षा करते रहे।

कर चुके खिदमत बहुत कुछ कौम की।
देखिए होते हैं कब 'सर' मालवी॥

इकबाल ने इस शेर में महामना पर व्यंग्य कसकर अपने मन की हीन भावना को ही व्यक्त किया। इस शेर में 'सर' शब्द श्लेष में प्रयुक्त है जिसका अर्थ है सर होना, दब जाना या इंगलैंड के सम्राट से 'सर' की संमानित उपाधि पाना। सूर्य पर जैसे कोई व्यंग्य कर सृष्टि के जीवनस्वरूप उन भगवान् का कुछ बना बिगाड़ नहीं सकता उसी प्रकार महामना पर किसी व्यंग्य का प्रभाव संभव नहीं था। 'सर' का खिताब इकबाल जैसे लोगों के लिये ही था जिनकी न कोई परंपरा थी न जिनकी संस्कृति का ही कोई उन्नत इतिहास था। जिनके भीतर व्यक्तित्व से उपजा राग और द्वेष था उन्हें ही ऐसे खिताबों से जीवित रहने का बल मिलता। महामना एक ही साथ मनु और वशिष्ठ के, विष्णुगुप्त और शंकराचार्य के प्रतिनिधि थे। श्रुति, स्मृति, भारतीय विद्या और विधान का भार जिन्हें ढोना था वे विदेशी शासक के खिताब का भार क्यों ढोते। राजर्षि जनक का कथन महामना पर सब ओर से चरितार्थ होता है—

नाहमात्मार्थमिच्छामि मनोनित्यं मनोन्तरे।
मनो मे निर्जितं तस्मात् वशे तिष्ठति सर्वदा॥

काल के अपार पारावार में जिसके यश की पताका सदैव फहराती रहेगी और भावी पीढ़ी को सदैव मार्गदर्शन देती रहेगी उस यशःकाय महामना को हम प्रणाम करें और विश्वास करें कि हमारी भावी भारती प्रजा के 'ध्रुवतारा' वे तब तक बने रहेंगे जब तक कितने ही दूसरे नक्षत्र टूटकर लुप्त हो चुके रहेंगे।

*

विश्वविद्यालयों में हिंदी पठनपाठन का प्रारंभ

धीरेंद्र वर्मा

लगभग १९२० ई० तक अपने देश में भारतीय भाषाओं का अध्ययन अध्यापन केवल हाई स्कूल तक होता था। ये भाषाएँ इस योग्य नहीं समझी जाती थीं कि इन्हें विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाय। यह बहुत कम लोग जानते हैं कि सर आशुतोष मुकर्जी के साहस, दूरदर्शिता और देशप्रेम के फलस्वरूप कलकत्ता विश्वविद्यालय में पहले पहल प्रायः समस्त प्रमुख भारतीय भाषाओं को स्नातकोत्तर परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में संमिलित किया गया और इनमें हिंदी भी थी।

हिंदी एम० ए० का पाठ्यक्रम सर आशुतोष ने अवधवासी लाला सीताराम से बनवाया था और उन्हीं से उन्होंने भिन्न भिन्न प्रश्नपत्रों के लिये संग्रह भी तैयार करवाए थे। इस कार्य के लिये वे लालाजी से मिलने स्वयं इलाहाबाद आए थे। लालाजी ने अपने मकान का वह कमरा बड़े गौरव के साथ मुझे एकबार दिखाया था जिसमें सर आशुतोष ठहरे थे और उसमें वह मसहरी तब भी पड़ी थी जिसपर आशुतोष सोए थे। इस प्रकार विश्वविद्यालयों मे हिंदी पठनपाठन का प्रारंभ लाला सीताराम के करकमलों से हुआ था।

प्रयाग विश्वविद्यालय की कमेटियों में लालाजी के साथ कार्य करने का मुझे कई वर्ष तक अनुभव हुआ था। वृद्धावस्था में भी उनके हृदय में युवकों के समान हिंदी के प्रति अनुराग और उत्साह था। उनको इस बात का दुःख था कि हिंदीसंसार ने उनकी प्रारंभिक साहित्यिक सेवा का ठीक मूल्यांकन नहीं किया। हिंदी पाठ्यसमिति की प्रायः प्रत्येक बैठक में वे एक न एक अपनी कृति ले आते थे, इस आशा से कि उसे पाठ्यक्रम में कहीं न कहीं स्थान दिया जाय। किंतु पाठ्यक्रम में उसके संमिलित न होने से उन्हें निराशा या शिकायत नहीं होती थी। उनको यही दुःख होता था कि हिंदी के विद्यार्थी एक महत्वपूर्ण ग्रंथ के अध्ययन से वंचित रहेंगे।

कलकत्ता विश्वविद्यालय ने हिंदी को एम० ए० के पाठ्यक्रम में तो स्थान दिया किंतु उसके अध्यापन की कोई व्यवस्था नहीं की। बरसों तक कोई भी विद्यार्थी इस परीक्षा में संमिलित नहीं हुआ था। श्री नलिनीमोहन सान्याल ने, जिन्हें हिंदी से विशेष अनुराग था और जिन्होंने भाषाविज्ञान आदि कई पुस्तकें हिंदी में लिखी

थीं, सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण करने के उपरांत कलकत्ता विश्वविद्यालय से पहले पहल हिंदी में एम० ए० परीक्षा पास की।

विश्वविद्यालय के स्तर पर हिंदी अध्ययन अध्यापन का प्रबंध करने का श्रेय **महामना मालवीय जी को है जिनकी प्रेरणा से १६२२ के लगभग हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदीविभाग खुला।** इसका संचालन उन्होंने श्री श्यामसुंदरदास जी के सपुर्द किया। उस समय इस कार्य के लिये कदाचित् इनसे अधिक उपयुक्त व्यक्ति नहीं चुना जा सकता था। बाबूसाहब की लगन, उत्साह तथा प्रबंधपटुता असाधारण थी। नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना तथा सेवा के द्वारा हिंदीसंसार में उनकी विशेष प्रतिष्ठा और मान आदर था। उपयुक्त व्यक्तियों को अपने चारो ओर एकत्र करना तथा उनसे उनकी योग्यता के अनुसार काम लेने का विशेष गुण बाबूसाहब में था। शीघ्र हिंदू यूनिवर्सिटी का हिंदीविभाग हिंदी अध्ययन अध्यापन का प्रमुख केंद्र बन गया। उस समय विभाग में पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, पं० रामचंद्र शुक्ल, लाला भगवानदीन जैसे लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् थे।

बाबू श्यामसुंदरदास जी का ध्यान प्रारंभ से एम० ए० के स्तर की उपयुक्त पाठ्यपुस्तकों की आवश्यकता की ओर गया। उनके उद्योग के फलस्वरूप एक दो वर्ष के अंदर ही साहित्यालोचन, भाषाविज्ञान, रूपकरहस्य, हिंदीसाहित्य का इतिहास जैसे ग्रंथ प्रकाशित हुए, जिनसे विद्यार्थियों की प्रारंभिक आवश्यकताओं की बहुत कुछ पूर्ति हुई।

बाबूसाहब की कार्यशैली अत्यंत व्यावहारिक थी। हिंदी भाषा पर एक ग्रंथ लिखने का काम उन्होंने मेरे सपुर्द किया था। यह कदाचित् १६२३ की बात है। मेरे स्वीकृतिपत्र के पहुँचने के १०-१५ दिन बाद ही 'आवश्यक' लिखा हुआ उनका पत्र पहुँचा कि पहला अध्याय भेज दो जिससे कि उसे कंपोज होने के लिये प्रेस भेजा जा सके और प्रति सप्ताह एक एक अध्याय भेजते जाओ। मैंने तब तक सामग्री जुटाकर ग्रंथ की रूपरेखा भी नहीं बना पाई थी। अतः मैंने उन्हें क्षमायाचना का एक लंबा पत्र लिखा कि इस तेज रफ्तार से चल सकना मेरे जैसे अनुभवहीन व्यक्ति के लिये संभव नहीं होगा। इसके उत्तर में हिम्मत बँधानेवाला तथा उत्साह दिलानेवाला उनका एक सहानुभूतिपूर्ण पत्र आया। किंतु मैं समझ गया था कि बाबूसाहब की रफ्तार से काम कर सकना मेरे लिये संभव नहीं होगा। अतः हिंदी भाषा पर यह स्वतंत्र ग्रंथ उस समय मेरे द्वारा नहीं लिखा जा सका। निराश होकर बाबूसाहब ने इस विषय का संक्षिप्त समावेश अपने भाषाविज्ञान में ही कर दिया।

बाबूसाहब को इस बात की प्रारंभ में बराबर शिकायत थी कि हिंदू विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने हिंदीविभाग के अध्यापकों का वेतनमान अन्य विषयों

के अध्यापकों के वेतनमान से कम रखा है। उनके लिये यह रुपये का बिलकुल ही प्रश्न नहीं था बल्कि हिंदी के संमान का प्रश्न था। उनके निरंतर उद्योग के फलस्वरूप बहुत बाद को भेदभाव की यह नीति समाप्त हो सकी थी। डा० बड़थ्वाल पहले विद्यार्थी थे जिन्होंने हिंदू विश्वविद्यालय से हिंदी में डी० लिट्० किया था। बाबूसाहब के प्रारंभ के विद्यार्थी सहयोगियों में पं० नंददुलारे वाजपेयी का नाम उल्लेखनीय है।

दो वर्ष बाद १९२४ ई० में प्रयाग विश्वविद्यालय में बी० ए० और एम० ए० कक्षाओं में हिंदी भाषा और साहित्य की पढ़ाई प्रारंभ हुई और इसका श्रेय विश्वविद्यालय के वाइसचांसलर महामहोपाध्याय पं० गंगानाथ जी झा को था। प्रयाग विश्वविद्यालय की हिंदीपरीक्षाओं का प्रारंभिक पाठ्यक्रम बनाने में पं० शिवाधार जी पांडेय का विशेष हाथ था। उस समय विशेष अनुभव न होने के कारण तथा अधिकारियों को प्रभावित करने की दृष्टि से हिंदीसाहित्य के समस्त पूर्ण ग्रंथ पाठ्यक्रम में रख दिए गए थे। अध्यापन के अनुभव के साथ धीरे धीरे पाठ्यक्रम को अधिक सीमित और व्यावहारिक रूप दिया जा सका।

१९२४ में प्रयाग विश्वविद्यालय के हिंदीविभाग के बी० ए० प्रथम वर्ष में ५ विद्यार्थी थे जिनमें कम से कम दो से हिंदीसंसार परिचित है—लखनऊ विश्वविद्यालय के हिंदीविभाग के प्रोफेसर तथा अध्यक्ष डा० दीनदयाल गुप्त और हिंदी के प्रसिद्ध कवि, उपन्यासकार और पत्रकार श्री भगवतीचरण वर्मा। अगले ही वर्ष १९२५ में हिंदी में एम० ए० प्रथम वर्ष की कक्षाएँ भी प्रारंभ कर दी गई थीं और इस कक्षा में भी संयोग से ५ ही विद्यार्थी आए थे। इनमें से भी दो के नाम चिरपरिचित हैं—डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' और स्वर्गीय पं० ललिताप्रसाद शुक्ल।

प्रयाग विश्वविद्यालय के हिंदीविभाग के विकास में स्वर्गीय पं० देवीप्रसाद शुक्ल का प्रारंभिक वर्षों में विशेष सहयोग था। इस स्थान पर पं० रामचंद्र शुक्ल की नियुक्ति होने जा रही थी किंतु कार्यकारिणी में कुछ भ्रमवश एक शुक्ल के स्थान पर दूसरे शुक्ल की नियुक्ति हो गई। भाग्य के खेल भी बड़े विचित्र हैं। प्रयाग विश्वविद्यालय का हिंदीविभाग १९२४ में एक अध्यापक और पाँच विद्यार्थियों से प्रारंभ हुआ था। १९६० में इस विभाग में लगभग दो दर्जन अध्यापक और डेढ़ हजार विद्यार्थी थे।

लखनऊ विश्वविद्यालय में हिंदी के अध्यापन का प्रारंभ स्वर्गीय पं० बदरीनाथ भट्ट के द्वारा हुआ था। उनके स्वर्गवास के उपरांत यह भार डा० दीनदयाल गुप्त ने सम्हाला। बहुत वर्षों तक यहाँ हिंदी संस्कृत विभाग के अंतर्गत थी। अतः वह पनप न सकी। लखनऊ विश्वविद्यालय में हिंदी का स्वतंत्र विभाग स्थापित करवाने में मिश्रबंधुओं का प्रभाव विशेष सहायक हुआ था।

मिश्रबंधुओं में पं० श्यामबिहारी मिश्र तथा पं० शुकदेवबिहारी मिश्र के साथ अनेक कमेटियों और समितियों में कार्य करने का मुझे अवसर मिला था। लोगों का कहना था कि दोनो भाइयों में पं० शुकदेवबिहारी मिश्र हिंदीसाहित्य के विशेष मर्मज्ञ थे किंतु मैं स्वयं पं० श्यामबिहारी मिश्र के संतुलित व्यक्तित्व से अधिक प्रभावित था। एकबार पं० श्यामबिहारी मिश्र किसी मीटिंग के लिये प्रयाग आए हुए थे और हिंदू बोर्डिंग हाउस (मालवीय कालेज) में पं० देवीप्रसाद शुक्ल के यहाँ ठहरे थे। हिंदी के कुछ विद्यार्थी किसी हिंदीग्रंथ की पाठसंबंधी समस्या लेकर उनके पास पहुँचे। मिश्र जी ने कहा कि देखो भाई, तुम हमें हिंदी का बहुत बड़ा विद्वान् समझते हो किंतु असल बात यह है कि हम लोगों ने तो हिंदीसाहित्य के विशाल वन की साधारण नापजोख करके उसमें एक दो पगडंडियाँ मात्र डाल दी हैं। अब इस वन के झाड़झंखाड़ साफ करके उसे सुगम बनाने का कार्य तो तुम्हारे अध्यापकों का है।

उसके बाद काशी तथा प्रयाग की शाखाप्रशाखा के रूप में धीरे धीरे देश के अनेक विश्वविद्यालयों और उनके कालेजों में हिंदी के पटनपाठन की व्यवस्था हुई। किंतु यह प्रारंभिक इतिहास के अंतर्गत नहीं आता बल्कि वर्तमान काल से इसका संबंध है जिसके अनेक जानकार मौजूद हैं।

*

वंद्यचरित महामना

जानकीनाथ शर्मा

•

भारत में प्राचीन महापुरुषों के स्मरण की परंपरा है। पुण्यश्लोक युधिष्ठिर, नल, राम आदि को प्रतिदिन प्रातः इसी लिये स्मरण किया जाता है कि इनके आचरणों से हमें शिक्षा मिलती है। साधारण व्यक्ति जिस प्रकार क्रोध, लोभ, राग, द्वेष युक्त आचरण करता है, वैसा इन युधिष्ठिर, राम, कृष्ण आदि का आचरण न था। महापुरुषों को गीता-रामायणादि में दक्ष बतलाया गया है। **'अनपेक्षः शुचिर्दक्षः'** (गीता० १२।१६)। **'अनघ अरोष दक्ष विज्ञानी।'** इस दक्षता का यही रहस्य है कि साधारण मनुष्य जहाँ क्रोध करता है, वहाँ विशिष्ट व्यक्ति क्षमा करता है। संसारी जीव जहाँ राग - रोषादि प्रपंचों में पड़ता है, वहाँ भक्त या संत निरपेक्ष, शांत, निर्विकार रहते अथवा क्षमा, दया, परोपकार में प्रवृत्त होते हैं। नल, राम, युधिष्ठिर महात्मा गाँधी, पूज्य मालवीय जी आदि के जीवन में हम सर्वत्र यही देखते हैं। इसी लिये इनका अतीत गौरव नित्य नूतन एवं स्मरणीय है। इनके संस्मरणों से हमें प्रेरणा मिलती है। वस्तुतः यही इतिहास की सर्वोत्तम देन है। अन्यथा वह तो गड़े मुर्दे उखाड़ने जैसी प्रक्रिया होती। इसलिये भारत के प्राचीन इतिहास रामायण, महाभारत, राजतरंगिणी आदि में तिथि - संवत् आदि को उतना महत्व नहीं दिया गया, जितना विशिष्ट पुरुषों के विशेष आचारव्यवहारों को। उनमें सत्पुरुषों का ही इतिहास दिया गया, सबका नहीं। जब तक हमारे बीच शिवि, रंतिदेव, दधीचि, हरिश्चंद्र आदि की ये पवित्र गाथाएँ प्रचलित हैं, जब तक हम उनके आदर्श को महत्व देकर अपनाने के लिये प्रयत्नशील हैं, तब तक सही अर्थ में जीवित एवं उन्नत हैं। जब यह प्रक्रिया बंद होगी तब 'मानवता' का कोई अर्थ नहीं रहेगा।

पूज्य मालवीय जी भारत के अनमोल रत्नों की माला की एक उत्कृष्ट मणि हैं। गत शताब्दी में कई प्रेरक पुरुष उत्पन्न हुए। जब तक भारतवासी जनता इनसे प्रेरणा प्राप्त करती रहेगी, वह सुखी रहेगी। यह प्रेरणा है — सेवा और त्याग का आदर्श। खेद है, यह भावना स्वराज्य के बाद कुछ शिथिल तथा विकृत सी होने लगी है। स्वार्थ की मात्रा बढ़ने लगी है। मालवीय जी की पवित्र स्मृति से हमें अपने अंतः-कालुष्य को धोकर उनके ही पथ का अनुसरण करना चाहिए। वस्तुतः यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि और सेवा की भावना होगी। उनकी विशाल हृदयता के विषय में और कुछ न कहकर मैं महात्मा गाँधी के वचनों को ही दुहराना चाहता हूँ।

वे कहा करते थे — 'मैं मालवीय जी महाराज का पुजारी हूँ। वे आचार में सर्वथा नियमित और विचार में अत्यंत उदार हैं। द्वेष तो वे किसी से कर ही नहीं सकते। उनके विशाल हृदय में शत्रु भी समा सकते हैं।'

एक दूसरे सज्जन के शब्दों में 'मालवीय जी स्वयं में एक संस्था थे। उनका जीवनवृत्त तत्कालीन इतिहास के उतार चढ़ाव का परिचायक है। काशी हिंदू-विश्वविद्यालय उनकी कर्मपरायणता का ज्वलंत प्रतीक है। वे भावों के धनी, विचारों के स्वामी किंतु सद्गुणों के याचक थे। जीवन में सादगी, क्रिया में दृढ़ता, विश्वास में बल, वाणी में निर्भीकिता—ये सब उनके सजग और सफल व्यक्तित्व के अभिन्न अंग थे।'

मालवीय जी की अतिथिसेवा प्रसिद्ध थी। उनका चौका रात के १ बजे तक निरंतर चलता रहता था। कोई भी अतिथि बिना खाए नहीं जा सकता था। विश्वविद्यालय की ही भाँति एक विशाल गोशाला बनाने की भी उनकी इच्छा थी।

पुस्तकसंग्रह का प्रमाण उनकी विश्वविद्यालय लाइब्रेरी है। यह आज बहुत बड़ी लाइब्रेरी समझी जाती है। वे सफल पत्रकार भी थे 'लीडर', 'इंडियन ओपिनियन' 'अभ्युदय' आदि का उन्होंने सफल संपादन किया।

वंद्यचरित महामना का प्रत्येक आचरण ही प्रेरणाप्रद एवं अनुकरणीय है। उनका निर्मल चरित्र हमें युगों तक प्रेरणा प्रदान करता रहेगा।

*

महामना की हिंदीसेवा

शितिकंठ मिश्र

•

राष्ट्रीय स्वातंत्र्यसंग्राम के दिनों में वीरप्रसू भारतभूमि ने जिन महान् जननायकों को जन्म दिया महामना का नाम उनमें अग्रगण्य है। राष्ट्रीय नव - जागरण के इतिहास में उनका योगदान अप्रतिम है। उन्होंने देश के राजनीतिक, धार्मिक, शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों को विशाल एवं बहुमुखी व्यक्तित्व द्वारा प्रेरित और प्रभावित किया। उनके व्यक्तित्व की महानता का व्यावहारिक अनुभव प्राप्त करने के लिये काशी हिंदू विश्वविद्यालय की एक परिक्रमा ही पर्याप्त है। मालवीय जी के जीवन की दो मुख्य आकांक्षाएँ थीं जिनके लिये उन्होंने अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया था। उनमें प्रथम थी भारत की स्वतंत्रता जो पूरी हो चुकी है परंतु उनकी द्वितीय आकांक्षा—हिंदी को राजभाषा का पद दिलाना—आज भी अधूरी है। इसके लिये उन्होंने अपने अत्यंत व्यस्त जीवनकाल में अमूल्य कार्य किया था।

हिंदी के प्रति उनकी रुचि बचपन से ही थी। ब्रजभाषा काव्य की माधुरी और भक्तों के पदों की संगीतात्मकता ने उन्हें बाल्यावस्था में ही आकृष्ट किया। अपने अभ्यास के लिये उन्होंने सूर और मीरा के प्रसिद्ध पदों को चुना था। संगीत और भक्ति साहित्य के प्रति उनकी यह रुचि उन्हें अपने पूज्य पिता श्री व्यास जी से मिली थी। व्यास जी स्वयं बड़े मधुर स्वर में इन पदों को अपनी कथावार्ता के समय सुनाया करते थे। वह युग भारतेंदु और उनके साथी साहित्यकारों का था जिन्होंने हिंदी की चारो ओर धूम मचा दी थी। प्रयाग में रहनेवाले पं० बालकृष्ण भट्ट और उनके साथी पं० प्रतापनारायण मिश्र 'हिंदी हिंदू हिंदुस्तान' का नारा बुलंद कर रहे थे। महामना पर इन लोगों का भी प्रभाव पड़ा। ये लोग साथ ही साथ काफी समय तक कार्य भी करते रहे। परिणामस्वरूप मालवीय जी को हिंदीसाहित्य और कविता के प्रति रुचि हुई। उन्हें स्वयं कविता करने का शौक हुआ और उन्होंने 'मकरंद' उपनाम से ब्रजभाषा में काफी कविताएँ और समस्यापूर्तियाँ कीं। भारतेंदुकाल की प्रसिद्ध समस्या राधारानी की पूर्ति में लिखे इनके कई मधुर सवैये उपलब्ध हैं—

माँगत मोतिन माल नहीं नहिं माँगत तोसों मैं भोजन - पानी।
सारी न माँगत हौं 'मकरंद' न थारी अनेक सुगंधन सानी।
माँगत हौं अधरारस रंचक सोउ न दीजतु हौ मनमानी।
सूमता पती तुम्हें नहिं चाहिए बाजति हौ चहुँ राधिकारानी॥

काव्यसाहित्य के प्रति उनके उत्साह का आभास उनके निम्नांकित सोरठे से भली भाँति स्पष्ट है—

गुनी जनन को साथ, रसमय कविता माँहि रुचि।
सदा दीजियो नाथ, जब जब इहाँ पठाइयो।

विद्यार्थीजीवन में वे नाटक और वादविवाद आदि में सक्रिय भाग लिया करते थे। कालेज के दिनों में उन्होंने 'जेंटिलमैन' नाम का एक प्रहसन लिखा था। यह भारतेंदुकाल के प्रहसनों से पूर्णतया प्रभावित है विशेषकर बालकृष्ण भट्ट के विचारों से। उनकी आरंभिक रचनाएँ भी भट्ट जी के 'हिंदी प्रदीप' में ही प्रकाशित होती थीं। इस प्रहसन में उन्होंने उन पढ़े लिखे लोगों पर व्यंग्य किया है जो अँगरेजियत के नशे में अपना संपूर्ण भारतीय गौरव भूल गए थे। इस प्रहसन के गद्य और पद्य की भाषा खड़ी बोली हिंदी है। इनके पद्य की कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जा रही हैं—

हिंदुओं का खाना पीना हमको कुछ भाता नहीं।
बीफ चमचे से कटे होटल में जा खाता है हम॥
बाबू ओ चाचा का कहना लाइक हम करता नहीं।
पापा कहना अपने बच्चों को भी सिखलाता है हम॥

मालवीय जी के विद्यार्थीजीवन के फक्कड़ स्वभाव का परिचय उनकी इन पंक्तियों से भली भाँति मिलता है—

सुनो यारो जो सुख चाहो तो पचड़े से गृहस्थी के
छुटो, फक्कड़पना ले लो यही हम वो सिखाते हैं।
हमें मत भूलना यारो सबे हम पास 'मनमोहन'
हुई है देर जाते हैं तुम्हारा शुभ मनाते हैं॥

नागरी आंदोलन के नेता

भारतेंदुकालीन साहित्यकार महामना मदनमोहन मालवीय का यह रूप बहुत कुछ अज्ञात है। भारतेंदु के मंत्र **निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल** से वे प्रभावित थे और निज भाषा की सर्वांगीण उन्नति के लिये उन्होंने महान् प्रयत्न किए हैं जिनके कारण हिंदीसाहित्य के इतिहास में उनका नाम चिरस्मरणीय रहेगा। उसे भूलना इतिहासकारों की बहुत बड़ी कृतघ्नता होगी। बी० ए० पास कर चुकने के बाद उन्होंने हिंदूसमाज के साथ साथ साहित्यसमाज की स्थापना की थी जिसका उद्देश्य साहित्य की चर्चा करना, और हर प्रकार से समाज में उसका प्रचार करना था। सन् १८८४ में ही प्रयाग में 'हिंदी उद्धारिणी प्रतिनिधि मध्य सभा' की स्थापना हुई जो नागरी लिपि को उसका अधिकार दिलाना चाहती थी। मालवीय जी ने नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना से पूर्व ही नागरीप्रचार के लिये काफी प्रयत्न

किया। बाद में नागरीप्रचार के इस आंदोलन को सन् १८६३ ई० में नागरीप्रचारिणी सभा, काशी की स्थापना के बाद पर्याप्त बल मिला। कचहरियों में साधारण जनता को जो अपार कष्ट होता था उसका प्रत्यक्ष अनुभव उन्हें हो रहा था इसलिये वे चाहते कि कचहरियों में उर्दू के स्थान पर नागरी लिपि चालू कर दी जाय। अतः उन्होंने नागरीप्रचार का एक प्रबल आंदोलन चालू कर दिया। देश के कोने कोने में प्रचारसभाएँ, प्रकीर्णक और लेख प्रचारित किए गए। नागरी के समर्थन में बहुत बड़ी संख्या में लोगों के हस्ताक्षर कराए गए। मालवीय जी ने तीन वर्ष के अथक श्रम और अपने व्यय से पूर्ण अनुसंधान करके लिपिसंबंधी एक गवेषणापूर्ण प्रबंध लिखा जिसका नाम 'कोर्ट कैरेक्टर ऐंड प्राइमरी एजूकेशन इन नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज' है। इस प्रबंध को देखकर न केवल मालवीय जी का नागरी लिपि और भाषा के संबंध में बृहत् ज्ञान प्रगट होता है बल्कि इसके प्रति उनका अद्भुत अनुराग भी स्पष्ट हो जाता है। इस प्रबंध के साथ एक प्रतिवेदन लेकर 'सभा' की ओर से एक प्रभावशाली प्रतिनिधिमंडल तत्कालीन लेफ्टिनेंट गवर्नर सर मैकडानल से मिला। इस प्रतिनिधिमंडल में महाराज अयोध्या, मांडा और अवाँगढ़ के नरेश तथा सर सुंदरलाल जैसे प्रसिद्ध लोग थे। मालवीय जी इस प्रतिनिधिमंडल में सर्वप्रमुख थे। उनके व्यक्तित्व और लगन का ही यह सुफल है कि मैकडानेल साहब ने उर्दू के साथ साथ नागरी लिपि को भी कचहरी के लिये मान्यता प्रदान कर दी। मालवीय जी मैकडानल साहब के इस सौजन्य से बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने प्रयाग विश्वविद्यालय के लिये जब अपने बल पर हिंदू हॉस्टल बनवाया तो उसका नाम 'मैकडानेल हिंदू होस्टल' रखा।

उक्त घोषणा हिंदीसेवियों की एक बहुत बड़ी विजय थी। भारतेंदुकाल से चले आते हुए आंदोलन का एक पक्ष सफल हो गया और उस सफलता का संपूर्ण श्रेय महामना मालवीय जी को ही है। उनकी इस सेवा से संपूर्ण हिंदीभाषी बड़े उपकृत हुए। फलतः हिंदी के संवर्धन के लिये 'सभा' ने सन् १६१० में जब प्रथम हिंदी-साहित्यसंमेलन किया तो मालवीय जी को उसका प्रथम सभापति बनाया गया। उनके सभापति पद के प्रस्ताव का अनुमोदन करते हुए श्री श्यामबिहारी मिश्र ने कहा था—'जिस समय मालवीय जी ने हिंदी की उन्नति का यत्न करना आरंभ किया था उन दिनों हिंदी के जाननेवाले बहुत थोड़े थे।······मालवीय जी उन दिनों हिंदी की उन्नति के संबंध में हिंदी की बहुतेरी वक्तृताएँ दिया करते थे।······हिंदी की जो उन्नति दिखाई देती है उसमें मालवीय जी का उद्योग मुख्य कहना चाहिए।'

हिंदी पत्रकारिता के अग्रदूत

वे केवल प्रचारक ही नहीं स्वयं हिंदी के सर्वश्रेष्ठ वक्ता, लेखक, संपादक और साहित्यकार थे। उन दिनों कोई भी आंदोलन पत्रों की सहायता के बिना असंभव था।

हिंदी के प्रचार एवं प्रसार में पत्रों का प्रकाशन महत्वपूर्ण है। मालवीय जी ने स्वयं कई पत्र संपादित एवं प्रकाशित किए। मालवीय जी ने 'हिंदोस्तान' के माध्यम से हिंदी की एक लोकप्रिय एवं सरल शैली का प्रचलन किया जिसमें तत्सम के स्थान पर तद्भव शब्दों के प्रयोग का बाहुल्य था। इस शैली को लोग उन दिनों मालवीय शैली ही कहा करते थे। इस प्रकार वे हिंदीगद्य की एक विशेष शैली के प्रवर्तक हैं। उन्हीं दिनों हिंदीपद्य के लिये ब्रजभाषा और खड़ी बोली का विवाद चल पड़ा था जो हिंदीकाव्य के भविष्य का महत्वपूर्ण निर्णायक विवाद था। इसमें दोनो ओर से हिंदी के प्रमुख विद्वानों ने भाग लिया था और कालांतर में निर्णय खड़ी बोली के पक्ष में रहा। इस निर्णय में भी मालवीय जी का महत्वपूर्ण संकेत था। दुर्भाग्यवश तत्कालीन 'हिंदोस्तान' की प्रतियों के दुर्लभ होने के कारण इस संबंध की अति बहुमूल्य सामग्री अब तक हिंदीपाठकों के संमुख नहीं आ सकी। इस प्रकार 'हिंदोस्तान' के संपादक-पद पर रहकर वे हिंदी और हिंदुस्तान की अप्रतिम सेवा कर रहे थे।

हिंदी और हिंदू विश्वविद्यालय

सन् १६०५ में काशी में जब कांग्रेस का अधिवेशन हुआ तो मालवीय जी ने सदस्यों के संमुख अपनी यह अद्भुत योजना रखी कि मातृभाषा के माध्यम से संसार की संपूर्ण विद्याओं के अध्ययन अध्यापन का एक केंद्र काशी में स्थापित किया जाय। सन् १६१६ ई० में उन्होंने अपने स्वप्न की नींव रखी। उनके अथक प्रयत्नों से आगे चलकर अति शीघ्र ही उनका यह स्वप्न हिंदू विश्वविद्यालय के रूप में साकार हो उठा। एक व्यक्ति की अदम्य इच्छा और अटूट तपस्या का यह जीवंत उदाहरण है जिसे देखकर आज संपूर्ण शिक्षाजगत् चकित हो जाता है। सर्वप्रथम यहाँ हिंदी में उच्च परीक्षा की व्यवस्था हुई। हिंदीविभाग का गठन किया गया। डा० श्यामसुंदरदास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, लाला भगवानदीन और पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय जैसे विद्वान् मालवीय जी ने यहाँ एकत्र किए। उनकी इच्छा थी कि अति शीघ्र सभी विषयों का अध्यापन हिंदी के माध्यम से हो परंतु तत्कालीन भारत सरकार के शिक्षासचिव हरकोर्ट बटलर ने इसका विरोध किया। उन्होंने कहा कि यदि अँगरेजी के स्थान पर हिंदी या भारतीय भाषाएँ विश्वविद्यालय की शिक्षा का माध्यम बनाई गईं तो विश्वविद्यालय से सरकार अपना संबंध तोड़ लेगी। विश्वविद्यालय उन दिनों शैशवावस्था में था। मालवीय जी नीतिवश उस समय चुप रह गए। इस प्रकार उनकी एक बहुत बड़ी साध आज तक अधूरी रह गई है। आज देश स्वतंत्र है। हिंदी राजभाषा घोषित हो चुकी है किंतु उसकी जो दुर्दशा है वह हिंदू विश्वविद्यालय के अधिकारियों और अन्य हिंदीसेवियों के लिये एक बड़ी चुनौती है।

❀

महामना मालवीय जी और पत्रकारिता

लक्ष्मीशंकर व्यास

•

महामना पंडित मदनमोहन मालवीय जी का प्रादुर्भाव पुण्यतीर्थ प्रयाग में उस समय हुआ था, जिस समय सन् १८५७ की क्रांति विफल हो चुकी थी और भारतीयों की स्वतंत्रता की भावना को भली भाँति कुचला जा चुका था। सन् ५७ के कुछ वर्ष ही बाद १८६१ में महामना का अवतरण हुआ। आपकी प्रेरणा से भारत में राष्ट्रोत्थान, नवजागरण तथा सांस्कृतिक चेतना का असाधारण और अभूतपूर्व प्रसार प्रचार हुआ। पूज्य मालवीय जी सन् ५७ की क्रांति के अनंतर दीनता, हीनता तथा पराधीनता के अंधकारमय वातावरण में हमारे मध्य साहस, शक्ति एवं शौर्य के सूर्यरूप में स्वतंत्रता का संदेश लेकर आए। महामना मालवीय भारत, भारती और भारतीयता के प्रतीक थे।

इसी विश्वविभूति के असाधारण प्रभाव के संबंध में विश्ववंद्य महात्मा गाँधी ने निम्नलिखित भाव प्रकट किए थे — 'जब मैं अपने देश में कर्म करने के लिये आया तो पहले लोकमान्य तिलक के पास गया। वे मुझे हिमालय से ऊँचे लगे। मैंने सोचा हिमालय पर चढ़ना मेरे लिये संभव नहीं और मैं लौट आया। फिर मैं देशबंधु गोखले के पास गया। मुझे वे सागर के समान गंभीर लगे। मैंने देखा कि मेरे लिये इतनी गहराई में पैठना संभव नहीं और लौट आया। अंत में मैं महामना मालवीय जी के पास गया। मुझे वे गंगा की धारा के समान निर्मल लगे। मैंने देखा, इस पवित्र धारा में स्नान करना मेरे लिये संभव है।' महामना मालवीय के ऐसे अलौकिक व्यक्तित्व एवं प्रतिभा ने भारतीय पत्रकारिता को भी अपनी महान् देन दी है। वस्तुतः महामना ने राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रथम दैनिक समाचार पत्र 'हिंदोस्तान' का संपादन कर पत्रकारिता के क्षेत्र में न केवल महान् परंपराओं का सर्जन किया अपितु युगांतर उपस्थित कर दिया। आपने राष्ट्रीय जीवन के जिस क्षेत्र की ओर दृष्टि डाली उसमें एक वैशिष्ट्य उत्पन्न हो गया। जिस समस्याविशेष का स्पर्श किया उसका नया समाधान मिल गया। यही बात आपकी पत्रकारिता और संपादनकला के संबंध में भी है।

भारतीय पत्रकारिता पर प्रभाव

महामना मालवीय जी ने न केवल हिंदी पत्रकारिता पर अपनी अमिट छाप अंकित की है अपितु भारतीय पत्रकारिता आपकी चिरऋणी रहेगी। सन् १८८७ ई०

में आप कालाकाँकर (प्रतापगढ़) से राजा रामपालसिंह के द्वारा प्रकाशित होनेवाले दैनिक 'हिंदोस्तान' के संपादक हुए। ढाई वर्षों तक इस दैनिक पत्र का संपादन कर आपने हिंदी पत्रकारिता को नई दिशा प्रदान की। सन् १८८६ ई० में पंडित अयोध्यानाथ के अँगरेजी पत्र 'इंडियन ओपिनियन' का संपादन किया। सन् १९०७ ई० में प्रयाग से ही आपने एक आदर्श हिंदी साप्ताहिक का संपादन और प्रकाशन प्रारंभ किया। इस पत्र का नाम था 'अभ्युदय'। हिंदी ही नहीं, भारतीय पत्रकारिता के इतिहास में इस पत्र का नाम स्मरणीय बन गया है। इसके दो वर्ष बाद, सन् १९०९ में विजयादशमी के अवसर पर आपकी ही प्रेरणा और परिकल्पना के अनुसार प्रयाग से 'लीडर' नामक अँगरेजी दैनिक पत्र का प्रकाशन आरंभ हुआ। सन् १९२४ में आपने नई दिल्ली से प्रकाशित होनेवाले भारत के प्रसिद्ध अँगरेजी दैनिक 'हिंदुस्तान टाइम्स' का प्रबंध हाथ में लिया और दीर्घ काल तक उसकी प्रबंधसमिति के अध्यक्ष रहे। 'अभ्युदय' प्रेस से ही 'मर्यादा' मासिक पत्रिका का प्रकाशन हुआ जो आज भी अनेक अर्थों में हिंदी मासिक पत्रिकाओं के लिये आदर्श कही जा सकती है। इसके प्रेरक भी आप ही रहे हैं। सन् १९३३ में देश, काल और परिस्थिति के अनुसार आपने काशी से 'सनातनधर्म' नामक साप्ताहिक पत्र निकाला जो राष्ट्रभाषा हिंदी का सर्वोत्कृष्ट और आदर्श पत्र रहा है।

इस प्रकार, सरलता से देखा जा सकता है कि राष्ट्रभाषा हिंदी के अनन्य उन्नायक होते हुए भी महामना मालवीय जी ने हिंदी पत्र पत्रिकाओं की शृंखला प्रकाशित करने के साथ ही अँगरेजी भाषा के भी पत्रों का संपादन और संचालन किया। इससे जहाँ उनकी असाधारण विद्वत्ता और दोनो भाषाओं पर समान अधिकार का पता चलता है, वहीं यह तथ्य भी प्रकट होता है कि उन्होंने युग की आवश्यकताओं को अत्यंत दूरदर्शितापूर्वक देखा और समझा था। जिन पत्र पत्रिकाओं की ऊपर चर्चा की गई है, उनके अतिरिक्त भी महामना ने देश के अनेक पत्रों के प्रकाशन एवं संपादन की प्रेरणा दी है। देश के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर सच्चिदानंद सिनहा ने जुलाई, १८९९ ई० में जब 'हिंदुस्तान रिव्यू' के प्रकाशन की योजना बनाई तो उन्हें पूज्य मालवीय जी की बहुमूल्य सहायता मिली। इसी प्रकार जनवरी, १९०३ ई० में डाक्टर सिनहा ने जब 'इंडियन पीपुल' नामक अँगरेजी साप्ताहिक पत्र निकाला तो उन्हें मालवीय जी का मूल्यवान निर्देश प्राप्त हुआ था।[1] 'माडर्न रिव्यू' के संपादक श्री रामानंद चटर्जी को भी आपसे सदा प्रेरणा मिलती रहती थी।

१. मालवीय कमेमोरेशन वाल्यूम, पृ० १००१।

संपादकीय नीति

सामान्यतः यह धारणा रही है कि संपादनकला और भाषण देने की कला दोनो एक ही व्यक्ति में नहीं होतीं। संपादकाचार्य पंडित बाबूराव विष्णु पराड़कर जी कहा करते थे कि पत्रकला और सार्वजनिक जीवन में नेतृत्व दोनो साथ नहीं चल सकते। किसी एक में सफल और सिद्ध बनने के लिये दूसरे का त्याग अनिवार्य है। पत्रकारिता के आद्य आचार्य एवं नियामक महामना मालवीय इसके अपवाद थे। इसके साथ ही उनकी लेखनी में भी जादू था। हिंदोस्तान, अभ्युदय, सनातन-धर्म में प्रकाशित उनके लेख सामयिक होते हुए भी साहित्य की स्थायी संपत्ति हैं। उन लेखों को पृथक् पुस्तकाकार प्रकाशित किया जाय तो विदित होगा कि उनमें भारतीय संस्कृति, धर्म और सभ्यता संबंधी अगाध ज्ञानराशि निहित है। प्रसन्नता की बात है कि अब ऐसा संग्रह शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है।

महामना मालवीय जी की संपादकीय नीति अत्यंत निर्भीक और निष्पक्ष थी। देश के सार्वजनिक जीवन में जहाँ कहीं भी असामाजिक अथवा अकल्याणकारी तत्व दृष्टिगत होते आपकी लेखनी उनके परिष्कार के लिये पूरी शक्ति से प्रहार करती। चोट तो अवश्य गहरी होती थी पर कटुता अथवा प्रतिशोध उत्पन्न करनेवाली नहीं। देश की स्वाधीनता आपकी नीति का सर्वोपरि लक्ष्य रहा है। राष्ट्रीय आंदोलन के साथ ही देश में स्वदेशी के प्रचार-प्रसार पर आपने सदा सर्वदा विशेष बल दिया। 'सनातनधर्म' के प्रकाशन के अवसर पर पत्र की आवश्यकता और नीति पर प्रकाश डालते हुए आपने लिखा—'मेरा विश्वास है कि हिंदू जाति की रक्षा और उन्नति का मूल साधन उसकी धार्मिक शिक्षा है। और इसी लिये मैं हृदय से चाहता हूँ कि इस विषय पर समस्त सनातनधर्मानुयायी नेताओं का ध्यान आकर्षित हो और हम सब लोग मिलकर इस पुनीत धर्म की रक्षा और प्रचार का संतोषजनक प्रबंध करें। यह सनातनधर्म समाचारपत्र सनातनधर्मजगत् में उस धर्म का ज्ञान और सच्चे स्वरूप का प्रचार करने और उसके द्वारा न केवल सनातनधर्मियों की परंतु सारे जगत् की सेवा करने के अभिप्राय से प्रकाशित किया जा रहा है।'

संपादकीय नीति स्पष्ट करते हुए इसी प्रसंग में महामना ने उन समस्याओं का स्पष्ट संकेत किया है जिनके समाधान की देश में अनिवार्य आवश्यता थी। इस संबंध में आपने लिखा—'यह खेद की बात है कि इस समय सनातनधर्मी जगत् में कुछ विषयों विशेषकर अंत्यजोद्धार के विषय में बहुत मतभेद हो रहा है। परमात्मा की प्रार्थनापूर्वक इस पत्र का प्रयत्न होगा कि इस मतभेद को दूर करे और समस्त सनातनधर्मानुयायियों की जिनमें अंत्यज भी हैं, धार्मिक शिक्षा और उन्नति के लिये उचित उपाय किए जायँ और जैसा मुझे सनातनधर्म की सत्यता और उदारता में विश्वास

है, वैसा ही मुझे यह दृढ़ विश्वास है कि भगवान् विश्वनाथ के अनुग्रह से यह हमारी ऊँची कामना सफल होगी'।[2]

दैनिक 'हिंदोस्तान' के संपादक के रूप में हिंदी और हिंदुस्तान की जो सेवा मालवीय जी ने की वह अनमोल है। जैसा हम पहले संकेत कर चुके हैं उनकी संपादकीय नीति का प्रधान लक्ष्य था — भारत के लिये स्वराज्यप्राप्ति। स्वराज्य के प्रश्न को आपने प्राथमिकता दी। हिंदी को भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित देखना भी इनकी नीति का एक प्रमुख आधार था। आपकी भाषाशैली अत्यंत ओजस्वी और धाराप्रवाह होने के साथ ही सहज और सुबोध होती थी। अधिक संस्कृतनिष्ठ भाषा का पत्र में प्रयोग मालवीय जी को पसंद न था। मालवीय जी का स्पष्ट मत था कि जो शब्द भाषा में चलते हैं और जिन्हें हम जानते हैं, उन्हीं को हमें पुस्तकों और समाचारपत्रों में लाना चाहिए। 'भाषा की उन्नति करने में हमारा सर्वप्रधान कर्तव्य यह है कि हम स्वच्छ भाषा में हिंदी लिखें। पुस्तकें भी ऐसी ही भाषा में लिखी जायँ। ऐसा यत्न हो जिसमें जो कुछ लिखा जाय, वह ऐसी ही भाषा में लिखा जाय। जब भाषा में शब्द न मिलें तब संस्कृत से लीजिए या बनाइए। भाषा का सुधार बड़ा ही प्रयोजनीय है। समाचारपत्रों और स्कूल की पुस्तकों में ऐसी भाषा चलाई जाने पर उसके प्रसार की राह खुलेगी। एक दिन यह भाषा राष्ट्रभाषा हो सकेगी'।[3] आपका कथन था कि 'भाषा में जो शब्द संस्कृत से उत्पन्न हुए हैं वे प्राकृतरूप में अपने आप उपजे। जैसे कर्ण से कान, हस्त से हाथ आदि। जो शब्द संस्कृत के उठाकर रख दिए गए हैं, वह वैसे ही हैं जैसे कि गुच्छा।' हिंदी के तद्भव शब्द को आप निज की संपत्ति मानते थे और कहा करते थे कि उनके निज के अवयव पुष्ट हैं, वे फूलें फलेंगे और अपने आप बढ़ते चले आयेंगे। इसलिये 'हिंदोस्तान' में आपने लोकप्रचलित सरल तथा तद्भव शब्दरूपों का अधिक प्रयोग चलाया। आश्चर्य के स्थान पर अचरज और प्रविष्ट होने के स्थान पर पैठना का व्यवहार उन्हें रुचिकर था। इसी प्रकार जन्म, कार्य, यत्न, लग्न के स्थान पर वे क्रमशः जनम, काज, जतन, लगन का प्रयोग किया करते थे। एक बार हिंदी के सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० वेंकटेशनारायण तिवारी ने अपने लेख में बोधगम्य शब्द का प्रयोग किया। इसपर मालवीय जी बहुत नाराज हुए और उन्होंने तिवारी जी से पूछा कि क्या आप बोधगम्य के स्थान पर 'सुबोध' अथवा 'सरल' शब्द का प्रयोग नहीं

२. सनातनधर्म : वर्ष १, अंक १, २० जुलाई, १९३३, पृ० २।

३. प्रथम हिंदी - साहित्य - संमेलन, काशी, कार्यविवरण में मालवीय जी का भाषण।

कर सकते ? ऐसा था मालवीय जी का सरल शब्दों के प्रयोग का आग्रह। आज भी समाचारपत्रों में विशेषकर जब हिंदी राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत एवं प्रतिष्ठित हो गई है इसका विशेष महत्व है और इसपर तत्काल ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है।

दैनिक 'हिंदोस्तान' के माध्यम से महामना मालवीय जी ने हिंदी पत्रकारिता को मूल्यवान देन दी है। यह आपकी सुदृढ़ एवं स्पष्ट नीति का परिणाम था कि 'हिंदोस्तान' की संपादकीय नीति सदा स्थिर रही। हिंदी भाषा तथा देवनागरी लिपि का सबल समर्थन इस पत्र के द्वारा अंत तक होता रहा।[४] भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का भी यह पत्र प्रारंभ में समर्थक था; कुछ वर्ष तक तो यह पत्र उत्तरप्रदेश में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की नीति का सबसे अधिक समर्थन करनेवाला था। पत्र के संचालक राजा रामपालसिंह राष्ट्रीय विचारों के नेता थे और प्रमुख कांग्रेसी नेताओं में उनका स्थान था। इस पत्र द्वारा तत्कालीन सरकारी अफसरों की नीति की कटु आलोचना होती थी। उस समय ऐसी निर्भीक नीति किसी अन्य दैनिक पत्र की नहीं थी। समाजसुधार का प्रबल आंदोलन भी इस पत्र के माध्यम से किया गया था। राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रसार को अग्रसर करने तथा राष्ट्रीय विचारधारा का प्रचार करने में इस पत्र का योगदान स्मरणीय रहेगा।

पत्रकारिता का आदर्श

दैनिक 'हिंदोस्तान' के संपादन के पश्चात् जब मालवीय जी ने सन् १९०७ में 'अभ्युदय' का संपादन तथा प्रकाशन किया तो उसकी नीति भी निर्भीकता और राष्ट्रोत्थान की भावनाओं से युक्त थी। सहिष्णुता, सद्भावना, समाचारपत्रों की स्वतंत्रता तथा सामाजिक सुधार आपकी संपादकीय नीति के मूलाधार थे। स्त्रियों की शिक्षा के लिये भी आपने इस पत्र के माध्यम से प्रचार किया। आधी शताब्दी के पूर्व महिलाओं की शिक्षा के संबंध में, आपने जो संपादकीय लेख लिखा था उसमें इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य कर रहे प्रोफेसर कर्वे की मुक्तकंठ से प्रशंसा की थी।

समाचारपत्रों में प्रकाशित विचारों तथा समाचारों का प्रभाव पाठक पर विशेष रूप से तभी पड़ता है जब कि पत्र में कहीं भी अशुद्धि न हो। सरल तथा सीधे शब्दों में सारी बात पाठक के सामने रख दी जाय। इसी लिये महामना मालवीय जी का इस संबंध में स्पष्ट निर्देश रहा करता था कि पत्र में एक गलती न रहने पाए। स्वयं बड़ी सावधानी से प्रूफसंशोधन किया करते थे। लेख का संपादन

४. हिंदी समाचारपत्रों का इतिहास : पंडित अंबिकाप्रसाद वाजपेयी, पृ० १३१।

तथा संशोधन वे बहुत सावधानी से करते थे और तभी लेख कंपोज होने के लिये भेजा जाता था। लेख का प्रूफ आने पर आप उसका स्वयं संशोधन करते थे। फिर भी यदि कहीं अशुद्धि रह जाती थी तो छपते छपते भी काम रोककर उसे ठीक कराते थे।

इस प्रकार राष्ट्रोत्थानमूलक संपादकीय नीति के विविध स्वरूपों के साथ साथ महामना मालवीय जी ने पत्रों की भाषा, मर्यादा, स्वतंत्रता आदि के विषय में भी महत्वपूर्ण निर्देश दिए हैं। हिंदोस्तान, अभ्युदय तथा सनातनधर्म में उनके लेखों के अध्ययन मनन से हम स्वस्थ और आदर्श पत्रकारिता के स्वरूपदर्शन के साथ उसके पालन करने की प्रेरणा भी प्राप्त कर सकते हैं।

पत्रकारिता महामना मालवीय जी के विचार से एक महान् वैज्ञानिक कला है। दैनिक समाचारपत्र के विशेष विषयों के संबंध में आपकी मान्यता थी कि संपादकों को प्रतिदिन के लिये विषय निश्चित कर लेने चाहिए। आपका कथन रहा है कि यदि सोमवार को साहित्यविषयक लेख लिखा जाय तो अगले दिन के लेख का विषय ग्रामसंघटन होना चाहिए। बुधवार का अंक शारीरिक उन्नति संबंधी विशेष लेख के लिये निश्चित रहे तो गुरुवार को लेख का विषय शिक्षासंबंधी हो। इसी प्रकार शेष दिन के लिये भी विषयों का चुनाव हो जाना चाहिए जिससे पाठकों को नियत दिन निश्चित क्रमानुसार विषयविशेष पर अपनी रुचि की सामग्री पढ़ने को मिल जाय। पाठकों की अभिरुचि का ध्यान रखते हुए पाठ्यसामग्री एवं लेखों का विषय चयन किया जाय तो समाचारपत्र की लोकप्रियता में भी वृद्धि होगी और जनता का विशेष उपकार होगा। बीसवीं शताब्दी के आरंभिक चरण में महामना मालवीय जी का यह निर्देश देश के समस्त पत्रकारों और संपादकों के लिये मननीय ही नहीं अनुकरणीय भी है।

महामना मालवीय जी ने जिन पत्र पत्रिकाओं का संस्थापन, संचालन और संपादन किया, उनके संबंध की कुछ विशेष एवं विशिष्ट बातों से यदि हम परिचित हो जायँ तो उनकी पत्रकारिता का व्यावहारिक स्वरूप भी हमारे संमुख उपस्थित हो जायगा। उनकी पत्रकारिता तथा संपादनकला के क्रमिक विकास का अध्ययन करने के लिये यह आवश्यक है कि जिस क्रम से उन्होंने पत्रों का संस्थापन, संपादन और प्रकाशन किया, उसी क्रम से उनका अध्ययन किया जाय। इससे हमें निम्नलिखित तथ्यों का पता चलेगा—

१ - पत्र किस परिस्थिति और किस उद्देश्य से प्रकाशित हुआ।

२ - संपादकीय नीति का निर्वाह किस सीमा तक और कब तक होता रहा।

३ - पत्र में तत्कालीन समाज और उसकी आवश्यकताओं का चित्रण-अंकन।

४ - पत्र के माध्यम से किस कोटि का और किस रुचि का साहित्य सामने आया।

५ - तत्कालीन पत्रकारों, साहित्यिकों तथा विद्वानों का पत्र को सहयोग।

६ - पत्र का देश और समाज पर तात्कालिक और स्थायी प्रभाव आदि।

महामना मालवीय जी द्वारा संस्थापित अथवा संपादित प्रमुख छः पत्रों की पूरी फाइल के गहन अध्ययन और मनन से उपर्युक्त तथ्यों का विवेचन और विश्लेषण हो सकता है। यह कार्य सहज नहीं अपितु श्रमसाध्य है पर है करने योग्य। यह शोध एवं अनुशीलन का विषय है। इससे न केवल भारतीय पत्रकारिता का इतिहास शृंखलाबद्ध और व्यवस्थित होगा अपितु उन परिस्थितियों का पता लगेगा जिनमें हमारे संपादकों और पत्रकारों ने अनन्य निष्ठा, आत्मत्याग और आत्मबलिदान से देश एवं समाज के प्रति अपने कर्तव्य का पालन किया। उस समय पत्रकारिता केवल जीविकोपार्जन का साधन न थी अपितु देश-सेवा का अत्यंत श्रेष्ठ एवं श्रेयस्कर साधन भी। उच्च आदर्शों तथा तत्कालीन समस्त श्रेष्ठ संपादकों एवं साहित्यकारों का सहयोग रहते हुए 'अभ्युदय' तथा 'लीडर' के प्रकाशन में अनेक बार भीषण आर्थिक कठिनाइयाँ आईं। एक बार तो 'लीडर' के बंद होने तक की नौबत आ गई। मालवीय जी को न केवल आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा वरन् लोगों के व्यंग्य और कटूक्तियाँ भी सुननी पड़ीं। 'लीडर' के संचालकों ने उसके जन्म के दो वर्ष के भीतर ही निश्चय कर लिया था कि धनाभाव के कारण पत्र का प्रकाशन स्थगित करना पड़ेगा। महामना मालवीय जी को जब यह स्थिति विदित हुई तो उन्होंने दृढ़ शब्दों में कहा कि 'लीडर' नहीं मरेगा। इसके लिये उन्होंने धनसंग्रह करने का निश्चय किया और सर्वप्रथम अपनी पत्नी के आगे झोली फैलाई। महामना ने कहा—'यह न समझो कि तुम्हे चार पुत्र हैं। तुम्हारा पाँचवाँ पुत्र दैनिक 'लीडर' है। आज वह मृत्युशय्या पर पड़ा है। क्या उसे मरने दूँ'। मालवीय जी के इन वचनों को सुनकर उनकी पत्नी श्रीमती कुंदन देवी ने अपने समस्त आभूषण बेचकर साढ़े तीन हजार रुपये 'लीडर' की रक्षा के लिये गद्‌गद होकर दे दिए। पत्रकारिता और उसके माध्यम से राष्ट्रसेवा के लिये यह कैसा अनुपम और असाधारण त्याग है।

दैनिक 'हिंदोस्तान' में मालवीय जी को सहयोगियों के रूप में तत्कालीन विद्वानों का अभूतपूर्व सहयोग मिला था। श्री अमृतलाल चक्रवर्ती, श्री शशिभूषण चटर्जी, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, श्री बालमुकुंद गुप्त, श्री गोपालराम गहमरी, श्री लालबहादुर, श्री गुलाबचंद चौबे, श्री शीतलप्रसाद उपाध्याय, श्री रामप्रसाद सिंह

तथा श्री शिवनारायण सिंह मालवीय जी के संपादकीय विभाग के 'नवरत्न' प्रसिद्ध थे। व्यवस्थित और वैज्ञानिक रूप से हिंदी के प्रथम दैनिक समाचार-पत्र के कार्यालय में ऐसे विद्वानों का समागम और सहयोग ऐतिहासिक ही कहा जायगा। 'हिंदोस्तान' दैनिक का आकारप्रकार रायल शीट के दो पृष्ठों का था। इसका वार्षिक मूल्य दस रुपये था। दैनिक 'हिंदोस्तान' में मालवीय जी राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत कैसी सरल एवं सौम्य विचारधारा की कविताएँ प्रकाशित करते थे उसका एक उदाहरण लीजिए। कविता का शीर्षक है 'हमारे ग्राम'—

> कहाँ गये वे गाँव मनोहर परम सुहाने।
> सबको प्यारे परम शांतिदायक मनमाने॥
> कपट और क्रूरता पाप और मद से निर्मल।
> सीधे सादे लोग बसे जिनमें नहीं छल बल॥
> एक भाव से जाति छतीसों मिलकर रहतीं।
> एक दूसरे के सुखदुख मिल जुलकर सहती॥
> जहाँ न झूठा काम न झूठी मान बड़ाई;
> रहती जिनकी एक मात्र आधार सचाई॥
> कहाँ गए गाँव जहाँ थी प्रीत सवाई।
> एक चिह्न भी देता, उसका नहीं दिखाई॥

इस कविता का प्रकाशन मालवीय जी की टिप्पणी के साथ हुआ है जिसमें उन्होंने भारतीय ग्रामों की दुर्दशा का मूल कारण विदेशी शासन बताया है। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति में इस प्रकार की निर्भीकता और सरकार की निंदा बड़े साहस का कार्य था, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

संपादकीय स्वाभिमान की रक्षा

मालवीय जी ने किन परिस्थितियों में दैनिक हिंदोस्तान का संपादन स्वीकार किया और राजा रामपालसिंह के बहुत आग्रह के बाद भी पदत्याग कर दिया इसकी एक कहानी है। वह कहानी महामना मालवीय जी के आदर्शों और सिद्धांतों के व्यावहारिक स्वरूप से हमें परिचित कराती है। मालवीय जी के पुराने कागज पत्रों में उनके हाथ की लिखी एक छोटी सी आत्मकथा मिली है। उसमें मालवीय जी लिखते हैं—'बी० ए० पास होने के बाद मेरी बड़ी इच्छा हुई कि पिता के समान मैं भी कथा कहूँ और धर्म का प्रचार करूँ। किंतु घर की गरीबी से सब प्राणियों को दुःख हो रहा था। उन्हीं दिनों उसी गवर्नमेंट स्कूल में जिसमें मैंने पढ़ा था, एक अध्यापक की जगह खाली हुई। मेरे चचेरे भाई पंडित जयगोविंद जी उसमें हेडपंडित थे। उन्होंने मुझसे कहा कि

इस जगह के लिये कोशिश करो। मेरी इच्छा धर्मप्रचार में जीवन लगा देने की थी। मैंने 'नाहीं' कर दी। उन्होंने माँ से कहा — माँ मुझे कहने के लिये आईं। मैंने माँ की ओर देखा। उनकी आँखें डबडबा आई थीं। वे आँखें मेरी आँखों में अब तक धँसी हैं। मेरी सब कल्पनाएँ माँ के आँसू में डूब गईं और मैंने अविलंब कहा—माँ तुम कुछ न कहो। मैं नौकरी कर लूँगा।"[५] इस प्रकार मालवीय जी ने उक्त स्कूल में ४०) रुपये की अध्यापकी से जीविका उपार्जन के क्षेत्र में प्रवेश किया।

सन् १८८६ में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में मालवीय जी की वक्तृता से प्रभावित होकर राजा रामपालसिंह ने उन्हें दैनिक हिंदोस्तान का संपादक चुना। राजा साहब ने मालवीय जी की एक कड़ी शर्त मानकर भी उन्हें २००) मासिक पर संपादक नियुक्त किया। यह शर्त थी कि राजा साहब मद्यपान की स्थिति में उन्हें न बुलाएँगे और न बात करेंगे। ढाई वर्ष के बाद एक दिन राजा साहब ने उक्त स्थिति में मालवीय जी को बुलाकर बात की तो उसी क्षण मालवीय जी ने शर्त का स्मरण करा त्यागपत्र दे दिया और प्रयाग चले आए। राजा साहब के बहुत कहने पर भी मालवीय जी ने एक न मानी और सिद्धांत के प्रश्न पर समझौता करना अस्वीकार कर दिया। मालवीय जी पदत्याग कर चले गए अवश्य पर राजा साहब के प्रति उनके मन में वही पुराना स्नेह बना रहा। उधर राजा साहब भी ऐसे उदार और उच्च विचार के थे कि मालवीय जी को निरंतर घर बैठे वेतन भेजते रहे। मालवीय जी ने इसे स्वीकार करने में अनेक बार आनाकानी की पर राजा साहब भला कब माननेवाले थे। संचालक और संपादक का ऐसा अभूतपूर्व संबंध भी हिंदी पत्रकारिता का स्मरणीय प्रसंग है।

पत्रकारिता का मानदंड

दैनिक 'हिंदोस्तान' के बाद मालवीय जी ने सन् १९०७ में 'अभ्युदय' का प्रकाशन किया। वे इसके संस्थापक और संपादक दोनों थे। 'अभ्युदय' के प्रथम संपादकीय में उन्होंने पत्र के स्वरूप एवं नीति को स्पष्ट करते हुए लिखा — 'हमारी अभिलाषा मंद नहीं है। पृथ्वीमंडल पर जितने पर्वत हैं उनमें सबसे ऊँचा पर्वत नगाधिराज हिमालय है। हमारी अभिलाषा है कि हमारे देश का अभ्युदय भी उतना ही ऊँचा हो।' इस पत्र का नामकरण पंडित बालकृष्ण भट्ट ने किया था और यह सन् १९०७ की वसंतपंचमी को प्रकाशित हुआ था। उन दिनों उर्दू फारसी का जोर था। पत्र के इस नामकरण पर लोगों ने व्यंग्य किया पर मालवीय जी को इसके

५. पं० ब्रजमोहन व्यास।

माध्यम से भारतीय संस्कृति एवं समाजसुधार का प्रचार करना था। मालवीय जी की एक प्रमुख विशेषता यह रही है कि जिस पत्र का संपादन करते उसकी नीति के संबंध में सदा सतर्क रहते। यदाकदा उसमें शिथिलता होने पर, सहयोगियों की खबर लेते थे। 'अभ्युदय' में भी आपको सर्व श्री पुरुषोत्तमदास टंडन, पंडित कृष्णकांत मालवीय, पंडित वेंकटेशनारायण तिवारी, श्री भगवानदास हालना और बाद में श्री पद्मकांत मालवीय का सहयोग मिला। इसके साथ ही तत्कालीन विद्वान् एवं प्रमुख साहित्यकार भी 'अभ्युदय' में बराबर लिखते थे। मालवीय जी ने 'अभ्युदय' के लिये जब आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी से लेख माँगते हुए पत्र लिखा था तो उसमें तत्कालीन साहित्यिक तथा राजनीतिक गतिविधि की भी चर्चा की थी। यह पत्र काशी नागरीप्रचारिणी सभा में आचार्य द्विवेदी जी के कागज पत्रों में आज भी विद्यमान है।

८ फरवरी, १६०७ को महामना मालवीय ने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को जो पत्र लिखा वह इस प्रकार है —

श्री

प्रयाग

८ – २ – ०७

प्रिय पं० महावीरप्रसाद जी,

नमस्कार। मैं आशा करता हूँ कि 'अभ्युदय' की दोनों संख्या आपके पास पहुँच गयी है। और यह कि आपने उसको पसंद किया है।

मेरी प्रार्थना है कि आप उसको अपने प्रौढ़ लेखों से सहायता कीजिये। और मैं आशा करता हूं कि आप इसको स्वीकार करेंगे।

आपका कृपापात्र

मदनमोहन मालवीय

आचार्य द्विवेदी जी ने मालवीय जी के पत्र का उत्तर देते हुए दो लेख भी 'अभ्युदय' में प्रकाशनार्थ भेजे। इनमें एक लेख तो स्वयं आचार्य द्विवेदी का था और दूसरा बाबू मिश्रीलाल गुप्त का। मालवीय जी ने इन लेखों की प्राप्ति की सूचना देते हुए २६ फरवरी, १६०७ को जो पत्र द्विवेदी जी को लिखा उसमें 'अभ्युदय' के प्रकाशन के उद्देश्य और आवश्यकता पर तो प्रकाश डाला ही गया है,

तत्कालीन लेखकों को पारिश्रमिक देने तथा उसके आधार की भी चर्चा की गई है। इस पत्र का पत्रकारिता के इतिहास में विशेष महत्व है।[६]

बीसवीं शती के प्रथम दशक में हिंदीपत्रों में लिखनेवाले लेखकों के पारिश्रमिक का प्रश्न भी महामना मालवीय जी ने उठाया और इस संबंध में एक सिद्धांत स्थिर करने के लिये आचार्य द्विवेदी से विचारविमर्श किया।

देशहित, मातृभाषा के हितसाधन तथा पत्रकारिता के जिन उच्च आदर्शों को संमुख रख महामना ने 'अभ्युदय' का संपादन-प्रकाशन आरंभ किया, उक्त पत्र में यथाप्रसंग सभी की सम्यक रूप से चर्चा हो गई है। 'अभ्युदय में किस प्रकार के विद्वानों का मालवीय जी सहयोग चाहते थे और उनकी सहायता से किस प्रकार पत्र की प्रसारसंख्या बढ़ाना तथा आर्थिक स्थिति को आत्मनिर्भर करना चाहते थे, इसका भी स्पष्ट संकेत है। वस्तुतः आचार्य द्विवेदी को लिखे गए महामना मालवीय जी के इस पत्र का ऐतिहासिक महत्व है।

'अभ्युदय' के माध्यम से महामना ने संपादकीय स्वतंत्रता की लड़ाई भी लड़ी थी। सन् १९०७ में पंजाब के प्रसिद्ध दैनिक के संपादक-संचालक पर सरकार ने मुकदमा चलाया। संपादक श्री अठवले की पैरवी लाला लाजपतराय कर रहे थे। इस मामले पर महामना ने 'अभ्युदय' में संपादकीय लेख लिखा और सरकारी दमनचक्र की निंदा की। संपादक के कर्तव्यपालन की प्रशंसा करते हुए आपने यह भी लिखा कि ऐसी सरकारी नीति से समाचारपत्रों की स्वतंत्रता पर आघात होता है। इसी उद्देश्य के लिये आप ने १९०८ में प्रयाग में अखिल भारतीय संपादकसंमेलन का आयोजन किया जिसकी अध्यक्षता राजा रामपालसिंह ने की और मालवीय जी इसके स्वागताध्यक्ष थे। अपने भाषण में आपने विदेशी सरकार की दमननीति तथा पत्रों पर अंकुश लगानेवाले कानून का घोर विरोध किया। देश के संपादकों का ध्यान आकृष्ट करते हुए मालवीय जी ने संघटित होकर सरकारी नीति का विरोध करने की अपील की जिससे भारतीय समाचारपत्रों की स्वतंत्रता का हनन न होने पाए। भारतीय पत्रकारिता को मालवीय जी की महान् देन में इस संमेलन का ऐतिहासिक महत्व है।

इसी कारण मालवीय जी ने एक ओर तो सभी पत्रों और पत्रकारों को सावधान एवं संघटित किया, दूसरी ओर अनुभव किया कि केवल हिंदी के ही नहीं अँगरेजी पत्रों के माध्यम से भी इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया जा सकता है। सन् १९०९

६. मालवीय जी का यह पत्र उन्हीं के अक्षरों में पृष्ठ ६०५-१० पर पूरा प्रकाशित है। —संपादक

में 'लीडर' का प्रकाशन इन्हीं मूल भावों को लेकर हुआ और उसी वर्ष विजयादशमी को बड़ी साजसज्जासहित 'लीडर' का प्रकाशन हुआ। इसके प्रकाशन की आवश्यकता स्वयं मालवीय जी के शब्दों में —

'लीडर के स्थापित होने के पूर्व एक दैनिक समाचारपत्र की इलाहाबाद में बड़ी आवश्यकता थी। सन् १८७६ ई० में स्वर्गीय पंडित अयोध्यानाथ जी ने 'इंडियन हेरल्ड' निकाला था और उस पर बड़ा धन व्यय किया। वह पत्र तीन वर्ष तक चला और अभाग्यवश उसके बाद बंद हो गया। 'लीडर' के स्थापित होने का यह एक कारण भी था। मैंने वकालत छोड़ने का निश्चय कर लिया था और उस समय मेरा विचार था कि सार्वजनिक कार्यों से भी अलग हो जाऊँ जिससे हिंदू विश्वविद्यालय का कार्य ठीक तरह से कर सकूँ। उस समय मेरे मन में आया कि यदि मैं सार्वजनिक जीवन से बिना एक पत्र स्थापित किए अलग होता हूँ तब मैं अपने प्रांत के प्रति अपने धर्म को नहीं निबाहता हूँ। मुझे उसकी आवश्यकता इतनी अधिक और अनिवार्य जान पड़ी कि मैंने विचार किया कि सार्वजनिक जीवन से अलग होने के पहिले एक पत्र अवश्य यहाँ स्थापित हो जाना चाहिए।' × × 'लीडर' कैसे निकला। उसके मार्ग में कैसी कैसी कठिनाइयाँ आईं और उनका महामना मालवीय जी ने किस प्रकार सामना किया, इसकी चर्चा पहले हो चुकी है।

२० जुलाई सन् १६३३ ई०, को 'सनातनधर्म' साप्ताहिक प्रकाशित करने के उद्देश्य की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। यह पत्र हिंदी का आदर्श पत्र था जिसमें ज्ञानविज्ञान के आधुनिकतम स्तंभ थे और जिसमें नियमित रूप से उसके अधिकारी विद्वानों के लेख प्रकाशित हुआ करते थे। मालवीय जी इस पत्र के संरक्षक और संचालक थे किंतु प्रायः लेख भी लिखते थे। सनातनधर्म के प्रथम अंक का अग्रलेख मालवीय जी का लिखा हुआ है और उसका विषय है — सनातनधर्म का स्वरूप। इस लेख की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं — संसार में जितने धर्म प्रचलित हैं उनमें सबसे प्राचीन वह धर्म है जो 'सनातन' धर्म के नाम से प्रसिद्ध है। भगवान् मनु कहते हैं — वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। इस पत्र का सिद्धांत वाक्य था — **जो हठि राखे धर्म को, तेहि राखे करतार**। प्रथम अंक में आचार्य द्विवेदी ने जो आशीर्वचन किया, वह इस प्रकार है —

पत्रं नवं खलु सनातनधर्मनाम
निर्माय शान्ति सुखदं समयानुकूलम्।
कल्याणकारक यथाधुनिकञ्च धर्म-
शास्त्रं समस्त जनतापमपा करोतु॥

'सनातनधर्म' के प्रथम अंक के स्तंभों से ही विदित हो जाता है कि कितना व्यापक दृष्टिकोण रखकर इस पत्र का प्रकाशन किया गया था। सबसे पहले संपादकीय

स्तंभ रहता था और बाद में सामयिक महत्व के प्रश्नों पर विचार किया जाता था। ऋतुचर्या, गोरक्षा, धर्मोरक्षति रक्षितः, इस्लामी दुनिया, सनातनधर्म और सांप्रदायिकता, सप्ताह के समाचार आदि स्तंभों में प्रायः सभी अपेक्षित विषयों पर अधिकारी लेखकों के तर्क एवं वैज्ञानिक पद्धति पर लेख हुआ करते थे। कविसम्राट 'हरिऔध', आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल, डाक्टर अलतेकर, पं० चंद्रबली पांडेय, आचार्य ध्रुव आदि तत्कालीन समस्त उच्चकोटि के विद्वान् एवं लेखक इस पत्र में नियमित रूप से लिखा करते थे। सनातनधर्म का वसंत अंक, कृष्ण अंक, रामनवमी पर प्रकाशित विशेषांक, होली विशेषांक सभी ने हिंदी पत्रकारिता में एक मानदंड स्थापित किया है।

*

महामना और नागरीप्रचारिणी सभा

सुधाकर पांडेय

किसी भी क्षेत्र में युगजीवन को नवीन चेतना की लहरों से आंदोलित करना सहज नहीं है। चेतना की लहरों को कर्म की अनुगामिनी बना लोकजीवन में शिवत्व की प्रतिष्ठा करना तो सदा से ही भागीरथी की अवतारणा करने के समान माना गया है। ऐसा करनेवाले तपःपूतों को श्रद्धावनत हो लोक युगयुगांतर तक स्मरण करता रहता है। उसे इससे सनातन प्रेरणा मिलती है।

नागरीप्रचारिणी सभा को महामना के उन्मेषशील व्यक्तित्व की छाया इसके जन्मकाल से ही प्राप्त है। सभा की स्थापना के प्रथम वर्ष से उन्होंने सभा की संरक्षकसदस्यता स्वीकार की और जीवनपर्यंत उससे संबद्ध रहे।

सामान्यतः लोकजीवन इस बात का साक्षी है कि संमानित लोग संस्थाओं के सदस्य तो हो जाते हैं लेकिन उनकी प्रवृत्तियों को पल्लवित करने की चिंता उनमें नहीं रहती किंतु मालवीय जी के संबंध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। जिस दिन से वे संरक्षकसदस्य हुए उसी दिन से प्रयाग में वकालत करते हुए भी सभा की सेवा में संलग्न हो गए। नागरीप्रचारिणी के माध्यम से की गई उनकी हिंदीसेवाओं को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथमतः हम उनकी उन सेवाओं का उल्लेख करेंगे जो हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि के प्रचार, प्रसार एवं उसके अधिकार की पुनःस्थापना से संबद्ध हैं तथा दूसरे वर्ग के अंतर्गत उन सेवाओं की चर्चा की जायगी जिनके बल पर सभा की कार्यक्षमता एवं संपदा में वृद्धि हुई।

जिस समय नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना हुई उस समय हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि को वह अधिकार भी प्राप्त नहीं था जो अन्य देशी भाषाओं को था। परिवर्तित युग में लोक भाषा की व्याप्ति के प्रमुख साधन विद्यालय तथा न्यायालय थे। लार्ड मेकाले की योजना शिक्षा के क्षेत्र में प्रचलित थी। सर सैयद अहमद खाँ द्वारा हिंदी उर्दू के रोपे गए संघर्ष का बीज वृक्ष हो चुका था। सन् १८३७ ई० तक न्यायालयों की भाषा फारसी थी। सर्वसाधारण के लिये दुरूह समझकर देशी भाषा के प्रयोग की भी सुविधा सरकार ने १८३७ में दी। फलतः बंगाल में बँगला, उड़ीसा में उड़िया, गुजरात में गुजराती और महाराष्ट्र में मराठी का प्रयोग किया जाने लगा पर मध्यप्रदेश, बिहार और संयुक्तप्रांत में हिंदुस्तानी का ही प्रयोग चलता रहा। अँगरेज अधिकारियों को यह समझा दिया गया था कि उर्दू ही हिंदुस्तानी

है; अतः हिंदी के इन प्रांतों की अदालतों में फारसी लिपि में उर्दू का ही प्रयोग चलता रहा। इस भ्रम का बोध बिहार और मध्यप्रदेश के शासन को तो ४४ वर्ष के उपरांत हो गया पर संयुक्तप्रांत की सरकार ने इधर कत्तई ध्यान नहीं दिया। नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना ऐसे ही समय में हुई थी। यद्यपि सन् १८७५ और १८८५ के विधान इस पक्ष में थे कि समन आदि उर्दू और हिंदी दोनो में भरे जायँ तो भी छल, बल और स्वार्थ के वात्याचक्र के बीच फारसी लिपि में उर्दू का ही प्रयोग ऐसे कार्यों में होता रहा। हिंदी का कहीं ठिकाना भी नहीं था। सभा की स्थापना के उपरांत तत्कालीन गवर्नर काशी आए और सभा के प्रतिनिधिमंडल ने इस संबंध में उनसे मिलना चाहा परंतु उसे इसके लिये अवसर ही नहीं दिया गया। ठीक इसी समय हिंदी के विरुद्ध एक और कुचक्र चला, वह था रोमन लिपि को सरकारी दफ्तरों की लिपि बनाने का आंदोलन। सभा ने गवर्नर को पत्रक तो अर्पित कर दिया किंतु उनके सचिव का उत्तर चालू राजनीतिक ढंग का था कि यथावसर इस प्रार्थनापत्र पर विचार किया जायगा।

निराशा के इस वातावरण के बीच भी सभा द्वारा नागरी की प्रतिष्ठा का प्रयत्न चलता रहा। २० अगस्त १८९६ ई० को 'बोर्ड आव् रेवेन्यू' ने सभा का यह आग्रह स्वीकार कर लिया कि समन आदि हिंदी में जारी किए जायँ। इस सफलता के फलस्वरूप सभा के कार्यकर्ताओं का उत्साह द्विगुणित हो गया। ऐसे ही समय इस कार्य में महामना का योग सभा को मिला। नागरीप्रचारिणी सभा की प्रबंधसमिति ने १३ अगस्त १८९६ ई० में यह निश्चय किया कि देवनागरी लिपि को राजकीय कार्यालयों में स्थान दिलाने के लिये सभा का एक प्रतिनिधिमंडल गवर्नर से मिले। उपसमिति के सदस्यों ने इस प्रसंग में प्रांतव्यापी दौरा किया और बाबू श्यामसुंदरदास ने पं० मदनमोहन मालवीय से प्रयाग में संपर्क स्थापित किया। पं० मदनमोहन मालवीय ने इस क्षेत्र में आश्चर्यजनक क्षमता का परिचय दिया।

मालवीय जी ने दो साल के अथक परिश्रम के उपरांत अँगरेजी में एक विस्तृत निबंध 'कोर्ट करेक्टर ऐंड प्राइमरी एजुकेशन' शीर्षक से लिखा। इस निबंध-लेखन में उन्होंने अत्यधिक श्रम किया, आँकड़े एकत्र किए, छानबीन की। इस कार्य में उन्होंने सरकारी कार्यालयों की भी धूल फाँकी। हिंदी और देवनागरी लिपि का समर्थन करनेवाला यह तथ्यपूर्ण तथा वैज्ञानिक निबंध सन् १८९७ में इंडियन प्रेस से प्रकाशित हुआ। यद्यपि यह निबंध अँगरेजी में था तो भी हिंदी में लिखे जाने की अपेक्षा यह अधिक लाभकारी प्रमाणित हुआ, क्योंकि जिन्हें सत्य का साक्षात्कार कराना था वे सब अँगरेजी जाननेवाले ही लोग थे। इस निबंध में सहिष्णुतापूर्वक जो तर्क हिंदी के पक्ष में मालवीय जी द्वारा उपस्थित किए गए उनका उत्तर दे सकना सहज नहीं।

नागरीप्रचारिणी सभा ने इस कार्य को आगे बढ़ाने के लिये १७ व्यक्तियों का एक व्यापक मंडल बनाया जिसमें सामान्यतः सभी वर्गों के लोग थे। हिंदीतर भाषाभाषी विशिष्ट जन भी इसमें संमिलित किए गए। इस मंडल में नागरीप्रचारिणी सभा के केवल एक प्रतिनिधि थे और वे थे मालवीय जी। प्रांत के गवर्नर सर एंटोनी मैकडानल ने प्रतिनिधिमंडल से मिलने के लिये २ मार्च, १८९८ का दिन निश्चित किया। उस समय मालवीय जी ने साठ हजार हस्ताक्षरों से युक्त एक निवेदनपत्र भी अपनी पुस्तिका के साथ संलग्न कर दिया। मालवीय जी ने जिस गंभीरता से उस समय काम किया उससे हिंदी की विजय की आशा दृष्टिगोचर होने लगी। इतने मात्र से ही मालवीय जी ने इस कार्य को यहीं छोड़ना उचित नहीं समझा। वे तो ऐसे मनीषियों में से थे जो अपने स्वप्नों को बिना मूर्त किए चैन लेनेवाले नहीं होते। उन्होंने बाबू श्यामसुंदरदास को इस बात के लिये उत्प्रेरित किया कि वे प्रांत के विभिन्न बड़े नगरों का दौरा कर वहाँ के हिंदीप्रेमियों को इस दिशा में आंदोलन करने के लिये संगठित करें। संयोग से मैकडानल ने उन्हीं नगरों का दौरा किया जिनमें श्यामसुंदरदास जी हिंदी आंदोलन के लिये समितियाँ बना चुके थे। मालवीय जी की प्रेरणा से उनके संरक्षण में संचालित इस आंदोलन ने ऐसा प्रभाव दिखलाया कि हिंदी और देवनागरी लिपि को लेकर देश भर में एक आंदोलन खड़ा हो गया। देश भर की पत्र पत्रिकाओं ने इसे अपनी मर्यादा का विषय बना लिया। अंततोगत्वा १८ अप्रैल १९३० में आंशिक रूप से यह प्रयास सफल हुआ। हिंदी और देवनागरी की इस प्रतिष्ठा का मुख्य श्रेय नागरीप्रचारिणी सभा को है, तो भी इसके अनन्य प्रेरणासूत्र के रूप में मालवीय जी महाराज की सेवाएँ अविस्मरणीय रहेंगी। शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्हीं की तपस्या से हिंदी को प्राथमिक विद्यालयों से लेकर विश्वविद्यालयों तक में स्थान मिला।

इसके पश्चात् नागरीप्रचारिणी सभा के माध्यम से हिंदी के प्रचारक्षेत्र में जो कार्य उन्होंने किया वह भी इससे कम गौरवशाली नहीं रहा है। हिंदी को केवल प्रांत की भाषा बनाकर ही मालवीय जी को संतोष नहीं हुआ क्योंकि हिंदी को ही वे राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करनेवाले महान् व्यक्ति थे। इस दिशा में प्रथम महत्वपूर्ण प्रयत्न नागरीप्रचारिणी सभा ने हिंदी - साहित्य - संमेलन की स्थापना के द्वारा किया। इसमें भी मालवीय जी का योग कम नहीं था।

१ मई सन् १९१० ई० को नागरीप्रचारिणी सभा ने यह निश्चय किया कि काशी में हिंदी - साहित्य - संमेलन का आयोजन किया जाय। साथ ही यह निश्चय भी किया कि संमेलन में किन विषयों पर विचार हो और कौन सभापति चुना जाय। इसका निर्णय समाचारपत्रों में लेख छपवाकर हिंदीप्रेमियों से कराया जाय। इस कार्य के लिये ११ व्यक्तियों की प्रबंधसमिति बनाई गई। पं० मदनमोहन मालवीय,

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी और श्री गोविंदनारायण मिश्र के नाम सभापतिपद के लिये आए और नागरीप्रचारिणी सभा की प्रबंधसमिति ने मालवीय जी को ही हिंदी - साहित्य - संमेलन के प्रथम सभापति के रूप में स्वीकार किया। संमेलन का प्रथम अधिवेशन १०, ११ और १२ अक्टूबर १९१० को नागरीप्रचारिणी सभा में हुआ। संमेलन का आयोजन व्यापक मतभेद के अंतर्गत हुआ था। पं० मदनमोहन मालवीय ने इस अवसर पर सभापतिपद से सभा के पक्ष का प्रबल समर्थन किया और हिंदी के पक्ष में जो कुछ भी उन्होंने निवेदन किया वह अत्यंत विद्वत्तापूर्ण तथा हिंदी के हित का परम साधक था। विभिन्न प्रांतों से ३०० प्रतिनिधि इसमें संमिलित हुए तथा ४२ संपादक विभिन्न प्रदेशों के इस अवसर पर पधारे थे। इस संमेलन में अदालतों में नागरी लिपि के प्रचार, युनिवर्सिटी शिक्षा में हिंदी के प्रवेश, हिंदी पाठ्य पुस्तकों के लेखन, राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि के रूप में नागरी के प्रयोग, स्टांपों और सिक्कों पर नागराक्षरों की प्रतिष्ठा आदि विषयों के संबंध में महत्वपूर्ण निश्चय हुए। इन निश्चयों का कार्यान्वयन ही हिंदी की प्रगति की कहानी का मूलाधार बना। सभापतिपद के लिये मालवीय जी का नाम प्रस्तावित करते समय महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी ने उनके संबंध में जो कुछ कहा था वह पूर्णतः सत्य था; इस संमेलन का सभापतित्व किसी ऐसे पुरुष को देना चाहिए जिसमें चंचलता न हो, गंभीरता हो और जो बड़े बड़े कामों पर बड़े विचार से विचार करे, मेरी समझ में जिस पुरुष को गवर्नमेंट ने प्रधान माना वही माननीय पं० मदनमोहन मालवीय महाशय इस पद के लिये सर्वतोभाव से उपयुक्त पुरुष हैं।' पं० श्यामबिहारी मिश्र ने उस अवसर पर कहा था 'हिंदी की जो उन्नति आज दिखाई देती है उसमें मालवीय जी का उद्योग मुख्य कहना चाहिए।···इस अवसर पर हमें दूसरा सभापति इनसे बढ़कर नहीं मिल सकता।'

इस सफल संमेलन की एक और भी विशेषता थी और वह विशेषता थी 'पैसा फंड' की व्यवस्था। नागरी अक्षरों तथा हिंदीसाहित्य के अभ्युदय के लिये एक निधि की स्थापना के संबंध में सभापति महाशय ने अत्यंत मार्मिक अपील करते हुए पैसा फंड में सहायता देने के लिये लोगों को उत्साहित किया फिर तो संमेलन में पैसा बरसने लगा और तत्काल ३५२४–२–६ रुपए का चंदा एकत्र हो गया। साथ ही नागरीप्रचारिणी सभा पर जो ६०००) का ऋण हो गया था उसे भी चुका देने का आश्वासन मिला। मालवीय जी महाराज ने स्वयं ११००० पैसों की सहायता का वचन दिया।

इस प्रकार इस संमेलन द्वारा सभा का सभी प्रकार से लाभ हुआ। सन् १९२८ में संमेलन का १८वाँ अधिवेशन काशी नागरीप्रचारिणी सभा में पुनः हुआ जिसके स्वागताध्यक्ष पं० मदनमोहन मालवीय बने। सभा के प्रांगण में आयोजित

यह संमेलन भी अत्यंत सफल रहा। इतना सफल कि सभा के इतने भूतपूर्व सभापति किसी भी अधिवेशन में उपस्थित नहीं हुए थे। नागरीप्रचारिणी सभा के सुपुत्र संमेलन की सेवाओं से हिंदीजगत् परिचित है और मालवीय जी की इसपर भी जीवनपर्यंत कृपा रही।

मालवीय जी सदा ही हिंदी के उस रूप के समर्थक रहे जो इसका प्राकृत रूप है। वे हिंदुस्तानी के कट्टर विरोधी थे। नागरीप्रचारिणी सभा ने इस संबंध में जब कभी कोई सहायता उनसे चाही उन्होंने अपनी अतिकार्यव्यस्तता के बीच भी इसके लिये अवकाश निकाला।

हिंदीजगत् का सर्वाधिक वर्तमान पुण्यतीर्थ सभाभवन है जिसे इस युग के समस्त हिंदीप्रेमी श्रद्धावनत हो माँ भारती की तपस्या की अनंत प्रेरणाभूमि के रूप में जानते, मानते और पूजते हैं। सभा की समस्त प्रवृत्तियों का जिस भवन से संचालन, नियंत्रण तथा पल्लवन हुआ, महामना का उससे भी संबंध निजत्व का था। इसके निर्माण में भी उन्होंने महत्वपूर्ण योगदान दिया था। सन् १८९८ ई० तक सभा का कार्य यत्रतत्र दान, मँगनी एवं किराए की कोठरियों में चलाया जाता था किंतु कार्य के विस्तार ने सभा को अनुभव करा दिया कि विना निजी भवन के अब उसका निस्तार नहीं है। सभा की आर्थिक स्थिति बहुत दयनीय थी। तो भी ९ जुलाई १८९८ ई० को सभा की प्रबंधसमिति ने भवन बनवाने का निश्चय किया। उस समय वातावरण भी ऐसा नहीं था कि यह संकल्प सहज ही पूरा किया जा सकता क्योंकि केवल भवन ही नहीं बनवाना था अपितु साहित्य के भंडार की श्रीवृद्धि के लिये किए गए संकल्पों की पूर्ति भी करनी थी। पर संकल्प सभा का संबल था। भवन के साथ ही साथ सभा को ऐसे स्थायी कोष की आवश्यकता थी जिसकी आय से उसमें स्थिरता आती। फलतः ८ फरवरी १९०१ ई० को स्थायी कोष के लिये ट्रस्टियों का चुनाव सभा ने किया। जो द्रव्य सभाभवन के निर्माण के लिये संगृहीत था वही स्थायी कोष की पूँजी बना। पं० मदनमोहन मालवीय जी भी ११ ट्रस्टियों में से एक थे। इस मंडल के जिम्मे मुख्य कार्य सभाभवन के निर्माण का था साथ ही इतने धन की व्यवस्था का भी था जिसके सूद से सभा अपने अन्य कार्य चला सके। इन निधि के नियम बनाने का कार्य भी इस समिति को ही सौंपा गया था। सभा के हित के लिये ऐसे ठोस और सुचारु नियम बनाए गए जिनसे सभा को शक्ति मिली। आय के संचय एवं व्यय के उचित प्रबंध के लिये जिस संरक्षकमंडल की स्थापना की गई मालवीय जी उसके भी अत्यंत प्रभावशाली सदस्य थे। २३ वर्ष तक सभा के आर्थिक प्रबंध का सारा कार्य यह संरक्षकमंडल करता रहा और मालवीय जी इसके सदस्य तथा समय समय पर पदाधिकारी भी थे। इस संरक्षकमंडल की देखरेख में भवननिर्माण का कार्य भी पूरा

हुआ। इसमें मालवीय जी का योग कम महत्व का नहीं था। १८ फरवरी १९०४ ई० को संयुक्तप्रदेश के लेफ्टिनेंट गवर्नर ने काम चलाऊ रूप में निर्मित सभाभवन का उद्घाटन किया। उन्हें उस समय अँगरेजी में जो मानपत्र दिया गया उसको न केवल मालवीय जी महाराज ने देखकर सँवारा था अपितु गृहप्रवेशोत्सव समिति के सदस्य के रूप में उस समय उन्होंने सभा के हित में महत्वपूर्ण भूमिका भी निभाई थी। अधूरा सभाभवन बनता गया, पर सभा के कार्यों में उत्तरोत्तर विस्तार होते रहने के कारण उसे बराबर स्थानाभाव का अनुभव होता रहा। इस विस्तार की पूर्ति के लिये रायकृष्ण जी ने सभाभवन के समीप की अपनी जमीन जिसका मूल्य लगभग १५०००) रुपए था, सभा को दान कर दिया। हिंदी के महान् कोश 'हिंदी शब्दसागर' की समाप्ति के उत्सव में कोशोत्सव के अवसर पर नए भवन का शिलान्यास (१४ फरवरी १९२८ ई०) महामना ने ही किया। प्रस्तरमंजूषा में जो ताम्रपत्र रखा गया उसमें मालवीय जी के संबंध में जो कुछ निवेदन किया गया था, वह निम्नांकित है—

'आज माघ शुक्ल ५, गुरुवार, सं० १९८५ को इसके दूसरे नवीन भवन का शिलान्याससंस्करण देश के पूज्य नेता पं० मदनमोहन मालवीय द्वारा संपन्न हुआ। ईश्वर इस सभा की नित्य उन्नति करे, हिंदी भाषा तथा नागरी लिपि का स्वावलंबी भारतवर्ष में अखंड राज्य हो और इसके द्वारा भारतवासी एकता के सूत्र में बँधकर राष्ट्र के निर्माण में सफल हों।'

इस अवसर पर जो शिलालेख लगाया गया वह इस प्रकार है—

'इस स्थल पर नागरीप्रचारिणी सभा काशी के नवीन भवन का शिलान्यास संस्कार माघ शुक्ल ५ सं० १९८५ वि० को महामना पं० मदनमोहन मालवीय जी के करकमलों से संपन्न हुआ।'

यद्यपि सभा इस संकल्प की पूर्ति आज तक न कर सकी तो भी मालवीय जी के हाथों रोपे गए इस संकल्प की पूर्ति निकट भविष्य में निश्चय ही होगी इसमें संदेह नहीं। इस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में भी मालवीय जी की सेवाएँ सभा को स्थायित्व प्रदान करनेवाली रही हैं।

नागरीप्रचारिणी सभा की कीर्ति का बहुत बड़ा कारण आर्यभाषा पुस्तकालय भी है। भारतवर्ष में हिंदी का यह अपने ढंग का अन्यतम पुस्तकालय है। इसकी सहायता के अभाव में विश्वविद्यालयों में होनेवाले अनुसंधानकार्य पूरे नहीं हो पाते। इसमें संगृहीत पुस्तकें तथा पत्र पत्रिकाएँ हिंदी की गौरव हैं। मिर्जापुर के श्री गदाधर सिंह का आर्यभाषा पुस्तकालय नागरीप्रचारिणी सभा को १६ जून १८९८ ई० को प्राप्त हो गया। इसका प्रवर्धित रूप आर्यभाषा पुस्तकालय है। श्री गदाधर सिंह का अवसान होने के उपरांत सभा अत्यंत झंझट में पड़ गई, यद्यपि अपनी मृत्यु के पूर्व ही वे

२५ जुलाई १८९८ को सभा के पक्ष में वसीयतनामा लिख गए थे। उस वसीयत-नामे के द्वारा पुस्तकालय की यथोचित उन्नति और स्थायित्व के लिये वे अपनी समस्त संपत्ति सभा को अर्पित कर गए थे। इस वसीयतनामे के विरोध में कई विपक्षी खड़े हुए। फलतः सभा को मुकदमा लड़ना पड़ा। यह मुकदमा बहुत लंबा चला और हाईकोर्ट तक भी गया। सन् १९०४ को सभा हाईकोर्ट से मुकदमा जीत गई। इसका भी श्रेय पं० मदनमोहन मालवीय जी को है। जिस तत्परता - दृढ़ता के साथ उन्होंने सर सुंदरलाल जी आदि की सहायता से सभा के पक्ष का समर्थन किया वह विरल ही है।

समय समय पर सभा की अन्य विशिष्ट प्रवृत्तियों में भी वे योग देते रहे। जिस समय नागरीप्रचारिणी सभा पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का अभिनंदन कर रही थी उस समय २ मई १९३३ ई० को सभा में अभिनंदनोत्सव मनाया गया और ३ मई को इलाहाबाद में द्विवेदी मेले का आयोजन हुआ जिसका उद्घाटन महामना ने ही किया। आज तक अभिनंदन का इतना सफल आयोजन किसी साहित्यकार का नहीं हो सका।

वृद्ध हो जाने पर भी मालवीय जी का आशीर्वाद निरंतर सभा पर था। उसकी प्रवृत्तियों को प्रवर्धित देखने के लिये वे आशीर्वाद के साथ ही साथ पथप्रदर्शन करने-वाली मूल्यवान राय भी देते थे। इस बात से हिंदीजगत् भली भाँति परिचित है कि हिंदी और हिंदुस्तानी के संघर्ष में जिस दृढ़ता के साथ सभा और संमेलन के पक्ष का उन्होंने समर्थन किया था वह अत्यंत महत्वपूर्ण था।

सन् १९४६ में मालवीय जी के तिरोधान से सभा का एक वयोवृद्ध वास्तविक संरक्षक उठ गया। उस समय सभा ने जो शोकप्रकाश किया था वह इस प्रकार है —

'अत्यंत शोक का विषय है कि इस वर्ष हमारे बीच से कई वयोवृद्ध साहित्य-सेवी उठ गए। महामना मालवीय जी बहुत दिनों से रुग्ण हो गए थे, परंतु जब कभी हिंदी भाषा और साहित्य तथा देवनागरी लिपि एवं भारतीय संस्कृति संबंधी कोई गंभीर समस्या उठ खड़ी होती थी, वे बराबर अपना परामर्श और आशीर्वाद देते रहे। हिंदी से उन्हें आरंभ से ही कितना अनुराग था यह इसी से प्रकट होता है कि सभा के आरंभ काल में आर्यभाषा पुस्तकालय के जन्मदाता श्री गदाधर सिंह जी की वसीयत-वाले मुकदमे में, सभा से उस समय कोई विशेष संपर्क वा संबंध न होते हुए भी, मालवीय जी ने विना कुछ पारिश्रमिक लिए बड़ी लगन से पैरवी की थी। इसके उपरांत तो सभी कार्यों में उनका प्रमुख योग प्राप्त होता रहा। संयुक्तप्रांत की कचहरियों में नागरी का प्रवेश कराने के लिये उन्होंने ६० हजार व्यक्तियों के हस्ताक्षर से सरकार के पास स्मृतिपत्र भेजा था एवं 'कोर्ट कैरेक्टर ऐंड प्राइमरी एज्युकेशन'

नामक महत्वपूर्ण अँगरेजी पुस्तक तैयार करके सभा द्वारा प्रकाशित कराई थी। हिंदी-साहित्य-संमेलन की योजना बनाने का श्रेय उन्हीं को है। काशी में संमेलन का जो पहला अधिवेशन हुआ था उसके सभापति भी वे ही थे। ऐसे कर्मयोगी को खोकर कौन जाति दुखी न होगी।'

जिस व्यक्ति का सभा के प्रत्येक कार्य में घनिष्ठ योगदान रहा हो, जिसने हर स्थिति में उसे नैतिक समर्थन प्रदान किया हो तथा जो इसका प्रेरणास्रोत रहा हो उसके अवसान पर सभा ने जो शोक अनुभव किया वह स्वाभाविक था। आज सभा महामना के कर्तृत्व से प्रेरणा लेती हुई विकास के अनेक नए प्रतिमान स्थापित कर अपने पथ पर आगे बढ़ती चली जा रही है।

*

महामना पंडित मदनमोहन मालवीय : जीवन और कर्तृत्व

जयशंकर मिश्र

अनन्य देशभक्त, अनुपम समाजसुधारक, कर्मठ हिंदीसेवक, क्रांतदर्शी शिक्षाविशारद और विश्वप्रसिद्ध काशी हिंदू विश्वविद्यालय के संस्थापक महामना मालवीय जी का जन्म पौष कृष्ण अष्टमी वैक्रमाब्द १९१८ (२५ दिसंबर १८६१) को प्रयाग के एक सुशिक्षित मध्यवर्गीय सनातनी परिवार में हुआ था। आपके पिता पंडित व्रजनाथ जी मालव के गौड़ ब्राह्मण थे—संस्कृत और हिंदी के सुख्यात विद्वान्। गीता, भागवत, महाभारत और रामायण की व्याख्या करने में वे निपुण थे। अतः मालवीय जी को संस्कृत हिंदी का ज्ञान रिक्थ में मिला था। धार्मिक और सांस्कृतिक वातावरण में उन्होंने गीता, भागवत आदि के श्लोक कंठस्थ किए।

आर्थिक अवस्था ठीक न रहने पर भी पिता ने इन्हें प्रयाग जिला स्कूल में अँगरेजी पढ़ने के लिये भेजा। सन् १८७९ में इन्होंने हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके बाद म्योर सेंट्रल कालेज, इलाहाबाद में शिक्षा ग्रहण करने लगे। १८८४ ई०में कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। छात्रावस्था से ही इनकी तर्कचातुरी, सत्यनिष्ठा, परिश्रम और लगन देखकर अध्यापक इनसे अत्यंत प्रसन्न थे, विशेष कर पंडित आदित्यराम भट्टाचार्य की इनपर परम कृपा थी। उनके स्नेह-पूर्ण संपर्क में मालवीय जी समाजसंगठन और देशप्रेम की ओर उन्मुख हुए। घर की स्थिति ठीक न रहने के कारण ये अपना अध्ययन और आगे न चला सके। १८७८ में ही, हाई स्कूल पास करने के पहले, इनका विवाह पं० नंदराम की कन्या कुंदन देवी से हो चुका था। घरगृहस्थी का भार सँभालना मालवीय जी के लिये आवश्यक हो गया। वे स्वयं लिखते हैं—

'जब मैं बी० ए० पास हुआ तो घर में गरीबी बहुत थी। घर में प्राणियों को अन्नवस्त्र का भी क्लेश था।'

फलतः उन्होंने १८८४ में गवर्नमेंट हाईस्कूल में अध्यापन का कार्य ले लिया।

अध्यापनकाल में वक्तृत्व शक्ति, हिंदी, अँगरेजी, संस्कृत, और उर्दू भाषाओं के अर्थोत्कर्षविधायक प्रयोग, मृदु स्वभाव, ज्ञात विषयों की सरल तथा सुबोध अभिव्यक्ति और निर्मल चरित्र के कारण उन्होंने सबका संमान प्राप्त कर लिया। समाजसेवा में रुचि

लेने के कारण नगर के सभी लोग उनके प्रति आदरवान् हो उठे। १८८० ई० में प्रयाग में 'हिंदूसमाज' की स्थापना हुई। मालवीय जी ने उसमें सक्रिय योग दिया और साथ ही उन्होंने अपने गुरु (म्योर सेंट्रल कालेज के प्राध्यापक) महामहोपाध्याय आदित्यराम भट्टाचार्य की प्रेरणा से उसी समय 'मध्य हिंदू समाज' की स्थापना कर हिंदूसंगठन और सुधार के कार्य को आगे बढ़ाया। कुछ ही दिन बाद प्रयाग में उन्होंने 'भारतीभवन' पुस्तकालय की स्थापना भी की जो आज भी हिंदी की सेवा कर रहा है।

उनकी समाजसेवा देशसेवा की भावना से ओतप्रोत थी। तत्कालीन अँगरेजी शासन की कठोरता सर्वविदित है। आए दिन उत्पीड़न की नई नई चालें सामने आती थीं। मालवीय जी को इससे असीम वेदना हुई। देश को जागरूक और प्रबुद्ध करने के लिये उन्होंने संघटन, भाषण और लेखन के माध्यम का आश्रय लिया।

अध्यापनकाल में ही उन्होंने कलकत्ता के १८८६ ई० वाले इंडियन नेशनल कांग्रेस के द्वितीय अधिवेशन में भाग लिया। वहाँ उनके भाषण से उपस्थित जन मंत्रमुग्ध हो गए। उदारता की मूर्ति दादा भाई नौरोजी ने अध्यक्ष के आसन से कहा 'इनकी वाणी भारतमाता की वाणी है।'

कालाकाँकर के राजा रामपालसिंह ने अपने दैनिक पत्र 'हिंदोस्तान' के संपादन के लिये मालवीय जी से अनुरोध किया। १८८७ ई० में अध्यापनकार्य छोड़ ये 'हिंदोस्तान' के संपादन में प्रवृत्त हुए। साथ ही सार्वजनिक सभाओं और संघटनों आदि में व्याख्यानों द्वारा कांग्रेस के सिद्धांतों, और उद्देश्यों का प्रचार करने लगे। उन्होंने 'हिंदोस्तान' का संपादन १८८९ ई० तक किया।

प्रयाग हाईकोर्ट के प्रमुख वकील श्री अयोध्यानाथ जी उनकी तर्कप्रणाली और वाक्शक्ति से प्रभावित हुए। उन्होंने मालवीय जी को एल-एल० बी० की परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिये प्रेरित किया। १८९२ ई० में मालवीय जी ने उक्त परीक्षा कलकत्ता विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण की और वकालत आरंभ कर दी। न्यायालय में इनकी वाग्मिता और सतर्क विषयप्रतिपादन का सिक्का बैठ गया। शीघ्र ही ये लोकप्रिय वकीलों में मान्य हो गए। वकालत करते हुए इन्होंने लोकसेवाव्रत का भी निर्वाह किया। जहाँ ये वकालत को अपना जीवनसाधन समझते थे, वहाँ लोकसेवा को ध्येयधर्म।

मालवीय जी अब तक देश में प्रख्यात हो चुके थे। सभी उनका संमान करते थे। सन् १९०२ ई० में मालवीय जी प्रांतीय कौंसिल के सदस्य हुए और १९१२ ई० तक रहे। १९१० ई० में वाइसराय की केंद्रीय कौंसिल में प्रांतीय प्रतिनिधि होकर गए और १९१९ ई० तक रहे। १९१६ ई० में लार्ड हार्डिंज ने इन्हें औद्योगिक कमीशन का सदस्य नियुक्त किया। १९२४ से १९३० तक लेजिस्लेटिव असेंबली के सदस्य थे।

इससे यह स्पष्ट है कि मालवीय जी के परामर्श को विदेशी सरकार भी महत्व प्रदान करती थी।

अपने विचारों को देश की जनता तक पहुँचाने के लिये उन्होंने १९०७ ई० में 'अभ्युदय' और 'मर्यादा' नामक पत्रों का संपादन-प्रकाशन आरंभ किया। 'अभ्युदय' के सहसंपादकों में राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन जैसे व्यक्ति भी थे।

वे अपने सिद्धांतों और विचारों के कट्टर पक्षपाती थे। दैनिक पत्रों में प्रकाशनार्थ आए हुए लेखों का इनके नियमों की कसौटी पर खरा उतरना आवश्यक था। एक बार इनके नियम का पालन न हो पाया। श्री कृष्णकांत मालवीय को १७ जून १९१४ के पत्र में इन्होंने लिखा था —

चिरंजीवि प्रिय कृष्णकांत,

'पिछली रात हमने स्वप्न देखा कि 'अभ्युदय' में आग लग गई है। इस समय डाक में आए २३ संख्या के 'अभ्युदय' को पढ़कर जो वेदना हुई, वह उससे बहुत अधिक है, जो स्वप्न में प्रेस को जलते देखकर हुई थी। इस अंक के प्रधान लेख के छपने से पहले यदि अभ्युदय प्रेस भस्म हो गया होता तो हमको उतना दुख न होता। यदि अभ्युदय को बंद करके इसका प्रायश्चित हो सकता, तो हम इसे तुरंत बंद कर देते। हमारे जीते जी ऐसे लेख प्रकाशित करना उचित नहीं जिनके कारण समाज के सामने हमें अपराधी बनना और लज्जित होना पड़े।'

पंजाब के प्रसिद्ध दैनिक 'पंजाबी' के संपादक श्री अठवले और श्री रामचंद्र पर १९०७ में अँगरेज सरकार ने मुकदमा चलाया। इस पर मालवीय जी ने 'अभ्युदय' के संपादकीय में लिखा था —

'संपादक ने अपना संपादकीय लेख लिखकर एक महत्वपूर्ण सार्वजनिक मामले के ऊपर सरकार और जनता दोनों का ध्यान दिलाया है। यदि ऐसे मुकदमे में संपादक को सजा हुई तो समाचारपत्रों की स्वतंत्रता को बड़ी बाधा पहुचेगी। संतोष हमें इस बात से है कि 'पंजाबी' के संपादक श्री अठवले ने अपने कर्तव्यपालन में हर प्रकार का साहस और दृढ़ता दिखाई है।'

भारतीय समाचारपत्रों के प्रति सरकार के कठोर नियंत्रण को देखकर मालवीय जी ने अखिल भारतीय संपादकसंमेलन बुलाकर स्वतंत्र निर्णय लिया। १९०८ ई० में उन्होंने अखिल भारतीय संपादकसंमेलन का आयोजन प्रयाग में किया जिसके सभापति राजा रामपालसिंह हुए और स्वागताध्यक्ष स्वयं मालवीय जी। इन्होंने भाषण देते हुए कहा था —

'विदेशी सरकार अपनी दमननीति को अत्यधिक व्यापक बनाने के लिये प्रेस ऐक्ट और न्यूज पेपर ऐक्ट में ऐसे प्रविधान करने जा रही है, जिससे इस देश में

समाचारपत्रों की स्वाधीनता समाप्त हो जायगी। यदि भारतीय समाचारपत्रों की स्वाधीनता के इस हनन का मुकाबला न किया गया तो भारतीय समाचार पत्रों का भविष्य खतरे में पड़ जायगा।'

इसी समय मालवीय जी प्रांतीय राजनीतिक संमेलन के भी सभापति हुए। अन्य प्रांतों में अपने ध्येय और विचार का प्रसार करने के लिये मालवीय जी ने एक अँगरेजी पत्र के प्रकाशन की आवश्यकता का अनुभव किया। पंडित मोतीलाल नेहरू के सहयोग से विजयादशमी, २४ नवंबर १९०९, को अँगरेजी दैनिक 'लीडर' का प्रकाशन प्रारंभ हुआ। इस दैनिक पत्र ने देश को श्री नगेंद्रनाथ गुप्त और सी० वाई० चिंतामणि जैसे दो वरेण्य पत्रकार दिए।

कांग्रेस की स्थापना के दूसरे वर्ष से ही मालवीय जी उसके प्रचार और प्रसार के लिये तन मन से लग गए थे। उन दिनों कांग्रेस के कार्यकर्ताओं में तिलक, गोखले, लाला लाजपतराय आदि के साथ मालवीय जी भी अग्रगण्य थे। गाँधी जी अभी अफ्रिका में ही थे। भारत के लोग उनके विषय में बहुत कम जानते थे। मालवीय जी का नाम देश के सभी लोगों की जिह्वा पर था। १९०५ में लार्ड कर्जन ने बंगाल को दो भागों में बाँट दिया। इसमें अँगरेजों का मुख्य उद्देश्य एक ऐसे मुस्लिम प्रांत का सृजन करना था जिसमें इसलाम और उसके अनुवर्तियों का जोर हो। वस्तुतः बंगाल के बढ़ते हुए राष्ट्रवाद को अवरुद्ध करने का यह उपाय था। फलस्वरूप १९०८ ई० में सारे देश में बंगभंग आंदोलन भड़क उठा। तिलक को छः साल के लिये कालेपानी की सजा दे दी गई। सर्वत्र धरपकड़ जोरों पर थी। कांग्रेस का नेतृत्व मालवीय जी कुशलतापूर्वक सँभाल रहे थे। १९०९ ई० (लाहौर), १९१८ ई० (दिल्ली), १९३२ और १९३३ ई० में वे कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए।

कांग्रेस के दिल्ली अधिवेशन में अध्यक्षपद से मालवीय जी ने घोषणा की थी —

'आई आस्क यू टु डिटरमिन दैट हियर आफ्टर यू विल रिजेंट ऐंड रिजेंट दि मोर स्ट्रांगली एनी एफर्ट टु ट्रीट यू ऐज ऐन इन्फीरियर पीपुल। आई आस्क यू टू डिटरमिन दैट हेंस्फोर्थ यू विल क्लेम विथ आल दि स्ट्रेंग्थ यू कैन कमांड दैट इन योर ओन कंट्री यू शैल हैव अपार्चुनीटीज टु ग्रो ऐज फ्रीली ऐज इंगलिश मेन ग्रो इन द यू० के०। इफ यू विल एक्सर्साइज दैट सेल्फ - डिटर्मिनेशन ऐंड गो एबाउट इन्कल्केटिंग दि प्रिंसिपुल्स आव् इक्वालिटी, आव् लिबर्टी ऐंड आव् फ्रैटर्निटी एमंग अवर पीपुल, इफ यू विल मेक एव्री ब्रदर, हाउएवर ह्युंबुल ऐंड लोली प्लेस्ड, फील दैट दि डिवाइन रे इज इन हिम ऐज इट इज इन एनी हाईली प्लेस्ड पर्सन, ऐंड दैट ही इज एन्टाइटिल्ड टु बी ट्रीटेड ऐज ऐन ईकल फेलोमैन विथ आल अदर

सबजेक्टस् आव् दि ब्रिटिश एंपायर ऐंड टु टीच हिम टु आब्टेन टु बी सो ट्रीटेड यू विल हैव डिटर्मिड योर फ्यूचर फार योरसेल्वज।'

दिल्ली में फिर भाषण देते हुए इन्होंने कहा था—

'स्टैंडिंग इन दिस एंश्यंट कैपिटल आव् इंडिया बोथ आव् हिंदू ऐंड मुहमडन पीरिएड इट फिल्स मी माई कंट्रीमेन ऐंड कंट्रीविमेन, विथ इनएक्सप्रेसिबुल सारो ऐंड शेम टु थिंक दैट वी द डिसेंडेंट्स आव् हिंदूज हू रूल्ड फार १४,००० इयर्स इनदिस एक्सटेंसिव एंपायर, ऐंड दि डिसेंडेंट्स आव् मुसल्मांस हू रूल्ड हियर फार सेवेरल हंड्रेड्स इयर्स शुड हैव सो फालेन फ्राम अवर एंश्यंट स्टेट दैट वी शुड हैव टु आग्यू अवर कैपेसिटी फार इवेन ए लिमिटेड मेजर आव् आटोनामी ऐंड सेल्फ रूल।'

यह सही है कि मालवीय जी का काँग्रेस से कई बार मतभेद हुआ था किंतु उन्होंने कांग्रेस का कभी सक्रिय विरोध नहीं किया और न कांग्रेस ने ही उन्हें अपना प्रतिपक्षी माना। १९१८ ई० में जब रौलट ऐक्ट आया, तब सारे देश में विक्षोभ की लहर फैल गई। सरकार ने बर्बरता से काम लिया। अमृतसर में जलियाँवाला बाग में निहत्थे लोगों पर गोलियाँ बरसाई गईं। ४०० आदमी मरे डेढ़ हजार आहत हुए। पंजाब में १५ अप्रैल से ११ जून तक सैनिक शासन लागू कर दिया गया। उस समय मालवीय जी कांग्रेस के सभापति थे। इनकी आत्मा कराह उठी। ये और गाँधी जी जाँच के लिये अमृतसर गए। इन्होंने अँगरेज सरकार को मृदु भाषा में कठोर फटकार दी। इन्होंने इंडेंनिटी बिल का विरोध किया, जिसके द्वारा सरकार दोषी अफसरों को क्षमा करना चाहती थी। मालवीय जी ने इसकी कड़ी आलोचना की।

असहयोग आंदोलन के विषय में मालवीय जी का गाँधी जी से मतभेद हो गया और वे कांग्रेस से अन्यमनस्क हो गए। १९२१ में असहयोग और खिलाफत आंदोलन जोर पर थे। सारे देश में प्रिंस आव् वेल्स के आगमन का 'बायकाट' हुआ। ५०,००० से भी अधिक लोग जेलों में ठूँस दिए गए। सन् १९२२ ई० में गोरखपुर जिले में चौरीचौरा कांड हो गया। क्रुद्ध भीड़ ने २२ सिपाहियों को मार डाला और थाने में आग लगा दी। इस कांड में १७० अभियुक्तों को फाँसी की सजा हुई। मालवीय जी ने हाईकोर्ट में अभियुक्तों की पैरवी की और उनमें से १५१ अभियुक्तों को मुक्त करा दिया।

१९२८ ई० में साइमन कमीशन भारत आया। मालवीय जी ने इसका कड़ा विरोध किया। सारे देश में आंदोलन प्रखर हो उठा। महात्मा गाँधी का सविनय अवज्ञा आंदोलन फिर जोर पकड़ गया। दस महीने के भीतर ९०,००० आदमी जेलों में डाल दिए गए। एक सौ तीस व्यक्ति गोलियों के शिकार हुए और ४२१ घायल।

सरकार के इस पाशविक दमन से देश भर में आतंक फैल गया। मालवीय जी ने सरकार से समझौते की बातचीत आरंभ की।

फरवरी १९३१ ई० में गाँधी जी और लार्ड इरविन में जो समझौता हुआ, वह मालवीय जी के प्रयास का ही परिणाम था। ७ सितंबर १९३१ से १८ दिसंबर तक लंदन में होनेवाले गोलमेज संमेलन में गाँधी जी के साथ इन्होंने भी भाग लिया था। वहाँ से निराश लौटने पर गाँधी जी ने फिर सत्याग्रह आरंभ कर दिया। फलतः वे बंदी कर लिए गए और मालवीय जी ने कांग्रेस का नेतृत्व सँभाला। उस समय मालवीय जी कांग्रेस के अध्यक्ष रहे। देशसेवा के प्रति उनका विचार था—

'यह हमारी मातृभूमि है, यह हमारी पितृभूमि है। जो लोग सुजन्मा हैं, जिनके जीवन बहुत अच्छे हुए हैं, राम, कृष्ण, बुद्ध आदि पुरुषों के, महात्माओं के, आचार्यों के, ब्रह्मर्षियों और राजर्षियों के, गुरुओं के, धर्मवीरों के, शूरवीरों के, दानवीरों के, स्वतंत्रता के प्रेमी देशभक्तों के उज्ज्वल कामों की, यह कर्मभूमि है। इस देश में हमको परमभक्ति करनी चाहिए और धन से भी इसकी सेवा करनी चाहिए।'

१९३१ में जब सरकार बंबई के कपड़ा उद्योग को संरक्षण देकर अपनी गोटी लाल करना चाहती थी, तब मालवीय जी ने उद्योगपतियों की तीखी भर्त्सना की थी—

'मेरी इच्छा है कि बंबई जीवित रहे। मेरी इच्छा है कि बंबई का उद्योग जीवित रहे, पर यदि मेरे सामने अपने देश और बंबई के उद्योगों में से दो विकल्प होंगे तो मैं बिना झिझक देश की वेदी पर उसे कुर्बान करने में संकोच नहीं करूँगा। मुझे अपने देश से सबसे पहला और आखिरी प्यार है। यदि भारत नष्ट हो जाता है तो बंबई का अस्तित्व नहीं रहेगा। भारत की गरीबी और पतन के साथ बंबई की समृद्धि नहीं हो सकती।

'मैं अपने मित्रों से पूरी नम्रता से कहूँगा कि वे अपने भय को मनों से निकाल दें और परमात्मा के न्याय पर विश्वास करें। उस सर्वशक्तिमान की सत्ता के संमुख इस सरकार की क्या ताकत है? जैसा कि सब जानते हैं भारत सरकार स्थिति का फायदा उठाकर दूध का जहरीला प्याला दे रही है। हमें यह दूध का प्याला लेने से इन्कार कर देना चाहिए। हमें इस महान् भूमि के देशवासी होने के नाते अच्छा और स्वास्थ्यकारी दूध ही स्वीकार करना चाहिए। बहुमतवाले मेरे संशोधन को यदि सरकार ठुकरा देगी तो संसार वास्तविकता जान जायगा।

'यदि सरकार इस सदन की बहुमत की नीति ठुकराती है तो जनता को दूसरे उपायों का सहारा लेना पड़ेगा। मेरे से पूछा जाता है कि आपकी इस देशभक्ति से बंबई का कितना नुकसान होता है। यदि बंबई को सारे देश का समर्थन मिलता है तो बंबई को बहुत कम क्षति होगी तब प्रत्येक देशवासी प्रण करेगा कि वह ब्रिटिश कपड़ा न पहनेगा।

'मेरे बंबई के मित्र माँग कर रहे हैं कि हम बिल का विरोध न करें, कपड़ा उद्योग को नष्ट न करें। कइयों ने भूतकाल में दी मदद का भी उल्लेख किया है। बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के लिये उन्होंने उदार सहायता दी थी। उन्होंने महात्मा गाँधी की माँग पर तिलक - स्वराज्य - कोष में भी दिल खोलकर मदद दी थी। मैं एक मानव हूँ। मुझे यह देखकर दुख होता है कि हमें इस कपड़ा उद्योग का विरोध प्रतिकूल परिस्थितियों में करना पड़ रहा है। परंतु मैं अपनी आत्मा और परमात्मा से अन्याय करूँगा यदि बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के हितों के लिये मैं देश के हितों का बलिदान कर दूँ (तालियाँ) परमात्मा मुझे शक्ति दे कि मैं विश्वविद्यालय के हित को छोड़ दूँ, पर देश के हित का त्याग न करूँ (तालियाँ)। बंबई के मित्रों को अनुभव करना चाहिए कि बिल से उन्हें अस्थायी राहत मिलेगी, उससे लंकाशायर को ही असली फायदा मिलेगा, परिणामतः बंबई और भारत के उद्योगों की बरबादी हो जायगी।'

मालवीय जी ने हिंदूसंस्कृति और हिंदूधर्म के रक्षण और परिपोषण के लिये १९०९ ई० में हिंदू महासभा की स्थापना की। इसके प्रथम अखिल भारतीय अधिवेशन के ये ही सभापति हुए। इनके नेतृत्व में हिंदू महासभा भारतीय हिंदू जनता के लिये संस्कृति और धर्म के स्वरूप को सुस्पष्ट करती रही। संगठनशक्ति और विशिष्ट नेतृत्व के बल पर ये हिंदू महासभा के १९२३, १९२४ और १९३६ के अधिवेशनों के सभापति निर्वाचित हुए।

हिंदूधर्मावलंबी होते हुए भी उनके हृदय में अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता थी। ये कहते हैं —

'सनातनधर्मी, आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी, सिक्ख, जैन, और बौद्ध आदि सब हिंदुओं को चाहिए कि वे अपने अपने विशेष धर्म का पालन करते हुए एक दूसरे के साथ प्रेम और आदर से बरतें।'

इनका मंत्र था —

विश्वासे दृढ़ता स्वीये परनिन्दाविवर्जनम्।
तितिक्षामतभेदेषु प्राणिमात्रेषु मित्रता॥

(अर्थात् अपने धर्म में दृढ़ता, दूसरे के धर्म की निंदा से अलग रहना, मतभेदों में मौन रहना और प्राणिमात्र के साथ बंधुत्व रखना ।)

हिंदू महासभा के सातवें अधिवेशन में इन्होंने कहा था —

'अगर कोई जाकर कह दे कि एक चांडाल की चोटी जबर्दस्ती या भुलावे से किसी विधर्मी ने काट ली, तो कोई है यहाँ ऐसा जिसे दुख न हो (कोई नहीं की ध्वनि) । तो दुख क्यों होता है ? आपसे कोई स्पर्श नहीं, बात नहीं । परंतु नहीं एक संबंध है, वह चोटी रखता है, सबेरे जगकर राम नाम लेता है, राम नाम से इतना प्रेम करता है, कृष्ण का नाम लेता है, बलराम और यशोदा का स्मरण करता है । ···मुसलमान का धर्म हम लोगों से भिन्न है । अँगरेज तो इतने भिन्न हैं कि उनके शौच और हमारे शौच का कोई जिक्र ही नहीं । उनमें हाथ धोने का अभ्यास थोड़े को ही है । खाकर रूमाल निकाला और पोंछ डाला । मैं निंदा नहीं करता, आचार की बात है । हमारा वह अछूत भाई, भोजन के पहले स्नान करता है, परंतु उसको हम छू नहीं सकते । वही भाई जब हमारे किसी ऐसे भाई के साथ दरबार में आता है, तो कुर्सी पर बैठता है• तथा हाथ मिलाता है । हेडमास्टर होकर जाता है तो हमारे लड़के उससे सबक सीखते हैं । रेल पर उसे टिकट दिखाना पड़ता है । जंट साहब या सुपरिंटेंडेंट के दफ्तर में वह मजे में कुर्सी पर बैठता है । रामदास धोती पहनकर जाता है और तब हम राम राम कहते हैं, तो वह भी राम राम कहता है । कहिए उससे मैं क्यों न मिलूँगा ।'

लाहौर के पंजाब हिंदू संमेलन में २३ फरवरी १६२४ को सभापतिपद से महामना ने कहा था —

'मुझे एक भी भंगी नहीं मिला जो स्नान किए बिना भोजन करता हो । प्रयाग में मुझसे एक मेहतरानी ने बताया कि प्रातःकाल उठकर हमलोग राम नाम जपते हैं, स्नान करके वस्त्र बदलकर भोजन करते हैं, पीतल और कांसे आदि के बरतनों में भोजन बनाते और खाते हैं । भोजन और शयन के समय और यथावसर और समयों में परमात्मा को स्मरण करते हैं, व्रत रखते हैं और गंगा यमुना स्नान के लिये जाते हैं । अब बताइए उनसे मेरा कोई संबंध है या नहीं ।'

पक्के सनातनी और परंपरावादी आस्तिक ब्राह्मण होते हुए भी उनके हृदय में हरिजनों के उद्धार और जागरण के लिये मानवतापूर्ण भाव थे, वैसे आज के लोगों में नहीं मिलते । गाँधी जी के साथ हरिजनोद्धार में इनका सहयोग था । नासिक, काशी, प्रयाग आदि प्रमुख स्थानों पर इन्होंने हरिजनों को दीक्षा दी । इनका कहना था —

'धर्मरक्षा और प्रचार के लिये अत्यावश्यक है कि प्रत्येक हिंदूसंतान को वह दीक्षा दी जाय, जिसका विधान ब्राह्मण से लेकर चांडाल तक समान हो।'

गोबध के विरुद्ध इनका कथन था —

'गौ को हिंदू लोकमाता कहते हैं, क्योंकि वह मनुष्य जाति को दूध पिलाती है और सब प्रकार से उनका उपकार करती है। इसी लिये उनकी रक्षा करना तो मनुष्यमात्र का विशेष कर्तव्य है।'

सार्वजनिक जीवन का कोई क्षेत्र ऐसा न था जिसके ये प्रधान अंग न रहे हों। अपनी सर्वप्रियता के कारण १६१८ में अखिल भारतीय सेवासमिति और बालचर-मंडल के सभापति निर्वाचित हुए। प्रयाग के मेले में प्रतिवर्ष इनकी अध्यक्षता में अखिल भारतीय सेवासमिति कार्य करती थी।

मालवीय जी के देशप्रेम, शिक्षाप्रेम और संस्कृतिप्रेम, का दृढ़ प्रतीक काशी हिंदू विश्वविद्यालय है। नालंदा और तक्षशिला की स्मृति को साकार करनेवाला यह विश्वविद्यालय उनका प्रकाशमान कीर्तिस्तंभ है। मालवीय जी का स्वप्न था कि प्राचीन भारतीय विद्या और शिक्षा के केंद्र काशी में एक विश्वविद्यालय की स्थापना हो। इस स्वप्न को साकार करने के निमित्त वे अर्थसंग्रह और प्रचार - प्रसार में लग गए। डा० एनी बेसेंट ने मालवीय जी के इस कार्य में पूर्ण सहायता दी। उन्होंने देश के सभी प्रमुख नगरों में विश्वविद्यालय की आवश्यता पर भाषण दिया। मालवीय जी के इस कार्य में राजा और रंक सबने कौड़ी से करोड़ तक का दान दिया। विश्वविद्यालय को दान देने के लिये वे कहा करते थे —

'पवित्र गंगा के किनारे, महादेव विश्वनाथ की इस नगरी में तीर्थयात्रा के पावन और प्राचीन स्थान में काशीनगरी में, जहाँ महाराज हरिश्चंद्र ने दान में न केवल अपना सर्वस्व राज्य ही दे डाला था, वरन् अपने पुत्र और पत्नी को भी अर्पित कर दिया था। इस नगरी में जहाँ अनंत काल से बड़े बड़े ऋषि मुनि रहते थे और जहाँ उनमें से कुछ का स्थान अब भी है, जहाँ प्रत्येक हिंदू को अपने अंतिम दिनों को बिताने तथा साँस लेने की इच्छा रहती है वहाँ असंख्य हिंदुओं ने अपनी राख पवित्र गंगा में विसर्जित की है। प्राचीन काल से ही यह एक उच्च शिक्षा का स्थान था जहाँ पर विद्यार्थी निःशुल्क उच्च शिक्षा पाते थे और उनके खाने पीने का भी प्रबंध रहता था, ऐसे स्थान में मैं एक विश्वविद्यालय की स्थापना कर रहा हूँ जहाँ प्राचीन ज्ञान का संमिलन, पदार्थविज्ञान तथा आधुनिक शिल्पकलाविज्ञान के साथ होगा। ज्ञानप्राप्ति में सहायता से बढ़कर अन्य कोई भी दान नहीं है। उदार हृदय के लोगों के लिये यह एक अनुपम अवसर है जब कि वे हृदय खोलकर दान देकर पुण्य तथा अवढरदानी बाबा भोलेनाथ की अनुकंपा सहज ही में प्राप्त कर सकते हैं।'

१९१५ ई० में विश्वविद्यालय बिल पास हुआ और १९१६ की वसंतपंचमी के दिन वाइसराय लार्ड हार्डिंज द्वारा विश्वविद्यालय का शिलान्यास हुआ। इस अवसर पर गाँधी जी ने देशप्रेम से भरा हुआ ऐतिहासिक भाषण दिया।

आज विश्वविद्याल में जितने विभाग हैं उतने शायद ही किसी अन्य विश्व-विद्यालय में हों। १९१९ से १९३९ तक मालवीय जी स्वयं विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर रहे तथा १९३९ से १९४६ तक रेक्टर। अपने समय में इन्होंने देश के विभिन्न विषयों के श्रेष्ठतम विद्वानों को कम वेतन पर विश्वविद्यालय में आने के लिये निमंत्रित किया और लोगों ने इसे सहर्ष स्वीकार किया।

हिंदी पत्रों के संस्थापन, संपादन और प्रकाशन के अतिरिक्त हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि के लिये उनका महत्वपूर्ण कार्य था न्यायालयों में नागरी लिपि को उचित स्थान दिलाना। उन दिनों न्यायालयों में उर्दू का बोलबाला था। मालवीय जी ने हिंदी भाषा और नागरी लिपि को न्यायालयों में समुचित स्थान दिलाने के लिये साठ हजार व्यक्तियों के हस्ताक्षर से एक स्मृतिपत्र तत्कालीन गवर्नर सर एंटोनी मैकडानल के समक्ष उपस्थित किया। इसके निमित्त उन्होंने 'कोर्ट करेक्टर एंड प्राइमरी एजुकेशन' नामक पुस्तिका काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित कराई। मालवीय जी के अध्यवसाय से हिंदी भाषा और नागरी लिपि को न्यायालयों में अधिकार मिल गया।

१९००ई०में उन्होंने सेवाप्रतियोगिता परीक्षाओं में हिंदी को स्थान दिलवाया। इनका यह कार्य हिंदीप्रेम का ज्वलंत प्रतीक है तथा हिंदी को व्यापक भाषा बनाने की दिशा में किया गया अद्वितीय प्रयास।

काशी नागरीप्रचारिणी सभा के प्रति मालवीय जी का प्रारंभ से अनुराग था। 'सभा' के आरंभ काल में 'आर्यभाषा' पुस्तकालय' के जन्मदाता श्री गदाधर सिंह जी की वसीयतवाले मुकदमे में मालवीय जी ने बिना किसी पारिश्रमिक के पैरवी की थी।

काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने जब हिंदी - साहित्य - संमेलन (प्रयाग) की स्थपना का प्रस्ताव किया था, तब उसकी संपूर्ण योजना मालवीय जी ने ही प्रस्तुत की थी और 'सभा' के निर्देशन में १० अक्तूबर १९१० को होनेवाले साहित्य - संमेलन के प्रथम अधिवेशन के मालवीय जी अध्यक्ष तथा बाबू शिवप्रसाद गुप्त स्वागताध्यक्ष मनोनीत हुए थे।[1]

1. मालवीय जी का अध्यक्षीय भाषण पृष्ठ ६११-२४ पर अविकल रूप में प्रकाशित है।

मलवीय जी संस्कृत, हिंदी उर्दू और अँगरेजी भाषाओं के उच्चकोटि के वक्ता, लेखक और पत्रकार ही नहीं थे प्रत्युत संस्कृत और हिंदी में काव्य भी करते थे। हिंदी में वे 'मकरंद' नाम से कविताएँ लिखते थे। मालवीय जी विशेषकर लोकप्रचलित शब्दों को ग्रहण करने के पक्ष में थे और वे व्यवहार में यथाशक्य प्रचलित शब्दों को ही लाते थे जैसे, 'गंभीर' के बदले 'गहिरा', 'अग्नि' के बदले 'आग', 'आश्चर्य' के बदले 'अचरज' आदि।

मालवीय जी का समय हिंदीसाहित्य के आधुनिक काल का प्रथम चरण था। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र तत्कालीन हिंदीसाहित्य के सूत्रधार थे। प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट आदि उनके मंडल के प्रथम साहित्यकार थे। मालवीय जी अध्ययनकाल से ही कविताएँ लिखते थे। शृंगार और भक्ति के आश्रय राधाकृष्ण के अनन्य प्रेम को विषय बनाकर उन्होंने वाणी की वंदना की।

अध्ययनकाल में ही मालवीय जी ने एक कविता भारतेंदु जी के पास डाक से भेजी थी, जिसे उन्होंने बहुत पसंद किया था —

इंदु सुधा बरस्यो नलिनीन पै, बैन बिना रवि के हरषानी।
त्यों रवि तेज दिखायो तऊ बिन, इंदु कुमोदिनि ना बिकसानी॥
न्यारी कछू यह प्रीति की रीति, नहीं 'मकरंद' जू जात बखानी।
साँवरे कामरीवारे गुपाल पै, रीझि लटू भई राधिकारानी॥

होलीवर्णन की कविता —

धूम मची ब्रज फागु री आजु, बजे डफ झाँझ अबीर उड़ानी।
ताकि चले पिचका दुहुँ ओर, गलीन में रंग को धार बहानी॥
भीजे भिगावैं उड़ै 'मकरंद' दुहुँ लखि शोभा न जाति बखानी।
ग्वालन साथ इतै नंदलाल उतै संग ग्वालिन राधिकारानी॥

शृंगार के विप्रलंभपक्ष पर लिखी गई एक कविता —

भूलहुँ सो हँसि माँगिबो दान को, रंच रही हित पानि पसारन।
भूलि हैं फागु के रागु सबै, कहँ ताकहिं ताकि के कुंकुम मारन॥
सों तो भयो सबही 'मकरंद' जू, दाखहिं चाखि के बैर बिसारन।
जापर चीर चुराय चढ़े, वह भूलिहै कैसे कदंब की डारन॥

गोपियों की विरहव्यथा —

ढूँढ्यो चहूँ झझरीन झरोखन, ढूँढ्यो किते भर दाव पहारन।
मंजुल कुंजन ढूँढ़ि फिर्‌यौ, पर हाय मिल्यौ न कहूँ गिरिधारन॥
लावत नाहिं तऊ परतीत, सह्यौ इतनी दुख प्रीति के कारन।
जानत स्याम अजौं उतही, चित चौंकत देखि कदंब को डारन॥

शृंगारकाल की परंपरा भारतेंदुयुग में भी वर्तमान थी। राधा और कृष्ण की लीला के माध्यम से कविताएँ की जाती थीं। मालवीय जी पर इसका पूर्ण प्रभाव था। उनकी कविताएँ प्राचीन 'फुटकल' कवियों में किसी प्रकार मद्धिम नहीं।

ईश्वर को संबोधित करके उन्होंने लिखा था —

सब देवन के देव प्रभु, सब जा के आधार।
दृढ़ राखो मोहि धर्म में, विनवो बारंबार॥
जाके मन प्रभु तुम बसो, सो भय कासों खाय।
सिर जावे तो जाय प्रभु मेरो धरम न जाय॥
कूप खुले मंदिर खुले, खुले स्कूल चहुँ ओर।
सभा सड़क जमघट खुले, नाचत है मन मोर॥

खड़ी बोली में लिखा गया उनका 'फक्कड़सिंह' नामक प्रहसन देखिए —

गरे जूही के हैं गजरे पड़े रंगीं दुपट्टा तन।
भला क्या पूछिए धोती तो ढाके से मँगाते हैं॥
कभी हम बारनिश पहने कभी पंजाब का जोड़ा।
हमेशा पास डंडा है ये फक्कड़सिंह जाते हैं॥
न ऊधो का हमें लेना न माधो का हमें देना।
करें पैदा सो खाते हैं न दुखियों को सताते हैं॥
नहीं डिप्टी बना चाहें न चाहें हम तसिलदारी।
पड़े अलमस्त रहते हैं यूँ ही दिन को बिताते हैं॥
न देखें हम तरफ उनकी जो हमसे नेक मुँह फेरे।
जो दिल से हमसे मिलते हैं झुक उनको देख जाते हैं॥
नहीं रहती फिकर हमको कि लायें तेल और लकड़ी।
मिले तो हलवे छन जाएँ नहीं झूरो उड़ाते हैं॥
सुनो यारो जो सुख चाहो तो पचड़े से गृहस्थी के।
छुटो, फक्कड़पना ले लो यही हम तो सिखाते हैं॥
हमें मत भूलना यारो बसे हैं पास 'मनमोहन'।
हुई है देर, जाते हैं तुम्हारा शुभ मनाते हैं॥

मालवीय जी हृदय से कवि थे। उनकी हिंदी की कविताएँ मार्मिक होती थीं। संस्कृत के श्लोक भी किसी अंश में घट कर न होते थे। विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों को नियमपूर्वक रहने का उपदेश इस प्रकार देते थे —

सत्येन ब्रह्मचर्येण व्यायामेनाथ विद्यया।
देशभक्त्यात्मत्यागेन संमानार्हः सदा भव॥

विद्यया वपुषा वाचा वेषेण विनयेन च ।
वकारैः पंचभिर्युक्तो नरः संयाति मान्यताम् ॥

उनके बनाए हुए निम्नलिखित श्लोक अधिक प्रचलित हुए —

ग्रामे ग्रामे सभा कार्या, ग्रामे ग्रामे कथा शुभा ।
पाठशाला, मल्लशाला, प्रतिपर्व महोत्सवः ॥
अनाथ विधवा रक्ष्याः मन्दिराणि तथैव च ।
धर्मसंगठनं कार्यं देयं दानं च तद्धितम् ॥
स्त्रीणां समादरः कार्यो दुःखितेषु दया तथा ।
अहिंसकाः न हन्तव्याः आततायी वधार्हणः ॥
पुण्योऽयं भारतोवर्षो हिन्दुस्थानः प्रकीर्तितः ।
वरिष्ठः सर्वदेशानां धनधर्मसुखप्रदः ॥

प्रयाग में कुंभ के अवसर पर माघ कृष्णा एकादशी सं० १९८४ को सनातनधर्म सभा का अधिवेशन हुआ था जिसमें देश के संस्कृत के विद्वानों के अतिरिक्त अलवर नरेश और पाँचो शंकराचार्य भी उपस्थित हुए थे। उस अधिवेशन का निमंत्रणपत्र मालवीय जी ने श्लोकों में लिखा था —

प्रार्थनानिवेदनञ्च

नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे ।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य प्रार्थये धर्मवर्धनम् ॥ १ ॥
श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तो वर्णाश्रमविभूषितः ।
पुण्यः सत्यदयोपेतो धर्मः श्रेष्ठः सनातनः ॥ २ ॥
यस्य संस्थापनार्थाय काले काले जगद्गुरुः ।
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा ह्यात्मानं सृजति स्वयम् ॥ ३ ॥
रक्षार्थं यस्य धर्म्मस्य ब्राह्मणाः क्षत्रियास्तथा ।
वैश्याः शूद्रा महाभागा अर्थान्प्राणांश्च तत्यजुः ॥ ४ ॥
कलिना पीडितः सोऽयं दुरवस्थामवापितः ।
अज्ञानेन स्वकीयानामन्येषामाक्रमेण च ॥ ५ ॥
हे नाथ ! हे रमानाथ ! विश्वनाथार्त्तिनाशन ।
सत्यां कुरु प्रतिज्ञां स्वां पातुं पुनरिहाव्रज ॥ ६ ॥
धर्म्मज्ञानप्रचारार्थं जातिरक्षार्थमेव च ।
विश्वजन्यां मतिं यच्छ उद्धर्षय मनांसि नः ॥ ७ ॥
तीर्थराजे प्रयागे वै माघे मास्यसिते दले ।
विदुषां धर्म्मकामानां भविष्यति महासभा ॥ ८ ॥

तत्रागत्य तु कर्तव्यो विचारः शास्त्रसम्मतः ।
उपायाश्चिन्तनीयाश्च धर्म्मरक्षाप्रसाधकाः ॥ ९ ॥
इतीयं प्रार्थना ह्यद्य स्वीकर्तव्या मनीषिभिः ।
धर्म्मरक्षाविवृद्ध्यर्थी ह्यनुग्राह्यो निवेदकः ॥ १० ॥

मालवीयो मदनमोहनः ।

मालवीय जी का व्यक्तित्व बहुमुखी था। तत्कालीन युग की संपूर्ण उपलब्धि उनके व्यक्तित्व में थी। देशसेवा, समाजसेवा, शिक्षासेवा, हिंदीसेवा, सब कुछ उन्होंने अपने आकर्षक और अद्भुत व्यक्तित्व के प्रभाव से संपन्न किया। सरलता, नम्रता, सैद्धांतिक दृढ़ता और उदारता का समन्वय उनमें स्वभाव से ही था। महान् देशभक्त और राष्ट्रनिर्माता महामना का महाप्रयाण १२ नवंबर १९४६ को हुआ। उन जैसे आर्तिनाशन, करुणावृत्ति - आर्द्रांतरात्म पुरुषों का ही अहर्निश ध्यान है —

नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं न पुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्त्तिनाशनम् ॥

*

पं० मदनमोहन मालवीय

महामना का एक महत्वपूर्ण पत्र

श्री:॥ प्रयाग.

२६.३.०७.

प्रिय महावीर प्रसाद जी,

प्रणाम. आपके दोनों कृपा पत्र और दो लेख एक आपका. दूसरा बा. मिश्रीलाल गुप्त का पहुंचा. मैं अब तक उत्तर पत्र नहीं लिख सका. इस को क्षमा कीजियेगा. मैंने पहिला पत्र अपने हाथ से नहीं लिखा. इसको भी क्षमा कीजिये. कार्य बाहुल्य और क्रम-पूर्वक काम न करने के दुरभ्यास के कारण मुझ को अब प्राय: अपने अति सम्मानित मित्रों को भी दूसरे के हाथ से लिखा कर पत्र भेजना पड़ता है किन्तु जैसा अनुग्रह

आप इसको स्वीकार करेंगे। हिन्दी भाषा में इस प्रान्त में एक ऐसा प्रति-
ष्ठित साप्ताहिक पत्र स्थापन करने की चिरकाल से आवश्यकता
चली आती है जिसमे विद्वान विचारवान अनुभवसंपन्न देशहि-
तैषी सज्जनों के लेख छपें, और जिसके लिखने का ऐसे सज्जनों को
उत्साह हो। ऐसे पत्र का बनाना आपको भी उतना ही इष्ट और प्रिय
होगा जितना मुझको है। किंतु इस कार्य मे वस्तुतः जितनी सहा-
यता आप कर सकते हैं उतनी मैं नहीं कर सकता। मैने बहुत से
और कामों की चिन्ता और बोझ होने पर भी साहस करके पत्र को जारी
कर दिया है। इस को देशहित के लिये काम मे लाना, और जारी

२

आप तथा और सम्मानित मित्र मुझ पर करते
हैं और मेरे हार्दिक भाव को जानकर मुझ
को क्षमा कर देते हैं. इस से मैं इस प्रकार
से काम चलाने को पत्र लिखवा कर भेज-
देता हूं। मैं आशा करता हूं कि आप इस
से वस्तुतः यह कभी न ख्याल करेंगे कि
मैं ऐसा मूर्ख या संकुचित हृदय हूं कि
आपके गुणों का उचित आदर नहीं करता
आपने मेरे ऐसे पत्र पर भी कृपाकर
तुरंत प्रार्थित सहायता देना स्वीकार किया
इस के लिये मैं हृदय से धन्यवाद करता-
हूं। मेरी प्रार्थना है कि जहां तक संभव
हो आप प्रति सप्ताह एक लेख अभ्युदय
के लिये भेजिये। मैं आशा करता हूं कि

रहने के योग्य करना आप तथा अन्य देशहितैषी मित्रों का कर्तव्य है। और यह आप ही लोगों की सहायता पर निर्भर है।

यद्यपि अभी यह साहस और अनावश्यक साहस मालूम होगा तथापि मेरी यह इच्छा है कि मैं 'अभ्युदय' में लेखकों की कुछ भेंट करने का क्रम जारी करूँ। ऐसे लेखक अभी बहुत कम हैं जिनके लेखों के लिये कुछ भेंट करना मुनासिब होगा। और पत्र की वर्तमान अवस्था में कुछ देने के योग्य भेंट करना कठिन भी होगा। किन्तु 'अल्पारम्भाः क्षेमकराः' इस न्याय से मैं चाहता हूँ कि उन लेखों के लिये जो आप के 'वैदिक काल की स्त्रियाँ' के समान आदर सहित पत्र में छापे जाय, कुछ पत्र पुष्प अर्पण किया जाय। कृपा कर इस विषय में अपनी सम्मति लिखिये

मेरा विचार है कि अभी २) सवा रुपया
कालम से प्रारंभ किया जाय और ज्यों २ पत्र
की अर्थ संबंधी अवस्था अच्छी होती जाय
त्यों २ रेट भी रेट बढ़ाई जाय। इससे
किसी योग्य मित्र को कुछ व्योग करने के
लायक आय तो होगी नहीं किन्तु
इससे एक ऐसा क्रम प्रारंभ हो जायगा
कि जिससे जो मित्र पत्र के बनाने और
बढ़ाने मे सहायक होंगे वे आगे चलकर
देश हित और मातृभाषा के हित साधन
के संतोष के अतिरिक्त, पत्र के लाभ से
कुछ आर्थिक लाभ उठाने का भी संतोष
अनुभव करेंगे। मुझे आशा और विश्वास

५

है कि यदि आप तथा दो तीन और मित्र
जिनको मैं लिख रहा हूं; पत्र को पूरी
सहायता देंगे तो अचिर काल में दस व
आठ दस हजार ग्राहक हो जावेंगे।

विशेष आपको लिखना आवश्यक नहीं।
मैं आशा और विश्वास करता हूं कि ~~आप~~
जिस भाव से मैं इस पत्र को लिख
रहा हूं; उसी भाव से आप इसको विचा-
रेंगे। और प्रति सप्ताह एक वा दो
लेख से सहायता करेंगे।

मैंने विधवा विवाह का भाग इसलिये
निकाल दिया था कि उसमें आपका मत
नहीं प्रकाशित था और उससे लेख सर्वजन
प्रिय न रहता। मैं आशा करता हूं आप इससे
अप्रसन्न न हुवे होंगे।

ला। मिश्रीलाल के लेख के विषय में कल लिखूंगा।

भवदीय

मदन मोहन मालवीय

प्रथम हिंदी-साहित्य-संमेलन के सभापति महामना पंडित मदनमोहन मालवीय का भाषण[1]

मुझको बहुत से लोग जानते हैं कि मैं वाचाल हूँ लेकिन मुझको जब काम पड़ता है तब मैं देखता हूँ कि मेरी वाणी रुक जाती है। यही दशा मेरी इस समय हो रही है। प्रथम तो जो अनुग्रह और आदर आपलोगों ने मेरा किया है उसके भार से ही मैं दब रहा हूँ, इसके उपरांत मेरे प्रिय मित्रों और पूज्य विद्वानों ने जिन शब्दों में मेरे सभापतित्व का प्रस्ताव किया है उसने मेरे थोड़े से सामर्थ्य को भी कम कर दिया है। सज्जनों! मैं अपने को बहुत बड़भागी समझता यदि मैं उन प्रशंसा-वाक्यों के सवें हिस्से का भी अपने को पात्र समझता जो इस समय इन सज्जनों ने मेरे विषय में कहे हैं। हाँ, एक अंश में मैं बड़भागी अवश्य हूँ। गुण न रहने पर भी मैं आपकी मंडली में गुणी के समान संमान पाता हूँ। इसी के साथ मुझको खेद होता है कि इतने योग्य और विद्वानों के रहते हुए भी मैं इस पद के लिये चुना गया। फिर भी मैं आपके इस संमान का धन्यवाद करता हूँ, जो आपने मेरा किया है। मेरा चित्त कहता है कि इस स्थान में उपस्थित होने के लिये हमारे हिंदीसंसार में अनेक विद्वान् थे और हैं जिनमें कुछ यहाँ भी उपस्थित हैं और जिनको यदि आप इस कार्य में संयुक्त करते तो अच्छा होता और कार्य में सफलता और शोभा होती। अस्तु, बड़ों से एक उपदेश मैंने सीखा है। वह यह है कि अपनी बुद्धि में जो आवे उसे निवेदन कर देना। मित्रों की आज्ञा, मित्रों की मंडली की आज्ञा पालन करना मैं अपना परम धर्म समझता हूँ। अनुरोध होने पर अंत में मैंने अपने प्यारे मित्रों से प्रेमपूर्वक निवेदन किया कि साहित्यसंमेलन जिसका सभापति होने का सौभाग्य मुझे प्रदान किया गया है उसके कर्तव्य का पालन मेरा परम धर्म है। मैं आपसे दूर रहता हूँ। सो भी मैं कदाचित् निर्भय कह सकता हूँ कि हिंदीसाहित्य का रस पान करने में मुझको अन्य मित्रों की अपेक्षा कम स्वाद नहीं मिलता। उसके स्वाद लेने में मैं अपने किसी मित्र से पीछे नहीं। किंतु अनेक कामों में रुका रहने के कारण मैं आपके बाहरी कामों का करनेवाला सेवक हूँ। इस काम के लिये मैं अपने को कदापि योग्य नहीं समझता हूँ और इस अवसर में जिसमें आपको पूर्व उन्नति के दृश्यों को

[1] हिंदी-साहित्य-संमेलन का यह अधिवेशन सभा के तत्वावधान में १०,११,१२ अक्टूबर १९१० ई० को हुआ था।

देखना चाहिए था, जिसमें हिंदी की भावी उन्नति का पथ प्रशस्त करना चाहिए था, किसी और ही मनुष्य को इस स्थान में बैठना चाहिए था, इसके योग्य मैं किसी प्रकार नहीं। अब यदि मैं इस स्थान में आकर आपकी आज्ञा पालन करने का यत्न न करूँ तो उससे अपराध होता है। केवल इसी कारण मैं इस संमान का धन्यवाद देता हूँ और इस समय इस स्थान में आप लोगों की सेवा करने को तैयार हुआ हूँ।

हिंदी-साहित्य-संमेलन के विषय में जो मतभेद हो रहा है, जैसा कि मेरे प्रथम वक्ता महाशय ने कहा, इसमें कोई संदेह नहीं, उसे स्वीकार करना चाहिए। हठधर्मी अच्छी नहीं। अनेक विद्वानों के मत से यह समय संमेलन के लिये उपयुक्त नहीं। नवरात्र दुर्गा देवी के पूजन का समय है, नवरात्र में सरस्वती शयन करती हैं। प्राचीन रीति के अनुसार तीन दिन सरस्वतीशयन के दिन हैं। यह नियम आर्यजाति ने इसलिये रखा कि तीन सौ सत्तावन दिन संसार के व्यवहार करो, अपने मस्तिष्क को पीड़ा दे लो, किंतु जाति की रक्षा के लिये उन तीन दिनों में लेखनी मत उठाओ, पत्रा मत पढ़ो, इन दिनों सरस्वती शयन करती है। ऐसे समय में मेरे मित्रों ने आप महाशयों को इधर उधर से खींचकर बुलाया है और इसके लिये मेरी बुद्धि में आता है कि मुझको आपके सामने उनकी ओर से उत्तर देना चाहिए। इसमें मैं इतना ही कहूँगा कि जितना मतभेद हो उसे आपको स्वीकार करना चाहिए और जिन लोगों का मत नहीं मिलता उनके मत का आदर करके उनसे यही कहना चाहिए कि अब से यह समय उन्नति का होगा। इसके विचार में यह मेरी बुद्धि में आता है कि हिंदी-साहित्य-संमेलन के लिये यह समय बहुत ही उपयुक्त है। हिंदी की दशा इस समय शोचनीय हो रही है। हिंदीसाहित्य के इस शयन की अवस्था में सरस्वतीशयन कैसा? इस ध्यान से हमारे हिंदीप्रेमियों में बहुत से लोगों का यदि यह विचार है कि सरस्वती शयन कर रही हैं तो इससे क्या होता है? हमलोग इस संमेलन में उपयुक्त यत्न कर सरस्वती को जगाएँ। बात भी ऐसी ही है। जहाँ रात होती है वहीं सूर्यनारायण की लालिमा दिखाई देती है। रात के अंधकार के पश्चात् प्रातःकाल होता है तो उसको देखना अच्छा लगता है। ऐसी अवस्था में इस सरस्वतीशयन का समय मुझको आशा देता है कि हिंदी भाषा के शयन के समय में जब साहित्यसंमेलन होता है तब इस सरस्वतीशयन के समय के उपरांत जैसे विजयादशमी का दिन आता है वैसे ही, मुझको विश्वास है कि कोई हिंदी भाषा, हिंदीसाहित्य के जागने का समय निकट है। प्राचीन समय से लोग दुर्गा-अष्टमी में विद्या की वृद्धि के लिये देवी की उपासना करते आते हैं। जिस तरह पहले उसी तरह आज भी हिंदुस्तान में हिमालय के ऊँचे शिखर और लंका के छोर तक सहस्रों करोड़ों हमारे भाई इस नवरात्र में दुर्गा जी की स्तुति करते हैं। एक ही

विद्या है, एक ही भाव है, केवल भाषा इसे पृथक् करती है। तो इससे क्या हो सकता है जब हम अपनी भाषा के साहित्य की उन्नति के दुःख में पड़े हुए हैं तब हमें क्या उचित नहीं कि इसकी उन्नति के लिये सब तरह के यत्न करें और उनके फल उपलब्ध कर उनका प्रकाश करें? (हर्षनाद) मुझे आशा और विश्वास है कि आपके चित्त में मेरी बातें आ गई होंगी। और बातों में यह बात भी निवेदन करना है कि इसके उपरांत विजयादशमी का दिन आता है। यह विजयादशमी वही विजयादशमी है जिसमें भगवान् रामचंद्र जी ने राक्षसों का नाश करके देश में फिर से सुखशांति की मंदाकिनी बहाई थी। यह वही विजयादशमी है जिसकी गूँज आज भी हिंदुस्थान के एक सिरे से दूसरे सिरे तक सुनाई पड़ती है, जिसकी प्रतिमा का अनुकरण आज भी हिंदुस्थान के नगर में लीलाओं द्वारा किया जाता है। देशी राज्यों में उसका अनुकरण किया जाता है जो कुछ पहले होता था, वही आज भी हो रहा है। पुराने समय में भगवान् रामचंद्र जी ने किया, अब वह देशी राज्यों में होता है। वही मारू बाजा बजता है, वही आर्यों के राजा महाराजाओं के विजय का डंका बजता है। अब विजय नहीं है, उसका शब्द है उसे तो सुन लीजिये। आज भी केसरिया जामा पहिन राजे महाराजे अपने अपने गढ़ों से निकलते हैं। शक्ति के बढ़ाने में आज भी इस समय की प्रतिमा आपको दिखाई देती है। शक्ति ही ने यह बातें कीं और मेरे दुर्बल शरीर और चित्त में बल का संचार किया। मैं आशा करता हूँ कि मेरे और भाइयों के चित्त में भी इसी तरह बल का संचार हुआ होगा। ऐसी दशा में हम लोग मिले हैं। मैं आशा करता हूँ कि जो विरोध इस समय के ठन जाने का हुआ है उसको अब इसी वक्तृता के साथ समाप्त कर दीजिये। हम सब यही आशा करते हैं कि संकट के समय में बड़े कार्य हो जाते हैं और इस दृष्टि से जो कुछ भूल चूक हुई हो उसको भुलाकर एक स्वर से, एक उद्देश्य से, हिंदी की उन्नति के विचार से संमेलन होना चाहिए।

संमेलन हुआ है संमेलन के लिये। इसमें विजयादशमी का उत्सव मनाने का कुछ प्रयोजन नहीं। इन दिनों जितनी लीलाएँ होती हैं, उनका उद्देश्य यही है कि एक दिन भारतवर्ष में ऐसा था कि विजय का डंका बजता था। इस दशहरे में इस संमेलन का भी यही उद्देश्य है और बहुत कुछ संभावना इस बात की होती है कि कोई रोग इस देश में यदि आ गया हो तो सब एकत्र हो उसे मिटाने का प्रयत्न करें। गाँव गाँव और जिले जिले के बाहर लोग एक स्थान में बैठकर परामर्श करें कि किस प्रकार ऐसी बला टल सकती है। दूसरा संमेलन इस श्रेणी का होता है कि काम चल रहा है लेकिन अच्छी तरह नहीं चल रहा है इसलिये यद्यपि कुछ संतोष का विषय है तथापि विशेष रूप से एकत्र होकर इस बात का विचार किया जाता है कि कार्य कैसे चले। मेरी बुद्धि में तो हिंदी का ऐसा सौभाग्य नहीं है। हमलोग

वर्तमान समय में जो मिले हैं वह इस दूसरी श्रेणी का संमेलन है। कुछ लोगों के मत में हमारी उन्नति कुछ भी संतोषजनक नहीं है। अन्य लोगों के विचार ऐसे हैं कि यह कहना ठीक ठीक है। फिर भी प्रत्येक दशा में यह संमेलन आवश्यक हो गया है। अब इस संमेलन में यदि हम मिले हैं तो दूसरी या तीसरी कक्षा, जिसको ले लीजिये, उसी के अनुसार पहले यह विचार कीजिये कि हमारी अवस्था क्या है। जब कोई वैद्य बुलाया जाता है तब निर्दिष्ट स्थान में पहुँचकर पहले वह यह जानना चाहता है कि रोगी की दशा क्या है, रोग कहाँ तक बढ़ा है, कितनी आशा है, कितना घटा है, रोगी में कितना बल आया है। यह आवश्यक है कि हम पहले हिंदी की दशा विचारें। किंतु इससे पहले कि हम इस बात का विचार करें हमारे एक मित्र ने प्रश्न किया है कि पहले यह तो बतलाइए कि हिंदी है क्या? यह बड़ा टेढ़ा प्रश्न उठा है कि हिंदी क्या है। ऐसी दशा में पहले मैं इसी को लेता हूं। मुझको दुःख है कि मैं न संस्कृत का ऐसा विद्वान् हूं कि इस विषय में प्रमाण के साथ कह सकूँ, न भाषा का ऐसा विद्वान् हूं कि इस विषय की चर्चा चलाऊँ। किंतु मैं आपके संमुख निवेदन करता हूँ कि जब प्रमाण की रीति से कोई कुछ न कह सके तो उसका धर्म है कि वह अपने विचारों को उपस्थित करके जो प्रमाण दे सकता हो उन्हीं को दे। हिंदी के विषय में बहुत सा विवाद है। हिंदी के संबंध में हमारे देश के लिखनेवालों में जो हुए वह तो हुए ही, हमारे यूरोपियन लिखनेवालों में विलायत के डाक्टर ग्रियर्सन एक बड़े शिरोमणि हैं (हर्षध्वनि)। आपने हिंदी की बड़ी सेवा की है और हिंदी की उन्नति में बड़ा यत्न किया है। आपने एक स्थान में लिखा है कि हिंदी यूरोपियन सन् १८०३ ई० के लगभग लल्लूलाल जी से लिखवाई गई। और भी लोगों ने इसी प्रकार की बात कही है। जो विदेशी हिंदी के विद्वान् हैं, वह तो यही कहते आए हैं कि हिंदी कोई भाषा नहीं है। इस भाषा का नाम उर्दू है। इसी का नाम हिंदुस्तानी है। यह लोग यह सब कहेंगे, किंतु यह न कहेंगे कि यह भाषा हिंदी है (लज्जा)। लज्जा तो कुछ नहीं है, विचार की बात है सज्जनों! ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित कितने ही अँगरेज अफसरों ने मुझसे पूछा था कि हिंदी क्या है? इस प्रांत की भाषा तो हिंदुस्तानी है। मैं यह प्रश्न सुन दंग रह गया। समझाने से जब उन्होंने स्वीकार नहीं किया तब मैंने कहा कि जिस भाषा को आप हिंदुस्तानी कहते हैं, वही हिंदी है। अब आप कहेंगे कि इसका अर्थ क्या हुआ? इसका अर्थ यह है कि न हमारी कही आप मानें, न उनकी कही। इसमें न्यायपूर्वक विचार कीजिए। डाक्टर ग्रियर्सन का क्या कहना है। मैं उनका संमान करता हूँ किंतु उनकी बात पर न जाकर हमें यह देखना चाहिए कि यथार्थ तत्व क्या है? यहाँ इस मंडली में बड़े बड़े विद्वान् और विचारवान् पुरुष हैं, वह इसे अच्छी रीति से कह सकेंगे। इसके विचारने में हमको अपने विचारों का दिग्दर्शन करना चाहिए। इसमें बहुत कुछ अंतर हो सकता है। किंतु मूल में कोई अंतर हो नहीं सकता। हिंदी भाषा के संबंध में विचार करते हुए सबसे पहले संस्कृत

की आकृति एक बार ध्यान में लाइए, हिंदी भाषा की आकृति को ध्यान में लाइए। इसके पीछे आप विचारिए कि हिंदी कौन भाषा है और उसकी उत्पत्ति कहाँ से है। संस्कृत की जितनी बेटियाँ हैं इनमें कौन सी बड़ी बेटी है। संस्कृत की बेटियों में हिंदी का कौन सा पद है। इसका संस्कृत से क्या संबंध है। संस्कृत, जैसा कि शब्द कहता है, नियमों से बाँध दी गई है। जो व्यर्थ बातें थीं, वह निकाली गईं, अच्छी अच्छी बातें रखी गईं, नियमों और सूत्रों से बँधे शब्द रखे गए, जो शब्द नियमविरुद्ध थे उनके लिये कह दिया गया कि यह नियम से बाहर है। नियमबद्ध शब्दों का व्याकरण में उल्लेख हो गया। आप जानते हैं कि संस्कृत से प्राकृत हुई। 'जो लोग यह कहते हैं कि संस्कृत कभी बोली नहीं जाती थी, वह संस्कृत को नहीं जानते। वे थोड़ी, प्राकृत पढ़ें तो उनको मालूम हो जायगा कि प्राकृत तो बोली जा नहीं सकती। संस्कृत के बोले जाने में कोई संदेह नहीं। संस्कृत से प्राकृत हुई। उसके पीछे सौरसेनी, मागधी और महाराष्ट्री। कदाचित् आपके ध्यान में होगा कि दंडी ८वीं शताब्दी में थे। अपने समय में उन्होंने यह लिखा था कि भारत में चार भाषाएँ हैं, महाराष्ट्री, सौरसेनी, मागधी और भाषा। यही चार भाषाएँ चली आई हैं।

अब आपको मालूम हो गया होगा कि जो महाराष्ट्री भाषा थी, मागधी भाषा थी, इनके बीच में बहुत भेद था। मेरे शब्दों पर ध्यान दीजिए इन भाषाओं में संस्कृत भाषा के शब्दों के रूप का अनुरूप आपको मिलता है। यह जितना हिंदी भाषा में मिलता है, उतना दूसरी किसी भाषा में नहीं मिलता। संस्कृत के शब्दों को ले लीजिए। अब देखिए कि हिंदी में यह बात कहाँ से आई। संस्कृत से इन भाषाओं का क्या संबंध था। शकुंतला में 'तुक मणि दबे ब्लीयममणाणि' कहाँ से आया होगा। एक शब्द को आप लीजिए। उसको देखिए कि प्राकृत में उसका क्या रूप है और भाषा में क्या हुआ। इस प्राकृत को देखने से आपको मालूम होगा कि संस्कृत शब्दों का प्राकृत रूप क्या से क्या हो गया। भाषा के कितने ही रूप आपको मिल सकते हैं। परतु यह बात मेरे कहने से न मानिए। मेरे सामने इस समय चंद कवि के रासो में बहुत से रूप ऐसे हैं जिनको इस मंडली में पंडित सुधाकर जी और दो तीन को छोड़कर बहुत कम लोग जानते हैं। मैं तो इसका चौथाई भी समझ नहीं सकता। मैं जो देखता हूँ वह आपके सामने उपस्थित करता हूँ। आप ही देखकर यह कहें कि कौन ठीक है। संस्कृत से पाली, पाली से प्राकृत और प्राकृत से तीसरा रूप हिंदी दिखाई दिया। अब आप थोड़े से शब्दों पर विचार करें। अग्नि का आग और योग का याग हो गया। चंद के काव्य में तुलसीदास की एक चौपाई को बीच में यदि मैं रख दूँ तो बहुत सज्जनों को यह न मालूम होगा कि दोनों के बीच कितना अंतर है। संवत् ११२५ में चंद कवि ने इसको लिखा। उनकी भाषा में जितने रूप देखते हैं वह रूप इस भारतवर्ष की किसी दूसरी भाषा के रूप से नहीं मिलते। मिलते हैं, हिंदी से और उतने ही

जितनी आज की अँगरेजी चौसर की अँगरेजी से मिलती है। ऐसी दशा में यह कहना कि हिंदी भाषा क्या है, इसका उत्तर यह है कि हिंदी भाषा वह है जिसमें चंद कवि से लेकर आज तक हिंदी के ग्रंथ लिखे गए। यह सही है कि पहले इसका नाम भाषा था, हिंदी भाषा या सूरसेनी।

क्या आप भाषा की उत्पत्ति पूछते हैं। कितने ही लोगों को अपनी माँ का नाम नहीं मालूम। बहुत सी औरतें ऐसी हैं जिनको अपने लड़कों का नाम नहीं मालूम। प्रयाग और बनारस के कितने ही बालकों का नाम सिर्फ बच्चा है। पिता और दादा के नाम का पता लगाना और भी कठिन है। नाम रखते हैं किंतु उसको याद नहीं रखते। अस्तु, देखना चाहिए कि चंद के समय से जो भाषा लिखी जाती है वह एक है, उसी को हम हिंदी भाषा कहते हैं। कभी कभी लोग उसका नाम बदल देते हैं। भीष्म को लीजिए देवव्रत उनका नाम था। जब उन्होंने पिता की प्रसन्नता के लिये राज्यत्याग किया, ब्रह्मचर्य अंगीकार कर कहा कि हम विवाह न करेंगे, केवल इसलिये कि पिता प्रसन्न होंगे, तब उस दिन से उनका नाम भीष्म हुआ, छठी के समय नहीं हुआ था। इसी तरह भाषा का भी नाम बदलता है। पहले कुछ था, अब कुछ है। भाषा का नाम पहले और था पर अब तो हिंदी कह के इसे पूजते हैं, प्रेम करते हैं। इस हिंदी भाषा का दूसरा प्रश्न यह उपथित होगा कि हिंदी भाषा की और भाषाओं के साथ तुलना करने से क्या पता लगता है। इसमें भी मैं इतना कहूँगा कि हिंदी सब बहनों में माँ की बड़ी और सुघर बेटी है। संस्कृत के वंश की बेटियों के २२ करोड़ बोलनेवाले हैं, उनमें पाँच या छः करोड़ मंद्राज में तामिल और तेलगू बोलते हैं। उनकी भाषा में संस्कृत का भांडार भरा हुआ है, उनके वाक्यों में संस्कृत की लड़ी की लड़ी आती है। फलतः संस्कृत की महिमा इस देश में गाज रही है और बहुत दिन तक गाजेगी। अब रहा कि इस बहनों में कौन बड़ी और कौन छोटी है। यह पक्षपात है कि हमारी भाषा हिंदी है और हम हिंदू है, हिंदी का पक्ष करें या हमारा यह विचार है कि (छोटे मुँह बड़ी बात होनी है, मगर चित्त में जो कुछ है कह देंगे) दंडी कवि ने भी उसमें पक्षपात किया है। किंतु हिंदी भाषा को यदि मैं आपके सामने यह कहूँ कि यही सब बहनों में माँ की अच्छी पहली पुत्री है, अपने पिता और माता की होनहार मूर्ति है, तो अत्युक्ति न होगी। सौरसेनी में शब्द बँधे हुए हैं, फलते नहीं, महाराष्ट्री में उखड़ते पुखड़ते नाचते कूदते जाते हैं। आपको अनेक शब्द हिंदी भाषा में मिलते हैं जिनके सात सात रूप हैं। भारतीय सभी भाषाओं में हिंदी शब्दों की न्यूनाधिक झोली की झोली भरी पड़ी है। हाँ, यह मानना पड़ेगा कि इनके रूप में बड़ा परिवर्तन है। जैसे कि बनारस से नीचे बंगाल में चलिए तो आगे चलकर बिहार में बिहारी मिलेंगी, बंगाल में जाइये तो लकारों का संगीत पाया जाता है। हरिद्वार से जब गंगा चलीं

और उनके संग में जो पत्थर के टुकड़े बहते हुए चले तो हरद्वार से काशी आते आते रगड़ते भगड़ते कोमल और चिकने हो गए। इसी प्रकार यह बिहार में गाजीपुर और बनारस से नीचे रगड़कर प्रिय कोमल स्वरों के हो गए। जब आप बंगाल में पहुँचे तब आपको कोमलता का घर मिला। वहाँ आप की भाषा भी अधिक कोमल दिखाई दी। यहाँ की भाषा का रूप देख हमारे यूरोपियन विद्वान् और देशी विद्वान् भी भ्रम में पड़ गए हैं कि क्या हिंदी महाराष्ट्री और सौरसेनी, पंजाबी और बंगला, सब वस्तुतः एक हैं। हमें भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि इनके बीच बड़ा अंतर हो गया है। संस्कृत शब्दों का हिंदी ही में कितना परिवर्तन हो गया है। जो कर्ण था वह कान, नासिका थी वह नाक है, जो हस्त था वह हाथ है। पानीय का पानी है। यह परिवर्तन सभी जगह दिखाई देता है। लक्ष्मी को भाषावालों ने लिखा लच्छमी या लक्खी। लच्छमी कहने में जो प्रेम आया वह लक्ष्मी कहने में नहीं। जैसे जैसे भाषा बंगाल की ओर बढ़ी वैसे वैसे कहा गया कि इसमें जितना कर्कशपन है उसे काट दो। अब बेटियों में बड़ा रूपांतर हुआ। यहाँ तक यह कह दिया कि भाषा की उत्पत्ति क्या है। सिवाय इसके यह निवेदन करता हूँ कि जितने और प्रमाण हैं जिनसे भाषा की अवस्था को जान सकते हैं, अब उसको जाँचना चाहिए। भाषा के रूप की शब्दमाला क्या है? इन दोनों के विचारों से हिंदी भाषा ही प्राचीन है। डाक्टर ग्रियर्सन ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि हिंदी संस्कृत की बेटियों में सबसे अच्छी और शिरोमणि है। आप कहेंगे कि इसमें कौन फूहड़ मालूम होती है। यह मेरा कहना आवश्यक भी नहीं है। यह समझा जा सकता है कि मैं हिंदू हूँ और पक्षपात से कहता हूँ।

आज मैं अपने बंगाली हिंदुस्थानी गुजराती भाइयों से पुकार कर कहता हूँ कि भाषा एक चली आई और संस्कृत भी एक है। जब प्राकृत हुई तब अंग की प्राकृत हो गई किंतु मूल में एक ही रही। जितनी भाषाएँ हैं, हमारी हैं। बंगाली हमारी भाषा, पंजाबी हमारी भाषा और गुजराती हमारी भाषा है। अब इसके विचार से कौन किसको कहे कि कौन बुरी है।

हिंदी अपनी बहनों में सबसे प्राचीनतम और बड़ी बहन है और माता की रूप आकृति इससे बहुत मिलती जुलती है। यह सब जो बड़ी छोटी बातें मैं आपसे निवेदन करता हूँ इसका दूसरा प्रमाण मिलना चाहिए। शब्दमाला, शब्दों की रचना यह तो हो गया। दूसरा प्रमाण है ग्रंथमाला। अधिक हिंदी ग्रंथमाला का, भाषाओं की ग्रंथमाला का शिवसिंह जी ने जैसा कि मालूम होगा, इन बातों को दिखाया है। प्रथम हिंदी भाषा का काव्य ७७० में हुआ। भाषा के ग्रंथों में राजा मान की सहायता और आदेश से दूसरा जो हमें मिलता है, वह पूज्य कवि ८०२ में हुआ और तीसरा लेख जो मिलता है, वह राव खुमान सिंह ने एक ग्रंथ हिंदी में लिखा।

९०० में खुमानरासो, पृथ्वीराजरासो ‹प्रसिद्ध किया। चौथा ग्रंथ, जैसा कि मैं अभी आपसे निवेदन कर चुका हूँ, चंद कवि कृत रासो है। जो भाषा के विद्वान् हैं और जो भाषा की रूपरचना जानते हैं, वह विना शंका के यही कह देंगे कि जिस भाषा में चंद कवि ने ग्रंथ लिखा है वह भाषा बहुत पहले से हुई है। यह नहीं हो सकता कि जिसकी भाषा प्रिय होने लगी उसी में ग्रंथ लिख डाला। चंद कवि से पहले अनेक कवि हो चुके थे। उन्होंने उर्दू में लिखा, हिंदी में नहीं। हिंदुओं में ब्राह्मण और कायस्थ उर्दू अधिक पढ़नेवाले थे। पर हमारे क्षत्रिय भाइयों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। उनमें पढ़ने का प्रचार कम हुआ। वह इसके बदले जमींदारी और खेतीबारी में रहे और उसी से प्रेम रहा और विद्या को कम पढ़ा। वैश्य जो हमारे भाई हैं, उन्होंने कहा, कि जिसको नौकरी करना हो वह पढ़ने जाय, उन्हें इतनी फुरसत कहाँ। वह दूसरी ओर उन्नति करते रहे। आप को उर्दू के ज्ञाता मिलेंगे— ब्राह्मण और कायस्थ। ब्राह्मणों में काश्मीरी ब्राह्मण बुद्धि में प्रखर, भाषा के विशेष योग्य थे। इनका प्रेम उर्दू की ओर बढ़ गया और वे इसी तरफ झुके। कायस्थ भाइयों का भी यही हाल हुआ कि सरकारी दफ्तरों में उर्दू गाज रही थी, हिंदी सभ्य भाषा भी नहीं समझी जाती थी। हमारे पंडित मथुराप्रसाद, राजा शिवप्रसाद कह गए हैं कि हिंदी भाषा को यह कहना कि हिंदी कोई भाषा ही नहीं अनुचित है। यह दशा थी। इसी कारण से हिंदी की उन्नति न हुई। अब क्या होता है। इस बीच में और और प्रांतों में उन्नति हुई। बंगाल में जैसा कि मैं आपसे निवेदन कर चुका हूँ, भाषा का बड़ा सुधार हुआ। एक अंश में सर माइकल मधुसूदन को लीजिए। हेमचंद्र बंकिमचंद्र इत्यादि बंगाली बड़े बड़े कवि हुए हैं। उन्होंने उपन्यास, इतिहास, और काव्य से अपनी भाषा को बनाया, सजाया। इसके उपरांत कबीरदास हुए, १५४० में मलिक मुहम्मद जायसी हुए। गोस्वामी तुलसीदासजी, श्री केशवदासजी, दादूदयालजी, गुरु गोविंदसिंहजी, बिहारीलाल को ही देखिए। हर एक की भाषा में हिंदी के पुष्ट रूप दिखलाई पड़ रहे हैं। यह सिद्ध है कि भाषाओं में मरहटी भाषा में, जो सबसे पुष्ट है, नामदेव १३वीं सदी में थे। बंगला भाषा में, जिसे आज देखकर आनंदित होते हैं और यदि सच कहूँ तो ईर्ष्या भी होती है, चंडीदासजी बड़े प्रसिद्ध १४वीं सदी में हुए। चंद के समय तक मराठी में, न बंगला में, न गुजराती, में तीनों में इतना बड़ा काव्य नहीं था जितना बड़ा काव्य चंद कवि का हिंदी में मिलता है। इस प्रकार से हिंदी भाषा आरंभ हुई। यदि यह जानना चाहते हैं कि किसका भांडार किसका रूप और कौन अधिक थी, तो इसके देखने के लिये मैं आपके संमुख कुछ बातें उपस्थित करता हूँ। यह जो सन् १८५७ ई० मे विप्लव हुआ, उस समय से भाषाओं की ओर उन्नति हुई। १८३५ ई० में बंगाल में, पंजाब में फारसी भाषा दफ्तरों में थी। अँगरेजी गवर्मेंट ने इसको मिटाकर मराठी, गुजराती,

बंगाली और उर्दू को इनके स्थान में किया। वहीं से देशी भाषाओं की उन्नति की रेखा बँधी। अब इस बात का विचार कीजिए कि सन् १८३५ के पूर्व और १८५८ के उपरांत इन सब भाषाओं का कैसा भांडार था, इनमें ग्रंथमाला कैसी थी? ७७० से लेकर आप केवल बड़े बड़े कवियों को लीजिए। उनके ग्रंथ आज तक हिंदी भाषा का भांडार भर रहे हैं। चंद कवि के रासो को ले लीजिए। लल्लूजी, कबीरदास, गुरु नानक जी, मलिक मुहम्मद जायसी, भीमदेव, तुलसीदास, सूरदास अष्टछाप, केशवदास, दादूदास, गुरु गोविंदसिंह जी, बिहारीलाल, किस किसके नाम गिनाऊँ। मुझे सब गिनाना भी नहीं। बिहारीलाल को ले लीजिए। इन्होंने १६५० के लगभग ग्रंथ लिखा है। बहुत वृक्ष वाटिकाओं में उगते हैं, कितने ही आपसे आप उगते हैं, उनका झाड़ भी बड़ा फैला हुआ होता है। जैसे जैसे वे ऊपर उठते हैं वैसे वैसे उनकी छाया अधिक होती जाती है। कुछ ऐसे होते हैं, जिनको आप काटकर मट्टी बनाकर किसी स्थान में लगाते हैं और अपनी वाटिकाओं में उगाते हैं। इसी तरह भाषा म जो बहुत शब्द हैं, जैसे कर्ण से कान, हस्त से हाथ संस्कृत से उत्पन्न हुए हैं वे प्राकृत रूप में अपने से आप उपजे। जो शब्द संस्कृत के उठाकर रख दिए हैं, वह वैसे ही हैं जैसे कि गुच्छा, कितने ही वृक्ष थोड़े समय में सूख जायँगे, फिर उनमें शक्ति नहीं कि वह दूसरे फल उत्पन्न करें। जहाँ यह मुरझाए, फिर इन्हें हटाना ही पड़ेगा। इसी प्रकार से हिंदी भाषा के तद्भव शब्द जो हैं वह निज की संपत्ति हैं, उनके निज के अवयव पुष्ट हैं, वह फूलें फलेंगे और अपने आप बढ़ते चले जायँगे। यह सब प्रबल और पुष्ट होते हैं। किंतु जिन शब्दों में किसी का पैबंद लगा दिया जाता है, वह बनने को बन जाते हैं किंतु पुष्ट नहीं होते। जो लिए हुए शब्द हैं, उनमें भाषा की शक्ति नहीं। बच्चा माता के दूध से जितना पुष्ट होता है, ऊपरी दूध से उतना पुष्ट नहीं होता, जो बच्चा धीरे धीरे माता का दूध पीता है वह पुष्ट होता जाता है और अंत में संसार में काम करने योग्य होता है। फिर भी हरेक भाषा में हरएक तरह के शब्द मिलेंगे ही, जैसे भोजन में दाल भात रोटी इत्यादि। और संस्कृत की जितनी बेटियाँ हैं, वह सब भी माँ के गहनों को पहनेंगी, चाहे वह अच्छा हो चाहे बुरा, सब माँ का गहना है। उनमें एक गहना दो गहना चार गहना माँ का है। माँ के गहने से बड़ा प्रेम होता है। उस समय उनको धारण करने में विशेष आनंद होता है। किंतु जो सब गहने माँ के ही हों तो सब कहेंगे कि यह सब माँ की संपत्ति है। इसलिये हिंदी भाषा का यह सौभाग्य है कि उसके जो शब्द हैं वह सब माता के ही प्रसाद हैं। किंतु माता ने कहा, हे बेटी! यह तेरे हैं, तू इसका व्यवहार करना। बिहार मे बंगाल में विद्यापति जी ने हिंदीभंडार से फूल पत्ते ले जाकर अपने काव्यग्रंथ को भरा है। इस प्रकार आप देखेंगे कि दक्षिण में मराठी में भी जो शब्द का मेल है, उसमें जो कुछ तद्भव शब्द व्यवहार में लाए जाते हैं वह यहीं के हैं। हम आप 'मुझ, तुझ' कहते हैं मराठी में 'मुझा

तुम्हा' कहते हैं। हाँ यह मानना पड़ेगा कि इन शब्दों का उच्चारण बंगाल में और है, महाराष्ट्र में और। हमें इस बात की ईर्ष्या नहीं है, अगर वह सबकी माँ नहीं तो मौसी है। हम तो सबके बालक हैं। सबके पैरों पर लोटेंगे। माँ ने भोजन दे दिया तो ले लेंगे, मौसी ने दे दिया तो ले लेंगे। वह हमारी, हम उनके हैं। आप देखेंगे कि हिंदी भाषा में शब्दों का अधिक भंडार है, यह बड़ा प्रबल है और हिंदी की यह बड़ी संपत्ति है। इस प्रकार से आप की ग्रंथमाला की शब्दावली का भंडार भरा हुआ है। सन् १८३५ से १८५८ तक महाभारत का प्रथम अनुवाद हुआ। इसके उपरांत एक विशेष दशा आई। आप जानते हैं कि रीति जो पड़ जाती है, वह छोड़े नहीं छुटती। जब जब जिस जिस स्थान में आप देखेंगे, लता वृक्ष के सहारे फैलती पाएँगे। सबसे बड़ा सहारा प्रत्येक भाषा का राजा ही होता है। बिहारी ने जयपुर के महाराज के यहाँ जाकर अपनी कविताशक्ति का चमत्कार दिखाया। शिवाजी महाराज के आश्रय में भूषण कवि ने अपनी कविताशक्ति का परिचय दिया। एक ओर युद्ध में तलवार नाचती थी, दूसरी ओर उनकी कविता नाचती थी। राजा का आश्रय दो प्रकार का होता है। एक तो प्रत्यक्ष, दूसरा गुप्त। इन दोनों की आवश्यकता है, किंतु इस समय मैं प्रत्यक्ष को ही लूँगा। जब अँगरेजी गवर्मेंट इस देश में आई, तब उसने बड़ी ही सुव्यवस्था की जिसके लिये उसे सच्चे हृदय से धन्यवाद देना चाहिए। इसने इस देश में ऐसा नियम स्थापित किया जिससे आज इतना बड़ा समारोह हो रहा है। याद रहे कि कोई व्यक्ति चाहे वह ऊँचे घर का बालक ही क्यों न हो, जब गिरता है, तब बुरा गिरता है। यह पवित्र आर्यजाति जो अपनी प्राचीन महिमा से गिरी तो ऐसी गिरी कि फिर से उसका पुनरुद्धार न हुआ। इस आर्यजाति के पतन के कारण इससे महाराष्ट्रों और सिक्खों का अलगाव हुआ। जब से अँगरेजी गवर्नमेंट आई तब से आप देखते हैं कि विद्या की चर्चा बढ़ गई। यंत्रालय आया, साथ ही साथ बड़ी भारी शिक्षा आई। आपने देखा होगा कि अँगरेज लोग अपनी भाषा की कैसी उन्नति करते हैं अँगरेजी गवर्नमेंट ने यहाँ आ अँगरेजी विद्या के प्रचार का उपाय किया, साथ साथ आपकी संस्कृत भाषा की उन्नति का भी पथ प्रशस्त किया। इस काशीपुरी में सबसे पहले क्वींस कालेज और संस्कृत कालेज स्थापित हुआ, जिससे हिंदुओं की भाषा की रक्षा हुई। गवर्नमेंट के उत्तम कार्यों का धन्यवाद हम हिंदू किसी प्रकार कर नहीं सकते और आज जो आपके भारतवर्ष में कुछ जनों में संस्कृत का प्रचार देख पड़ता है, इस काशी ही में धुरंधर पंडित मिलते हैं जिनका संमान बड़े बड़े लोग करते हैं, उसका अन्यतम कारण अँगरेज सरकार का संस्कृत-प्रचार है। मैंने आपसे इसको सुनकर नहीं कहा है। डा० वालेंटाइन जब प्रिंसिपल थे तब उन्होंने लेख लिखा था कि हमको केवल संस्कृत के ग्रंथों का अनुवाद करके हिंदी भाषा में प्रचार करना चाहिए; सो उन्होंने अपने समय में जो आवश्यक था वह कर

डाला। किंतु खेद की बात है कि इतना अवसर पाने पर भी हम जगाए जाने से भी आप से आप नहीं जागे। गवर्नमेंट की सहायता से भी नहीं जागे। इस प्रांत में भाषा की उन्नति का बीज सबसे पहले बोया गया था, किंतु आज उसी प्रांत की हिंदी भाषा अपनी और बहनों के सामने मुँह मोड़े खड़ी है। अब १८३५ के लगभग आ जाइए। उस समय गवर्नमेंट के सरकारी दफ्तरों में फारसी में काम होता था। गवर्नमेंट ने १८३५ में यह आज्ञा दी कि हिंदुस्थान की भाषाएँ भी काम में लाई जायँ। इस आज्ञा के फल से इस प्रांत में उर्दू जारी हो गई; हिंदी जारी नहीं हुई, इसका फल यह हुआ कि हिंदी की बड़ी अवनति हुई। यह सत्य है कि सन् १८४४ ई० में जब टामसन साहब लेफ्टिनेंट गवर्नर थे, सरकार ने हिंदी भाषा का पढ़ना पढ़ाना आरंभ किया। यदि यह न हुआ होता तो आज आपको हिंदी के जाननेवाले इतने भी न मिलते जिनमे लोगों को पढ़ाने का अवसर मिलता। फिर भी अदालतों में हिंदी के प्रवेश न करने से हिंदी की उतनी उन्नति नहीं हुई। उर्दू सरकारी दफ्तरों में जारी थी उसी का प्रचार था। फिर भी उर्दू का वैसा प्रचार नहीं हुआ जैसा होना चाहिए था। उर्दू पुस्तकों की उतनी उन्नति नहीं हुई जितनी बंगाली, महाराष्ट्री और गुजराती की। मैं जानता हूँ कि मुसलमान अब जागे हैं, किंतु पचास साठ वर्ष तक उन्होंने उर्दू की वैसी उन्नति नहीं की जैसी करनी चाहिए थी। उर्दू की उन्नति में बाधा पड़ने का एक कारण यह है कि उर्दू, विशेष करके वह उर्दू जिसे अधिकतर उर्दू के प्रेमी लिखते हैं, अरबी और फारसी के शब्दों से भरी होती है, जिसके जानने वाले लोग कम हैं और जिसके लिखनेवाले लोग भी कम हैं। सन् १८५८ में जब गवर्नमेंट ने विद्या के विभाग के नियम बनाए, उन्हीं दिनों स्कूल के लिये हिंदी पुस्तकें छपवाईं और बहुतेरे विद्वानों की संमति ली। गवर्नमेंट आफ इंडिया ने सन् १८७३ के लगभग २११ पुस्तकों का संचय किया। गवर्नमेंट की सहायता से आदित्यराम जी ने एक दो अनुवाद अँगरेजी पुस्तकों के किए, राजा शिवप्रसाद जी से संमति ली गई। लोगों को इस पर ध्यान देना चाहिए कि हिंदू मुसलमान दोनों की तरफ से, जहाँ तक मुझको मालूम हुआ है, इन पुस्तकों के पढ़नेवाले अधिक नहीं थे, इसी लिये दोनों की उन्नति नहीं हुई। और प्रांतवालों ने जिन्होंने अँगरेजी पढ़ी, उनकी दूसरी भाषा मातृभाषा थी, बंगालियों ने अँगरेजी पढ़ी, उनकी दूसरी भाषा बंगला थी। बंगालियों को ले लीजिए, चार विद्वानों ने बंगाली भाषा को जन्म दिया। पचास वर्ष में बंगला ने ऐसी उन्नति की कि उसको देखकर न केवल संतोष ही होता है बल्कि ईर्ष्या भी होती है। मराठी में ऐसा ही हुआ कि जिन्होंने अँगरेजी पढ़ी उन्होंने साथ साथ अपनी भाषा भी पढ़ी। गुजरात में वर्नाक्यूलर सोसाइटी बनी। संस्कृत से अनुवाद करना आरंभ किया गया, उनकी भाषा की पुस्तकें जितनी बिकने लगीं, वह सभी को

मालूम है। अनुवाद का अंत नहीं। आज ऐसा होता है कि अँगरेजी भाषा में जो अच्छी पुस्तकें छपती हैं, उनका अनुवाद हो जाता है। इधर हिंदू, मुसलमान, काश्मीरी, कायस्थ हमारे सब भाइयों ने सिर्फ उर्दू लिखना आरंभ किया। 'गुलजारे नसीम' पंडित दयाशंकर नसीम ने लिखी। हिंदुओं को यह तो शौक हुआ कि वह लिखें लेकिन हिंदी में लिखने का शौक नहीं हुआ। पंडित रतननाथ सरशार ने 'फिसानये आजाद' लिखकर उर्दू भाषा को अनमोल हार पहना दिया। पर हिंदी जाननेवालों को उस हार का पता नहीं कि वह कैसा है, मूँज का हार है या किसका। यह सत्य है कि मुसलमान कवियों ने हिंदी भाषा की भी सेवा की है। मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत लिखा है, जब तक हिंदी भाषा रहेगी उनका नाम रहेगा। किंतु मैं आपको यह दशा दिखलाता हूँ कि काश्मीरी भाइयों ने जो लिखा वह उर्दू में। हमारे हिंदू भाइयों में कायस्थ भाइयों ने बहुत समय से बहुत कुछ लिखा किंतु वह भी उर्दू में। उन्होंने विज्ञान काव्य की कितनी ही पुस्तकें लिखीं। हिंदू मुसलमानों द्वारा उर्दू की उन्नति का यत्न किया गया सही, किंतु हमें तो बंगला की उन्नति और वृद्धि से संतोष होता है। मराठी गुजराती से भी ऐसा ही होता है। वहाँ विद्या सरस्वती आप ही आप चली आई। इधर हिंदी के लिये काम करनेवाले नहीं। यह दशा आपकी है। १८३५ और ५८ से पहले आपकी हिंदी भाषा अपनी माँ की सुंदर छवि को लिए हुए अपने भंडार को भरे आनंद के साथ बैठी हुई आपको देखती है। १८३५ और ५८ के बाद इसकी और बहनें आगे बढ़ गईं, यह जहाँ की तहाँ रह गई। कहते हुए दुःख होता है कि जिस हिंदी के लिखनेवालों में चंद कवि तुलसीदास, सूरदास, बिहारीलाल हो गए हैं, बबुआ हरिश्चंद्र हो गए हैं, वह हिंदी आज अपनी बहिनों के सामने आँखें नीची किए खड़ी है। हिंदी के प्रेमियों! तुम्हारे और हमारे लिये यह बड़ी ही लज्जा की बात है। यह सच है कि अँगरेजी कार्यालयों में हिंदी का प्रचार अधिक नहीं। १८५८ में जब राजा शिवप्रसाद विद्यमान थे, उस समय अनेक सज्जनों ने इस बात को कहा था कि सरकारी दफ्तरों में हिंदी भाषा का प्रवेश हो, किंतु उस समय यह बात बातों ही में रह गई।

अंत में सर एंटनी मेकडानल का भला हो, उन्होंने यह आज्ञा दी कि कचहरियों में जो दरख्वास्तें दी जावें वह हिंदी उर्दू दोनों में लिखी जावें। उस समय से हमलोग हिंदी भाषा की विशेष उन्नति करने लगे हैं। जब रोगी दुर्बल हो सन्निपात की दशा को पहुँच जाता है, तब पहले उसका ज्वर छुड़ाया जाता है, फिर उसका आहार आदि ठीक किया जाता है, अंत में यह पहाड़ हट गया। किंतु बड़े धिक्कार और बड़े लज्जा की बात है कि यद्यपि यह पहाड़ हमारे मार्ग से काटकर हटा दिया गया, तो भी हमलोगों ने आज तक इससे पूरा लाभ न उठाया। हम वकील हम मुख्तार, हम व्यवहार करनेवाले महाजन और वह लोग जो कचहरी में वकालत

करते हैं और अपने हिंदू भाइयों के मुकदमे में उनका धन व्यय कराते हैं, वह लोग भी हिंदी भाषा की ओर से उदासीन हैं। कितने लोग हैं, जो जाति का उपकार करते हैं। कहते हैं कि जाति बिना भाषा जीवित नहीं रह सकती, जैसे कि नाल के बिना बालक नहीं जीवित रह सकता। किंतु क्या यह बात सत्य है? जरा बंगाली मराठी आदि को देखिए। हिंदी भाषा के कितने लोग हैं जिनको इस बात से दुःख और लज्जा होती है कि यह आर्यावर्त देश, जहाँ कि आप देखेंगे कि लाखों लोग ऐसे हैं जो अपनी माँ की बोली से परिचय नहीं रखते। सब आशा उन्नति को छोड़ दीजिए। उन्नति करनेवालों के सामने खड़ा होना छोड़ दीजिए। जब तक आप इस लज्जा को न मिटावें, अपनी माँ की बोली न सीखें, तब तक आप मुँह न दिखावें। मातृभाषा के सीखने में कौन लज्जा करता है? अब आप लोग अपने हृदय में आज से इस बात का प्रण कर लें कि जब तक आप मातृभाषा को सीख न लेंगे तब तक आप मस्तक ऊँचा न करेंगे। कोई अँगरेज जो अँगरेजी भाषा से परिचित न हो या कोई और देश का पुरुष जो अपने देश की भाषा न जानता हो, क्या कभी गौरवान्वित हो सकता है? जब हमारी यह दशा है तब क्यों न इस भाषा की दुर्दशा होगी और क्यों न हमको औरों के सामने दुर्बलता स्वीकार करनी पड़ेगी? यह सत्य है कि कुछ लोग अपनी मातृभाषा का काम करते हैं, किंतु ऐसे लोग कितने हैं? मेरा यह प्रस्ताव नहीं है मेरा यह निवेदन है कि जो हुआ वह हुआ, अब क्या करना चाहिए। आपको यह आवश्यक है कि सरकारी दफ्तरों से जो नकलें दी जाती हैं, उनको आप हिंदी में लें, जो डिगरियाँ तजवीजें आदि मिलती हैं, उनको आप हिंदी में लें। यह सब आपके लिये आवश्यक है। गवर्नमेंट ने आपको जो अवसर दिया है, उसे आप काम में नहीं लाते। इसके उपरांत यह भी सत्य है कि आज तक इस कारण से आपके अँगरेजी पढ़नेवालों में केवल उर्दू का अधिक प्रचार है। अब मैं यह आशा करता हूँ और सोचता हूँ कि जब तक यह प्रचार रहेगा, तब तक हिंदी भाषा की उन्नति में बड़ी रुकावट रहेगी। उर्दू भाषा रहे, कोई बुद्धिमान पुरुष यह नहीं कह सकता कि उर्दू मिट जाय। यह अवश्य रहे और इसके मिटाने का विचार वैसा ही होगा, जैसा हिंदी भाषा के मिटाने का। दोनों भाषाएँ अमिट हैं, दोनों रहेंगी। उर्दू भाषा के प्रेमी करोड़ों हैं और इस पचास बर्ष में उन्होंने बहुत कुछ उन्नति की है। मौलवी जकाउल्लह साहब, मुहम्मद हुसेन आजाद और देहली के नजीर अहमद को लीजिए, उस शब्दकोष को लीजिए, जो निजाम हैदराबाद में छपकर तैयार हो गया है। हैदराबाद में मुसलमान भाई २५ वर्ष से उर्दू की उन्नति का बड़ा यत्न कर रहे हैं। हमको संतोष और सुख होता है कि मौलवी शिवली के काम से उसकी उन्नति में अधिकता हुई है और उसकी उन्नति हमारे देश की उन्नति है। हम इसकी भलाई चाहते हैं, किंतु इसी के साथ साथ हमें यह भी कहना चाहिए कि हिंदी जाननेवाले

इस प्रांत में बहुत हैं। पिछली मनुष्यगणना से जान पड़ा है कि एक उर्दू जाननेवाला है, तो चार हिंदी जाननेवाले। हमारे मुसलमान भाई जिनको इसका प्रेम है और जो देशभक्त हैं, जिनसे हमारे देश की सब तरह की उन्नति है, वह उर्दू की उन्नति का यत्न करें और हिंदी जाननेवाले हिंदी की उन्नति का। इस देश में हिंदी भाषा जाननेवालों की कमी नहीं, कोई दस बारह करोड़ हैं। इनकी हिंदी भाषा की उन्नति करने के लिये हमें क्या उपाय करना चाहिए? जितना अब विचार हो चुका है, उससे आपने यह देख लिया कि भाषाओं की अवस्था में कैसा उलट फेर हुआ और हिंदी ज्यों की त्यों रही। यह दशा जो हमारी है, उसमें क्या करने की आवश्यकता है। इस बात के विचारने में मैंने आपसे कहा कि राजा के सहारे से बड़ा सहारा होता है। यदि आपको जैसा कि नागरीप्रचारिणी सभा के लिये गवर्नमेंट सहारा देती चली आई है, राजसाहाय्य मिले तो काम बहुत कुछ बन जा सकता है। किंतु बड़े दुःख की बात यह है कि अँगरेजी गवर्नमेंट ने इसका जितना प्रचार करना चाहा था, हमारी उपेक्षा से उसका उतना प्रचार नहीं हुआ। हमलोगों को जितना करना चाहिए था, उसका सिर्फ कुछ अंश हमने किया। अब यह संमेलन ही विचार करे कि इसकी उन्नति का क्या उपाय होना चाहिए।

संपादकीय

संस्कृति की व्याप्ति और गहराई को परिभाषा में बाँधना बड़ा ही दुष्कर कार्य है, उसकी व्याख्या करना भी कम कठिन नहीं है। फिर भी उसका मूर्त प्रत्यक्षीकरण संभव है। कुछ शब्द अपने अनुषंगों में संस्कृति का आंशिक बोध कराने में समर्थ होते हैं। लेकिन 'महामना पं० मदनमोहन मालवीय' भारतीय संस्कृति को समग्रतः प्रत्यक्षीकृत कर देता है। महामना के आचार - विचार, रीति - नीति, उदात्त आदर्श, शिक्षाविज्ञता, कलाप्रेम, वेषभूषा आदि से भारतीय संस्कृति की जीवंत छवियाँ उरेह उठती हैं।

जो लोग काशी हिंदू विश्वविद्यालय की प्रशस्त इमारतों में महामना को देखना चाहेंगे वे उनके बाह्यरूप के ही दर्शन कर सकेंगे। उसे देखकर वे विस्मय-विमुग्ध हो उठेंगे, पर यह विमुग्धता संस्कृति का उतना प्रकाशक नहीं है जितना वैभव और संपन्नता का। इन इमारतों की मूलवर्ती प्रेरणा संस्कृति का अंग है न कि स्वयं ये इमारतें। महामना की वाग्मिता लोगों को चकित करनेवाली है। लेकिन वाग्मिता प्रतिभा की द्योतक है स्वयं संस्कृति की प्रकाशिका नहीं। उनकी विद्वत्ता, शिक्षा-कला और अद्भुत ज्ञान संस्कृति के पूरक माने जा सकते हैं। क्योंकि कभी कभी यह भी होता है कि विद्वत्ता और शिक्षाकला मनुष्य की अस्मिता की अभिवृद्धि कर उसे असंस्कृत बना देते हैं।

विद्वान् तो बहुत होते हैं, वाग्मियों की संख्या भी कम नहीं है। शिक्षा-कलाविद् भी स्थान स्थान पर मिल जाते हैं। ये लोग संस्कृति के प्रवर्धन में अद्भुत योग देते हैं, इसमें भी संदेह नहीं। पर उनका स्वयं संस्कृत होना बिलकुल अलग बात है।

संस्कृति कोई लेबुल नहीं है जिसको चिपका लेने से कोई सुसंस्कृत मान लिया जाय। इसको आत्मसात् किया जाता है, इसको जिया जाता है। महामना ने भारतीय संस्कृति को जिया है, भारतीय संस्कृति के म्रियमाण उच्चतर मानवीय मूल्यों को अपनी क्रियाओं द्वारा प्राणवान् बनाया है। उदात्त आदर्शों और जीवनमूल्यों को क्रियारूप में परिणत करना ही संस्कृति है। महामना धृति, क्षमा, औदार्य आदि के मूर्तरूप थे। ये मूलभूत मानवीय विशेषताएँ उनमें प्रत्येक समय जाग्रत रहती थीं। उनकी इन विशेषताओं को उन भाग्यवान् विद्यार्थियों, अध्यापकों, राजनीतिज्ञों, समाज के उन्नेताओं, साधारण व्यक्तियों से पूछा जा सकता है जो एक बार भी उनके संपर्क में आए थे, काशी के विद्यामंदिर के उस आध्यात्मिक वातावरण से पूछा जा सकता है जिसे उस ऋषि ने अपनी तपश्चर्या से सुरभित किया था।

उनकी विद्वत्ता, वाग्मिता, शिक्षा - कला - विज्ञता ने उनके व्यक्तित्व को भारतीय संस्कृति के अनुरूप ढालने में सहायता पहुँचाई। उनकी संस्कृति व्यक्ति की संस्कृति नहीं थी, पूरे युग की थी पूरे राष्ट्र की थी। महामना ने उसे अनेक संस्थाओं द्वारा लोक में विकीरित किया। उन्होंने निःशेष रूप से इस देश के विद्यार्थियों और नागरिकों को अपने को दे दिया। इससे बढ़कर संस्कृति का और क्या रूप हो सकता है। पुराणकार ने धर्म की जिस आखिरी आकांक्षा का उल्लेख किया है वह महामना के व्यक्तित्व में साकार हो उठी थी —

कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्त्तिनाशनम्।

आभारप्रदर्शन

महामना जन्मशती विशेषांक जैसा है आपके सामने है। इसके लिये हम अपने विद्वान् लेखकों के आभारी हैं जिन्होंने हमारे अनुरोध पर अत्यंत व्यस्त रहते हुए भी लेख भेजने की कृपा की। स्थानाभाव से जो लेख नहीं छप सके हैं उनके लेखकों से हम क्षमाप्रार्थी हैं। काशी हिंदू विश्वविद्यालय के सौजन्य से महामना के चित्रों के ब्लाक हमें प्राप्त हुए एतदर्थ विश्वविद्यालय के प्रति हम कृतज्ञता प्रदर्शित करते हैं।

—संपादक

*

परिशिष्ट

मालवीयशती तक प्रकाशित

नागरीप्रचारिणी सभा की पुस्तकें

मनोरंजन पुस्तकमाला

पुस्तक का नाम	लेखक तथा संपादक	मूल्य
१. आदर्श जीवन	श्री रामचंद्र शुक्ल	३.००
२. आत्मोद्धार	श्री रामचंद्र वर्मा	३.००
३. गुरुगोविंदसिंह	श्री वेणीप्रसाद	३.००
*४. आदर्श हिंदू भाग १	मेहता लज्जाराम शर्मा	३.००
५. आदर्श हिंदू भाग २	मेहता लज्जाराम शर्मा	३.००
६. आदर्श हिंदू भाग ३	मेहता लज्जाराम शर्मा	३.००
७. राणा जगबहादुर	श्री जगन्मोहन वर्मा	३.००
८. भीष्मपितामह	श्री द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी	३.००
*९. जीवन के आनंद	श्री गणपति जानकीराम दुबे	३.००
*१०. लालचीन	श्री ब्रजनंदन सहाय	३.००
११. कबीर वचनावली	श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय	३.००
१२. महादेव गोविंद रानाडे	श्री रामनारायण मिश्र	३.००
*१३. बुद्धदेव	श्री जगन्मोहन वर्मा	३.००
१४. मितव्यय	श्री रामचंद्र वर्मा	३.००
१५. सिक्खों का उत्थान और पतन	श्री नंदकुमार देव शर्मा	३.००
१६. वीरमणि	श्री मिश्रबंधु	३.००
*१७. नेपोलियन बोनापार्ट	श्री राधामोहन गोकुल	३.००
१८. शासनपद्धति	श्री डा० प्राणनाथ विद्यालंकार	३.००
*१९. हिंदुस्तान भाग १	श्री दयाचंद्र गोयलीय	३.००
*२०. हिंदुस्तान भाग २	श्री दयाचंद्र गोयलीय	३.००
*२१. महर्षि सुकरात	श्री वेणीप्रसाद	३.००
*२२. ज्योतिर्विनोद	श्री संपूर्णानंद जी	३.००
*२३. आत्मशिक्षण	श्री मिश्रबंधु	३.००
२४. सुंदरसार	श्री पुरोहित हरिनारायण शर्मा	३.००
*२५. जर्मनी का विकास भाग १	श्री ठाकुर सूर्यकुमार वर्मा	३.००
*२६. जर्मनी का विकास भाग २	श्री ठाकुर सूर्यकुमार वर्मा	३.००
*२७. कृषिकौमुदी	श्री दुर्गाप्रसाद सिंह	३.००
*२८. कर्तव्यशास्त्र	श्री गुलाबराय	३.००

*२९. मुसलमानी राज्य का इतिहास भाग १	श्री मन्नन द्विवेदी	३.००
*३०. मुसलमानी राज्य का इतिहास भाग २	श्री मन्नन द्विवेदी	३.००
*३१. रणजीतसिंह	श्री वेणीप्रसाद	३.००
३२. विश्वप्रपंच भाग १	,, रामचंद्र शुक्ल	३.००
३३. विश्वप्रपंच भाग २	,, रामचंद्र शुक्ल	३.००
*३४. अहिल्याबाई	,, गोविंदराम केशवराम जोशी	३.००
३५. रामचंद्रिका	डा० पीतांबरदत्त बडथ्वाल	३.००
*३६. ऐतिहासिक कहानियाँ	श्री द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी	३.००
३७. हिंदी निबंधमाला भाग १	श्री श्यामसुंदरदास	२.००
३८. हिंदी निबंधमाला भाग २	श्री श्यामसुंदरदास	३.००
*३९. सूरसुधा	श्री मिश्रबंधु	३.००
४०. कर्तव्य	श्री रामचंद्र वर्मा	३.००
४१. संक्षिप्त रामस्वयंबर	श्री ब्रजरत्नदास	३.००
*४२. शिशुपालन	,, मुकुंदस्वरूप वर्मा	३.००
४३. शाही दृश्य	,, मक्खनलाल गुप्त	३.००
४४. पुरुषार्थ	,, जगन्मोहन वर्मा	३.००
*४५. तर्कशास्त्र भाग १	,, गुलाबराय	३.००
४६. तर्कशास्त्र भाग २	,, गुलाबराय	३.००
४७. तर्कशास्त्र भाग ३	,, गुलाबराय	३.००
*४८. प्राचीन आर्यवीरता	श्री द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी	३.००
४९. रोम का इतिहास	श्री डा० प्राणनाथ विद्यालंकार	३.००
५०. रसखान और घनानंद	श्री अमीर सिंह	३.००
५१. मानसरोवर और कैलाश	श्री रामचंद्र वर्मा	३.००
५२. बालमनोविज्ञान	श्री लालजी राम शुक्ल	३.००
५३. नई कहानियाँ	,, रायकृष्णदास	३.००
५४. भूदान का आर्थिक आधार	श्री बाबूराम मिश्र	३.२५
५५.५६ राष्ट्रभाषा पर विचार	श्री चंद्रबली पांडेय	५.५०
५७.६० अस्सी कहानियाँ	श्री विनोदशंकर व्यास	११.००

सूर्यकुमारी पुस्तकमाला

१.२. ज्ञानयोग	श्री स्वामी विवेकानंदजी	६.००
३. करुणा	श्री रामचंद्र वर्मा	४.५०
४. शशांक	आचार्य रामचंद्र शुक्ल	४.५०
५. बुद्धचरित	आचार्य रामचंद्र शुक्ल	३.७५

६.८. अकबरी दरबार (तीन भागों में)	श्री रामचंद्र वर्मा	४.००
९. पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास	श्री गुलाबराय	४.००
१०. हिंदू राजतंत्र भाग १	श्री रामचंद्र वर्मा	५.००
११. मुद्राशास्त्र	श्री डा० प्राणनाथ विद्यालंकार	३.००
१२. कर्मवाद जन्मांतर	श्री लल्लीप्रसाद पांडेय	३.७५
१३. हिंदीसाहित्य का इतिहास	श्री आचार्य रामचंद्र शुक्ल	१०.००
१४.१६ हिंदी रसगंगाधर (तीन भाग में)	श्री पुरुषोतम शर्मा	८.००
१७. हिंदी की गद्यशैली का विकास	श्री डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा	६.००
* १८. सोवियत भूमि	श्री राहुल सांकृत्यायन	
१९. गुलेरीग्रंथ भाग १	श्री कृष्णानंद	२.००
२०.२१. भारतेंदु ग्रंथावली भाग १,	श्री व्रजरत्नदास	११.००
२३. तुलसी की जीवनभूमि	आचार्य चंद्रबली पांडेय	३.७५
२४. असीम	श्री शंभुनाथ वाजपेयी	५.००
२५. पाषाणकथा	श्री शंभुनाथ वाजपेयी	३.००
२६. ध्वनिसंप्रदाय और उसके सिद्धांत	श्री डा० भोलाशंकर व्यास	१०.००
२७. तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य	श्री डा० नगेंद्रनाथ उपाध्याय	५.००
२८. निर्गुण साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि	श्री डा० मोती सिंह	७.५०
२९. सगुण साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि	श्री डा० रामनरेश वर्मा	(प्रेस में)

देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला

*१. चीनी यात्री फाहियान का यात्राविवरण	श्री जगन्मोहन वर्मा	१. २५
*२. चीनी यात्री सुंगयुंन का यात्राविवरण	" "	१. २५
*३. सुलेमान सौदागर	श्री महेशप्रसाद साहु	१. २५
*४. अशोक की धर्मलिपियाँ	श्री डा० गौरीशंकर हीराचंद्र ओझा	३. ००
५. हुमायूँनामा	श्री व्रजरत्नदास	३. ००
*६. प्राचीन मुद्रा	श्री राखाल बाबू—अनु० श्री रामचंद्र वर्मा	३. ५०
७–८. मुहणोत नेणसी की ख्याति भाग १–२	श्री रामनारायण दूगड़	६. ५०
९. मौर्यकालीन भारत का इतिहास	श्री कमलापति त्रिपाठी	२. ५०
१०–१३. मुगल दरबार (चार भागों में)	श्री व्रजरत्नदास (प्रत्येक)	५. ५०
१४. बुंदेलखंड का इतिहास	श्री गोरेलाल तिवारी	३. ७५

१५. अंधकार युगीन भारत का इतिहास	श्री डा० काशीप्रसाद जायसवाल अनु० श्री रामचंद्र वर्मा	५. ००
१६. मध्यप्रदेश का इतिहास	श्री डा० हीरालाल	२. ००
१७. मोहेनजोदड़ो	श्री सतीशचंद्र काला	३. ७५
१८. भागवत संप्रदाय	श्री बलदेव उपाध्याय	७. ५०
१९. पुरानी राजस्थानी	श्री डा० तिस्सितोरी अनु० श्री नामवर सिंह	४. ००
२०. खड़ी बोली का आंदोलन	श्री डा० शितिकंठ मिश्र	७. ००
२१. जहाँगीरनामा	श्री ब्रजरत्नदास	१५. ००

बारहट बालाबख्श राजपूत चारण पुस्तकमाला

१–३. बाँकीदास ग्रंथावली (तीन भागों में)	श्री रामकर्णजी (प्र.भा.)	१. ७५
४. वीसलदेवरासो	श्री सत्यजीवन वर्मा	२. ५०
५. शिखरवंशोत्पत्ति	श्री पुरोहित हरिनारायण शर्मा	१. ००
६. ब्रजनिधि ग्रंथावली	श्री पुरोहित हरिनारायण शर्मा	३. ००
७. ढोलामारूरादूहा	श्री रामसिंह श्रीसूर्यकरण और श्री नरोत्तमदास स्वामी	८. ००
८. रघुनाथरूपक गीतारो	श्रीमहताबचंद खारेड़	२. ००
९. राजरूपक	श्रीरामकर्णजी	६. ००

नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला

१. भक्त नामावली	श्री ध्रुवदास	१.२५
२. नासिकेतोपाख्यान	,, बाबू श्यामसुंदरदास	०.५०
३. पृथ्वीराजरासो २२ संख्याओं में (२, ३, ५, ६, ८, ९ अप्राप्य)	,, मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या (प्रति सं०)	५.५०
४. हमीरहठ	,, चंद्रशेखर कवि	१.२५
५. हम्मीररासो	,, जोधराज	२.७५
*६. हिम्मतबहादुर विरुदावली	,, पद्माकर	०.७५
७. भूषण ग्रंथावली	,, मिश्रबंधु	३.००
*८. चित्रावली	,, बाबू जगन्मोहन वर्मा	१.००
९. दीनदयालगिरि ग्रंथावली	,, बाबू श्यामसुंदरदास	१.००

१०. प्रेमसागर	श्री ब्रजरत्नदास	४.५०
*११. गीतावली	,, बाबू श्यामसुंदरदास	१.००
१२. जायसी ग्रंथावली	,, आचार्य रामचंद्र शुक्ल	६.२५
१३. तुलसी ग्रंथावली (संप्रति १, ३ अ०)	,, ,,	६.२५
१४. कबीर ग्रंथावली	,, श्यासुंदरदास	५.००
१५. रानी केतकी की कहानी	,, ,,	०.५०
१६. सूरसागर (आठ सं० में)	,, जगन्नाथदास रत्नाकर (प्रति० सं०)	१.२५
१७. सूरसागर (दो भागों में)	,, नंददुलारे वाजपेयी	२५.००
१८. कीर्तिलता	,, डा० बाबूराम सक्सेना	२.००
*१९. छत्रप्रकाश	,, श्यामसुंदरदास	
२०. रासपंचाध्यायी	,, ,,	
२१. जंगनामा	,, ,,	
*२२. महिला मृदुवाणी	,, ,,	
*२३. दादूदयाल की बानी	,, म० म० सुधाकर द्विवेदी	
*२४. इंद्रावती	,, बाबू श्यामसुंदरदास	
*२५. दादूदयाल के सबद	,, सुधाकर द्विवेदी	
*२६. विरहलीला	,, बाबू श्यामसुंदरदास	
*२७. राजविलास	,, लाला भगवानदीन	
*२८. देव ग्रंथावली भाग १	,, मिश्रबंधु	
*२९. वीरसिंह देवचरित	,, ,,	
*३०. दोहावली	,, श्यामसुंदरदास	
*३१. कवितावली	,, ,,	
३२. खुसरो की हिंदीकविता	,, बाबू ब्रजरत्नदास	०.७५
*३३. सुजानचरित	,, ,,	
*३४. परमालरासो	,, ,,	
*३५. अनन्य ग्रंथावली	,, सूर्यकुमार वर्मा	
३६. नंददास ग्रंथावली	,, ब्रजरत्नदास	६.२५
३७. रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना	,, डा० बच्चनसिंह	८.५०
३८. घनानंद और स्वच्छंद काव्यधारा	,, डा० मनोहरलाल गौड़	८.००
३९. प्रतापनारायणमिश्र ग्रंथावली	,, डा० विजयशंकर मल्ल	१०.००
४०. तुलसीदास	,, आचार्य चंद्रबली पांडेय	५.५०
४१. हिंदी में मुक्तककाव्य का विकास	,, जितेंद्रनाथ पाठक	५.५०
४२. हीरकजयंती ग्रंथ	,, डा० श्रीकृष्ण लाल	१२.५०

४३. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास भाग १	श्री डा० राज बली पांडेय	२५.००
४४. भाग ६	,, डा० नगेंद्र	२५.००
४५. भाग १६	,, राहुल सांकृत्यायन	२५.००
४६. खोज के त्रैवार्षिक विवरण १३ से १८ वाँ तक		६१.००

महिला पुस्तकमाला

*४७. वनिताविनोद	,, श्यामसुंदरदास	०.७५
*४८. सुघड़ दर्जिन	,, ठाकुरप्रसाद खत्री	०.७५
*४९. परिचर्या प्रणाली	,, डा० अचलविहारी सेठ	१.००
*५०. सौरीसुधार	,, मुरलीधर वर्मा	०.५०
*५१. छूतवाले रोग और उनसे बचने के उपाय	,, जगरानी देवी	१.००
*५२. स्त्रियों के रोग और उनकी चिकित्सा	,, श्रीलाल उपाध्याय	१.००
*५३. सरल व्यायाम	,, कालीदास माणिक	०.५०

प्रकीर्णक पुस्तकमाला

१. कालबोध	,, शिवकुमारसिंह	०.२५
२. हरिश्चंद्रकाव्य	,, रत्नाकरजी	०.२५
३. महाराणाप्रताप	,, राधाकृष्णदास	०.७५
*४. धम्मपद		
*५. सिंध देश का इतिहास		
६. आर्ष प्राकृत व्याकरण	,, जगन्मोहन वर्मा	०.२५
*७. यूनान का इतिहास	,, व्रजनंदन मिश्र	१.००
८. राज्यप्रबंध शिक्षा	,, रामचद्र शुक्ल	१.२५
*९. सत्यहरिश्चंद्र	,, भारतेंदु हरिश्चंद्र	०.७५
१०. बालशिक्षा		१.००
*११. भारतदुर्दशा		
१२. अन्योक्तिकल्पद्रुम	,, दीनदयालगिरि	०.७५
*१३. वैशेषिक दर्शन	डा० गंगानाथ झा	
*१४. न्यायप्रकाश	,,	
*१५. न्यायी नौशेरवाँ		

पुस्तक	लेखक	मूल्य
१६. संक्षिप्त व्याकरण	श्री कामताप्रसाद गुरु	२.५०
१७. मध्य हिंदी व्याकरण	,,	१.५०
१८. प्रथम हिंदी व्याकरण	,,	०.५०
१९. हिंदी व्याकरण	,,	६.००
२०. प्रवेशिका पद्यावली		१.२५
२१. खारवेल प्रशस्ति	डा० काशीप्रसाद जायसवाल	१.२५
*२२. भौतिक विज्ञान	श्री निहालकरण सेठी	
*२३. रसायनशास्त्र	,, फूलदेवसहाय वर्मा	
*२४. गणित शास्त्र	,, शुकदेव पांडे	
*२५. ज्योतिष विज्ञान	,,	
२६. कीर्तिलता	डा० बाबूराम सक्सेना	२.००
*२७. सूरदास	श्री बाबू राधाकृष्णदास	
२८. गोस्वामी तुलसीदास	,, पं० रामचंद्र शुक्ल	२.५०
२९. हिंदी पद्यपारिजात भाग १–२	,, नरोत्तम स्वामी	३.००
३०. अयोध्या कांड		३.००
३१. पद्यपारिजात	,, केशवप्रसाद मिश्र	१.५०
३२. राधाकृष्णदास	,, पं० रामचंद्र शुक्ल	
३३. पंजाब की सर्च रिपोर्ट		
*३५. कविवर बिहारीलाल		
*३६. निगमन और आगमन	,, दामोदर सहाय	
*३७. वोपदेव		
*३८. भगवद्गीता		
*३९. भारतवर्ष की शासनपद्धति	,, दयाचंद गोयलीय	१.५०
*४०. भाषा	डा० सूर्यकुमार वर्मा	
*४१. लेखक और नागरीलेखक		
*४२. शेख मुहम्मद बाबा	,, गणपति जानकीराम दुबे	
*४३. हिंदी क्या है ?		
*४५. हिंदी लेक्चर	,, भारतेंदु हरिश्चंद्र	
*४६. कुमारसंभवसार	,, महावीरप्रसाद द्विवेदी	
*४७. आर्यचरितामृत	,, राधाकृष्णदास	
*४७. हस्तलिखित हिंदीपुस्तकों का संक्षिप्त विवरण		
*४८. सूरसुषमा	श्री नंददुलारे वाजपेयी	१.५०
४९. त्रिवेणी	,, रामचंद्र शुक्ल	२.५०

५०. आदर्श यथार्थ	श्री पुरुषोत्तम लाल	३.००
*५१. मालती माला	,, श्रीमती मालती शर्मा	१.००
५२. रसमीमांसा	,, रामचंद्र शुक्ल	६.००
५३. लंकादहन	,, लक्ष्मीनारायण सिंह	२.००
५४. रामचरितमानस	,, शंभुनारायण चौबे	८.००
५५. गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय साधना भाग २	,, व्योहार राजेंद्र सिंह	४.००
५६. हिंदीवालो सावधान	,, रविशंकर शुक्ल	४.५०
कुछ विशिष्ट प्रकाशन		
१. हिंदी शब्दसागर (संप्रति ३, ६, ७, ८ खंड अप्राप्य)	,, बाबू श्यामसुंदरदास	४५.००
*२. कोशोत्सव स्मारकसंग्रह	,, गौरीशंकर हीराचंद ओझा	५.००
३. संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर	,, बाबू रामचंद्र वर्मा	१८.००
*४. द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ	,, बाबू श्यामसुंदरदास	२०.००
५. रत्नाकर	,,	
४. रूपनिघंटु (दो भाग)	,, रूपलाल वैश्य	५.००
*७. कचहरी हिंदी कोश	,, माधवप्रसाद खन्ना	

टिप्पणी—* तारांकित पुस्तकें संप्रति अप्राप्य हैं।

मुद्रक : शंभुनाथ वाजपेयी, राष्ट्रभाषा मुद्रण, वाराणसी

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६६
संवत् २०१८
अंक १ से ४

काशी नागरीप्रचारिणी सभा

वार्षिक विषयसूची

१. किष्किंधा-पंचवटी-लंका और रामचंद्र का साम्राज्य—श्री इंद्रचंद्र नारंग १
२. ढोला मारू रा दूहा के अर्थसंशोधन पर विचार—श्री भँवरलाल नाहटा २७
३. साहित्यशास्त्र में औचित्य विचार—श्री शंकरदत्त ओझा ... ३८
४. अभिमन्युवध—डा० शिवलाल जेसलपुरा ... ४६
५. अलबीरूनी का भारतप्रवास और भ्रमण—श्री जयशंकर मिश्र ६७
६. भानुसिंह की पदावली (रवींद्रनाथ ठाकुर) अनुगायक
—श्री भगवान मिश्र ... ७६
७. हिंदी भाषा में संकेतार्थ—श्री व० लिपैरोवस्की ... ६४
८. हिंदी-व्याकरण-संबंधी गवेषणा-५ हिंदी भाषा में
लिंगभेद की समस्या—डा० स० म० दीमशित्स ... ६८
९. भाषा में सामाजिक भेदों की अभिव्यक्ति ...
—डा० प्रबोध बेचरदास पंडित ... १५३
१०. कालिदास : भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि ...
—डा० राजबली पांडेय ... १७५
११. हिंदी में वैष्णवपदावली का प्रथम रचयिता ...
—श्री बलदेव उपाध्याय ... १८७
१२. रामचरितमानस के कतिपय महत्वपूर्ण पाठ ...
—श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ... १९९
१३. उड़ीसा में अवशिष्ट बौद्ध धर्म—श्री परशुराम चतुर्वेदी ... २१०
१४. शब्द : एकत्ववाद और नानात्ववाद—डा० रामसुरेश त्रिपाठी ... २२२
१५. ऋग्वेद में आभूषणसंबंधी सामग्री—डा० राय गोविंदचंद्र ... २३९
१६. दीपशिखा की भूमिका—डा० नगेंद्र ... २६७
१७. कालिदासहजारा—डा० किशोरीलाल गुप्त ... २७२
१८. एक सार्वजनीन लिपि—डा० वी० राघवन् ... ३०४
१९. अलंकारशास्त्र को पंडितराज जगन्नाथ की देन ...
—डा० राममूर्ति त्रिपाठी ... ३०९
२०. संगीतज्ञ और भक्तकवि राजा आसकरन—श्री प्रभुदयाल मीतल ... ३२१
२१. स्वामी अग्रदास और उनकी अप्रकाशित पदावली ...
—डा० भगवतीप्रसाद सिंह ... ३२९
२२. लल्लूजी 'लाल कवि'—श्री कृष्णाचार्य ... ३४७
२३. रसरतन : मध्ययुगीन हिंदीकाव्य की एक विस्मृत कड़ी ...
—डा० शिवप्रसाद सिंह ... ३६५

२४. हिंदी भाषा में कुछ पुर्तगाली शब्द—डा० शिवनाथ ... ३८४
२५. अशोक के समकालिक राज्य—डा० देवसहाय त्रिवेद ... ३८८
२६. ध्रुवपद का विकास—श्री जयदेवसिंह ... ४०१
२७. राष्ट्र की उत्पत्ति और भारतीय राष्ट्रीयता ...
—श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी ... ४०७
२८. प्राचीन भारत में क्रीड़ा एवं मनोरंजन ...
—डा० नीलकंठ पुरुषोत्तम जोशी ... ४१२
२९. भारत पर मुसलमानों के आक्रमणों की पृष्ठभूमि ...
—डा० बुद्धप्रकाश ... ४२६
३०. राउल वेल में प्रयुक्त क्रियाएँ—डा० कैलाशचंद्र भाटिया ... ४५३
३१. हिंदी के आकारांत संज्ञा शब्द : पदग्रामिक विश्लेषण ...
एवं वर्गबंधन—श्री महावीरसरन जैन ... ४६२
३२. 'ढोला मारू रा दूहा' के अर्थसंशोधन पर विचार ...
—डा० माताप्रसाद गुप्त ... ४७३
३३. हिंदी के साधारण वाक्य में स्वतंत्र कर्ता और ...
असमापिका (इनफिनिट) क्रियावाले वाक्यांश ...
—श्री वि० ए० चेर्निशोव् ... ४८९
३४. हिंदी द्वंद्व समास में भाषासांकर्य—श्री वि० ब्रेस्कोव्नी ... ४९३
३५. नवसंस्कृतीय निर्मापक तत्व : शब्दपरसर्ग ...
—श्री ए० एस० बरखूदारोव् ... ४९९
३६. पंजाबी में मिश्र वाक्यगठन और मुख्य उपवाक्य का ...
एक अंग—श्री जु० अ० स्मिरनोव् ... ५१५
३७. पुष्पमंजरी—श्री करुणापति त्रिपाठी ... ५२२
३८. क्या अवस्था की अनुकृति नाट्य है ?—डा० बच्चनसिंह ... ५३३

महामना : श्रद्धांजलियाँ, संस्मरण, व्यक्तित्व और कर्तृत्व, पत्र, भाषण

३९. श्रद्धांजलियाँ ५३९
४०. महापुरुष—महामहोपाध्याय श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ... ५४१
४१. पं० मदनमोहन मालवीय का पुण्यस्मरण ...
—श्री अंबिकाप्रसाद वाजपेयी ... ५४५
४२. महामना मालवीय जी और श्रीमद्भगवद्गीता ...
—श्री शिवपूजन सहाय ... ५४७
४३. महामना : कुछ भावचित्र—श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ... ५५२
४४. विश्वविद्यालयों में हिंदी पठनपाठन का प्रारंभ ...
—डा० धीरेंद्र वर्मा ... ५६०

४५. वंद्यचरित महामना—श्री जानकीनाथ शर्मा ... ५६४
४६. महामना की हिंदीसेवा—डा० शितिकंठ मिश्र ... ५६६
४७. महामना मालवीय जी और पत्रकारिता ...
—श्री लक्ष्मीशंकर व्यास ... ५७०
४८. महामना और नागरीप्रचारिणी सभा—श्री सुधाकर पांडेय ... ५८३
४६. महामना पंडित मदनमोहन मालवीय : जीवन और कर्तृत्व ...
—श्री जयशंकर मिश्र ... ५६१
५०. महामना का एक महत्वपूर्ण पत्र ६०५
५१. प्रथम हिंदी साहित्य संमेलन के सभापति महामना ...
पंडित मदनमोहन मालवीय का भाषण ... ६११
५२. संपादकीय ६२५

विमर्श

'हिंदी को मराठी संतों की देन—डा० विनयमोहन शर्मा ... १०८

चयन तथा निर्देश ११३

समीक्षा

आगरा जिले की बोली—डा० शिवनाथ ... १२५
त्रिभंगिमा—डा० बचनसिंह १२८
भारतीय विचारधारा—डा० विशुद्धानंद पाठक ... १३१
तीन नए काव्यसंग्रह (शिलापंख चमकीले, सात गीत
वर्ष, कनुप्रिया)—श्री ब० सिं० ... ... १३६
समवेत—श्री विश्वनाथ त्रिपाठी १३६
मेघदूत : एक अनुचिंतन—त्रिपाठी १४१
साहित्यसरोवर—डा० महेंद्र भटनागर ... १४३
सप्तपर्णा—श्री वि० ... ... १४४
रीतिकाव्य—श्री चंद्रहास १४५
आंध्र हिंदी-रूपक—श्री अजीत १४६
रविशंकर के आर्केस्ट्रा—श्री त्रिपाठी ... १४७
तेलुगु की उत्कृष्ट कहानियाँ—श्री त्रिपाठी ... १४६
पत्रकार बृहत्त्रयी—श्री त्रिपाठी १४६
श्रीमद्भागवत कथा (साप्ताहिक)—श्री करुणापति त्रिपाठी ... १४६
प्रसाद के प्रगीत—श्री करुणापति त्रिपाठी ... १५०
पालिसाहित्य और समीक्षा—श्री वररुचि ... १५२
गुजरातीसाहित्य का संक्षिप्त इतिहास—श्री वररुचि ... १५२